दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

व्ला० इ० लेनिन

ИНСТИТУТ МАРКСИЗМА-ЛЕНИНИЗМА при ЦК КПСС

В. И. ЛЕНИН

ИЗБРАННЫЕ ПРОИЗВЕДЕНИЯ

В ТРЕХ ТОМАХ

ГОСУДАРСТВЕННОЕ ИЗДАТЕЛЬСТВО ПОЛИТИЧЕСКОЙ ЛИТЕРАТУРЫ
Москва

व्ला॰ इ॰ लेनिन

संकलित रचनाएं

तीन खण्डों में

खण्ड
१
भाग
२
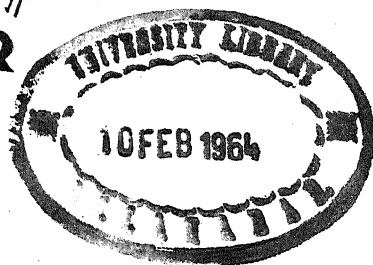
प्रगति प्रकाशन
मास्को

प्रकाशक की ओर से

ब्ला० इ० लेनिन की संकलित रचनाओं का तीन खण्डों वाला यह हिन्दी अनुवाद सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान द्वारा प्रस्तुत तीन खण्डों के रूसी संस्करण के अनुसार किया गया है ('गोसपोलीतइज़्दात'– राजनीतिक साहित्य प्रकाशन गृह, मास्को, १९६०)। पाठक की सुविधा के लिए हर खण्ड को दो भागों में बांटा गया है।

В. И. ЛЕНИН

ИЗБРАННЫЕ ПРОИЗВЕДЕНИЯ

в 3-х томах

Том 1

Часть вторая

На языке хинди

विषय-सूची

पृष्ठ

चित्र

रूस में क्रान्ति की शुरूआत

जेनेवा, बुधवार, २५ (१२) जनवरी।

रूस में अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाएं घट रही हैं। सर्वहारा ने ज़ारशाही के विरुद्ध विद्रोह कर दिया है। सरकार ने सर्वहारा को विद्रोह करने पर मजबूर किया है। अब इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि सरकार ने हड़ताल आंदोलन को बिना विशेष विघ्न-बाधा के जान-बूझकर ज़ोर पकड़ने दिया है। इसी तरह सरकार ने व्यापक स्तर पर जुलूसों-प्रदर्शनों के आंदोलन को भी शुरू होने दिया, ताकि एक ऐसी स्थिति पैदा हो जाये जिसमें फ़ौजी ताक़त को इस्तेमाल किया जा सके। और उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिली है! हज़ारों मरे और घायल हुए हैं! पीटर्सबर्ग में, ९ जनवरी को, ख़ूनी इतवार[1] का यह परिणाम रहा है। फ़ौज ने निहत्थे मज़दूरों, नारियों और बच्चों पर विजय पायी है। फ़ौज ने ज़मीन पर लेटे हुए मज़दूरों को गोलियों से भूनकर अपने दुश्मन को पराजित किया है। "हमने उन्हें बढ़िया सबक़ दिया है!" ज़ार के पिट्ठू और उनके यूरोपीय रूढ़िवादी पूंजीवादी चाटुकार बेहयाई से यह कहते हैं।

हां, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सबक़ है! रूसी सर्वहारा वर्ग इसे कभी नहीं भूलेगा। मज़दूर वर्ग के सबसे ज़्यादा पिछड़े हुए और बहुत ही अशिक्षित स्तर के मज़दूरों के लिए यह अच्छा सबक़ है। वे अपनी सादगी के कारण ज़ार पर विश्वास करते थे और ईमानदारी से "ख़ुद ज़ार के सामने" शान्तिपूर्ण ढंग से यातनाओं की शिकार जनता की प्रार्थनाएं प्रस्तुत करना चाहते थे। ख़ुद ज़ार या उसके मामा—ग्रैंड ड्यूक व्लादीमिर—की कमान में फ़ौज ने सबको अच्छा पाठ पढ़ाया है।

मज़दूर वर्ग ने गृहयुद्ध का बहुत ही महत्त्वपूर्ण सबक़ सीखा है। सर्वहारा की क्रान्तिकारी शिक्षा ने एक ही दिन में इतनी प्रगति की है जितनी महीनों और बरसों के नीरस, ऊबे-ऊबे, घिनौने जीवन में भी संभव न थी। पीटर्सबर्ग के वीर सर्वहारा वर्ग का नारा—"मौत या आज़ादी!" आज सारे रूस में गूंज रहा है। आश्चर्यजनक गति से घटनाओं का क्रम चल रहा है। पीटर्सबर्ग में व्यापक हड़ताल फैलती जा रही है। सारा औद्योगिक, सार्वजनिक और राजनैतिक जीवन ठप हो गया है। सोमवार, १० जनवरी को मज़दूरों और फ़ौजियों के बीच पहले से अधिक ज़ोरदार झड़पें हुईं। झूठे सरकारी वक्तव्यों के विपरीत राजधानी के बहुत से भागों में ख़ून-ख़राबा हो रहा है। कोल्पिनो के मज़दूर भी विद्रोह कर रहे हैं। सर्वहारा ख़ुद हथियारबन्द हो रहे हैं और जनता को भी हथियारों से लैस कर रहे हैं। कहा जाता है कि मज़दूरों ने सेस्त्रोरेत्स्क शस्त्रागार पर क़ब्ज़ा कर लिया है। मज़दूर पिस्तौलें हासिल कर रहे हैं। वे अपने औज़ारों को हथियारों की शक्ल दे रहे हैं। वे आज़ादी की जानतोड़ लड़ाई के लिए बम प्राप्त कर रहे हैं। आम हड़ताल प्रान्तों में भी फैलती जा रही है। मास्को में दस हज़ार मज़दूरों ने तो काम बन्द भी कर दिया है और कल (बृहस्पतिवार, १३ जनवरी) वहां एक आम हड़ताल करने का फ़ैसला किया गया है। रीगा में विद्रोह हो गया है। मज़दूर लोद्ज़ में प्रदर्शन कर रहे हैं। वार्सा में विद्रोह की तैयारियां हो रही हैं। हेल्सिंगफ़ोर्स में सर्वहारा के जुलूस निकल रहे हैं। बाकू, ओदेस्सा, कीयेव, ख़ार्कोव, कोव्नो और विलनो में मज़दूरों का जोश बढ़ रहा है और हड़ताल फैलती जा रही है। सेवास्तोपोल में नौसेना के गोदाम और शस्त्रागार आग की नज़र हो गये हैं और फ़ौजी विद्रोही ख़लासियों पर गोली चलाने से इन्कार कर रहे हैं। रेवेल और सरातोव में हड़तालें हो रही हैं। रादोम में मज़दूरों और रिज़र्विस्टों की फ़ौजी दस्तों से झड़पें हो रही हैं।

क्रान्ति फैलती जा रही है। सरकार तो अभी से डगमग हो भी चुकी है। वह अब रक्तपात द्वारा दमन की नीति छोड़कर आर्थिक रियायतें देने की कोशिश कर रही है। वह मज़दूरों को घूस देकर, नौ घण्टे के कार्य-दिवस का वादा करके अपने को बचाना चाहती है। लेकिन ख़ूनी इतवार का सबक़ भुलाया नहीं जा सकता। पीटर्सबर्ग के विद्रोही मज़दूरों की मांग कि व्यापक, प्रत्यक्ष, समान

मताधिकार और गुप्त मतदान के आधार पर फ़ौरन ही संविधान सभा बुलायी जाये, सभी हड़ताली मज़दूरों की मांग बन जानी चाहिए। ९ जनवरी के क़त्ले-आम के जवाब में, ज़ार में आस्था रखनेवाले पीटर्सबर्ग के मज़दूरों ने भी यह नारा लगाया है कि फ़ौरन सरकार का तख़्ता उलट दिया जाये। इन मज़दूरों ने अपने नेता, पादरी गेओर्गी गपोन द्वारा यह नारा बुलन्द किया है। पादरी गपोन ने ख़ूनी इतवार के बाद कहा—"अब हमारा कोई ज़ार नहीं। ख़ून की नदी ज़ार को जनता से अलग करती है। आज़ादी की लड़ाई ज़िन्दाबाद!"

हमारा नारा है—क्रान्तिकारी सर्वहारा ज़िन्दाबाद! आम हड़ताल से आम मज़दूरों और शहरी ग़रीब जनता में अधिकाधिक जागृति आ रही है, वे एकजुट होते जा रहे हैं। जनता को शस्त्रों से लैस करना क्रान्तिकारी काल का एक फ़ौरी कार्य बनता जा रहा है।

केवल सशस्त्र जनता ही जन-स्वतन्त्रता की असली रक्षक हो सकती है। सर्वहारा जितनी जल्दी अपने को हथियारबन्द कर लेंगे, जितनी ही अधिक देर तक वे चोट करनेवाले क्रान्तिकारी की अपनी लड़ाकू स्थिति को बनाये रखेंगे, फ़ौज भी उतनी ही जल्दी डांवांडोल होने लगेगी, अधिकाधिक फ़ौजी समझने लगेंगे कि वे क्या कर रहे हैं और राक्षसों, अत्याचारियों के विरुद्ध, निहत्थे मज़दूरों, उनकी बीवियों और बच्चों के हत्यारों के विरुद्ध जनता का पक्ष लेने लगेंगे। पीटर्सबर्ग के वर्त्तमान विद्रोह का कुछ भी परिणाम निकले, हर हालत में यह अधिक विस्तृत, अधिक सजग और अधिक अच्छी तैयारी से किये जानेवाले भावी विद्रोह की दिशा में पहला क़दम होगा। सम्भव है सरकार हिसाब-किताब चुकता होने के दिन को स्थगित करने में सफल हो जाये मगर देर होने से नये क्रान्तिकारी आक्रमण का अगला क़दम और ज़्यादा मज़बूत होगा। सामाजिक-जनवाद इस देरी से लाभ उठाकर संगठित संघर्षकर्त्ताओं को और अधिक मज़बूती से एकजुट करेगा और पीटर्सबर्ग के मज़दूरों द्वारा किये गये शुभारम्भ का समाचार सभी जगह फैलायेगा। सर्वहारा वर्ग इस संघर्ष में हाथ बंटायेगा, मिलों और कारख़ानों से निकल आयेगा तथा अपने लिए शस्त्र तैयार करेगा। ग़रीब शहरी जनता और करोड़ों किसानों तक आज़ादी के संघर्ष के नारे अधिकाधिक प्रभावशाली ढंग से पहुंचाये जायेंगे। हर कारख़ाने, हर शहरी ज़िले

ग्रौर सभी बड़े गांवों में क्रान्तिकारी समितियां बनायी जायेंगी। विद्रोही जनता ज़ारशाही निरंकुश शासन की सभी सरकारी संस्थाओं का तख़्ता उलट देगी ग्रौर फ़ौरन संविधान सभा के निर्माण की घोषणा करेगी।

सभी मज़दूरों ग्रौर ग्राम नागरिकों को फ़ौरन हथियारबन्द किया जाये, सरकारी ग्रधिकारियों ग्रौर सरकारी संस्थाग्रों की गद्दी उलटने के लिए क्रान्तिकारी शक्तियों को तैयार तथा संगठित किया जाये—यह है वह व्यावहारिक ग्राधार जिसपर सभी ग्रौर हर प्रकार के क्रान्तिकारी एकजुट हो सकते हैं ग्रौर उन्हें होना भी चाहिए ताकि दुश्मन पर एकसाथ मिलकर चोट कर सकें। सर्वहारा को हमेशा ही ग्रपने स्वतन्त्र पथ का ग्रनुकरण करना चाहिए, इसे सामाजिक-जनवादी पार्टी से ग्रपने सम्पर्क-सूत्र कभी भी ढीले नहीं होने देने चाहिए, ग्रौर ग्रपने महान ग्रौर ग्रन्तिम लक्ष्य को कभी नहीं भूलना चाहिए। ग्रौर यह लक्ष्य है—मानव जाति को सभी तरह के शोषण से मुक्त करवाना। मगर सामाजिक-जनवादी सर्वहारा पार्टी की यह स्वतन्त्रता हमें वास्तविक क्रान्ति के समय, संयुक्त क्रान्तिकारी हमले का महत्त्व नहीं भुला देगी। हम सामाजिक-जनवादी पूंजीवादी जनवाद के क्रान्तिकारियों से ग्रपना पथ ग्रलग रख सकते हैं ग्रौर हमें ऐसा करना भी चाहिए ग्रौर सर्वहारा की वर्ग-स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए। मगर क्रांति के समय ज़ारशाही पर सीधी कड़ी चोटें करने, फ़ौजों का मुक़ाबला करने, ग्रौर समूची रूसी जनता के ग्रभिशापित शत्रु के बैस्टील पर हल्ला बोलने के लिए हमें कन्धे से कन्धा मिलाकर ग्रागे बढ़ना होगा।

सारी दुनिया के सर्वहारा बहुत ग्रधीरता से रूसी सर्वहारा की ग्रोर देख रहे हैं। हमारे मज़दूर वर्ग ने बहुत वीरतापूर्ण ढंग से रूस में ज़ारशाही की गद्दी उलटने का संघर्ष शुरू किया है। रूस में ज़ारशाही का ख़त्म होना सभी देशों के इतिहास में एक नया मोड़ सिद्ध होगा। इससे सभी राज्यों ग्रौर संसार के सभी भागों में सभी राष्ट्रों के मज़दूरों का काम ग्रासान हो जायेगा। इसलिए प्रत्येक सामाजिक-जनवादी, वर्ग-चेतना रखनेवाले हर मज़दूर को यह याद रखना चाहिए कि देश-व्यापी संघर्ष में उसे बहुत से उत्तरदायित्व पूरे करने होंगे। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि वह, ग्राम जनता के शत्रु के विरुद्ध, सभी किसानों की, मेहनतकश ग्रौर शोषित जन-साधारण की, समूची जनता की ज़रूरतों ग्रौर

हितों का प्रतिनिधित्व करता है। पीटर्सबर्ग के सर्वहारा वीर आज सभी के लिए बढ़िया मिसाल हैं।

क्रांति जिन्दाबाद!

विद्रोही सर्वहारा ज़िन्दाबाद!

'व्पेर्योद', अंक ४,
३१ (१८) जनवरी, १९०५

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खण्ड ८, पृष्ठ ७७–८०

जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां[2]

भूमिका

क्रांतिकारी काल में उन घटनाओं की पूरी-पूरी जानकारी रखना बहुत कठिन होता है, जिनमें क्रांतिकारी पार्टियों के कार्यनीति-संबंधी नारों का मूल्यांकन करने के लिए आश्चर्यजनक परिमाण में सामग्री मिल जाती है। प्रस्तुत पुस्तिका ओदेस्सा की घटनाओं* से पहले लिखी गयी थी। हम 'प्रोलेतारी'[3] में (अंक ६, 'क्रांति सिखाती है') पहले ही बता चुके हैं कि इन घटनाओं ने उन सामाजिक-जनवादियों को भी, जिन्होंने "विद्रोह-एक-प्रक्रिया" वाले सिद्धांत की रचना की थी और जिन्होंने एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के पक्ष में प्रचार को रद्द कर दिया था, इस बात पर मजबूर कर दिया है कि वे अपने विरोधियों के पक्ष में आ जायें, या आने लगें। क्रांति सचमुच इतनी तेज़ी के साथ तथा इतनी पूर्णता के साथ सिखाती है कि राजनीतिक विकास के शांतिपूर्ण कालों में वह असंभव प्रतीत होता है। और जो चीज़ विशेष रूप से महत्वपूर्ण है वह यह कि वह केवल नेताओं को ही नहीं बल्कि जन-साधारण को भी सिखाती है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि क्रांति रूस की श्रमजीवी जनता को सामाजिक-जनवाद के विचार सिखा देगी। क्रांति समाज के विभिन्न वर्गों के वास्तविक स्वरूप को प्रदर्शित करके, हमारे जनवाद के पूंजीवादी स्वरूप तथा किसानों की सच्ची आकांक्षाओं को प्रदर्शित करके, जो पूंजीवादी-जनवादी अर्थ में तो क्रांतिकारी होते हैं पर जिनके मन में "समाजीकरण" की नहीं बल्कि

---

*यह संकेत बख़्तरबंद जहाज़ 'प्रिंस पोत्योमकिन' पर विद्रोह की ओर है। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी।—सं०)

किसान पूंजीपति वर्ग तथा ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के बीच एक नये वर्ग-संघर्ष की भावना रहती है, क्रांति वास्तविक व्यवहार में सामाजिक-जनवाद के कार्यक्रम तथा कार्यनीति की पुष्टि करेगी। पुराने नरोदवाद[4] के सारे पुराने भ्रम जो, उदाहरण के लिए, रूस में पूंजीवाद के विकास के प्रश्न के बारे में, हमारे "समाज" के जनवादी स्वरूप के प्रश्न के बारे में और किसान विद्रोह की पूर्ण विजय के महत्व के प्रश्न के बारे में "समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी" के प्रस्तावित कार्यक्रम में[5] इतने स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं – इन सारे भ्रमों को क्रांति बड़ी निर्ममतापूर्वक तथा पूरी तरह एक झोंके में उड़ा देगी. पहली बार वह विभिन्न वर्गों का वास्तविक राजनीतिक बपतिस्मा करेगी। ये वर्ग क्रांति में से एक निश्चित राजनीतिक रूप धारण करके निकलेंगे क्योंकि केवल अपने सिद्धांतवेत्ताओं के कार्यक्रमों तथा कार्यनीति-संबंधी नारों में ही नहीं बल्कि जन-साधारण की खुली राजनीतिक हलचल में भी वे अपनी असलियत प्रकट कर चुके होंगे।

निस्संदेह, क्रांति हमें सिखायेगी, वह आम जनता को भी सिखायेगी। परंतु इस समय हर लड़ाकू राजनीतिक पार्टी के सामने यह प्रश्न है: क्या हम क्रांति को कुछ सिखा पायेंगे? क्या हम अपने सामाजिक-जनवादी सिद्धांत के सही होने का, एकमात्र पूर्णतः क्रांतिकारी वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग के साथ अपने संबंध का कोई फ़ायदा उठा सकेंगे, क्या हम क्रांति पर सर्वहारा वर्ग की छाप डाल सकेंगे, क्या हम शब्दों में नहीं व्यवहार में क्रांति को सच्ची तथा निश्चित विजय की मंज़िल तक पहुंचा सकेंगे, और क्या हम जनवादी पूंजीपति वर्ग की अस्थिरता, उसकी उत्साहहीनता तथा उसके विश्वासघात को निष्फल कर सकेंगे?

हमें इसी लक्ष्य को प्राप्त करने की पूरी कोशिश करनी चाहिये और इस लक्ष्य की पूर्ति एक तरफ़ तो इस बात पर निर्भर होगी कि हम राजनीतिक परिस्थिति का मूल्यांकन सही-सही करें, हमारे कार्यनीति-संबंधी नारे ठीक हों, और दूसरी ओर वह इस बात पर निर्भर होगी कि इन नारों के पीछे आम मज़दूरों की लड़ने की वास्तविक शक्ति है कि नहीं। हमारी पार्टी के सभी संगठनों तथा दलों का सारा प्रतिदिन का, नियमित तथा चालू काम, प्रचार, आंदोलन तथा संगठन का काम जनता के साथ अपने संबंधों को मज़बूत करने तथा बढ़ाने की ओर निर्देशित है। यह काम हमेशा आवश्यक होता है, यह काम

यों तो दूसरे कालों में भी पर्याप्त नहीं होता पर क्रांतिकारी युग में तो उसे और भी कम पर्याप्त समझा जा सकता है। ऐसे समय में मज़दूर वर्ग में खुले क्रांतिकारी संघर्ष की एक स्वाभाविक इच्छा होती है और हमें इस संघर्ष के उद्देश्यों को सही-सही निर्धारित करना और फिर यथासंभव व्यापकतम रूप से लोगों को इन उद्देश्यों से परिचित कराना तथा उन्हें इन उद्देश्यों को समझना सिखाना चाहिये। इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि इस समय जनता के साथ हमारे संबंधों के बारे में जो निराशा फैली हुई है, वह बहुधा क्रांति में सर्वहारा वर्ग की भूमिका के बारे में पूंजीवादी धारणाओं के लिए एक आड़ का काम देती है। निस्संदेह अभी हमें मज़दूर वर्ग को शिक्षा देने तथा संगठित करने के सिलसिले में बहुत कुछ करना है, परंतु अब सारा सवाल यह है: शिक्षा तथा संगठन के इस काम में मुख्य राजनीतिक बल किस बात पर दिया जाना चाहिये? ट्रेड-यूनियनों और क़ानूनी ढंग से काम करनेवाली संस्थाओं पर या सशस्त्र विद्रोह पर, एक क्रांतिकारी सेना तथा क्रांतिकारी सरकार बनाने के काम पर? दोनों ही मज़दूर वर्ग को शिक्षा देने तथा संगठित करने का काम करते हैं। ज़ाहिर है, दोनों ही आवश्यक हैं। परंतु इस समय, वर्तमान क्रांति में, सारा सवाल यह रह जाता है: मज़दूर वर्ग को शिक्षा देने तथा उसे संगठित करने के काम में किस चीज़ पर ज़ोर दिया जाना चाहिये—पहले वाली चीज़ पर या बाद वाली चीज़ पर?

क्रांति का परिणाम क्या होगा, यह इसपर निर्भर करता है कि मज़दूर वर्ग पूंजीपति वर्ग के सहायक की भूमिका अदा करेगा, एक ऐसे सहायक की जो एकतांत्रिक शासन पर प्रहार करने की अपनी शक्ति के एतबार से तो शक्तिशाली है पर राजनीतिक दृष्टि से बिल्कुल शक्तिहीन है, या वह जनता की क्रांति के नेता की भूमिका अदा करेगा। पूंजीपति वर्ग के सचेत प्रतिनिधियों को इस बात का पूरी तरह आभास है। ठीक यही कारण है कि 'ओस्वोबोज्देनिये'[6] अकीमोववाद की, सामाजिक-जनवाद में "अर्थवाद"[7] की प्रशंसा करता है, उस धारा की प्रशंसा करता है जो **इस समय** ट्रेड-यूनियनों तथा क़ानूनी ढंग से काम करनेवाली संस्थाओं को सबसे प्रमुख स्थान देती है। ठीक यही कारण है कि श्री स्त्रूवे नये 'ईस्क्रा' के सिद्धांतों में अकीमोववादी प्रवृत्तियों का स्वागत करते हैं ('ओस्वोबोज्देनिये', अंक ७२ में)। ठीक यही कारण है कि वह रूसी

सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस[8] के निर्णयों की निंदनीय क्रांतिकारी संकीर्णता को इतना लताड़ते हैं।

इस समय यह बात सामाजिक-जनवाद के लिए असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है कि जन-साधारण का नेतृत्व करने के लिए उसके कार्यनीति-संबंधी नारे सही हों। क्रांतिकारी युग में इससे बढ़कर ख़तरनाक कोई दूसरी चीज़ नहीं होती कि सिद्धांत की दृष्टि से तर्कसंगत कार्यनीति-संबंधी नारों के महत्व को घटाया जाये। उदाहरण के लिए, 'ईस्क्रा' अपने अंक १०४ में[9] सामाजिक-जनवादी आंदोलन में अपने विरोधियों की तरफ़ चला गया है, पर साथ ही वह उन नारों तथा कार्यनीति-संबंधी निर्णयों के महत्व को गिराता है जो समय की गति से आगे होते हैं और उस पथ को इंगित करते हैं जिसपर आंदोलन अनेक असफलताओं तथा ग़लतियों आदि के बावजूद आगे बढ़ रहा है। इसके विपरीत एक ऐसी पार्टी के लिए, जो मार्क्सवाद के दृढ़ सिद्धांतों के अनुसार सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करना चाहती है और केवल घटनाओं की दुम में बंधे-बंधे घिसटना नहीं चाहती, कार्यनीति-संबंधी सही निर्णयों को तैयार करना अत्यधिक महत्व रखता है। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के और जो भाग पार्टी से अलग हो गया है उसके सम्मेलन के* प्रस्तावों में हमें कार्यनीति-संबंधी मतों की सबसे सही, सबसे अधिक ध्यानपूर्वक सोच-समझकर तैयार की गयी तथा सबसे अधिक पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है — उनकी जिन्हें अलग-अलग लेखकों ने यों ही लगे हाथों नहीं व्यक्त किया है बल्कि जिन्हें सामाजिक-जनवादी सर्वहारा वर्ग के ज़िम्मेदार प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया है। हमारी पार्टी औरों से आगे है क्योंकि उसके पास एक निश्चित कार्यक्रम है जिसे सभी स्वीकार करते हैं।

---

* रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस में (जो मई १९०५ में लंदन में हुई थी) केवल बोल्शेविकों ने भाग लिया था, और "सम्मेलन" में (जो उसी समय जेनेवा में हुआ था) केवल मेंशेविकों ने भाग लिया था। इस पुस्तिका में इन मेंशेविकों को अक्सर नये 'ईस्क्रा'-वादी कहा गया है क्योंकि 'ईस्क्रा' का प्रकाशन जारी रखते हुए उन्होंने त्रोत्स्की की मारफ़त जो उस समय उनके अनुयायी थे, यह घोषणा की कि पुराने तथा नये 'ईस्क्रा' के बीच एक खाई है। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी। — सं०)

'ओस्वोबोज्देनिये' के जनवादी पूंजीपति वर्ग के अवसरवाद और समाजवादी-क्रांतिकारियों की क्रांतिकारी लफ़्फ़ाज़ी के बरख़िलाफ़, जिन्हें केवल क्रांति के दौरान ही में सहसा एक कार्यक्रम का "प्रारूप" पेश करने और पहली बार इस बात की छानबीन करने की बात सूझी कि हमारी आंखों के सामने जो कुछ हो रहा है वह क्या पूंजीवादी क्रांति है, हमारी पार्टी को दूसरी पार्टियों के सामने अपने कार्यनीति-संबंधी प्रस्तावों को सख़्ती के साथ पालन करने का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये।

यही कारण है कि हम इसे क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों का एक अत्यंत तात्कालिक काम समझते हैं कि वे रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के तथा सम्मेलन के कार्यनीति-संबंधी प्रस्तावों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें, यह बतायें कि उनमें कौनसी बातें ऐसी हैं जो मार्क्सवाद के सिद्धांतों से हटकर हैं और जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवादी सर्वहारा वर्ग के ठोस कामों के बारे में एक स्पष्ट समझ-बूझ प्राप्त करें। इस काम को लेकर यह पुस्तिका लिखी गयी है। जो लोग अपने आपको केवल शाब्दिक चेतावनियों तक ही सीमित नहीं रखना चाहते बल्कि भविष्य में चलकर पूरी रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पूर्ण एकता के आधार के रूप में कार्यनीति की एकता के लिए मार्ग प्रशस्त करने की सच्ची इच्छा रखते हैं, उन लोगों के लिए भी यह आवश्यक है कि हमारी कार्यनीति को मार्क्सवाद के सिद्धांतों तथा क्रांति के सबक़ों के दृष्टिकोण से परखा जाये।

न० लेनिन

जुलाई १९०५

१. एक ज़रूरी राजनीतिक प्रश्न

वर्तमान क्रांतिकारी परिस्थिति में जन-संविधान सभा के आयोजन का प्रश्न एक तात्कालिक प्रश्न बन गया है। इस प्रश्न को कैसे हल किया जाये, इसके बारे में मतभेद हैं। इस संबंध में तीन राजनीतिक धाराएं देखने में आती हैं। ज़ारशाही सरकार जनता के प्रतिनिधियों की सभा जुटाने की आवश्यकता को तो स्वीकार करती है पर वह उनकी सभा को किसी भी हालत में एक जन तथा संविधान सभा नहीं बनने देना चाहती। यदि हम समाचारपत्रों में प्रकाशित बुलीगिन आयोग[10] के काम की रिपोर्टों पर विश्वास करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज़ारशाही सरकार एक सलाहकार सभा को स्वीकार करने पर तैयार है, जिसके चुनाव में आंदोलन करने की स्वतंत्रता न हो और यह चुनाव सीमित अर्हताओं के आधार पर या एक संकुचित वर्ग-पद्धति के आधार पर हो। क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेतृत्व में होने के कारण यह मांग करता है कि सत्ता पूरी तरह संविधान सभा के हाथों में हस्तांतरित कर दी जाये और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह न केवल सार्विक मताधिकार तथा आंदोलन करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने की बल्कि फ़ौरन ज़ारशाही सरकार का तख़्ता उलटकर उसके स्थान पर एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की स्थापना करने की भी कोशिश करता है। अंत में उदारवादी पूंजीपति वर्ग, जिसकी इच्छाओं को तथाकथित "सांविधानिक-जनवादी पार्टी"[11] के नेता व्यक्त करते हैं, ज़ारशाही सरकार का तख़्ता उलटने की मांग नहीं करता, वह अस्थायी सरकार का नारा नहीं देता और इस बात के लिए सच्चे आश्वासनों पर आग्रह नहीं करता कि चुनाव पूरी स्वतंत्रता तथा ईमानदारी के साथ होंगे और प्रतिनिधियों की सभा सचमुच लोकप्रिय होगी और सचमुच संविधान सभा

होगी। सच तो यह है कि उदारवादी पूंजीपति वर्ग जो 'ओस्वोबोज्देनिये' धारा का एकमात्र ठोस सामाजिक आधार है, इस बात की कोशिश कर रहा है कि ज़ार तथा क्रांतिकारी जनता के बीच यथासंभव शांतिपूर्वक कोई सौदा हो जाये, जो सौदा इसके अतिरिक्त ऐसा हो जिसमें अधिकतम सत्ता उसे, अर्थात् पूंजीपति वर्ग को, मिले और न्यूनतम सत्ता क्रांतिकारी जनता को – सर्वहारा वर्ग तथा किसानों को।

यह है इस समय की राजनीतिक स्थिति। ये हैं आधुनिक रूस की तीन मुख्य सामाजिक शक्तियों के अनुरूप तीन मुख्य राजनीतिक धाराएं। अनेक बार हम यह दिखा चुके हैं ('प्रोलेतारी' में, अंक ३, ४, ५)* कि किस प्रकार 'ओस्वोबोज्देंत्सी' क्रांति के प्रति अपनी अर्धमनस्क, या यदि दो-टूक तथा साफ़ तरीक़े से कहा जाये तो अपनी घोर विश्वासघातक नीति को छुपाने के लिए तथाकथित जनवादी फ़िकरों का इस्तेमाल करते हैं। आइये, अब हम देखें कि सामाजिक-जनवादी इस समय के कामों का मूल्यांकन किस प्रकार करते हैं। इस काम को पूरा करने के लिए उन दो प्रस्तावों में बहुत उमदा सामग्री मिल जाती है जो अभी हाल ही में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस और पार्टी से अलग हो जानेवाले भाग के "सम्मेलन" द्वारा स्वीकार किये गये थे। यह प्रश्न बहुत अधिक महत्व रखता है कि इन प्रस्तावों में से कौनसा राजनीतिक स्थिति का अधिक सही मूल्यांकन करता है और क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग की कार्यनीति को ज़्यादा सही-सही निर्धारित करता है, और हर वह सामाजिक-जनवादी जो एक प्रचारक, आंदोलन चलानेवाले तथा संगठनकर्ता के रूप में अपने कर्तव्यों को समझदारी के साथ पूरा करना चाहता है उसे प्रसंग से अलग की सारी बातों को बिल्कुल छोड़कर अत्यधिक ध्यानपूर्वक इस प्रश्न का अध्ययन करना चाहिये।

पार्टी की कार्यनीति से हमारा अभिप्राय होता है पार्टी का राजनीतिक आचरण, अथवा चरित्र, उसकी राजनीतिक गतिविधि की दिशा तथा तरीक़े।

---

*देखिये लेनिन के 'क्रांतिकारी संघर्ष और उदारवादी गुमाश्तावाद', 'क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के जनवादी कार्य' तथा 'पूंजीपति वर्ग के विश्वासघात के पहले क़दम' शीर्षक लेख। – सं०

पार्टी कांग्रेसों में कार्यनीति-संबंधी प्रस्ताव इसी लिए स्वीकार किये जाते हैं कि नये कामों के प्रसंग में या नयी राजनीतिक परिस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए पूरी पार्टी का राजनीतिक आचरण निर्धारित कर दिया जाये। रूस में जो क्रांति आरंभ हो गयी है उसके कारण इस प्रकार की नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है, अर्थात् जनता के विशाल बहुमत और ज़ारशाही सरकार के बीच पूरी तरह, दृढ़ रूप से तथा खुला संबंध-विच्छेद हो गया है। नये प्रश्न का संबंध इस बात से है कि एक सचमुच राष्ट्रव्यापी तथा ऐसी सभा बुलाने के लिए जो सचमुच संविधान सभा हो क्या व्यावहारिक उपाय किये जायें (इस प्रकार की सभा से संबंधित सैद्धांतिक प्रश्न का फ़ैसला सामाजिक-जनवाद ने बहुत पहले, अन्य सभी पार्टियों से पहले, अपनी पार्टी के कार्यक्रम में कर दिया था)। चूंकि जनता ने सरकार से नाता तोड़ लिया है, और जन-साधारण एक नयी व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता को महसूस करते हैं, इसलिए जिस पार्टी ने अपने सामने सरकार का तख़्ता उलट देने का लक्ष्य रखा हो उसे आवश्यक रूप से इस बात पर विचार करना चाहिये कि वह पुरानी सरकार को हटाकर उसके स्थान पर किस सरकार की स्थापना करेगी। अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के संबंध में एक **नया** प्रश्न उठ खड़ा होता है। इस प्रश्न का पूरा-पूरा उत्तर देने के लिए वर्ग-चेतन सर्वहारा वर्ग की पार्टी को इन बातों को स्पष्ट कर देना चाहिये: १) जो क्रांति इस समय हो रही है उसमें, और आम तौर पर सर्वहारा वर्ग के पूरे संघर्ष में, अस्थायी क्रांतिकारी सरकार का क्या **महत्व** है; २) अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के प्रति क्या **रवैया** हो; ३) इस सरकार में सामाजिक-जनवादी ठीक-ठीक किन शर्तों पर **भाग ले सकते हैं**; ४) किन परिस्थितियों में इस सरकार पर **नीचे से** दबाव डाला जाना चाहिये, अर्थात् यदि उसमें कोई सामाजिक-जनवादी न हों। केवल इन सब सवालों के बारे में सफ़ाई हो जाने के बाद ही इस क्षेत्र में पार्टी का राजनीतिक आचरण सिद्धांतनिष्ठ, स्पष्ट तथा दृढ़ हो सकता है।

आइये, अब हम इस बात पर विचार करें कि रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव में इन प्रश्नों का उत्तर किस प्रकार दिया गया है। वह पूरा प्रस्ताव इस प्रकार है:

"एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के बारे में प्रस्ताव।

"चूंकि :

"१) सर्वहारा वर्ग के तात्कालिक हितों और समाजवाद के अंतिम उद्देश्यों के हेतु उसके संघर्ष के हितों दोनों ही के लिए इस बात की जरूरत है कि यथासंभव पूर्णतम राजनीतिक स्वतंत्रता हो और फलस्वरूप एकतांत्रिक ढंग की सरकार के स्थान पर जनवादी जनतंत्र की स्थापना कर दी जाये ;

"२) रूस में जनवादी जनतंत्र की स्थापना जनता के सफल विद्रोह के फलस्वरूप ही संभव है जिसका साधन अस्थायी क्रांतिकारी सरकार होगी, जो एकमात्र ऐसी संस्था है जो चुनाव के आंदोलन के दौरान में प्रचार की पूरी स्वतंत्रता को सुनिश्चित बनाने और एक ऐसी संविधान सभा बुलाने की क्षमता रखती है जो सचमुच जनता की इच्छा को व्यक्त करेगी, जिस सभा का चुनाव सार्विक तथा समान मताधिकार, सीधे चुनावों तथा गुप्त मतदान के आधार पर होगा ;

"३) वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत रूस में यह जनवादी क्रांति पूंजीपति वर्ग के शासन को कमज़ोर नहीं बल्कि मज़बूत करेगी, जो किसी न किसी समय अनिवार्य रूप से रूस के सर्वहारा वर्ग से क्रांतिकारी अवधि में प्राप्त की हुई सुविधाओं का यथासंभव अधिकाधिक भाग छीनने की कोशिश करेगा, और इसमें कोई कसर नहीं छोड़ेगा –

"रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस फ़ैसला करती है कि :

"क) मज़दूर वर्ग के बीच क्रांति के सर्वाधिक संभावित विकास-क्रम की तथा क्रांति में किसी समय पर एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की स्थापना की आवश्यकता की एक ठोस धारणा का प्रसार करना आवश्यक है, जिस सरकार से सर्वहारा वर्ग यह मांग करेगा कि वह हमारे कार्यक्रम में (अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम में) सम्मिलित सभी तात्कालिक राजनीतिक तथा आर्थिक मांगों को पूरा करे ;

"ख) शक्तियों के परस्पर संबंध और अन्य ऐसी बातें, जिनके बारे में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता, अनुकूल होने पर हमारी पार्टी के प्रतिनिधि सभी क्रांति-विरोधी कोशिशों के विरुद्ध निर्ममतापूर्वक संघर्ष चलाने और मज़दूर

वर्ग के स्वतंत्र हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में भाग ले सकते हैं ;

"ग) सरकार में इस प्रकार भाग लेने की एक लाज़िमी शर्त यह है कि पार्टी अपने प्रतिनिधियों पर कठोर नियंत्रण रखे और सामाजिक-जनवादी पार्टी की स्वतंत्रता, जो पूर्ण समाजवादी क्रांति के लिए प्रयत्नशील है और फलस्वरूप जिसका किसी भी पूंजीवादी पार्टी से किसी भी प्रकार का मेल-मिलाप नहीं हो सकता, पाबंदी के साथ क़ायम रखी जाये ;

"घ) अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में सामाजिक-जनवादियों का भाग लेना संभव हो सके या न हो सके, हमें सर्वहारा वर्ग के व्यापकतम हिस्सों के बीच इस बात का प्रचार करना चाहिये कि क्रांति से जो लाभ हुए हैं उनकी रक्षा करने, उन्हें सुदृढ़ करने तथा बढ़ाने के उद्देश्य से सामाजिक-जनवादी पार्टी के नेतृत्व में सशस्त्र सर्वहारा वर्ग का अस्थायी सरकार पर लगातार दबाव डालते रहना आवश्यक है।"

२. एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के बारे में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस का प्रस्ताव हमें क्या सिखाता है?

जैसा कि उसके शीर्षक से स्पष्ट है रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस का प्रस्ताव पूर्णतः केवल अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के प्रश्न के बारे में है। इसलिए यह सवाल कि सामाजिक-जनवादी अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में हिस्सा ले सकते हैं या नहीं, उसमें पूरे प्रश्न के एक भाग के रूप में शामिल है। दूसरी ओर उसमें केवल अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के प्रश्न पर विचार किया गया है, और किसी चीज़ पर नहीं ; फलस्वरूप उसमें, उदाहरण के लिए, आम तौर पर "सत्ता पर विजय प्राप्त करने" आदि के प्रश्न को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। क्या कांग्रेस ने इस प्रश्न को तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों को छोड़कर उचित किया? निःसंदेह उसने ठीक ही किया क्योंकि रूस की राजनीतिक स्थिति इस प्रकार के प्रश्नों को तात्कालिक समस्याओं के

रूप में नहीं उठाती। इसके विपरीत, इस समय सारी जनता जो सवाल उठा रही है वह एकतंत्र का तख़्ता उलटने और संविधान सभा बुलाने का सवाल है। पार्टी कांग्रेसों को जिन समस्याओं को लेकर उनपर फ़ैसला करना चाहिये वे ऐसी समस्याएं न हों जिनका किसी लेखक ने उचित या अनुचित समय पर कहीं उल्लेख कर दिया हो बल्कि वे ऐसी समस्याएं हों जो वर्तमान परिस्थितियों तथा सामाजिक विकास के वस्तुगत क्रम के कारण बुनियादी राजनीतिक महत्व रखती हों।

वर्तमान क्रांति में और सर्वहारा वर्ग के पूरे संघर्ष में अस्थायी क्रांतिकारी सरकार का क्या महत्व है? प्रस्ताव के शुरू में ही सर्वहारा वर्ग के तात्कालिक हितों और "समाजवाद के अंतिम उद्देश्यों" दोनों ही के दृष्टिकोण से "यथासंभव पूर्णतम राजनीतिक स्वतंत्रता" की आवश्यकता की ओर संकेत करके इस बात को समझाया गया है। और पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए इस बात की आवश्यकता है कि ज़ारशाही एकतंत्र के स्थान पर जनवादी जनतंत्र की स्थापना की जाये जैसा कि हमारी पार्टी के कार्यक्रम में स्वीकार किया जा चुका है। कांग्रेस के प्रस्ताव में जनवादी जनतंत्र के नारे पर जो ज़ोर दिया गया है वह तर्क की दृष्टि से भी आवश्यक है और एक सिद्धांत की बात होने की दृष्टि से भी, क्योंकि सर्वहारा वर्ग जनवाद का प्रमुखतम संघर्षकारी होने के नाते पूर्ण स्वतंत्रता ही प्राप्त करने की कोशिश कर रहा है। इसके अतिरिक्त इस बात पर इस समय ज़ोर देना इसलिए और भी वांछनीय है कि ठीक इसी समय हमारे देश में राजतंत्रवादी, अर्थात् तथाकथित सांविधानिक-"जनवादी" पार्टी, या "ओस्वोबोज्देनिये" पार्टी के लोग, "जनवाद" का झंडा लेकर चल रहे हैं। जनतंत्र की स्थापना के लिए यह नितांत आवश्यक है कि जनता के प्रतिनिधियों की एक सभा हो, और इस सभा को राष्ट्रव्यापी (सार्विक तथा समान मताधिकार, सीधे चुनावों तथा गुप्त मतदान के आधार पर चुनी गयी) तथा संविधान सभा होना चाहिये। इस बात को भी कांग्रेस के प्रस्ताव में आगे चलकर स्वीकार किया गया है। परंतु प्रस्ताव में केवल इतनी ही बात नहीं कही गयी है। ऐसी नयी व्यवस्था स्थापित करने के लिए जो "सचमुच जनता की इच्छा को व्यक्त करे" प्रतिनिधि सभा को संविधान सभा कह देना ही काफ़ी नहीं है। इस सभा को "संविधान बनाने" का अधिकार तथा शक्ति होनी चाहिये।

इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रस्ताव अपने आपको "संविधान सभा" के औपचारिक नारे तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि उन भौतिक परिस्थितियों को भी उसमें शामिल करता है जिनके होने पर ही वह सभा अपने कामों को सचमुच पूरा कर सकती है। उन परिस्थितियों को विशिष्ट रूप से बताना नितान्त आवश्यक है, जिनके होने पर वह सभा, जो केवल कहने को ही संविधान सभा है, वास्तव में संविधान सभा बन सकती है, क्योंकि जैसा कि हम अनेक बार बता चुके हैं, उदारवादी पूंजीपति वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व सांविधानिक-राजतंत्रवादी पार्टी करती है, जान-बूझकर जन-संविधान सभा के नारे को तोड़-मरोड़कर पेश कर रहा है और उसे केवल एक खोखला फ़िक़रा बनाये दे रहा है।

कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया है कि, **केवल** अस्थायी क्रांतिकारी सरकार ही, जो इसके अतिरिक्त विजयी जन-विद्रोह की अभिव्यक्ति का माध्यम होगी, चुनाव आंदोलन में प्रचार की पूर्ण स्वतंत्रता दिला सकती है और एक ऐसी सभा का आयोजन कर सकती है जो सचमुच जनता की इच्छा को व्यक्त करती हो। क्या यह बुनियादी बात सही है? जो भी अपने मन में इसका विरोध करने की ठानेगा उसे यह दावा करना पड़ेगा कि ज़ारशाही सरकार के लिए यह संभव है कि वह प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पक्ष न ले, कि वह चुनावों के दौरान में निष्पक्ष रह सकती है, कि वह इस बात का प्रबंध करेगी कि जनता की इच्छा सचमुच व्यक्त हो। इस प्रकार के दावे इतने बेसिर-पैर के हैं कि कोई भी खुले तौर पर उनका समर्थन करने का साहस नहीं करेगा, परंतु हमारे ओस्वोबोज्देंत्सी उन्हें उदारवादी रंगों में रंगकर चोरी से ला रहे हैं। संविधान सभा बुलानेवाला कोई होना चाहिये, किसी को इस बात की गारंटी देनी चाहिये कि चुनाव में पूरी स्वतंत्रता और ईमानदारी रहेंगी; किसी को ऐसी सभा को पूरी ताक़त तथा प्राधिकार देना चाहिये। केवल एक क्रांतिकारी सरकार ही, जो विद्रोह का साधन होगी, पूरी ईमानदारी के साथ इसकी इच्छा रख सकती है और इसे पूरा करने के लिए सभी आवश्यक क़दम उठा सकती है। ज़ारशाही सरकार अनिवार्य रूप से इसकी काट करेगी। उदारवादी सरकार, जो ज़ार के साथ समझौता कर लेगी, और जो पूरी तरह जनता के विद्रोह पर भरोसा नहीं करती, ईमानदारी के साथ इस बात की इच्छा नहीं रख सकती, और यदि वह पूरी ईमानदारी के साथ इसकी इच्छा रखती भी हो तो वह इसे पूरा नहीं कर

सकती। इसलिए, कांग्रेस के प्रस्ताव में एकमात्र सही और पूर्णतः सुसंगत जनवादी नारा दिया गया है।

परंतु यदि जनवादी क्रांति के वर्ग-स्वरूप को ध्यान में न रखा जाये तो अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के महत्व का मूल्यांकन अपूर्ण तथा झूठा होगा। इसलिए प्रस्ताव में यह बात भी शामिल कर दी गयी है कि क्रांति पूंजीपति वर्ग के शासन को मज़बूत करेगी। वर्तमान, अर्थात् पूंजीवादी, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में ऐसा होना अनिवार्य है। और सर्वहारा वर्ग के ऊपर, जिसने कुछ हद तक राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, पूंजीपति वर्ग का शासन मज़बूत होने का नतीजा अनिवार्य रूप से यह होगा कि उनके बीच सत्ता के लिए भीषण संघर्ष होगा, इसका नतीजा अनिवार्य रूप से यह होगा कि पूंजीपति वर्ग अपना पूरा ज़ोर लगाकर "सर्वहारा वर्ग से क्रांतिकारी युग की प्राप्त की हुई सुविधाएं छीनने" की कोशिश करेगा। इसलिए सर्वहारा वर्ग को, जो सबसे आगे रहकर और सबसे प्रमुख रूप से जनवाद के लिए लड़ रहा है, उन नये विरोधों की बात, जो पूंजीवादी जनवाद में अंतर्निहित होते हैं, और नये संघर्ष की बात एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिये।

इस प्रकार, प्रस्ताव के जिस भाग पर हमने अभी विचार किया है उसमें स्वतंत्रता के लिए तथा जनतंत्र के लिए संघर्ष के प्रसंग में, संविधान सभा के प्रसंग में और जनवादी क्रांति के प्रसंग में, जो कि एक नये वर्ग-संघर्ष के लिए ज़मीन तैयार करती है, अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के महत्व का पूरी तरह मूल्यांकन किया गया है।

इसके बाद सवाल यह उठता है कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की तरफ़ आम तौर पर सर्वहारा वर्ग का रवैया क्या होना चाहिये? कांग्रेस के प्रस्ताव में इसका उत्तर सबसे पहले पार्टी को यह सलाह देकर दिया गया है कि वह मज़दूर वर्ग के बीच इस विश्वास को फैलाये कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार आवश्यक है। मज़दूर वर्ग में इस आवश्यकता का आभास पैदा किया जाना चाहिये। जबकि "जनवादी" पूंजीपति वर्ग ज़ारशाही सरकार का तख़्ता उलटने के प्रश्न को सबसे पीछे डाल देता है, हमें इसे सबसे आगे रखना चाहिये और अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की आवश्यकता पर ज़ोर देना चाहिये। इतना ही नहीं हमें ऐसी सरकार के लिए एक ऐसा कार्यक्रम तैयार करना चाहिये जो

उस ऐतिहासिक काल की परिस्थितियों के, जिससे होकर हम इस समय गुज़र रहे हैं, और सर्वहारा जनवाद के उद्देश्यों के सर्वथा अनुकूल हो। यह कार्यक्रम हमारी पार्टी का **पूरा** अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम है, वह उन तात्कालिक राजनीतिक तथा आर्थिक सुधारों का कार्यक्रम है जिन्हें एक ओर तो वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों के आधार पर पूरी तरह लागू किया जा सकता है और दूसरी ओर जो अगले क़दम के लिए, समाजवाद की स्थापना के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार प्रस्ताव में अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के स्वरूप तथा उद्देश्यों को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया गया है। अपनी उत्पत्ति तथा अपने बुनियादी स्वरूप के कारण ऐसी सरकार को जन-विद्रोह का साधन होना चाहिये। उसका औपचारिक उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह एक जन-संविधान सभा बुलाने के साधन का काम करे। उसकी गतिविधियों का सार-तत्व सर्वहारा जनवाद के अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम को व्यवहार में पूरा करना होना चाहिये, जो एकमात्र ऐसा कार्यक्रम है जो उस जनता के हितों की रक्षा करने की क्षमता रखता है जो एकतंत्र के ख़िलाफ़ उठ खड़ी हुई है।

यह दलील दी जा सकती है कि अस्थायी सरकार केवल अस्थायी होने के कारण उस रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा नहीं कर सकती जिसे पूरी जनता का अनुमोदन प्राप्त न हो चुका हो। इस प्रकार की दलील प्रतिक्रियावादियों तथा "निरंकुशतावादियों" का कुतर्क होगा। रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने से बाज़ रहने का मतलब है मरणोन्मुख एकतंत्र के सामंती शासन के अस्तित्व को बर्दाश्त करना। इस प्रकार के शासन को केवल क्रांति के साथ ग़द्दारी करनेवालों की सरकार ही बर्दाश्त कर सकती है, वह सरकार नहीं बर्दाश्त कर सकती जो जन-विद्रोह का साधन हो। किसी के लिए भी यह सुझाव रखना बेहूदा बात होगी कि जब तक संविधान सभा सभाएं करने की स्वतंत्रता की पुष्टि न कर दे तब तक हम इस स्वतंत्रता का उपभोग करने से बाज़ रहें क्योंकि हो सकता है कि शायद संविधान सभा सभाएं करने की स्वतंत्रता की पुष्टि न करे! अस्थायी क्रांतिकारी सरकार द्वारा अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम की तत्काल पूर्ति पर आपत्ति करना भी इतनी ही बेहूदा बात है।

अंत में हम कहेंगे कि अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम को पूरा करने का काम अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के ज़िम्मे करके प्रस्ताव में अधिकतम कार्यक्रम को

तत्काल पूरा करने से संबंधित, समाजवादी क्रांति के लिए सत्ता पर अधिकार स्थापित करने से संबंधित बेतुके तथा अर्ध-अराजकतावादी विचारों को बिल्कुल ख़त्म कर दिया गया है। रूस के आर्थिक विकास के स्तर (एक वस्तुगत परिस्थिति) और सर्वहारा वर्ग के व्यापक हिस्सों की वर्ग-चेतना तथा उनके संगठन के स्तर के कारण (एक आत्मगत परिस्थिति, जो वस्तुगत परिस्थिति से अभिन्न रूप से बन्धी हुई है) फ़ौरन मज़दूर वर्ग की पूर्ण मुक्ति असंभव है। केवल वे ही लोग जो बिल्कुल अज्ञानी हैं इस समय हो रही पूंजीवादी क्रांति के पूंजीवादी स्वरूप की उपेक्षा कर सकते हैं; केवल बहुत ही भोले आशावादी इस बात को भुला सकते हैं कि आम मज़दूरों को समाजवाद के उद्देश्यों तथा उसे प्राप्त करने के उपायों के बारे में अभी तक कितनी कम जानकारी है। और हम सबका यह दृढ़ विश्वास है कि मज़दूरों की मुक्ति स्वयं मज़दूरों के ही हाथों हो सकती है; जब तक जन-साधारण वर्ग-चेतन तथा संगठित न हो जायें, जब तक वे पूरे पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ खुले वर्ग-संघर्ष की शिक्षा प्राप्त करके उसमें अभ्यस्त न हो जायें तब तक समाजवादी क्रांति का सवाल ही पैदा नहीं होता। इस प्रकार की अराजकतावादी आपत्तियों के उत्तर में कि हम समाजवादी क्रांति को टाल रहे हैं, हम कहते हैं: हम उसे टाल नहीं रहे हैं, बल्कि हम उसकी दिशा में एकमात्र संभव तरीक़े से, एकमात्र उचित मार्ग पर, अर्थात् जनवादी जनतंत्र के मार्ग पर, पहला क़दम बढ़ा रहे हैं। जो भी किसी दूसरे मार्ग से, राजनीतिक जनवाद के अतिरिक्त किसी दूसरे मार्ग से समाजवाद तक पहुंचना चाहता है वह अनिवार्य रूप से ऐसे नतीजों पर पहुंचेगा जो आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही एतबार से बेतुके तथा प्रतिक्रियावादी होंगे। यदि कोई मज़दूर हमसे इस घड़ी यह सवाल करेंगे कि हम आगे बढ़कर अधिकतम कार्यक्रम को पूरा क्यों न कर डालें तो हम उनके उत्तर में यह बतायेंगे कि जनवादी विचार रखनेवाले जन-साधारण अभी तक समाजवाद से कितने दूर हैं, वर्ग-विरोध अभी तक कितने अविकसित हैं, सर्वहारा वर्ग के लोग अभी तक कितने असंगठित हैं। सारे रूस में लाखों मज़दूरों को संगठित करो, हमारे कार्यक्रम के प्रति लाखों-करोड़ों लोगों की सहानुभूति प्राप्त करो! अपने आपको भारी-भरकम पर खोखले अराजकतावादी फ़िक़रों तक सीमित रखे बिना इस काम को करने की कोशिश करो—और तब तुम्हारी समझ में यह बात

फ़ौरन ग्रा जायेगी कि यह संगठन पैदा करने के लिए, इस समाजवादी शिक्षा का प्रचार करने के लिए हमें यथासंभव पूर्णतम जनवादी सुधार लागू करने चाहिये।

ग्राइये, ग्रौर ग्रागे बढ़ें। एक बार ग्रस्थायी क्रांतिकारी सरकार के महत्व ग्रौर उसके प्रति सर्वहारा वर्ग के रवैये को स्पष्ट रूप से समझ लेने के बाद यह सवाल पैदा होता है: क्या उसमें भाग लेना हमारे लिए उचित है (ऊपर से कार्रवाई) ग्रौर यदि है, तो किन शर्तों पर? नीचे से हमारी कार्रवाई क्या होनी चाहिये? प्रस्ताव में इन दोनों प्रश्नों का नपा-तुला सही-सही उत्तर दिया गया है। उसमें ज़ोर देकर घोषणा की गयी है कि सिद्धांततः सामाजिक-जनवादियों के लिए ग्रस्थायी क्रांतिकारी सरकार में भाग लेना **उचित** है (जनवादी क्रांति के ज़माने में, जनतंत्र के लिए संघर्ष के ज़माने में)। इस घोषणा द्वारा हम हमेशा के लिए ग्रपने ग्रापको ग्रराजकतावादियों से भी ग्रलग कर लेते हैं, जो सिद्धांततः इस प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में देते हैं, ग्रौर सामाजिक-जनवादियों के बीच पाये जानेवाले उन पुछल्लावादियों (मार्तिनोव तथा नये 'ईस्क्रा'-वादियों जैसे लोग) से भी ग्रलग कर लेते हैं, जिन्होंने हमें ऐसी परिस्थिति की संभावना से **डराने की कोशिश की है** जिसमें हमारे लिए ऐसी सरकार में भाग लेना ग्रावश्यक हो जाये। इस घोषणा द्वारा रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस ने हमेशा के लिए नये 'ईस्क्रा' में व्यक्त किये गये इस विचार को ठुकरा दिया कि ग्रस्थायी क्रांतिकारी सरकार में सामाजिक-जनवादियों का भाग लेना एक प्रकार का मिलेरांवाद[12] होगा, कि वह सिद्धांततः ग्रनुचित है, क्योंकि वह पूंजीवादी व्यवस्था को उचित ठहराना होगा, ग्रादि।

परंतु सिद्धांततः उचित होने से, ज़ाहिर है, व्यावहारिक ग्रावश्यकता की समस्या हल नहीं होती। संघर्ष का यह नया रूप – पार्टी कांग्रेस द्वारा स्वीकार किया गया "ऊपर से" संघर्ष – किन परिस्थितियों में उचित होगा? यह तो मानी हुई बात है कि इस समय ठोस परिस्थितियों की, जैसे शक्तियों के परस्पर संबंध ग्रादि की, बात करना ग्रसंभव है, ग्रौर स्वाभाविक रूप से प्रस्ताव में इन परिस्थितियों की व्याख्या पहले से नहीं की गयी है। कोई भी समझदार ग्रादमी इस समय इस विषय पर कोई भी भविष्यवाणी करने का साहस नहीं करेगा। हम जो कर सकते हैं ग्रौर जो हमें करना चाहिये वह यह है कि हम यह तै

करें कि हम किस शक्ल में और किस उद्देश्य से उसमें भाग लेंगे। प्रस्ताव में ठीक यही बात की गयी है, उसमें हमारे भाग लेने के दो उद्देश्य बताये गये हैं: १) क्रांति-विरोधी कोशिशों के ख़िलाफ़ निर्मम संघर्ष, और २) मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र हितों की रक्षा। ऐसे समय पर जबकि उदारवादी पूंजीपति वर्ग क्रांतिकारी जनता को डराने और उसमें एकतंत्र के प्रति आज्ञापालन की भावना जागृत करने की कोशिश में बड़ी मेहनत से प्रतिक्रिया की मनोवृत्ति की बातें करने लगा है ('ओस्वोबोज्देनिय' के ७१वें अंक में श्री स्त्रूवे का अत्यंत शिक्षाप्रद "खुला पत्र" देखिये) – ऐसे समय पर सर्वहारा वर्ग की पार्टी के लिए प्रतिक्रांति के विरुद्ध एक सच्ची लड़ाई लड़ने की आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित कराना विशेष रूप से उपयुक्त है। अंतिम विश्लेषण में राजनीतिक स्वतंत्रता तथा वर्ग-संघर्ष की बड़ी-बड़ी समस्याएं शक्ति के बल पर ही तै होती हैं, और यह हमारा काम है कि हम ऐसी शक्ति को तैयार करें तथा संगठित करें और सक्रिय रूप से केवल बचाव के लिए ही नहीं बल्कि आक्रमण के लिए भी उसे इस्तेमाल करें। यूरोप में राजनीतिक प्रतिक्रिया के लम्बे शासन ने, जो पेरिस कम्यून[13] के दिनों से लगभग निरंतर क़ायम रहा है, हमें इस विचार का बहुत आदी बना दिया है कि कोई क़दम "नीचे से" ही उठाया जा सकता है, उसने हमें केवल प्रतिरक्षात्मक संघर्षों का बहुत आदी बना दिया है। निःसंदेह अब हमने एक नये युग में प्रवेश किया है: राजनीतिक उथल-पुथल और क्रांतियों का युग आरंभ हो गया है। इस समय रूस जिस दौर से होकर गुजर रहा है उसमें हमारे लिए अपने आपको पुराने, पिटे-पिटाये सूत्रों तक ही सीमित रखना उचित नहीं है। हमें ऊपर से कार्रवाई के विचार का प्रचार करना चाहिये, हमें अत्यंत जोरदार आक्रामक कार्रवाई के लिए तैयारी करनी चाहिये और ऐसी कार्रवाइयों के लिए आवश्यक शर्तों तथा उनके रूपों का अध्ययन करना चाहिये। कांग्रेस के प्रस्ताव में इस प्रकार की दो शर्तों को सबसे प्रमुख स्थान दिया गया है: एक का संबंध तो अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में सामाजिक-जनवादियों के भाग लेने के औपचारिक पहलू से है (अपने प्रतिनिधियों पर पार्टी का कठोर नियंत्रण) और दूसरी का संबंध इस भाग लेने के स्वरूप के साथ ही है (पूर्ण समाजवादी क्रांति को व्यवहार में पूरा करने के उद्देश्य को एक क्षण के लिए भी आंख से ओझल न होने देना)।

इस प्रकार "ऊपर से" कार्रवाई के संबंध में—जो संघर्ष का नया और प्रायः बिल्कुल ही अभूतपूर्व तरीक़ा है—पार्टी की नीति को हर पहलू से समझा चुकने के बाद प्रस्ताव में इस संभावना की भी गुंजाइश रखी गयी है कि शायद हम ऊपर से कोई कार्रवाई न कर सकें। हमें अस्थायी क्रांतिकारी सरकार पर नीचे से दबाव तो हर हालत में डालना चाहिये। नीचे से यह दबाव डाल सकने के लिए सर्वहारा वर्ग को सशस्त्र होना चाहिये—क्योंकि क्रांतिकारी परिस्थिति में घटनाएं बड़ी तेज़ी से विकसित होकर खुले गृहयुद्ध की मंज़िल में पहुंच जाती हैं—और उसका नेतृत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी के हाथों में होना चाहिये। इस सशस्त्र दबाव का उद्देश्य "क्रांति से जो लाभ हुए हैं उनकी रक्षा करना, उन्हें सुदृढ़ करना तथा बढ़ाना" है, अर्थात् वे लाभ जो सर्वहारा वर्ग के हितों के दृष्टिकोण से हमारे पूरे न्यूनतम कार्यक्रम की पूर्ति में निहित होने चाहिये।

इतना कहकर हम अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के बारे में तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव का अपना संक्षिप्त विश्लेषण समाप्त करते हैं। जैसा कि पाठक देख सकते हैं, प्रस्ताव म समझाया गया है कि इस नयी समस्या का महत्व क्या है, उसकी ओर सर्वहारा वर्ग की पार्टी का रवैया क्या होना चाहिये और अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के भीतर तथा उसके बाहर पार्टी को क्या नीति अपनानी चाहिये।

आइये, अब हम इसी विषय पर "सम्मेलन" के प्रस्ताव पर विचार करें।

३. "ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" क्या है?

"सम्मेलन" का प्रस्ताव इस समस्या के बारे में है: "**सत्ता पर अधिकार और अस्थायी सरकार में भाग लेना।**"* जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं इस प्रश्न

---

*इस पुस्तिका के पृष्ठ ४००, ४०३, ४०७, ४३१ तथा ४३३ पर दिये गये उद्धरणों को जोड़कर पाठक इस पूरे प्रस्ताव के शब्द प्राप्त कर सकते हैं। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी।) (प्रस्तुत ग्रंथ के पृष्ठ ३४, ४२, ४८, ९१ तथा ९६ देखिये।—सं०)

को जिस ढंग से पेश किया गया है उसी से उलझाव का पता चलता है। एक ओर, प्रश्न को संकुचित ढंग से पेश किया गया है: इसमें केवल हमारे अस्थायी सरकार में भाग लेने पर विचार किया गया है और अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के संबंध में पार्टी के कामों पर आम तौर पर विचार नहीं किया गया है। दूसरी ओर, दो बिल्कुल ही अलग सवालों को एक में मिला दिया गया है, अर्थात् **जनवादी** क्रांति की एक मंज़िल में हमारे भाग लेने के प्रश्न को और **समाजवादी** क्रांति के प्रश्न को। यह तो सच है कि सामाजिक-जनवाद द्वारा "सत्ता पर अधिकार" समाजवादी क्रांति है, और यदि हम इन शब्दों का प्रयोग उनके प्रत्यक्ष और आम तौर पर स्वीकार किये जानेवाले अर्थ में करें तो इसका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। परंतु यदि हम इन शब्दों का यह अर्थ लगायें कि सत्ता पर अधिकार समाजवादी क्रांति के लिए नहीं बल्कि जनवादी क्रांति के लिए होगा तो फिर न केवल अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में भाग लेने के बारे में बल्कि **आम तौर पर** "सत्ता पर अधिकार" के बारे में भी बात करने का क्या फ़ायदा है? ज़ाहिर है कि ख़ुद हमारे "सम्मेलनवालों" के दिमाग़ में यह बात साफ़ नहीं थी कि उन्हें किस चीज़ के बारे में बात करनी चाहिये: जनवादी क्रांति के बारे में या समाजवादी क्रांति के बारे में। जिन लोगों ने इस समस्या से संबंधित साहित्य को ध्यानपूर्वक पढ़ा है वे इस बात को जानते हैं कि कामरेड मार्तिनोव ही थे जिन्होंने अपनी कुख्यात रचना 'दो अधिनायकत्व' में यह घोटाला आरंभ किया था: नये 'ईस्क्रा'-वादी इस बात को याद करने में संकोच करते हैं कि (९ जनवरी से पहले) उस आदर्श पुछल्लावादी रचना में इस प्रश्न को किस ढंग से पेश किया गया था। फिर भी इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि सम्मेलन पर इसका सैद्धांतिक प्रभाव पड़ा।

परंतु प्रस्ताव के शीर्षक को छोड़िये। उसके अंदर जो बातें कही गयी हैं उनमें तो इससे भी कहीं गहरी तथा गंभीर ग़लतियों का पता चलता है। प्रस्ताव का पहला भाग इस प्रकार है:

"ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय या तो इस शक्ल में होगी कि एक अस्थायी सरकार की स्थापना हो जाये, जो विजयी जन-विद्रोह में से उत्पन्न होगी, या क्रांतिकारी पहलक़दमी किसी न किसी ऐसी प्रतिनिधि संस्था के हाथ में जाये जो जनता के सीधे क्रांतिकारी दबाव में एक जन-संविधान सभा स्थापित करने का फ़ैसला करे।"

इस प्रकार, हमें बताया गया है कि ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायिक विजय या तो इस शक्ल में होगी कि सफल विद्रोह हो जाये, या... एक प्रतिनिधि संस्था संविधान सभा स्थापित करने का फ़ैसला करे! इसका क्या मतलब है? हम इसका क्या मतलब समझें? निर्णायिक विजय उस शक्ल में हो सकती है जब संविधान सभा की स्थापना का "फ़ैसला" हो?? और इस प्रकार की "विजय" को एक ऐसी अस्थायी सरकार की स्थापना की बराबरी पर रखा गया है जो "विजयी जन-विद्रोह में से उत्पन्न होगी"!! सम्मेलन यह न देख सका कि **विजयी** जन-विद्रोह और अस्थायी सरकार की **स्थापना वास्तव में** क्रांति की विजय की द्योतक होंगी, जबकि संविधान सभा की स्थापना का "निर्णय" केवल **शब्दों में** क्रांति की विजय का द्योतक होगा।

मेंशेविकों, अर्थात् नये 'ईस्क्रा'-वादियों के सम्मेलन ने वही ग़लती की जो उदारवादी, ओस्वोबोज्देंत्सी लगातार कर रहे हैं। ओस्वोबोज्देंत्सी "संविधान" सभा के बारे में बहुत बातें बघारते हैं और इस बात की ओर से शरमाकर आंखें मूंद लेते हैं कि सत्ता और अधिकार अभी तक ज़ार के ही हाथों में हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि "संविधान बनाने" के लिए पहले ऐसा करने की **शक्ति** पास होना चाहिये। सम्मेलन इस बात को भी भूल गया कि प्रतिनिधियों द्वारा—वे कोई भी हों—किये गये "निर्णय" और उस निर्णय की पूर्ति के बीच बहुत फ़ासला होता है। सम्मेलन इस बात को भी भूल गया कि जब तक सत्ता ज़ार के हाथों में बनी रहेगी तब तक चाहे कोई भी प्रतिनिधि फ़ैसले कर लें वे खोखली तथा दो कौड़ी की बकवास रहेंगे, जो हालत उस फ़्रैंकफ़ुर्ट संसद[14] के "निर्णयों" की हुई थी, जो १८४८ की जर्मन क्रांति के इतिहास में ख्याति प्राप्त कर चुकी है। अपने 'नोये राइनिशे त्साइटुङ'[15] में क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि मार्क्स ने निर्मम व्यंग के साथ फ़्रैंकफ़ुर्ट के उदारवादी "ओस्वोबोज्देंत्सी" को इसी लिए लताड़ा था कि वे बातें बड़ी अच्छी-अच्छी करते थे, दुनिया भर के जनवादी "निर्णय" करते थे, तरह-तरह की स्वतंत्रताओं का "संविधान बनाते" थे, जबकि वास्तव में उन्होंने सत्ता राजा के हाथों में छोड़ रखी थी और राजा के पास जो सैनिक शक्ति थी उसके ख़िलाफ़ वे सशस्त्र संघर्ष संगठित करने में असफल रहे। और जबकि फ़्रैंकफ़ुर्ट के ओस्वोबोज्देंत्सी बातें बघार रहे थे—राजा उचित अवसर की प्रतीक्षा करता रहा, उसने अपनी सैनिक शक्ति

को संगठित किया और प्रतिक्रांति ने असली ताक़त का सहारा लेकर जनवादियों के तमाम बढ़िया-बढ़िया "निर्णयों" के बावजूद उन्हें बिल्कुल परास्त कर दिया।

सम्मेलन ने ठीक उसी चीज़ को निर्णायक विजय की बराबरी पर रख दिया है जिसमें विजय की लाज़िमी शर्त का अभाव होता है। उन सामाजिक-जनवादियों के लिए, जो हमारी पार्टी के जनतांत्रिक कार्यक्रम को स्वीकार करते हैं, इस प्रकार की ग़लती करना कैसे संभव हुआ? इस विचित्र घटना को समझने के लिए हमें पार्टी से अलग हो जानेवाले भाग के बारे में तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव*

---

*हम यह पूरा प्रस्ताव उद्धृत करते हैं। "कांग्रेस इस बात को दर्ज करती है कि 'अर्थवाद' के ख़िलाफ़ लड़ाई के ज़माने से रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में कुछ ऐसी धाराएं बाक़ी रह गयी हैं जो अलग-अलग हद तक और अलग-अलग एतबार से अर्थवाद से मिलती-जुलती हैं, और जिन सबमें सर्वहारा संघर्ष में चेतना के तत्वों के महत्व को गिराने और उसे स्वयंस्फूर्ति के तत्व के आधीन कर देने की प्रवृत्ति समान रूप से पायी जाती है। संगठन की समस्याओं पर इन धाराओं के प्रतिनिधि सिद्धांत में संगठन-एक-प्रक्रिया वाला उसूल पेश करते हैं, जो पार्टी के विधिवत् काम से मेल नहीं खाता, और व्यवहार में वे बहुत-से मामलों में बाक़ायदा पार्टी के अनुशासन का उल्लंघन करते हैं और कई दूसरे उदाहरणों में वे पार्टी के सबसे कम जागृत हिस्सों में रूस की वस्तुगत परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना निर्वाचन के सिद्धांत को व्यापक रूप से लागू करने के विचार का प्रचार करते हैं और इस प्रकार पार्टी के संबंधों के उस एकमात्र आधार की, जो इस समय संभव है, जड़ों को खोखला करने की कोशिश करते हैं। कार्यनीति-संबंधी समस्याओं में ये धाराएं अपनी अभिव्यक्ति इस रूप में करती हैं कि वे पार्टी के काम के क्षेत्र को संकुचित कर देने की कोशिश करती हैं, वे इस बात का विरोध करती हैं कि पार्टी उदारवादी-पूंजीवादी पार्टियों के संबंध में पूर्णतः स्वतंत्र कार्यनीति अपनाये, वे इस बात से इनकार करती हैं कि हमारी पार्टी के लिए जनता के विद्रोह के संगठनकर्ता की भूमिका धारण करना संभव तथा वांछनीय है और इस बात का विरोध करती हैं कि पार्टी किन्हीं परिस्थितियों में भी अस्थायी जनवादी-क्रांतिकारी सरकार में भाग ले।

की ग्रोर ध्यान देना चाहिय। इस प्रस्ताव में इस बात का उल्लेख किया गया है कि हमारी पार्टी में "ग्रर्थवाद से मिलती-जुलती" कई धाराएं बाक़ी रह गयी हैं। हमारे सम्मेलनवाले (यह बात ग्रकारण नहीं है कि उनका सैद्धांतिक मार्गदर्शन मार्तिनोव करते हैं) क्रांति की बात बिल्कुल उस ढंग से करते हैं जैसे "ग्रर्थवादी" राजनीतिक संघर्ष की या दिन में ग्राठ घंटे काम की बातें करते थे। "ग्रर्थवादियों" ने फ़ौरन "मंज़िलों वाले सिद्धांत" को चालू कर दिया: १) ग्रधिकारों के लिए संघर्ष, २) राजनीतिक ग्रांदोलन, ३) राजनीतिक संघर्ष; या १) दिन में दस घंटे काम, २) दिन में नौ घंटे काम, ३) दिन में ग्राठ घंटे काम। इस "कार्यनीति-एक-प्रक्रिया" के परिणामों से सभी लोग काफ़ी ग्रच्छी तरह परिचित हैं। ग्रब हमको निमंत्रण दिया जा रहा है कि हम क्रांति को भी ग्रत्यंत सुचारु रूप से निम्नलिखित मंज़िलों में बांट दें: १) ज़ार प्रतिनिधि संस्था का ग्रायोजन करता है; २) यह प्रतिनिधि संस्था "जनता" के दबाव में ग्राकर संविधान सभा की स्थापना का "निर्णय करती है"; ३)... मेंशेविक ग्रभी तक ग्रापस में तीसरी मंज़िल के बारे में सहमत नहीं हैं, वे इस बात को भूल गये हैं कि जनता के क्रांतिकारी दबाव का मुक़ाबला ज़ारशाही के क्रांति-विरोधी दबाव से किया जायेगा ग्रौर इसलिए यह "निर्णय" या तो पूरा ही नहीं होगा या ग्राख़िरकार यह सवाल जन-विद्रोह की विजय या पराजय द्वारा तै होगा। सम्मेलन का प्रस्ताव "ग्रर्थवादियों" की निम्नलिखित तर्क-शैली की हूबहू नक़ल है: मज़दूरों की निर्णायक विजय या तो इस शक्ल में होगी कि क्रांतिकारी ढंग से दिन में ग्राठ घंटे काम की पद्धति लागू करवा ली जाये या इस शक्ल

"कांग्रेस हर जगह पार्टी के सभी सदस्यों को ग्रादेश देती है कि वे क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के सिद्धांतों से इन ग्रांशिक गुमराहियों के ख़िलाफ़ डटकर सैद्धांतिक संघर्ष करें, परंतु इसके साथ ही उसका यह मत है कि जो लोग किसी भी हद तक इस प्रकार के विचार रखते हैं वे इसी लाज़िमी शर्त पर पार्टी के किसी संगठन में शामिल हो सकते हैं कि वे पार्टी की कांग्रेसों तथा पार्टी की नियमावली को मानें ग्रौर पूरी तरह पार्टी के ग्रनुशासन के ग्राधीन रहें।" (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी।–सं०)

में कि दिन में दस घंटे काम की पद्धति मजूर कर दी जाये और उसे कुछ दिन बाद नौ घंटे की पद्धति में परिवर्तित कर देने का "निर्णय" कर लिया जाये... हूबहू वही बात है।

शायद यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रस्ताव तैयार करनेवालों का यह अभीष्ट नहीं था कि वे क्रांति की विजय को ज़ार द्वारा बुलायी गयी प्रतिनिधि संस्था के "निर्णय" की **बराबरी पर रखें**, कि वे तो केवल दोनों ही सूरतों के लिए पार्टी की कार्यनीति का प्रबंध कर देना चाहते थे। इसपर हमारा उत्तर यह होगा: १) प्रस्ताव में प्रतिनिधि संस्था के **निर्णय** को साफ़-साफ़ तथा असंदिग्ध रूप से "ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" कहा गया है। शायद यह शब्दों को ध्यानपूर्वक न चुनने का परिणाम है, शायद कार्यवाही को देखने के बाद उसे सही किया जा सकता है, परंतु जब तक उसे सही नहीं किया जाता, तब तक प्रस्ताव के वर्तमान शब्दों का तो केवल एक ही अर्थ हो सकता है और यह अर्थ **ओस्वोबोज्देनिये की तर्क-शैली** से पूरी तरह मेल खाता है। २) 'ओस्वोबोज्देनिये' की तर्क-शैली, जिसमें इस प्रस्ताव को तैयार करनेवाले भटककर पहुंच गये हैं, नये 'ईस्क्रा'-वादियों की अन्य साहित्यिक रचनाओं में कहीं ज़्यादा उभरकर सामने आती है। उदाहरण के लिए, तिफ़लिस समिति के मुखपत्र 'सोत्सिअल-देमोक्रात'[16] ने (जार्जियाई भाषा में, जिसकी प्रशंसा 'ईस्क्रा' के १००वें अंक में की गयी है) "ज़ेम्स्की सोबोर तथा हमारी कार्यनीति" शीर्षक लेख में यहां तक कहा है कि वह "कार्यनीति" "जिसके कारण ज़ेम्स्की सोबोर हमारी गतिविधियों का केंद्र बन गया है" (हम यह भी कह दें कि जिसके आयोजन के बारे में अभी तक निश्चित रूप से कुछ भी मालूम नहीं है!) सशस्त्र विद्रोह तथा अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की स्थापना की "कार्यनीति" की अपेक्षा **"हमारे लिए अधिक हितकर है"**। हम आगे चलकर इस लेख का फिर उल्लेख करेंगे। ३) इस बात पर प्राथमिक बहस करने पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि क्रांति की विजय होने की दशा में, और क्रांति की पराजय होने की दशा में भी, उस दशा में जब विद्रोह सफल हो जाये और उस दशा में भी जब विद्रोह विकसित होकर एक ज़बर्दस्त शक्ति न बन पाये, पार्टी को क्या कार्यनीति अपनानी चाहिये। यह हो सकता है कि ज़ारशाही सरकार उदारवादी पूंजीपति

वर्ग से समझौता कर लेने के लिए एक प्रतिनिधि सभा का आयोजन करने में सफल हो जाये ; ऐसी संभावना की गुंजाइश रखते हुए तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव में साफ़-साफ़ शब्दों में "मक्कारी की नीति", "तथाकथित जनवाद", "जनता के प्रतिनिधित्व के तथाकथित ज़ेम्स्की सोबोर जैसे किसी ढोंग" के बारे में कहा गया है*। परंतु असल बात तो यह है कि यह बात अस्थायी क्रांतिकारी सरकार से संबंधित

---

*क्रांति से फ़ौरन पहले सरकार की कार्यनीति की ओर रवैये के बारे में पूरा प्रस्ताव इस प्रकार है:

"चूंकि आत्म-संरक्षण के उद्देश्यों के लिए सरकार वर्तमान क्रांतिकारी काल के दौरान में मुख्यतः सर्वहारा वर्ग के वर्ग-चेतन तत्वों के ख़िलाफ़ दमन के आम तौर पर प्रचलित उपायों को और तेज़ कर देने के साथ ही १) रिआयतें देकर तथा सुधार के वादे करके राजनीतिक रूप से मज़दूर वर्ग को भ्रष्ट करने की और इस प्रकार उसे क्रांतिकारी संघर्ष के पथ से हटा देने की कोशिश करती है; २) इसी उद्देश्य से वह रिआयतों की अपनी इस मक्कारी की नीति को तथाकथित जनवादी रूपों की आड़ में पेश करती है, जिसकी शुरुआत वह मज़दूरों को यह निमंत्रण देकर करती है कि वे आयोगों तथा सम्मेलनों के लिए अपने प्रतिनिधि स्वयं चुन लें और जिसका अंत जनता के प्रतिनिधित्व के तथाकथित ज़ेम्स्की सोबोर जैसे किसी ढोंग की स्थापना पर होता है; ३) वह उन लोगों को संगठित करती है जिन्हें यमदूत सभा[17] कहा जाता है और जनता के उन सभी तत्वों को क्रांति के ख़िलाफ़ उकसाती है जो प्रतिक्रियावादी हैं, या जाहिल हैं या जातीय अथवा धार्मिक घृणा के कारण अंधे हो गये हैं,–

"रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस पार्टी के सभी संगठनों का इस बात के लिए आवाहन करने का फ़ैसला करती है कि:

"क) वे सरकार की रिआयतों के प्रतिक्रियावादी उद्देश्य की कलई खोलते हुए अपने प्रचार तथा आंदोलन में एक ओर तो इस बात पर ज़ोर दें कि ये रिआयतें मजबूर होकर दी गयी हैं और दूसरी ओर यह कि एकतंत्र के लिए ऐसे सुधार करना बिल्कुल नामुमकिन है जो सर्वहारा वर्ग के लिए संतोषजनक हों;

"ख) चुनाव की मुहिम का फ़ायदा उठाकर वे मज़दूरों को सरकार द्वारा उठाये गये क़दमों का वास्तविक सार समझायें और यह बतायें कि सर्वहारा वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वह सार्विक तथा समान मताधिकार, सीधे चुनाव तथा गुप्त मतदान के आधार पर क्रांतिकारी ढंग से संविधान सभा का आयोजन करे;

प्रस्ताव में नहीं कही गयी है, क्योंकि इसका अस्थायी क्रांतिकारी सरकार से कोई संबंध नहीं है। यह परिस्थिति विद्रोह की और एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की स्थापना की समस्या को स्थगित कर देती है; वह समस्या को बदल देती है, आदि। अब सवाल इस बात का नहीं है कि हर तरह के संयोग संभव हैं, विजय और पराजय दोनों ही संभव हैं, सीधे रास्ते भी हो सकते हैं और चक्करदार भी; बात यह है कि किसी भी सामाजिक-जनवादी को इस बात की इजाज़त नहीं हो सकती कि वह सच्चे क्रांतिकारी पथ के बारे में मज़दूरों के दिमाग़ में उलझाव पैदा करे, इस बात की क़तई इजाज़त नहीं हो सकती कि ओस्वोबोज्देनिये के ढंग से उस चीज़ को निर्णायक विजय कहा जाये जिसमें विजय की **मुख्य** शर्त भी ग़ायब है। यह हो सकता है कि हमारी दिन में आठ घंटे काम की मांग भी एक ही वार में पूरी न हो बल्कि बहुत ही लम्बे तथा चक्करदार रास्ते से पूरी हो, पर आप उस आदमी को क्या कहेंगे जो ऐसी दुर्बलता को, ऐसी कमज़ोरी को, मज़दूरों की विजय कहे जो सर्वहारा वर्ग से टालमटोल, विलम्ब, झिक-झिक, विश्वासघात और प्रतिक्रिया के ख़िलाफ़ लड़ने की उसकी **क्षमता छीन लेती हो?** यह संभव है कि रूसी क्रांति की परिणति एक "गर्भपात संविधान" में हो, जैसा कि एक बार 'व्पेर्योद'* में कहा गया था, परंतु क्या इस बात से उस सामाजिक-

---

"ग) वे दिन में आठ घंटे काम की मांग को और मज़दूर वर्ग की अन्य तात्कालिक मांगों को फ़ौरन क्रांतिकारी ढंग से पूरा कराने के लिए सर्वहारा वर्ग को संगठित करें;

"घ) वे यमदूत सभा वालों की हरकतों के ख़िलाफ़ और सरकार के नेतृत्व में काम करनेवाले सभी प्रतिक्रियावादी तत्वों की हरकतों के ख़िलाफ़ आम तौर पर सशस्त्र प्रतिरोध संगठित करें।" (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी। – सं०)

*'व्पेर्योद' अख़बार, जो जेनेवा से प्रकाशित होता था, पार्टी के बोल्शेविक हिस्से के मुखपत्र के रूप में जनवरी १९०५ से निकलना शुरू हुआ। जनवरी से मई तक उसके अठारह अंक प्रकाशित हुए। मई के बाद रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के फ़ैसले के अनुसार रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के केंद्रीय मुखपत्र के रूप में 'व्पेर्योद' के स्थान पर 'प्रोलेतारी' निकाला गया। (यह कांग्रेस मई में लंदन में हुई थी, मेंशेविक वहां नहीं आये; उन्होंने जेनेवा में अपना अलग "सम्मेलन" संगठित किया।) (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी। – सं०)

जनवादी की हरकत को उचित ठहराया जा सकता है जो एक निर्णायक संघर्ष से फ़ौरन पहले इस विफलता को "ज़ारशाही पर निर्णायक विजय" कहे? यह संभव है कि बुरी से बुरी बात यह हो सकती है कि हमें न केवल जनतंत्र न मिले बल्कि जो संविधान हमें मिले भी वह एक छलावा हो, "शिपोव मार्का"[18] संविधान हो, परंतु क्या किसी सामाजिक-जनवादी के लिए हमारे जनतंत्र के नारे पर परदा डालना क्षम्य होगा?

ज़ाहिर है कि नये 'ईस्क्रा'-वादी अभी इस हद तक तो नहीं गये हैं कि वे उसपर परदा डालें। परंतु उनमें से क्रांतिकारी भावना का जिस हद तक लोप हो चुका है, निष्प्राण पांडित्य ने तात्कालिक संघर्षमय कामों को उनकी नज़रों से जिस हद तक ओझल कर दिया है वह सबसे स्पष्ट रूप से इस बात में व्यक्त होता है कि अपने प्रस्ताव में वे, और तो और, जनतंत्र के बारे में एक शब्द भी कहना **भूल गये**! यह अविश्वसनीय है फिर भी सही तो है। सम्मेलन के विभिन्न प्रस्तावों में सामाजिक-जनवाद के सभी नारों की पुष्टि की गयी, उन्हें दोहराया गया, समझाया गया तथा विस्तारपूर्वक पेश किया गया – यहां तक कि मज़दूरों द्वारा शाप स्टुअर्डों तथा संसद के लिए प्रतिनिधियों के चुनाव की बात को भी नहीं भुलाया गया, पर अस्थायी क्रांतिकारी सरकार वाले प्रस्ताव में उन्हें जनतंत्र का ज़िक्र तक करने का मौक़ा नहीं मिला। जनता के विद्रोह की "विजय" की, अस्थायी सरकार की स्थापना की बात करना और यह न बताना कि जनतंत्र हासिल करने के साथ इन "क़दमों" और उपायों का क्या संबंध है – इसका मतलब है प्रस्ताव सर्वहारा संघर्ष के पथ-प्रदर्शन के लिए नहीं बल्कि सर्वहारा आंदोलन की दुम में घिसटते चलने के उद्देश्य से लिखना।

सारांश यह कि प्रस्ताव के पहले भाग में १) जनतंत्र के लिए संघर्ष के दृष्टिकोण से और सचमुच जनता की तथा सचमुच संविधान बनानेवाली सभा हासिल करने के दृष्टिकोण से अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के महत्व को ज़रा भी नहीं समझाया गया; २) ज़ारशाही के ख़िलाफ़ क्रांति की निर्णायक विजय की बराबरी पर एक ऐसी परिस्थिति को रखकर, जिसमें से असली विजय की मुख्य शर्त ही ग़ायब थी, सर्वहारा वर्ग की जनवादी चेतना को गड़बड़ी में डाल दिया।

४. राजतांत्रिक व्यवस्था का उन्मूलन और जनतंत्र

आइये, अब हम प्रस्ताव के दूसरे भाग पर विचार करें:

"... दोनों ही सूरतों में इस प्रकार की विजय क्रांतिकारी युग में एक नयी मंज़िल का उद्घाटन करेगी।

"इस नयी मंज़िल में सामाजिक विकास की वस्तुगत परिस्थितियों के कारण जो काम अपने आप सामने आ गया है वह यह है कि पूंजीवादी समाज के राजनीतिक दृष्टि से मुक्त तत्वों के बीच अपने सामाजिक हितों की तुष्टि के लिए और सीधे-सीधे सत्ता प्राप्त करने के लिए आपस में जो संघर्ष हो उसके दौरान में सामाजिक श्रेणियों की और राजतंत्र की पूरी शासन-व्यवस्था का अंतिम रूप से उन्मूलन कर दिया जाये।

"इसलिए जो अस्थायी सरकार इस क्रांति के कामों को, जो अपने ऐतिहासिक स्वरूप के कारण ही पूंजीवादी क्रांति है, पूरा करने का ज़िम्मा लेगी, उसे मुक्त राष्ट्र के विरोधी वर्गों के पारस्परिक संघर्ष का नियमन करने में न केवल क्रांतिकारी विकास को और आगे बढ़ाना होगा बल्कि उसको उन तत्वों के ख़िलाफ़ भी लड़ना होगा जिनसे पूंजीवादी व्यवस्था की नींव के लिए ख़तरा पैदा होता है।"

आइये, अब हम इस भाग पर विचार करें जो प्रस्ताव का एक स्वतंत्र हिस्सा है। उपरोक्त तर्कों का जो आधारभूत विचार है वह कांग्रेस के प्रस्ताव की तीसरी धारा में व्यक्त किये गये विचार के अनुरूप है। परंतु दोनों प्रस्तावों के इन भागों की तुलना करते समय निम्नलिखित बुनियादी अंतर फ़ौरन स्पष्ट हो जाता है। कांग्रेस का प्रस्ताव क्रांति के सामाजिक तथा आर्थिक आधार को कुछ शब्दों में वर्णन करके पूरा ध्यान निश्चित लाभों के लिए वर्गों के सुनिश्चित संघर्ष पर केंद्रित करता है और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष-संबंधी कामों को सबसे आगे रखता है। सम्मेलन के प्रस्ताव में क्रांति के सामाजिक तथा आर्थिक आधार के बहुत ही लम्बे धुंधले-धुंधले तथा उलझे हुए विवरण में निश्चित लाभों के लिए संघर्ष की बात बहुत ही गोलमाल ढंग से की गयी है और सर्वहारा वर्ग के संघर्ष-संबंधी कामों को तो बिल्कुल ही अंधकार में रहने दिया गया है। सम्मेलन के प्रस्ताव में समाज के विभिन्न तत्वों के बीच पारस्परिक संघर्ष के दौरान में पुरानी व्यवस्था

के उन्मूलन की बात की गयी है। कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया है कि उन्मूलन का यह काम हमें अर्थात् सर्वहारा वर्ग की पार्टी को करना चाहिये, कि केवल पुरानी व्यवस्था का वास्तविक उन्मूलन ही जनवादी जनतंत्र की स्थापना का द्योतक है, कि हमें इस प्रकार का जनतंत्र संघर्ष द्वारा हासिल करना चाहिये, कि हम उसके लिए तथा पूर्ण स्वतंत्रता के लिए न केवल एकतंत्र के ख़िलाफ़ बल्कि जब पूंजी-पति वर्ग हमारे लाभ हमसे छीन लेने की कोशिश करे (और वह इसकी कोशिश ज़रूर करेगा) तो उसके ख़िलाफ़ भी लड़ें। कांग्रेस के प्रस्ताव में एक बिल्कुल सही-सही निर्धारित तात्कालिक लक्ष्य के लिए लड़ने के लिए एक निश्चित वर्ग का आवाहन किया गया है सम्मेलन के प्रस्ताव में भिन्न-भिन्न शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष की बात कही गयी है। एक प्रस्ताव सक्रिय संघर्ष की मनोवृत्ति को व्यक्त करता है दूसरा एक निष्क्रिय दर्शक की मनोवृत्ति को; एक में सप्राण क्रिया के आवाहन की गूंज है, दूसरे में निष्प्राण पांडित्य कूट-कूटकर भरा हुआ है। दोनों ही प्रस्तावों में कहा गया है कि वर्तमान क्रांति केवल हमारा पहला क़दम है, जिसके बाद एक दूसरा क़दम उठाया जायेगा, परंतु इससे एक प्रस्ताव में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि हमें और भी शीघ्रता के साथ यह पहला क़दम उठाना चाहिये, और भी शीघ्रता के साथ उसे पूरा कर देना चाहिये, एक जनतंत्र हासिल करना चाहिये, प्रतिक्रांति को निर्ममतापूर्वक कुचल देना चाहिये और दूसरे क़दम के लिए ज़मीन तैयार करना चाहिये। परंतु दूसरा प्रस्ताव, कहना चाहिये, इस पहले क़दम के लम्बे-चौड़े वर्णनों से लबालब भरा हुआ है और (ये भोंडे शब्द माफ़ कीजियेगा) उसमें इन्हीं पर जुगाली की गयी है। कांग्रेस के प्रस्ताव में मार्क्सवाद के पुराने और चिर-नूतन (जनवादी क्रांति के पूंजीवादी स्वरूप से संबंधित) विचारों को एक भूमिका या प्रथम मान्यता के रूप में लेकर उनसे उस उन्नत वर्ग के प्रगतिशील कामों के बारे में निष्कर्ष निकाले गये हैं, जो जनवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति दोनों ही के लिए लड़ रहा है। सम्मेलन का प्रस्ताव इस भूमिका से आगे नहीं बढ़ता, वह बार-बार उसी को चबाता रहता है और उसके बारे में अपनी चतुराई दिखाने की कोशिश करता है।

यही वह अंतर है जिसने बहुत समय से रूसी मार्क्सवादियों को दो पक्षों में बांट रखा है: क़ानूनी मार्क्सवाद के पुराने दिनों के उपदेश देनेवाले तथा लड़नेवाले पक्ष, और नवजात जन-आंदोलन के काल के आर्थिक तथा राजनीतिक पक्ष।

आम तौर पर हर वर्ग-संघर्ष की और ख़ास तौर पर राजनीतिक संघर्ष की गहरी आर्थिक जड़ों के संबंध में मार्क्सवाद की सही मान्यता से "अर्थवादियों" ने यह अनोखा निष्कर्ष निकाला कि हमें राजनीतिक संघर्ष की ओर से मुंह फेर लेना चाहिये और उसके विकास की गति को धीमा कर देना चाहिये, उसके क्षेत्र को संकुचित कर देना चाहिये और उसके उद्देश्यों को घटा देना चाहिये। इसके विपरीत राजनीतिक पक्ष ने इन्हीं मान्यताओं से दूसरा ही निष्कर्ष निकाला, अर्थात् यह कि इस समय हमारे संघर्ष की जड़ें जितनी ही गहरी हों उतने ही अधिक व्यापक रूप से तथा उतने ही अधिक साहस के साथ, उतनी ही अधिक दृढ़ता के साथ और उतनी ही अधिक पहलक़दमी का परिचय देते हुए हमें इस संघर्ष को चलाना चाहिये। इस समय भी हमारे सामने बिल्कुल वही बहस है, अंतर केवल यह है कि वह भिन्न परिस्थितियों तथा भिन्न रूप में है। इन मान्यताओं से कि जनवादी क्रांति समाजवादी क्रांति से बहुत भिन्न होती है, कि सम्पत्तिहीन लोग ही एकमात्र ऐसे लोग नहीं होते जिन्हें उसम 'दिलचस्पी' होती है, कि उसकी जड़ें **पूरे** पूंजीवादी समाज की अनिवार्य ज़रूरतों तथा आवश्यकताओं में गहराई से जमी होती हैं–इन मान्यताओं से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उन्नत वर्ग को अपने जनवादी उद्देश्यों का प्रतिपादन और भी अधिक साहस के साथ करना चाहिये, उन्हें और तीखे ढंग से तथा पूर्ण रूप में व्यक्त करना चाहिये, जनतंत्र का सीधा नारा सामने रखना चाहिये, इस विचार को लोकप्रिय बनाना चाहिये कि एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की आवश्यकता है और यह कि प्रतिक्रांति को निर्ममतापूर्वक कुचल देना आवश्यक है। परंतु हमारे विरोधी, नये 'ईस्क्रा'-वादी, इन्हीं मान्यताओं से यह नतीजा निकालते हैं कि जनवादी निष्कर्षों को पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जाना चाहिये, कि जनतंत्र के नारे को व्यावहारिक नारों से अलग रखा जा सकता है, कि हमारे लिए इस विचार को लोकप्रिय बनाने की कोई ज़रूरत नहीं है कि एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की ज़रूरत है, कि संविधान सभा बुलाने के निर्णय मात्र को निर्णायक विजय कहा जा सकता है, कि हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम प्रतिक्रांति के ख़िलाफ़ लड़ने के काम को अपने सक्रिय लक्ष्य के रूप में पेश करें बल्कि यह कि हम उसे "पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया" के धुंधले-से (और, जैसा कि हम अभी देखेंगे, ग़लत ढंग से प्रतिपादित) संकेत में विलीन कर सकते हैं। यह राजनीतिक

नेताओं की नहीं बल्कि पुरातत्वशालाओं में रखी हुई मसाला लगी लाशों की भाषा है!

और हम नये 'ईस्क्रा'-वादी प्रस्ताव के विभिन्न सूत्रों को जितनी ही अधिक गहराई से जांचते हैं उसकी उपरोक्त बुनियादी विशिष्टताएं उतनी ही स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, हमसे "राजनीतिक रूप से मुक्त पूंजीवादी समाज के विभिन्न तत्वों के बीच पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया" की बात कही जाती है। प्रस्ताव में जिस विषय (एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार) पर विचार किया गया है उसे ध्यान में रखते हुए हम आश्चर्य से पूछते हैं: यदि आप पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया की बात कर रहे हैं तो फिर आप उन तत्वों के बारे में ख़ामोश कैसे रह सकते हैं जो पूंजीवादी समाज को राजनीतिक रूप से **गुलाम बनाये हुए हैं**? क्या सम्मेलनवाले सचमुच यह समझते हैं कि चूंकि उन्होंने यह मान लिया है कि क्रांति विजयी होगी इसलिए इन तत्वों का लोप हो चुका है? इस प्रकार का विचार आम तौर पर बिल्कुल बेतुका होगा, और विशेष रूप से वह अत्यधिक राजनीतिक नासमझी तथा राजनीतिक अदूरदर्शिता की अभिव्यक्ति होगी। प्रतिक्रांति पर क्रांति की विजय के बाद प्रतिक्रांति का लोप नहीं हो जायेगा, इसके विपरीत वह अनिवार्य रूप से एक नया तथा और भी भीषण संघर्ष छेड़ देगी। चूंकि हमारे प्रस्ताव का लक्ष्य उन कामों का विश्लेषण करना है जो क्रांति के विजयी हो जाने पर हमारे सामने आयेंगे, इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम क्रांति-विरोधी आक्रमणों को विफल करने के कामों की ओर बहुत अधिक ध्यान दें (जैसा कि कांग्रेस के प्रस्ताव में किया गया है), और एक लड़ाकू पार्टी के इन तात्कालिक, ज़रूरी तथा बुनियादी राजनीतिक कामों को इस प्रकार की आम बहसों में विलुप्त न कर दें कि वर्तमान क्रांतिकारी काल के **बाद** क्या होगा, जब एक "राजनीतिक रूप से **मुक्त** समाज" अस्तित्व में आ चुका होगा तब क्या होगा। जिस प्रकार "अर्थवादी" इस मोटे-मोटे स्वतःसिद्ध सत्य को दोहराकर कि राजनीति अर्थ-व्यवस्था के आधीन है, राजनीतिक कामों को समझने में अपनी असफलता को छुपाते थे, उसी प्रकार नये 'ईस्क्रा'-वादी इस मोटे-मोटे स्वतःसिद्ध सत्य को दोहराकर कि राजनीतिक रूप से **मुक्त** समाज में संघर्ष होंगे इस समाज की राजनीतिक **मुक्ति** के ज़रूरी क्रांतिकारी कामों को समझने में अपनी असफलता को छुपाते हैं।

इन शब्दों को ले लीजिये "सामाजिक श्रेणियों की और राजतंत्र की पूरी शासन-व्यवस्था का अंतिम रूप से उन्मूलन"। सीधे-सादे शब्दों में राजतांत्रिक व्यवस्था के अंतिम रूप से उन्मूलन का अर्थ होता है जनवादी जनतंत्र की स्थापना। परंतु हमारे नेकदिल मार्तिनोव तथा उनके प्रशंसक यह सोचते हैं कि ये शब्द बहुत ही सीधे-सादे तथा स्पष्ट हैं। वे इन्हें "और भी गूढ़" बना देने और इस बात को और भी "चतुराई से" कहने पर आग्रह करते हैं। परिणामस्वरूप एक ओर तो हमें गूढ़ प्रतीत होने के हास्यास्पद तथा दंभपूर्ण प्रयास दिखायी देते हैं, दूसरी ओर हम एक नारे के बजाय एक पूरा वृत्तांत पाते हैं, आगे बढ़ने की जोशीली अपील के बजाय हम उदास भाव से अतीत की ओर देखने की प्रवृत्ति पाते हैं। हमारे सामने जो चित्र आता है वह ऐसे जीवित लोगों का नहीं है जो तत्काल एक जनतंत्र के लिए लड़ने को उत्सुक हों बल्कि वह ऐसी जड़ मसाला लगी लाशों का चित्र है जो अनंत भविष्य की सीमा पर खड़े होकर (sub specie aeternitatis) प्रश्न पर सुदूर अतीत (plusquamperfectum) के दृष्टिकोण से विचार करते हैं।

आइये आगे बढ़ें: "... अस्थायी सरकार ... इस ... पूंजीवादी क्रांति के कामों को पूरा करने का ज़िम्मा लेगी"... यहां पर हम फ़ौरन इस बात का परिणाम देखते हैं कि हमारे सम्मेलनवालों ने एक ऐसे ठोस प्रश्न को दृष्टिगत नहीं रखा है जो सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक नेताओं के सामने है। भविष्य में आनेवाली उन सरकारों के पूरे क्रम के प्रश्न के कारण, जो आम तौर पर पूंजीवादी क्रांति के उद्देश्यों को पूरा करेंगी, अस्थायी क्रांतिकारी सरकार का ठोस प्रश्न उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। यदि आप इस प्रश्न पर "ऐतिहासिक दृष्टि से" विचार करना चाहते हैं तो किसी भी यूरोपीय देश के उदाहरण से आपको पता चल जायेगा कि ऐसी सरकारों का एक पूरा क्रम ही था, जो किसी भी प्रकार "अस्थायी" नहीं थीं, जिन्होंने पूंजीवादी क्रांति के ऐतिहासिक उद्देश्यों को पूरा किया, कि उन सरकारों को भी, जिन्होंने क्रांति को पराजित किया, फिर भी उसी पराजित क्रांति के ऐतिहासिक उद्देश्यों को पूरा करने पर मजबूर होना पड़ा। परंतु जिस चीज़ को "अस्थायी क्रांतिकारी सरकार" कहा जाता है वह उससे सर्वथा भिन्न है जिसका आप ज़िक्र कर रहे हैं: यह नाम एक क्रांतिकारी युग की उस सरकार को दिया जाता है, जो सीधे-सीधे उस सरकार के स्थान पर स्थापित होती है

जिसका कि तख़्ता उलट दिया गया होता है, और जिसका आधार जनता के बीच से निकलनेवाली किसी प्रकार की प्रतिनिधि-संस्थाओं पर नहीं बल्कि जनता के विद्रोह पर होता है। अस्थायी क्रांतिकारी सरकार क्रांति की तात्कालिक विजय के लिए, क्रांति-विरोधी कोशिशों को तत्काल विफल करने के लिए संघर्ष का साधन होती है, वह किसी भी प्रकार आम तौर पर पूंजीवादी क्रांति के ऐतिहासिक उद्देश्यों को पूरा करने का साधन नहीं होती। सज्जनो, इस बात को तै करने का काम हम किसी भावी 'रूस्स्काया स्तारिना'[19] के किसी भावी इतिहासकार पर छोड़ दें कि पूंजीवादी क्रांति के किन-किन उद्देश्यों को हमने, या इस या उस सरकार ने पूरा किया होता – अबसे तीस वर्ष बाद इस काम को करने के लिए काफ़ी समय होगा; इस समय हमें एक जनतंत्र के लिए संघर्ष के वास्ते और उस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के सर्वाधिक सक्रिय रूप से भाग लेने के बारे में नारे और व्यावहारिक निर्देश देने चाहिये।

ऊपर बताये गये कारणों से प्रस्ताव के उस भाग में, जिसका उद्धरण हमने ऊपर दिया है, जो अंतिम सुझाव दिये गये हैं वे भी असंतोषजनक हैं। यह कहना कि अस्थायी सरकार को विरोधी वर्गों के पारस्परिक संघर्ष का "नियमन" करना होगा बहुत ही अनुपयुक्त है, या कम से कम बात बहुत ही भोंडे तरीक़े से कही गयी है; मार्क्सवादियों को ऐसी उदारवादी ओस्वोबोज्देनिये जैसी प्रस्थापनाएं नहीं इस्तेमाल करना चाहिये जिनसे यह विश्वास होने लगता है कि ऐसी सरकारें भी हो सकती हैं जो वर्ग-संघर्ष के साधनों के रूप में नहीं बल्कि उसके "नियामकों" के रूप में काम करती हैं... सरकार को "न केवल क्रांतिकारी विकास को और आगे बढ़ाना होगा बल्कि उसको उन तत्वों के ख़िलाफ़ भी लड़ना होगा जिनसे पूंजीवादी व्यवस्था की नींव के लिए ख़तरा पैदा होता है"। परंतु यह "तत्व" तो स्वयं सर्वहारा वर्ग ही है, वही सर्वहारा वर्ग जिसके नाम पर प्रस्ताव रखा गया है! यह बताने के बजाय कि इस समय सर्वहारा वर्ग को किस प्रकार "क्रांतिकारी विकास को आगे बढ़ाना" चाहिये (उससे भी आगे बढ़ाना जहां तक कि संविधानवादी पूंजीवादी जाने को तैयार होंगे), जब पूंजीपति वर्ग क्रांति की विजयों के ख़िलाफ़ हो जाये तो उससे लड़ने के निश्चित तरीक़ों तथा साधनों की तैयारी की सलाह देने के बजाय, हमें एक ऐसी प्रक्रिया का मोटा-मोटा विवरण दिया जाता है जिसमें **हमारी** गतिविधि के ठोस उद्देश्यों

के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। अपने विचारों को व्यक्त करने के **नये** 'ईस्क्रा'-वादियों के तरीक़े को देखकर पुराने पदार्थवाद के बारे में, जो द्वंद्ववाद के विचारों से बिल्कुल मेल नहीं खाता था, मार्क्स के मत की (फ़ायरबाख़ के बारे में उनके प्रख्यात 'सूत्रों' में) याद ताज़ा हो जाती है। मार्क्स ने कहा था कि दार्शनिकों ने विभिन्न तरीक़ों से केवल विश्व की **व्याख्या की** है, परंतु असल सवाल उसे **बदलने** का है। उसी प्रकार, नये 'ईस्क्रा'-वादी अपनी आंखों के सामने होनेवाले संघर्ष की प्रक्रिया का कुछ हद तक संतोषजनक वर्णन तथा उसकी व्याख्या ती कर सकते हैं पर वे इस संघर्ष के लिए एक सही नारा देने की क्षमता बिल्कुल भी नहीं रखते। वे क़दम से क़दम मिलाकर चलने में तो अच्छे हैं पर नेता बहुत बुरे हैं, इसलिए व इतिहास में उस सक्रिय, नेतृत्व करनेवाली तथा मार्गदर्शक भूमिका की ओर ध्यान न देकर, जो उन पार्टियों की हो सकती है तथा होना चाहिये, जो क्रांति के लिए आवश्यक भौतिक शर्तों को समझती हैं और जिन्होंने अपने को प्रगतिशील वर्गों की अगुआई के पद पर बिठा दिया है, इतिहास की पदार्थवादी अवधारणा के महत्व को घटाते हैं।

५. किस प्रकार "क्रांति को आगे बढ़ाना" चाहिये?

अब हम प्रस्ताव के अगले भाग का उद्धरण देते हैं:

"ऐसी परिस्थितियों में सामाजिक-जनवाद को क्रांति के पूरे दौरान में ऐसी स्थिति बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिये जो उसके लिए क्रांति को आगे बढ़ाने की संभावना को सबसे अच्छे ढंग से सुनिश्चित कर दे, जो पूंजीवादी पार्टियों की ढुलमुल तथा स्वार्थी नीति के ख़िलाफ़ सामाजिक-जनवाद के संघर्ष में उसके हाथ न बांध दे और जो उसे पूंजीवादी जनवाद में विलीन हो जाने से बचाये रखे।

"इसलिए सामाजिक-जनवाद को अपने सामने अस्थायी सरकार में सत्ता पर अधिकार कर लेने या सत्ता में हिस्सा बंटाने का लक्ष्य नहीं रखना चाहिये बल्कि उसे अग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहना चाहिये।"

एक ऐसी स्थिति पर पहुंच जाने की सलाह से, जिससे क्रांति को आगे बढ़ाने की संभावना सबसे अच्छे ढंग से सुनिश्चित हो सके, हम सचमुच बहुत ख़ुश हुए। हम केवल यह चाहते हैं कि इस नेक सलाह के अलावा उन्होंने हमें कुछ

इस बात का भी प्रत्यक्ष संकेत दिया होता कि अब इस समय, वर्तमान राजनीतिक स्थिति में, एक ऐसे काल में जो जनता के प्रतिनिधियों की सभा बुलाने के बारे में अफ़वाहों, अटकलबाज़ियों, वार्ताओं तथा योजनाओं का काल है, सामाजिक-जनवाद को क्रांति को किस प्रकार आगे बढ़ाना चाहिये। क्या एक ऐसा आदमी जो जनता तथा ज़ार के बीच "समझौते" के ओस्वोबोज्देनिये वाले सिद्धांत के ख़तरे को समझने में असमर्थ हो, वह आदमी जो संविधान सभा आयोजित करने के "निर्णय" मात्र को विजय कहता हो, जो इस विचार के पक्ष में कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार आवश्यक है सक्रिय रूप से प्रचार करने का काम अपने सामने न रखता हो, या जो जनवादी जनतंत्र के नारे को अंधकार में छोड़ देता हो, क्या ऐसा आदमी इस समय क्रांति को और आगे बढ़ा सकता है? इस प्रकार के लोग वास्तव में **क्रांति को पीछे ढकेलते हैं** क्योंकि जहां तक **व्यावहारिक राजनीति** का सवाल है, वे **ओस्वोबोज्देंत्सी** के स्तर पर पहुंचकर रुक गये हैं। फिर उनके एक ऐसे कार्यक्रम को स्वीकार करने से क्या फ़ायदा जिसमें यह मांग की गयी हो कि एकतंत्र के स्थान पर जनतंत्र की स्थापना की जाये, जबकि कार्यनीति-संबंधी प्रस्ताव में, जिसमें क्रांति के काल में पार्टी के वर्तमान तथा तात्कालिक काम बताये गये हों, वे जनतंत्र के लिए संघर्ष के नारे को शामिल न करें? वास्तव में यह ओस्वोबोज्देंत्सी का रुख़ है, संविधानवादी पूंजीपति वर्ग का रुख़ है, जिसकी विशिष्टता अब इस बात में व्यक्त होती है कि एक जन-संविधान सभा का आयोजन करने के निर्णय को निर्णायक विजय समझा जाता है, जबकि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार तथा जनतंत्र के विषय पर बहुत सोच-समझकर चुप्पी साध ली जाती है! क्रांति को **आगे** बढ़ाने के लिए, अर्थात् उस सीमा से आगे बढ़ाने के लिए जहां तक कि राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग उसे बढ़ाकर ले जा रहा है, यह आवश्यक है कि ऐसे नारे दिये जायें, ऐसे नारों पर ज़ोर दिया जाये तथा ऐसे नारों को सबसे प्रमुख स्थान दिया जाये जिनमें पूंजीवादी जनवादियों की "असंगतियों" के लिए कोई **गुंजाइश न हो।** इस समय इस प्रकार के **केवल दो ही** नारे हैं: १) अस्थायी क्रांतिकारी सरकार, और २) जनतंत्र, क्योंकि जन-संविधान सभा का नारा तो राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग ने **स्वीकार कर लिया** है ('ओस्वोबोज्देनिये लीग'[20] का कार्यक्रम देखिये) और इसी उद्देश्य से स्वीकार कर लिया है कि वह क्रांति को छू-मंतर से ग़ायब

कर दे, क्रांति की पूर्ण विजय न होने दे, और बड़े पूंजीपति वर्ग को ज़ारशाही के साथ खोंचेवालों की तरह मोल-तोल करने का मौक़ा दे। और अब हम देखते हैं कि उन दो नारों में से, जो एकमात्र ऐसे नारे हैं जो क्रांति को आगे बढ़ा सकते हैं, सम्मेलन जनतंत्र वाले नारे को बिल्कुल भूल गया है और उसने स्पष्ट रूप से अस्थायी क्रांतिकारी सरकार वाले नारे को ओस्वोबोज्देनिये के जन-संविधान सभा वाले नारे की बराबरी पर रखा है और इसको भी तथा उसको भी "क्रांति की निर्णायक विजय" कहा है!!

हां, यह एक असंदिग्ध तथ्य है, जो हमें विश्वास है रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन के भावी इतिहासकार के लिए एक ज्वलंत घटना का काम देगा। मई १६०५ में सामाजिक-जनवादियों का जो सम्मेलन हुआ उसमें एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें जनवादी क्रांति को आगे बढ़ाने के बारे में बातें तो बहुत अच्छी-अच्छी कही गयी हैं पर जो वास्तव में उसे पीछे ढकेलता है, जो वास्तव में राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के जनवादी नारों से रत्ती भर भी आगे नहीं जाता।

नये 'ईस्क्रा'-वादियों को हमारे ऊपर यह आरोप लगाने का बड़ा शौक़ है कि हम इस ख़तरे की ओर ध्यान नहीं देते कि संभव है कि सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के जनवाद में विलीन हो जाये। हम ऐसे आदमी को देखना चाहते हैं जो रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस द्वारा स्वीकार किये गये प्रस्तावों के शब्दों के आधार पर इस आरोप को सिद्ध करने का ज़िम्मा ले। हम अपने विरोधियों को यह कह देंगे: पूंजीवादी समाज में काम करनेवाली सामाजिक-जनवादी पार्टी किसी न किसी मामले में जनवादी पूंजीपति वर्ग के **साथ-साथ** चले बिना राजनीति में हिस्सा नहीं ले सकती। इस मामले में हममें अंतर केवल इतना है कि हम क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के साथ-साथ चलते हैं, पर उसमें विलीन नहीं होते, और आप **उदारवादी तथा राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग** के साथ-साथ चलते हैं, और आप भी उसमें विलीन नहीं होते। **इस समय परिस्थिति यह है।**

आपने सम्मेलन के नाम पर जो कार्यनीति-संबंधी नारे प्रतिपादित किये हैं वे "सांविधानिक-जनवादी" पार्टी के, अर्थात् **राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग की पार्टी** के नारों से **हूबहू मिलते** हैं, इतना ही नहीं आपने इस समरूपता को देखा भी नहीं और न महसूस किया, इस प्रकार वास्तव में आप **ओस्वोबोज्देंत्सी की दुम के पीछे-पीछे** चलते रहे।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के नाम पर हमने जो नारे प्रतिपादित किये हैं वे जनवादी-क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के नारों से हूबहू मिलते हैं। रूस में इस पूंजीपति वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग ने अभी तक अपने आपको जनता की एक बड़ी पार्टी के रूप में संगठित नहीं किया है*। परंतु केवल वही आदमी जो इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ है कि इस समय रूस में क्या हो रहा है, इस प्रकार की पार्टी के तत्वों के अस्तित्व में संदेह कर सकता है। हम सामाजिक-जनवादी पार्टी द्वारा संगठित सर्वहारा वर्ग का ही नहीं बल्कि (यदि महान रूसी क्रांति का मार्ग सफल हो जाता है तो) इस निम्न-पूंजीपति वर्ग का भी नेतृत्व करने का इरादा रखते हैं, जो हमारे साथ क़दम से क़दम मिलाकर चलने की क्षमता रखता है।

अपने प्रस्ताव में सम्मेलन अचेतन रूप से उदारवादी तथा राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के स्तर पर **उतर आया** है। पार्टी कांग्रेस अपने प्रस्ताव में सचेतन रूप से क्रांतिकारी जनवाद के उन तत्वों को **उठाकर** अपने स्तर तक ले आयी है जो दलालों की तरह काम करने की नहीं बल्कि संघर्ष करने की क्षमता रखते हैं।

इस प्रकार के तत्व अधिकांशतः किसानों के बीच पाये जाते हैं। समाज के बड़े-बड़े समूहों का वर्गीकरण उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों के अनुसार करते समय हम कोई गंभीर ग़लती करने का ख़तरा मोल लिये बिना यह कह सकते हैं कि क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी जनवाद और आम किसान एक ही चीज़ हैं — ज़ाहिर है उसी अर्थ में और उन्हीं संकोचों तथा निहित शर्तों के साथ जिस अर्थ में और जिन संकोचों तथा शर्तों के साथ हम मज़दूर वर्ग और सामाजिक-जनवाद को एक ही चीज़ कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में हम अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन इन शब्दों में भी कर सकते हैं: एक क्रांतिकारी काल में सम्मेलन अपने **राष्ट्रीय****

---

* 'समाजवादी-क्रांतिकारी' ऐसी पार्टी का अंकुर न होकर बुद्धिजीवियों का एक आतंकवादी दल हैं, हालांकि वस्तुगत दृष्टि से क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के उद्देश्यों को पूरा करने का यही काम इस दल की गतिविधियों का कुल निचोड़ है।

** यहां पर हम किसानों से संबंधित उन विशष नारों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं जिनपर अलग प्रस्तावों में विचार किया गया था।

राजनीतिक नारों के मामले में अचेतन रूप से **गिरकर आम ज़मींदारों के स्तर पर पहुंच गया है**। पार्टी कांग्रेस ने अपने राष्ट्रीय राजनीतिक नारों में आम किसानों को **ऊंचा उठाकर क्रांतिकारी स्तर पर पहुंचा दिया**। इस निष्कर्ष के कारण हमपर विरोधाभासों की रुचि रखने का आरोप लगानेवाले हर आदमी को हम चुनौती देते हैं कि वह इस प्रस्थापना का खंडन करे कि यदि हममें इतनी काफ़ी शक्ति न हो कि हम क्रांति को सफलता की मंज़िल तक पहुंचा सकें, यदि क्रांति ओस्वोबोज्देंत्सी वाले अर्थ में एक "निर्णायक विजय" में **समाप्त होती है**, अर्थात् उसका अंत शुद्धतः ज़ार द्वारा आयोजित प्रतिनिधि-सभा के रूप में होता है जिसे केवल व्यंगपूर्ण उपहास में ही संविधान सभा कहा जा सकता है – तो यह एक ऐसी क्रांति होगी जिसमें **ज़मींदार तथा बड़े पूंजीपति तत्वों** की प्रधानता होगी। दूसरी ओर यदि हमें एक सचमुच महान क्रांति से होकर गुज़रना ही है, यदि इतिहास इस बार "गर्भपात" को रोक देता है, यदि हममें इतनी शक्ति है कि हम क्रांति को सफलता की मंज़िल तक, निर्णायक विजय तक पहुंचा सकें, इन शब्दों के ओस्वोबोज्देनिये वाले या नये 'ईस्क्रा' वाले अर्थ में नहीं, तो वह ऐसी क्रांति होगी जिसमें किसान तथा सर्वहारा तत्वों की प्रधानता होगी।

शायद कुछ लोग ऐसी प्रधानता-सम्बन्धी हमारी इस स्वीकारोक्ति का अर्थ यह लगायें कि हम भावी क्रांति के पूंजीवादी स्वरूप को नहीं मानते। इस बात को देखते हुए कि 'ईस्क्रा' में इस अवधारणा का किस प्रकार दुरुपयोग किया जाता है यह बात बिल्कुल संभव है। इस कारण इस बात पर कुछ विस्तार के साथ विचार कर लेना अनुचित न होगा।

६. सर्वहारा वर्ग के लिए इस बात का ख़तरा किस दिशा से है कि ढुलमुल पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ संघर्ष में उसके हाथ बंध जायें?

मार्क्सवादियों के दिमाग़ में रूसी क्रांति के पूंजीवादी स्वरूप के बारे में किसी प्रकार की शंका नहीं है। इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि राजनीतिक पद्धति में होनेवाले जनवादी सुधारों और सामाजिक तथा आर्थिक सुधारों में,

जो रूस के लिए आवश्यक हो गये हैं, स्वतः यह बात निहित नहीं है कि पूंजीवाद की जड़ खोखली हो जायेगी, पूंजीवादी शासन की जड़ खोखली हो जायेगी; इसके विपरीत वे पहली बार व्यापक रूप से तथा तीव्र गति से पूंजीवाद के एशियाई ढंग के नहीं बल्कि यूरोपीय ढंग के विकास के लिए सचमुच रास्ता साफ़ कर देंगे; वे पहली बार पूंजीपति वर्ग के लिए इस बात को संभव बना देंगे कि वह एक वर्ग के रूप में शासन कर सके। समाजवादी-क्रांतिकारी इस विचार को नहीं समझ सकते क्योंकि वे माल के उत्पादन तथा पूंजीवादी उत्पादन के विकास के नियमों की बुनियादी बातों से अनभिज्ञ हैं; वे इस बात को नहीं देख पाते कि किसान विद्रोह की पूरी सफलता भी, किसानों के फ़ायदे के लिए और उनकी इच्छाओं के अनुसार सारी ज़मीन का नये सिरे से बंटवारा भी ("आम बंटवारा" या उसी प्रकार की कोई चीज़), पूंजीवाद को क़तई नष्ट नहीं करेगा बल्कि उल्टे वह उसके विकास को प्रोत्साहन देगा और स्वयं किसानों के वर्ग-विघटन की रफ़तार को तेज़ करेगा। इस सच्चाई को भली भांति न समझ सकने के कारण समाजवादी-क्रांतिकारी अचेतन रूप से निम्न-पूंजीपति वर्ग के सिद्धांतों के निर्माता बन जाते हैं। इस सच्चाई पर ज़ोर देना केवल सैद्धांतिक दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि व्यावहारिक राजनीति के दृष्टिकोण से भी सामाजिक-जनवाद के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान "आम जनवादी" आंदोलन में सर्वहारा वर्ग की पार्टी की पूर्ण वर्ग-स्वतंत्रता अपरिहार्य है।

परंतु इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि एक **जनवादी** (अपने सामाजिक तथा आर्थिक सार-तत्व में पूंजीवादी) क्रांति सर्वहारा वर्ग के लिए **अत्यधिक** दिलचस्पी की चीज़ नहीं है। इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि जनवादी क्रांति ऐसे रूप में हो ही नहीं सकती जो मुख्यतः बड़े पूंजीपति, वित्तीय धनपति और "जागृत" ज़मींदार के लिए लाभदायक हो, और साथ ही वह ऐसे रूप में भी हो जो किसान और मज़दूर के लिए लाभदायक हो।

नये 'ईस्क्रा'-वादी पूंजीवादी क्रांति की परिकल्पना के अर्थ तथा महत्व को बिल्कुल ग़लत ढंग से समझते हैं। उनकी दलीलों में लगातार यह विचार प्रति-ध्वनित होता रहता है कि पूंजीवादी क्रांति एक ऐसी क्रांति होती है जो केवल पूंजीपति वर्ग के लिए हितकर हो सकती है। फिर भी इस विचार से अधिक ग़लत कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। पूंजीवादी क्रांति वह क्रांति होती है जो

बुर्जुआ, अर्थात् पूंजीवादी, सामाजिक तथा आर्थिक पद्धति की सीमाओं से आगे नहीं जाती। पूंजीवादी क्रांति पूंजीवाद के विकास की आवश्यकता को व्यक्त करती है और पूंजीवाद की बुनियादों को नष्ट करना तो दूर रहा वह इससे बिल्कुल ही उल्टी बात करती है, वह उन्हें और चौड़ा तथा गहरा बना देती है। यह क्रांति इसलिए न केवल मज़दूर वर्ग के हितों को बल्कि पूरे पूंजीपति वर्ग के हितों को भी व्यक्त करती है। चूंकि पूंजीवाद के अंतर्गत मज़दूर वर्ग पर पूंजीपति वर्ग का शासन अनिवार्य है इसलिए यह कहना बिल्कुल सही है कि पूंजीवादी क्रांति उस हद तक सर्वहारा वर्ग के हितों को व्यक्त नहीं करती जिस हद तक कि वह पूंजीपति वर्ग के हितों को व्यक्त करती है। परंतु यह सोचना बिल्कुल बेतुकी बात है कि पूंजीवादी क्रांति सर्वहारा वर्ग के हितों को व्यक्त करती ही नहीं। इस बेसिर-पैर के विचार का कुल निचोड़ या तो यह पुराना नरोदनिक सिद्धांत होता है कि पूंजीवादी क्रांति सर्वहारा वर्ग के हितों के ख़िलाफ़ होती है और इसलिए हमें पूंजीवादी राजनीतिक स्वतंत्रता की कोई ज़रूरत नहीं है, या फिर उसका निचोड़ अराजकतावाद होता है, जो सर्वहारा वर्ग के पूंजीवादी राजनीति में, पूंजीवादी क्रांति में और पूंजीवादी संसद-पद्धति में किसी भी प्रकार भाग लेने को अस्वीकार करता है। सिद्धांत के दृष्टिकोण से यह विचार इस बात से संबंधित मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं की अवहेलना करता है कि जहां बिकाऊ माल के उत्पादन की पद्धति का अस्तित्व है वहां पूंजीवादी विकास अनिवार्य है। मार्क्सवाद सिखाता है कि वह समाज जो बिकाऊ माल के उत्पादन पर आधारित है और जिसका सभ्य पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ वाणिज्यिक संबंध है, अपने विकास की किसी मंज़िल में पहुंचकर अनिवार्य रूप से स्वयं पूंजीवाद का पथ अपना लेता है। मार्क्सवाद ने नरोदनिकों तथा अराजकतावादियों के इस आशय के पागलों जैसे प्रलाप से हमेशा के लिए नाता तोड़ लिया है कि, उदाहरण के लिए, रूस पूंजीवादी विकास से बच सकता है, कि वह कूदकर पूंजीवाद से बाहर निकल सकता है, या छलांग लगाकर उसे लांघ सकता है और इसी पूंजीवाद के आधार पर और इसी पूंजीवाद के ढांचे के भीतर वर्ग-संघर्ष के मार्ग के अलावा कोई दूसरा मार्ग अपना सकता है।

मार्क्सवाद के ये सारे सिद्धांत बहुत बारीकी के साथ आम तौर पर, और रूस के प्रसंग में ख़ास तौर पर, बार-बार सिद्ध किये जा चुके हैं तथा समझाये

जा चुके हैं। और इन सिद्धांतों से यह नतीजा निकलता है कि पूंजीवाद के और अधिक विकास के अलावा किसी दूसरी चीज़ में मज़दूर वर्ग की मुक्ति ढूंढने का विचार **प्रतिक्रियावादी** विचार है। रूस जैसे देशों में मज़दूर वर्ग पूंजीवाद के कारण उतना त्रस्त नहीं रहता जितना पूंजीवाद के अपर्याप्त विकास के कारण। इसलिए मज़दूर वर्ग को पूंजीवाद के सर्वाधिक व्यापक, सर्वाधिक उन्मुक्त तथा सर्वाधिक वेगमय विकास में **निश्चित रूप से दिलचस्पी** है। पुरानी व्यवस्था के उन सभी अवशेषों को हटाना, जो पूंजीवाद के व्यापक, उन्मुक्त तथा वेगमय विकास में बाधा डाल रहे हैं, निश्चित रूप से मज़दूर वर्ग के लिए **हितकर** है। पूंजीवादी क्रांति ठीक ऐसी क्रांति होती है जो सर्वाधिक दृढ़ रूप से अतीत के अवशेषों का, कृषि-दासता के अवशेषों का (जिनमें केवल एकतंत्र ही नहीं बल्कि राजतंत्र भी शामिल है) सफ़ाया कर देती है और पूंजीवाद के सर्वाधिक व्यापक, सर्वाधिक उन्मुक्त तथा सर्वाधिक वेगमय विकास की पूर्णतम रूप से गारंटी करती है।

यही कारण है कि **पूंजीवादी** क्रांति **सर्वहारा वर्ग के लिए अत्यधिक हितकर है**। पूंजीवादी क्रांति सर्वहारा वर्ग के हित में **नितांत** आवश्यक है। पूंजीवादी क्रांति जितनी ही अधिक पूर्ण तथा दृढ़संकल्प, जितनी ही अधिक सुसंगत होगी, पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ समाजवाद के लिए सर्वहारा वर्ग का संघर्ष भी उतना ही आश्वस्त होगा। केवल वे ही लोग जो वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियादी बातों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, इस निष्कर्ष को नया या विचित्र, अथवा विरोधाभासपूर्ण समझ सकते हैं। और इसी निष्कर्ष में से और बातों के अलावा यह सूत्र निकलता है, कि **एक ख़ास अर्थ में**, पूंजीवादी क्रांति पूंजीपति वर्ग की अपेक्षा सर्वहारा वर्ग के लिए **अधिक हितकर** होती है। यह सूत्र निम्नलिखित अर्थ में निःसंदेह सही है: यह बात पूंजीपति वर्ग के लिए हितकर होती है कि वह सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ अतीत के कुछ अवशेषों का सहारा ले, उदाहरण के लिए राजतंत्र, स्थायी सेना आदि का। यह बात पूंजीपति वर्ग के लिए हितकर होगी यदि पूंजीवादी क्रांति अतीत के सभी अवशेषों का ज़रूरत से ज़्यादा दृढ़ता के साथ सफ़ाया न कर दे, अर्थात् यदि यह क्रांति पूरी तरह सुसंगत न हो, यदि वह पूर्ण न हो और यदि वह दृढ़संकल्प तथा निर्मम न हो। सामाजिक-जनवादी यह कहकर कि पूंजीपति वर्ग स्वयं अपने साथ विश्वासघात करता है, कि पूंजीपति वर्ग स्वाधीनता के लक्ष्य के साथ विश्वासघात करता है, कि पूंजीपति

वर्ग में सुसंगत रूप से जनवादी होने की क्षमता ही नहीं होती, बहुधा इसी विचार को कुछ दूसरे ढंग से व्यक्त करते हैं। यह पूंजीपति वर्ग के लिए अधिक फ़ायदे की बात होगी यदि पूंजीवादी जनवाद की दिशा में आवश्यक परिवर्तन अधिक मंद गति से, अधिक धीरे-धीरे, अधिक सतर्कता के साथ, कम दृढ़ता के साथ, क्रांति द्वारा नहीं बल्कि सुधारों द्वारा हों, यदि ये परिवर्तन कृषि-दासता की "पूजनीय" संस्थाओं को (जैसे राजतंत्र को) यथासंभव ज़्यादा से ज़्यादा बख़्श दें, यदि ये परिवर्तन आम जनता की, अर्थात् किसानों की, और ख़ास तौर पर मज़दूरों की, स्वतंत्र क्रांतिकारी हलचल, पहलक़दमी तथा शक्ति को यथासंभव कम से कम विकसित करें, नहीं तो मज़दूरों के लिए यह कहीं ज़्यादा आसान हो जायेगा कि वे, जैसा कि फ़्रांसीसी कहते हैं, "बंदूक एक कंधे से हटाकर दूसरे कंधे पर रख लें," अर्थात् पूंजीवादी क्रांति जो बंदूकें उनके हाथ में देगी, क्रांति के फलस्वरूप जो स्वतंत्रता मिलेगी और कृषि-दासता से साफ़ की गयी ज़मीन पर जो जनवादी संस्थाएं जन्म लेंगी, उन सबको वे पूंजीपति वर्ग के खिलाफ़ इस्तेमाल करें।

दूसरी तरफ़ यह बात मज़दूर वर्ग के लिए ज़्यादा हितकर होगी यदि पूंजीवादी जनवाद की दिशा में आवश्यक परिवर्तन सुधारों के ज़रिये नहीं बल्कि क्रांति के ज़रिये हों, क्योंकि सुधार का रास्ता विलम्ब का, टालमटोल का, राष्ट्र के शरीर के सड़ते हुए अंगों के बहुत कष्टमय ढंग से धीरे-धीरे गलने का रास्ता है। इस क्षय के कारण सबसे पहले और सबसे अधिक विपदाएं सर्वहारा वर्ग तथा किसानों को सहना पड़ती हैं। क्रांतिकारी रास्ता दूषित अंग को जल्दी से काट देने का रास्ता है, जो सर्वहारा वर्ग के लिए सबसे कम कष्टदायक होता है, वह रास्ता यह है कि सड़ते हुए भागों को सीधे-सीधे हटा दिया जाये, वह यह रास्ता है कि राजतंत्र को और उससे सम्बद्ध घृणास्पद, दूषित, सड़ी हुई तथा विष फैलानेवाली संस्थाओं को कम से कम रिआयतें दी जायें और उनके साथ कम से कम मुरव्वत की जाये।

इसलिए हमारे पूंजीवादी-उदारवादी अख़बार जो क्रांतिकारी रास्ते की संभावना की निंदा करते हैं, जो क्रांति से डरते हैं, ज़ार को क्रांति के हौए से डराने की कोशिश करते हैं, क्रांति से बच जाने के लिए चिंतित हैं, जो एक सुधारवादी रास्ते के आधार के रूप में तुच्छ सुधारों के लिए गिड़गिड़ाते

हैं और नाक रगड़ते हैं तो इसका कारण केवल सेंसरशिप नहीं है, इसका कारण केवल "अधिकारारूढ़ लोगों के सामने का भय" नहीं है। इस दृष्टिकोण के समर्थक केवल 'रूस्सकीये वेदोमोस्ती'[21], 'सिन ओतेचेस्त्वा', 'नाशा जीज़्न'[22] तथा 'नाशी द्नी'[23] ही नहीं हैं बल्कि ग़ैर-क़ानूनी, सेंसर की पाबंदी से मुक्त 'ओस्वोबोज्देनिये' भी यही दृष्टिकोण रखता है। पूंजीवादी समाज में एक वर्ग की हैसियत से पूंजीपति वर्ग की जो स्थिति होती है उसके फलस्वरूप ही जनवादी क्रांति में उसका सुसंगत न रहना अनिवार्य हो जाता है। एक वर्ग के रूप में सर्वहारा वर्ग की जो स्थिति होती है उसके कारण ही वह सुसंगत रूप से जनवादी होने पर मजबूर रहता है। पूंजीपति वर्ग जनवादी प्रगति से डरकर, जिससे सर्वहारा वर्ग के मज़बूत होने का ख़तरा पैदा हो जाता है, पीछे की ओर देखता है। सर्वहारा वर्ग के पास अपनी ज़ंजीरों के अतिरिक्त खोने के लिए और कुछ होता ही नहीं है, लेकिन जनवाद की सहायता से उसके लिए जीतने को पूरी दुनिया होती है। यही कारण है कि अपने जनवादी परिवर्तनों के मामले में पूंजीवादी क्रांति जितनी ही सुसंगत होगी उतनी ही कम हद तक वह अपने आपको उन चीज़ों तक सीमित रखेगी जो केवल पूंजीपति वर्ग के फ़ायदे की हों। पूंजीवादी क्रांति जितनी ही सुसंगत होगी, उतनी ही अधिक हद तक वह सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के लिए जनवादी क्रांति से होनेवाले लाभों की गारंटी करेगी।

मार्क्सवाद सर्वहारा को सिखाता है कि वह पूंजीवादी क्रांति से अलग न रहे, कि वह उसके प्रति उदासीन न रहे, क्रांति का नेतृत्व पूंजीपति वर्ग के हाथों में न जाने दे, बल्कि इसके विपरीत अत्यंत उत्साह के साथ उसमें भाग ले, सुसंगत सर्वहारा जनवाद के लिए, क्रांति को उसके अंत तक ले जाने के लिए, पूरी दृढ़ता के साथ लड़े। हम रूसी क्रांति की पूंजीवादी-जनवादी सीमाओं से कूदकर बाहर तो नहीं जा सकते पर हम इन सीमाओं को काफ़ी विस्तृत रूप से बढ़ा सकते हैं और इन सीमाओं के भीतर हम सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए, उसकी तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए और उन परिस्थितियों के लिए लड़ सकते हैं और हमें लड़ना चाहिये जिनके द्वारा उसके लिए यह संभव होगा कि वह भविष्य में पूर्ण विजय के लिए अपनी शक्तियों को तैयार कर सके। पूंजीवादी जनवाद दो प्रकार के होते हैं। वह राजतंत्रवादी-ज़ेम्सत्वोवादी भी पंजीवादी-

जनवादी है जो संसद में ऊपरी सदन के पक्ष में होता है और जो सार्विक मताधिकार "मांगता" है पर आंख बचाकर चुपके-चुपके ज़ारशाही के साथ एक सीमित संविधान के लिए सौदेबाज़ी भी करता रहता है। और वह किसान भी पूंजीवादी-जनवादी है जो हाथ में हथियार लेकर ज़मींदारों तथा सरकारी अफ़सरों के ख़िलाफ़ लड़ रहा है और जो बहुत ही "भोली जनतंत्रवादी भावना" के साथ "ज़ार को ठोकर मारकर निकाल बाहर करने"* का सुझाव रखता है। पूंजीवादी-जनवादी शासन कई प्रकार के हैं जैसा कि जर्मनी में है और इंगलैंड में भी है, जैसा कि आस्ट्रिया में है और वैसे भी जैसे कि अमरीका तथा स्विट्ज़रलैंड में हैं। सचमुच वह भी कमाल का मार्क्सवादी होगा जो जनवादी क्रांति के ज़माने में जनवाद के विभिन्न स्तरों के अंतर को, उसके विभिन्न रूपों के अंतर को न देख सके और अपने आपको केवल इस आशय की "चतुर" बातों तक ही सीमित रखे कि बहरहाल यह "एक पूंजीवादी क्रांति" है, ये एक "पूंजीवादी क्रांति" के फल हैं।

हमारे नये 'ईस्क्रा'-वादी ऐसे ही चतुर लोग हैं जो अपनी अदूरदर्शिता का ढिंढोरा पीटते फिरते हैं। जिस समय और जहां पर इस बात की आवश्यकता होती है कि, ढुलमुल पूंजीवादी जनवादिता और सुसंगत सर्वहारा जनवादिता के अंतर की बात तो जाने दीजिये, कम से कम जनतंत्रवादी-क्रांतिकारी और राजतंत्रवादी-उदारवादी जनवाद के बीच हम अंतर कर सकें, ठीक उस मौक़े पर वे अपने आपको क्रांति के पूंजीवादी स्वरूप के बारे में लम्बे-चौड़े व्याख्यानों तक ही सीमित रखते हैं। ऐसे समय पर जबकि सवाल वर्तमान क्रांति में **जनवादी नेतृत्व** प्रदान करने का है, जबकि सवाल श्री स्त्रूवे तथा उनकी मंडली के विश्वासघातपूर्ण नारों के बरख़िलाफ़ **प्रगतिशील जनवादी** नारों पर ज़ोर देने का है, जबकि सवाल ज़मींदारों तथा फ़ैक्टरियों के मालिकों की उदारवादी सौदेबाज़ी के बरख़िलाफ़ सर्वहारा तथा किसान वर्गों के तात्कालिक उद्देश्यों को बेधड़क साफ़-साफ़ शब्दों में बता देने का है, वे "विरोधी वर्गों के पारस्परिक संघर्ष की प्रक्रिया" के बारे में बड़े उदास भाव से बातें करके संतोष कर लेते हैं – मानो वे सचमुच "मफ़लरधारी आदमी"[24] जैसे बन गये हों। सज्जनो, आप समस्या के

* देखिये 'ओस्वोबोज्देनिये', अंक ७१, पृष्ठ ३३७, टिप्पणी २।

जिस सार-तत्व को समझ नहीं पाये हैं वह इस समय इस प्रकार है: क्या हमारी क्रांति की सचमुच बहुत बड़ी विजय होगी या उसका ग्रंत केवल एक तुच्छ सौदेबाज़ी के रूप में होगा, क्या वह सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के क्रांतिकारी-जनवादी ग्रधिनायकत्व की मंज़िल तक पहुंच सकेगा या "फिसफिसाकर उसका ग्रंत" शिपोव मार्का उदारवादी संविधान में हो जायेगा?

पहली नज़र में तो ऐसा प्रतीत होगा कि यह प्रश्न उठाकर हम ग्रपने विषय से बिल्कुल ग्रलग हटे जा रहे हैं। परंतु ऐसा केवल पहली नज़र में ही प्रतीत होगा। सच तो यह है कि रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस की सामाजिक-जनवादी कार्यनीति ग्रौर नये 'ईस्क्रा'-वादियों के सम्मेलन द्वारा प्रवर्तित कार्यनीति के बीच जो सिद्धांतों का ग्रंतर ग्रब इतना उभरकर सामने ग्रा गया है उसकी बुनियाद में यही प्रश्न है। उन समस्याग्रों को हल करने में, जो मज़दूरों की पार्टी के लिए कहीं ग्रधिक जटिल, कहीं ग्रधिक महत्वपूर्ण ग्रौर कहीं ग्रधिक बुनियादी हैं, ग्रर्थात् क्रांति के समय उसकी कार्यनीति के सवाल को हल करने में "ग्रर्थवाद" की पुरानी ग़ल्तियों को दोहराकर नये 'ईस्क्रा'-वादी दो नहीं बल्कि तीन क़दम पीछे चले गये हैं। यही कारण है कि जो प्रश्न हमने उठाया है उसका विश्लेषण हमें यथोचित ध्यान के साथ करना चाहिये।

नये 'ईस्क्रा'-वादी प्रस्ताव के जिस भाग को हमने ऊपर उद्धृत किया है उसमें इस ख़तरे की ग्रोर संकेत किया गया है कि पूंजीपति वर्ग की ढुलमुल नीति के ख़िलाफ़ संघर्ष में सामाजिक-जनवाद कहीं ग्रपने हाथ न बांध ले, कहीं वह पूंजीवादी जनवाद में विलीन न हो जाये। नये 'ईस्क्रा' के ढंग के सारे साहित्य में इस ख़तरे का विचार समान रूप से पाया जाता है, हमारी पार्टी में जिस सिद्धांत को लेकर फूट पड़ गयी थी उसका ग्रसली ग्राधार यही है (उस समय से जबसे कि इस फूट में थुक्का-फ़ज़ीहत के तत्व "ग्रर्थवाद" की दिशा में मोड़ के तत्वों के सामने बिल्कुल मांद पड़ गये)। ग्रौर बिना किसी ग्रगर-मगर के हम स्वीकार करते हैं कि यह ख़तरा सचमुच मौजूद है, ग्रौर ठीक इसी समय जबकि रूसी क्रांति ग्रपने शिखर पर है, यह ख़तरा विशेष रूप से गंभीर हो गया है। सामाजिक-जनवाद के हम सभी सिद्धांतवेत्ताग्रों का, या – जैसा कि मैं स्वयं ग्रपने बारे में कहना ग्रधिक पसंद करूंगा – सामाजिक-जनवादियों के

पब्लिसिस्टों का, तात्कालिक तथा अत्यंत उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य यह मालूम करना है कि सचमुच इस बात का ख़तरा **किस दिशा से** है। क्योंकि हमारे मतभेद का स्रोत इस बात पर किसी झगड़े में निहित नहीं है कि इस प्रकार का ख़तरा है या नहीं, बल्कि उसका स्रोत तो यह झगड़ा है कि यह ख़तरा "अल्पमत" के तथाकथित पुछल्लावाद से उत्पन्न होता है या "बहुमत" के तथाकथित क्रांतिवाद से।

तमाम गलतफ़हमियों और भ्रांत व्याख्याओं से बचने के लिए सबसे पहले तो हम इस बात को ध्यान में रखें कि जिस ख़तरे की ओर हम संकेत कर रहे हैं वह इस समस्या के मनोगत पहलू में नहीं बल्कि वस्तुगत पहलू में निहित है, वह इस बात में निहित नहीं है कि सामाजिक-जनवाद संघर्ष में क्या औपचारिक रुख़ अपनायेगा, बल्कि इस बात में निहित है कि पूरे वर्तमान क्रांतिकारी संघर्ष का भौतिक परिणाम क्या निकलेगा। सवाल यह नहीं है कि अमुक सामाजिक-जनवादी दल पूंजीवादी जनवाद में विलीन हो जाना चाहेगा, या यह कि उसे इस बात की चेतना भी है कि नहीं कि वह विलीन हुआ जा रहा है। यह तो कोई नहीं कहता। हमें किसी भी सामाजिक-जनवादी के बारे में इस प्रकार की शंका नहीं है कि वह अपने मन में इस प्रकार की इच्छा रखता है, और यह इच्छाओं का सवाल तो है भी नहीं। न ही यह इस बात का सवाल है कि अमुक सामाजिक-जनवादी दल क्रांति के पूरे दौरान में अलग अपनी शक्ल को, अपनी निजी विशिष्टता को और पूंजीवादी जनवाद से अपनी स्वतंत्रता को औपचारिक रूप से सुरक्षित रखेगा कि नहीं। संभव है कि वे इस प्रकार की स्वतंत्रता की केवल घोषणा ही न करें बल्कि उसे औपचारिक रूप से बाक़ी भी रखें और फिर भी **मालूम यह हो** कि पूंजीपति वर्ग के ढुलमुलपन के विरुद्ध संघर्ष में उनके हाथ बंधे ही रहेंगे। सामाजिक-जनवाद की औपचारिक "स्वतंत्रता" के बावजूद, अलग एक पार्टी की हैसियत से उसके पूर्णतः अलग अपने रूप के बावजद, क्रांति का अंतिम राजनीतिक परिणाम यह हो सकता है कि वह वास्तव में स्वतंत्र नहीं होगा, वह घटनाक्रम पर अपनी सर्वहारा स्वतंत्रता की छाप नहीं डाल सकेगा, वह इतना कमज़ोर साबित होगा कि कुल मिलाकर और अंतिम विश्लेषण में उसका पूंजीवादी जनवाद में "विलीन हो जाँना" एक ऐतिहासिक तथ्य बन जायेगा।

असली ख़तरा इसी बात का है। आइये, अब हम देखें कि हमारे लिए इस बात का ख़तरा किस दिशा से है: इस बात से कि वह सामाजिक-जनवाद, जिसका प्रतिनिधित्व नया 'ईस्क्रा' करता है, दक्षिणपंथ की दिशा में गुमराह होता जा रहा है—जैसा कि हमारा विश्वास है; या इस बात से कि वह सामाजिक-जनवाद, जिसका प्रतिनिधित्व "बहुमत", 'व्पेर्योद' आदि करते हैं, वामपक्ष की दिशा में गुमराह होता जा रहा है—जैसा कि नये 'ईस्क्रा'-वादियों का विश्वास है।

जैसा कि हम बता चुके हैं इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न सामाजिक शक्तियों की गतिविधियों के वस्तुगत संयोग पर निर्भर करता है। रूसी जीवन के मार्क्सीय विश्लेषण में इन शक्तियों के स्वरूप की सैद्धांतिक दृष्टि से परिभाषा कर दी गयी है, इस समय क्रांति के दौरान में विभिन्न दलों तथा वर्गों की खुली गतिविधियों द्वारा व्यवहार में उसकी परिभाषा की जा रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय हम जिस दौर से होकर गुज़र रहे हैं उससे बहुत पहले ही मार्क्सवादियों द्वारा किया गया पूरा सैद्धांतिक विश्लेषण और क्रांतिकारी घटनाओं के विकास के सभी व्यावहारिक अवलोकन भी, यह सिद्ध करते हैं कि वस्तुगत परिस्थितियों के दृष्टिकोण से रूस में क्रांति के दो रास्ते और दो परिणाम संभव हैं। रूस में आर्थिक तथा राजनीतिक पद्धति में पूंजीवादी-जनवादी ढर्रे पर परिवर्तन होना अनिवार्य तथा अपरिहार्य है। संसार की कोई भी शक्ति इस परिवर्तन को रोक नहीं सकती। परंतु जो वर्तमान शक्तियां यह परिवर्तन ला रही हैं उनकी संयुक्त गतिविधियों का परिणाम इन दो बातों में से एक ही हो सकता है, वे परिवर्तन के इन दो रूपों में से किसी एक को ही सामने ला सकती हैं। या तो १) परिणाम यह होगा कि "ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" होगी, या २) ये शक्तियां निर्णायक विजय के लिए अपर्याप्त होंगी और सारा मामला ज़ारशाही और पूंजीपति वर्ग के सबसे अधिक "ढुलमुल" तथा सबसे अधिक "स्वार्थी" तत्वों के बीच कोई सौदा होकर ख़त्म हो जायेगा। असंख्य प्रकार की उन छोटी-छोटी ब्योरे की बातों तथा संयोजनों का निचोड़, जिनके बारे में पहले से कोई भी नहीं बता सकता—आम तौर पर और कुल मिलाकर—इन्हीं दो परिणामों में से किसी एक परिणाम के रूप में निकलता है।

आइये, अब हम इन दोनों परिणामों पर पहले तो उनके सामाजिक महत्व के दृष्टिकोण से और दूसरे इन दोनों में से किसी भी एक सूरत में सामाजिक-जनवाद की स्थिति के दृष्टिकोण से (उसका "विलीन हो जाना" या "उसके हाथ बंध जाना") विचार करें।

"ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" क्या है? हम देख चुके हैं कि जब नये 'ईस्क्रा'-वादी इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो वे उसके तात्कालिक राजनीतिक महत्व को भी नहीं समझते। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवधारणा के वर्ग-सार को तो वे और भी कम समझते हैं। नि:संदेह हम मार्क्सवादियों को "क्रांति" या "महान रूसी क्रांति" जैसे **शब्दों** के धोखे में न आ जाना चाहिये जैसे बहुत से क्रांतिकारी जनवादी (गपोन की क़िस्म के) आ जाते हैं। हमारे दिमाग़ में यह बात बिल्कुल साफ़ होना चाहिये कि कौनसी वास्तविक सामाजिक शक्तियां "ज़ारशाही" (जो एक ऐसी वास्तविक शक्ति है जो सबके लिए सर्वथा बोधगम्य है) के ख़िलाफ़ हैं और उस पर "निर्णायक विजय" प्राप्त करने की क्षमता रखती हैं। बड़ा पूंजीपति वर्ग, ज़मींदार, फ़ैक्टरियों के मालिक, ओस्वोबोज्देंत्सी की अगुआई में चलनेवाला "समाज" इस प्रकार की शक्ति नहीं हो सकते। हम देखते हैं कि वे निर्णायक विजय को भी नहीं चाहते। हम जानते हैं कि उनकी वर्ग-स्थिति ही ऐसी है कि वे ज़ारशाही के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष की क्षमता नहीं रखते, उनके पैरों में निजी सम्पत्ति, पूंजी तथा ज़मीन की इतनी मज़बूत बेड़ियां पड़ी हुई हैं कि वे निर्णायक संघर्ष के क्षेत्र में क़दम भी नहीं रख सकते। सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने के लिए उन्हें नौकरशाही, पुलिस तथा सेना की शक्ति सहित ज़ारशाही की इतनी अधिक आवश्यकता है कि वे उसके विनाश की कोशिश भी नहीं कर सकते। नहीं, "ज़ारशाही पर निर्णायक विजय" प्राप्त करने की क्षमता रखनेवाली एकमात्र शक्ति **जनता** है, अर्थात् सर्वहारा वर्ग तथा किसान हैं, यदि हम मुख्य और बड़ी-बड़ी शक्तियों को लें और गांवों तथा शहरों के निम्न पूंजीपति वर्ग को (ये भी "जनता" का अंग हैं) इन दोनों के बीच बांट दें। "ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" **सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व** है। हमारे नये 'ईस्क्रा'-वादी इस निष्कर्ष से बच नहीं सकते, जिसकी ओर 'व्पेर्योद' ने बहुत पहले संकेत किया था।

15—1

ज़ारशाही पर और कोई निर्णायक विजय प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखता।

और इस प्रकार की विजय अधिनायकत्व ही होगी, अर्थात् उसे अनिवार्य रूप से सैनिक शक्ति पर, जन-साधारण को सशस्त्र करने पर, विद्रोह पर भरोसा करना पड़ेगा, न कि "क़ानूनी" या "शांतिपूर्ण ढंग" से स्थापित की गयी किसी प्रकार की संस्थाओं पर। वह एक अधिनायकत्व ही हो सकती है क्योंकि सर्वहारा वर्ग और किसानों के लिए जो परिवर्तन तात्कालिक रूप से तथा नितांत अपरिहार्य हैं उनका ज़मींदार, बड़े पूंजीपति तथा ज़ारशाही जान लड़ाकर विरोध करेंगे। अधिनायकत्व के बिना इस विरोध को चकनाचूर करना और क्रांति-विरोधी कोशिशों को विफल बनाना असंभव है। परंतु वह समाजवादी अधिनायकत्व नहीं बल्कि जनवादी अधिनायकत्व होगा। वह (क्रांतिकारी विकास की अंतरवर्ती अवस्थाओं के एक पूरे क्रम के बिना) पूंजीवाद की नींव को टस से मस भी नहीं कर सकेगा। हद से हद वह यह कर सकता है कि किसानों के फ़ायदे में वह भू-सम्पत्ति का बिल्कुल नये सिरे से बंटवारा कर दे, सुसंगत तथा पूर्ण जनवाद की स्थापना कर दे जिसमें जनतंत्र का निर्माण भी शामिल है, केवल गांवों के ही नहीं बल्कि फ़ैक्टरियों के जीवन में भी एशियाई ढंग की दासता की सभी उत्पीड़नमय विशेषताओं को समूल नष्ट कर दे, मज़दूरों की हालत में शुरू से आख़िर तक सुधार के लिए तथा उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए बुनियाद तैयार कर दे, और—आख़िरी बात होते हुए भी इसका महत्व किसी दूसरी बात से कम नहीं है—वह क्रांति की ज्वाला को यूरोप में पहुंचा दे। परंतु इस प्रकार की विजय किसी भी एतबार से हमारी पूंजीवादी क्रांति को समाजवादी क्रांति में नहीं बदल देगी; जनवादी क्रांति सीधे-सीधे पूंजीवादी सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करेगी; फिर भी इस प्रकार की विजय का रूस के और पूरी दुनिया के भावी विकास के लिए अत्यधिक महत्व होगा। कोई दूसरी चीज़ विश्व के सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी उत्साह को उतना नहीं बढ़ायेगी, कोई भी दूसरी चीज़ विश्व सर्वहारा वर्ग को पूर्ण विजय की मंज़िल तक ले जानेवाले मार्ग को उतना छोटा नहीं बनायेगी जितना कि उस क्रांति की यह निर्णायक विजय जो कि रूस में अब आरंभ हो गयी है।

के सर्वसाधारण के तरीक़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं था" (देखिये Marx'Nachlass, मेहरिंग वाला संस्करण, खंड ३, पृष्ठ २११[25])। क्या उन लोगों ने, जो जनवादी क्रांति के ज़माने में रूस में सामाजिक-जनवादी मज़दूरों को "जैकोबिनवाद" के हौए से डराने की कोशिश करते हैं, मार्क्स के इन शब्दों के महत्व पर एक बार भी विचार किया है?

आधुनिक रूसी सामाजिक-जनवाद के जिरौंदवादी[26], अर्थात् नये 'ईस्क्रा-' वादी ओस्वोबोज्देंत्सी में विलीन तो नहीं हो जाते पर वास्तव में वे अपने नारों के स्वरूप के कारण उनकी दुम के पीछे-पीछे चलते हैं। और ओस्वोबोज्देंत्सी, अर्थात् उदारवादी पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि, एकतंत्र के साथ नरमी से, सुधारवादी ढंग से, घुटने टेककर हिसाब चुकता करना चाहते हैं, ताकि रईसों की, अभिजात वर्ग की, राज-दरबार की भावनाओं को ठेस न पहुंचे—बड़ी सावधानी से, बिना किसी चीज़ को तोड़े—मृदुता तथा शिष्टता के साथ, जैसा कि सफ़ेद दस्ताने पहननेवाले शरीफ़ों को शोभा देता है (वैसे ही दस्ताने जैसे कि निकोलाई ख़ूनी द्वारा "जनता के प्रतिनिधियों" [?] के सम्मान में दिये गये भोज के अवसर पर पहनने के लिए श्री पेत्रुंकेविच ने एक अत्याचारी से मांग लिये थे। देखिये 'प्रोलेतारी', अंक ५*)।

आधुनिक सामाजिक-जनवाद के जैकोबिन—बोल्शेविक, 'व्पेर्योद'-वादी, कांग्रेसवादी, 'प्रोलेतारी'-वादी[27] या हम उन्हें चाहे जिस नाम से भी पुकारें —अपने नारों द्वारा क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी निम्न पूंजीपति वर्ग को, और विशेष रूप से किसानों को ऊंचा उठाकर सर्वहारा वर्ग की सुसंगत जनवादिता के स्तर तक पहुंचा देना चाहते हैं, जो एक वर्ग की हैसियत से अपनी निजी विशेषताओं को पूरी तरह सुरक्षित रखता है। वे चाहते हैं कि जनता, अर्थात् सर्वहारा वर्ग तथा किसान, राजतंत्र के साथ और अभिजात वर्ग के साथ "सर्वसाधारण के ढंग से" अपना हिसाब चुकता कर लें, स्वाधीनता के शत्रुओं को निर्ममतापूर्वक नष्ट कर दें, उनके विरोध को बलपूर्वक कुचल दें, कृषि-दासता

---

*देखिये व्ला० इ० लेनिन का 'सफ़ेद दस्ताने पहने "क्रांतिकारी"' शीर्षक लेख।—सं०

की, एशियाई ढंग की दासता की तथा मानव के अपमान की अभिशप्त परम्पराओं के साथ कोई भी रिआयत न करें।

ज़ाहिर है इसका मतलब यह नहीं है कि हम आवश्यक रूप से १७६३ के जैकोबिनों की नक़ल करने का इरादा रखते हैं, उनके विचारों को, उनके कार्यक्रम को, उनके नारों को तथा उनकी कार्य-पद्धति को अपनाना चाहते हैं। ऐसी कोई बात नहीं है। हमारा कार्यक्रम पुराना नहीं है, हमारा कार्यक्रम नया है – वह रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम है। हमारा एक नया नारा है: सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व। यदि हम क्रांति की वास्तविक विजय देखने के लिए जीवित रहें तो पूर्ण समाजवादी क्रांति के लिए प्रयत्नशील मज़दूर वर्ग की पार्टी के स्वरूप तथा उद्देश्यों के अनुकूल हमारी नयी कार्य-पद्धतियां भी होंगी। अपनी इस तुलना द्वारा हम केवल यह समझाना चाहते हैं कि बीसवीं शताब्दी के प्रगतिशील वर्ग के प्रतिनिधि, सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि, अर्थात् सामाजिक-जनवादी, उसी प्रकार के दो पक्षों में विभाजित हैं (अवसरवादी तथा क्रांतिकारी) जिस प्रकार के दो पक्षों में अठारहवीं शताब्दी के प्रगतिशील वर्ग के, पूंजीपति वर्ग के, प्रतिनिधि विभाजित थे, अर्थात् जिरौंदवादी और जैकोबिन।

केवल उसी दशा में जब जनवादी क्रांति की पूर्ण विजय हो जायेगी तभी ढुलमुल पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष में सर्वहारा वर्ग के हाथ बंधे न रहेंगे, केवल उसी दशा में वह पूंजीवादी जनवाद में "विलीन" नहीं हो जायेगा बल्कि पूरी क्रांति पर अपनी सर्वहारा, बल्कि कहना चाहिये अपनी सर्वहारा-किसान छाप डालेगा।

सारांश यह कि यदि सर्वहारा वर्ग चाहता है कि ढुलमुल पूंजीवादी जनवादियों के विरुद्ध संघर्ष में उसके हाथ बंधे न रहें तो उसमें पर्याप्त वर्ग-चेतना होना चाहिये और उसे इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि वह किसानों में क्रांतिकारी चेतना का संचार कर सके उसके आक्रमण का निर्देशन कर सके और इस प्रकार स्वतंत्र रूप से सुसंगत सर्वहारा जनवादिता के मार्ग का अनुसरण कर सके।

ढुलमुल पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ संघर्ष में हमारे हाथ बंध जाने के ख़तरे के सवाल के बारे में, जिसका उत्तर नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने असंतोषजनक ढंग

से दिया है, परिस्थिति यह है। पूंजीपति वर्ग तो हमेशा ढुलमुल रहेगा। इससे बढ़कर भोलेपन की और बेकार बात कोई दूसरी नहीं हो सकती कि ऐसी शर्तें और बातें पेश की जायें* जिनके पूरे हो जाने से हम यह समझने लगें कि पूंजीवादी जनवाद जनता का सच्चा मित्र होता है। केवल सर्वहारा वर्ग ही जनवाद के लिए लगातार दृढ़ रूप से लड़ सकता है। और जनवादिता के लिए लड़ने में वह विजयी तभी हो सकता है जब किसान जनता उसके क्रांतिकारी संघर्ष में शामिल हो जाये। यदि सर्वहारा वर्ग में इसके लिए काफ़ी शक्ति नहीं होगी तो पूंजीपति वर्ग जनवादी क्रांति का अगुआ बन जायेगा और उसे ढुलमुल तथा स्वार्थी स्वरूप प्रदान कर देगा। सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के सिवा कोई चीज़ इस बात को रोक नहीं सकती।

इस प्रकार हम इस असन्दिग्ध नतीजे पर पहुंचते हैं कि नये 'ईस्क्रा'-वादियों की कार्यनीति ही है जो अपने वस्तुगत महत्व के कारण **पूंजीवादी जनवादियों के हाथों में खेल रही है।** संगठन में जनमत संग्रह करने की हद तक बिखराव पैदा कर देना, समझौतेबाज़ी का सिद्धांत और पार्टी साहित्य तथा पार्टी को एक दूसरे से अलग रखना, सशस्त्र विद्रोह के उद्देश्यों के महत्व को गिराना, क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के लोकप्रिय राजनीतिक नारों को राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के नारों के साथ गड़बड़ा देना, "ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" के लिए आवश्यक शर्तों को तोड़-मरोड़कर पेश करना—ये सब बातें मिलकर क्रांतिकारी काल में पुछल्लावाद की वही नीति बन जाती हैं जो विजय का एकमात्र रास्ता बताने के बजाय और जनता के सभी क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी तत्वों को सर्वहारा वर्ग के नारे के गिर्द एकत्रित करने के बजाय सर्वहारा वर्ग को उलझन में डाल देती है, उसे असंगठित कर देती है, उसकी समझ-बूझ में उलझाव पैदा कर देती है और सामाजिक-जनवाद की कार्यनीति के महत्व को गिराती है।

---

* जिसकी कोशिश स्तारोवेर ने अपने प्रस्ताव में[28] की थी जिसे तीसरी कांग्रेस ने रद्द कर दिया था और जिसकी कोशिश उतने ही बुरे प्रस्ताव में सम्मेलन ने की है।

प्रस्ताव के विश्लेषण के आधार पर हम जिस उपरोक्त निष्कर्ष पर पहुंचे हैं उसकी पुष्टि करने के लिए, आइये, हम इस प्रश्न पर दूसरे पहलुओं से विचार करें। आइये, हम पहले तो यह देखें कि एक सीधा-सादा और स्पष्टवादी मेंशेविक जार्जियाई 'सोत्सिअल-देमोक्रात' में नये 'ईस्क्रा' की कार्यनीति को किस तरह ठोस उदाहरणों से समझाता है। और दूसरे हम इस बात को देखें कि वर्तमान राजनीतिक स्थिति में नये 'ईस्क्रा' के नारों का फ़ायदा वास्तव में कौन उठा रहा है।

७. "रूढ़िवादियों को सरकार में से निकाल फेंकने" की कार्यनीति

तिफ़लिस मेंशेविक "समिति' के मुखपत्र ('सोत्सिअल-देमोक्रात' अंक १) के जिस लेख का अभी ऊपर हमने ज़िक्र किया है उसका शीर्षक है 'ज़ेम्स्की सोबोर और हमारी कार्यनीति'। इसका लेखक अभी तक हमारे कार्यक्रम को पूरी तरह भूला नहीं है, वह जनतंत्र का नारा देता है, पर कार्यनीति पर बहस वह इस ढंग से करता है:

> "इस लक्ष्य को" (जनतंत्र को) "प्राप्त करने के दो रास्ते बताये जा सकते हैं: या तो सरकार द्वारा जिस ज़ेम्स्की सोबोर का आयोजन किया जा रहा है उसकी ओर हम बिल्कुल ध्यान ही न दें और शस्त्रों के बल पर सरकार को हरा दें, एक क्रांतिकारी सरकार बना लें और एक संविधान सभा आयोजित करें, या फिर ज़ेम्स्की सोबोर को हम अपनी गतिविधियों का केंद्र घोषित करें, शस्त्रों के बल पर उसकी रचना और गतिविधियों पर प्रभाव डालें और उसे इस बात पर मजबूर कर दें कि वह या तो स्वयं अपने को एक संविधान सभा घोषित कर दे या उसके ज़रिये एक संविधान सभा आयोजित करें। ये दो कार्यनीतियां एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। आइये, हम देखें कि इन दोनों में से कौनसी हमारे लिए अधिक हितकर है।"

रूसी नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने उन विचारों को, जो उस प्रस्ताव में बाद में शामिल कर लिये गये थे जिसका हमने विश्लेषण किया है, इस ढंग से पेश किया

था। ध्यान रहे कि यह बात त्सुसीमा की लड़ाई[29] से पहले लिखी गयी थी, जब तक कि बुलीगिन "योजना" प्रकाश में नहीं आयी थी। उदारवादियों तक का धीरज टूटने लगा था और वे क़ानूनी अख़बारों में कही गयी बातों के प्रति अविश्वास प्रकट करने लगे थे, परंतु एक नया 'ईस्क्रा'-वादी सामाजिक-जनवादी उदारवादियों से अधिक भोला साबित हुआ। वह घोषणा करता है कि ज़ेम्स्की सोबोर का "आयोजन किया जा रहा है" और उसे ज़ार पर इतना भरोसा है कि वह इस ज़ेम्स्की सोबोर (या संभवतः "राज्यीय दूमा" या "परामर्शदात्री विधान-सभा"?) को हमारी गतिविधियों का केंद्र घोषित कर देने का सुझाव रखता है। सम्मेलन में स्वीकार किये गये प्रस्ताव को तैयार करनेवालों की अपेक्षा अधिक स्पष्टवादी और निष्कपट होने के कारण, हमारा तिफ़लिसवासी उन दो "कार्यनीतियों" को (जिनका निरूपण वह बेमिसाल भोलेपन के साथ करता है) बराबर स्तर पर नहीं रखता, बल्कि यह घोषणा करता है कि दूसरी वाली अधिक "हितकर" है। ज़रा सुनिये:

> "पहली कार्यनीति। जैसा कि आप जानते हैं भावी क्रांति एक पूंजीवादी क्रांति है, अर्थात् उसका लक्ष्य वर्तमान व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन करना है जो न केवल सर्वहारा वर्ग के बल्कि पूरे पूंजीवादी समाज के हित में हों। सभी वर्ग, स्वयं पूंजीपति भी, सरकार के ख़िलाफ़ हैं। लड़ाकू सर्वहारा वर्ग और लड़ाकू पूंजीपति वर्ग एक एतबार से क़दम से क़दम मिलाकर साथ चल रहे हैं और अलग-अलग दिशाओं से एकतंत्र पर मिलकर प्रहार कर रहे हैं। सरकार बिल्कुल अलग पड़ गयी है और उसे जनता की सहानुभूति प्राप्त नहीं है। इसलिए उसे नष्ट करना बहुत आसान है। पूरा रूसी सर्वहारा वर्ग अभी तक इतना काफ़ी वर्ग-चेतन और संगठित नहीं है कि वह अकेले ही क्रांति कर सके। और यदि वह कर सकता तो वह पूंजीवादी क्रांति नहीं बल्कि सर्वहारा (समाजवादी) क्रांति करता। इसलिए यह बात हमारे हित में है कि सरकार का कोई मित्र न रहे, कि वह विरोध-पक्ष की एकता को भंग करने में असमर्थ रहे, कि वह पूंजीपति वर्ग को अपनी तरफ़ मिलाकर सर्वहारा वर्ग को बिल्कुल अकेला कर देने में सफल न होने पाये..."

इस प्रकार यह बात सर्वहारा वर्ग के हित में है कि ज़ारशाही सरकार पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग को एक दूसरे से अलग न करने पाये! क्या इस जार्जियाई मुखपत्र का नाम 'ओस्वोबोज्देनिये' के बजाय 'सोत्सिअल-देमोक्रात' ग़लती से नहीं रख दिया गया है? और जनवादी क्रांति के बारे में उसके अनुपम दार्शनिक विचारों पर ध्यान दीजिये! क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि यह बेचारा तिफ़लिसवासी "पूंजीवादी क्रांति" की अवधारणा की पांडित्यपूर्ण पुछल्लावादी व्याख्या के कारण बुरी तरह उलझ गया है? वह जनवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग के सबसे अलग पड़ जाने की संभावना के सवाल पर तो बहस करता है पर एक छोटी सी बात के बारे में... किसानों के बारे में... **भूल जाता है**! सर्वहारा वर्ग के संभव मित्रों में वह ज़मींदार ज़ेम्सत्वो-वादियों[30] को तो जानता है और उनके पक्ष में है पर वह किसानों के बारे में नहीं जानता। और सो भी काकेशस में! तो क्या हमने यह सही नहीं कहा था कि तर्क करने के अपने तरीक़े के कारण नया 'ईस्क्रा' क्रांतिकारी किसान वर्ग को ऊंचा उठाकर अपने मित्र के स्तर पर ले आने के बजाय गिरकर राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के स्तर पर पहुंचता जा रहा है?

> "...अन्यथा सर्वहारा वर्ग की पराजय और सरकार की विजय अवश्यम्भावी है। एकतंत्र इसी बात की तो कोशिश कर रहा है। ज़ेम्स्की सोबोर में वह निःसंदेह अभिजात वर्ग के प्रतिनिधियों को, विभिन्न ज़ेम्सत्वो, शहरों, विश्वविद्यालयों तथा इसी प्रकार की अन्य पूंजीवादी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को अपनी ओर आकर्षित करेगा। वह छोटी-छोटी रिआयतें देकर उन्हें संतुष्ट करने की कोशिश करेगा और इस प्रकार उन्हें अपने साथ मिला लेगा। इस प्रकार शक्तिशाली होकर वह अपने सारे प्रहार श्रमिक जनता पर करेगा जो अकेली रह जायेगी। ऐसी दुर्भाग्यशाली बात को रोकना हमारा कर्तव्य है। लेकिन क्या इस काम को पहलेवाले तरीक़े से किया जा सकता है? मान लीजिये कि हम ज़ेम्स्की सोबोर की ओर कोई ध्यान नहीं देते बल्कि स्वयं विद्रोह की तैयारियां आरंभ कर देते हैं और एक दिन इस लड़ाई के लिए सशस्त्र होकर सड़कों पर निकल आते हैं। नतीजा यह होगा कि हमारा मुक़ाबला एक नहीं बल्कि दो शत्रुओं से होगा: सरकार से और ज़ेम्स्की सोबोर से। जब तक हम तैयारियां करेंगे तब तक

वे कोई सौदा कर लेंगे, आपस में समझौता कर लेंगे और एक एसा संविधान तैयार कर लेंगे जो उनके लिए हितकर हो और वे सत्ता आपस में बांट लेंगे। यह कार्यनीति सीधे-सीधे सरकार के हित में है और हमको उसे पूरे ज़ोर के साथ ठुकरा देना चाहिये"...

यह बिल्कुल साफ़ ढंग से बात की गयी है! हमें दृढ़तापूर्वक विद्रोह की तैयारी करने की "कार्यनीति" को ठुकरा देना चाहिये क्योंकि "जब तक हम तैयारियां करेंगे" तब तक सरकार पूंजीपति वर्ग के साथ कोई समझौता कर लेगी! क्या आप अत्यंत घोर "अर्थवाद" के पुराने साहित्य में से भी कोई ऐसी चीज़ खोजकर ला सकते हैं जो क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के इस कलंक के निकट भी पहुंचती हो? यह एक सच बात है कि कभी कहीं और कभी कहीं मज़दूरों तथा किसानों के विद्रोह और संघर्ष हो रहे हैं। परंतु ज़ेम्स्की सोबोर बुलीगिन का एक वादा है। और तिफ़लिस नगर का 'सोत्सिअल-देमोक्रात' फ़ैसला करता है: विद्रोह की तैयारी करने की कार्यनीति को ठुकरा दिया जाये और प्रतीक्षा की जाये एक "प्रभाव-केंद्र" की, ज़ेम्स्की सोबोर की...

"... इसके विपरीत, दूसरी कार्यनीति यह है कि ज़ेम्स्की सोबोर को हमारी आधीनता में रख दिया जाये, उसे अपनी इच्छा के अनुसार काम करने और सरकार के साथ समझौता करने का मौक़ा न दिया जाये।*

"हम ज़ेम्स्की सोबोर का उसी हद तक समर्थन करते हैं जहां तक कि वह एकतंत्र के ख़िलाफ़ लड़ता है, और जहां पर वह एकतंत्र के साथ मेल कर लेता है वहां हम उसके ख़िलाफ़ लड़ते हैं। ज़ोरदार हस्तक्षेप करके और बल का प्रयोग करके हम प्रतिनिधियों में फूट डाल देंगे,** उग्रवादियों को

---

* वह कौनसा तरीक़ा है जिससे ज़ेम्सत्वो-वादियों को उनकी इच्छा-शक्ति से वंचित किया जा सकता है? शायद कोई ख़ास क़िस्म का लिटमस काग़ज़ इस्तेमाल करके?

** हे भगवान्! यह तो कार्यनीति को सचमुच बहुत ही "गूढ़" बना देना है। सड़कों पर लड़ने के लिए तो शक्तियां उपलब्ध नहीं हैं पर "बल का प्रयोग करके" "प्रतिनिधियों में फूट डाल देना" संभव है। तिफ़लिस के कामरेड, सुनिये, आप शब्दों से खेल तो सकते हैं, पर इसकी भी एक हद होती है जिससे आगे नहीं बढ़ना चाहिये...

अपनी तरफ़ मिला लेंगे, रूढ़िवादियों को सरकार में से निकाल फेंकेंगे और इस प्रकार पूरे ज़ेम्स्की सोबोर को क्रांति के पथ पर ले आयेंगे। ऐसी कार्यनीति की बदौलत सरकार हमेशा अकेली रहेगी, विरोध-पक्ष मज़बूत रहेगा और इस तरह जनवादी व्यवस्था की स्थापना में सुविधा हो जायेगी।"

देखा न आपने! अब कोई कहे कि हम यह कहकर अतिशयोक्ति से काम लेते हैं कि नये 'ईस्क्रा'-वादी बहुत भोंडे क़िस्म के "अर्थवाद" की दिशा में मुड़ गये हैं। यह तो मक्खियां मारने के उस प्रख्यात पाउडर जैसी बात है: मक्खी को पकड़ो, उस पर पाउडर छिड़क दो और बस मक्खी मर जायेगी। **बल** का प्रयोग करके ज़ेम्स्की सोबोर के प्रतिनिधियों में फूट डाल दो, "रूढ़िवादियों को सरकार में से निकाल फेंको" और बस **पूरा** ज़ेम्स्की सोबोर **क्रांति के पथ** पर आ जायेगा... किसी प्रकार का कोई "जैकोबिन" सशस्त्र विद्रोह नहीं, बल्कि बस यों ही, बहुत ही शराफ़त से, लगभग बिल्कुल ही संसदीय ढंग से, **ज़ेम्स्की सोबोर के सदस्यों** को "प्रभावित करके"।

बेचारा रूस! कहा गया है कि रूस हमेशा वही पुराने ढंग की टोपियां पहनता है जिन्हें यूरोप उतारकर फेंक देता है। हमारे यहां अभी तक संसद नहीं है, बुलीगिन तक ने अभी तक उसका वादा नहीं किया है, परंतु हमारे यहां संसदीय बौड़मपन[31] की कोई कमी नहीं है।

"... यह हस्तक्षेप किस प्रकार किया जाये? सबसे पहले तो हम यह मांग करेंगे कि ज़ेम्स्की सोबोर का आयोजन सार्विक तथा समान मताधिकार, सीधे चुनावों और गुप्त मतदान के आधार पर किया जाये। चुनाव की इस पद्धति की घोषणा * के साथ ही साथ यह क़ानून बना दिया जाये ** कि चुनाव में प्रचार करने की पूरी आज़ादी होगी, अर्थात् सभाएं करने की, भाषण देने की और अख़बारों की आज़ादी होगी, मतदाताओं तथा उम्मीदवारों के रास्ते में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली जायेगी और सारे राजनीतिक क़ैदी रिहा कर दिये जायेंगे। चुनाव की

---

* 'ईस्क्रा' में?

** निकोलाई द्वारा?

तारीख़ जितना बढ़ाकर संभव हो रखी जाये ताकि हमें जनता को सूचना देने तथा उसे तैयार करने का काफ़ी समय मिले। और चूंकि सोबोर का आयोजन जिन नियमों के आधीन होगा उन्हें तैयार करने का काम गृहमंत्री बुलीगिन के नेतृत्व में एक आयोग को सौंप दिया गया है इसलिए हमें इस आयोग पर तथा उसके सदस्यों पर दबाव भी डालना चाहिये।* यदि बुलीगिन आयोग हमारी मांगों को पूरा करने से इंकार करता है** और केवल जायदाद वालों को मताधिकार देता है तो हमें इन चुनावों में हस्तक्षेप करना चाहिये और क्रांतिकारी ढंग से मतदाताओं को प्रगतिशील उम्मीदवार चुनने पर मजबूर कर देना चाहिये और ज़ेम्स्की सोबोर में संविधान सभा की मांग उठानी चाहिये। अंतिम बात यह कि हमें हर संभव उपाय से—प्रदर्शनों, हड़तालों और यदि आवश्यक हो तो विद्रोह द्वारा—ज़ेम्स्की सोबोर को मजबूर कर देना चाहिये कि वह संविधान सभा का आयोजन करे या स्वयं अपने को संविधान सभा घोषित कर दे। सशस्त्र सर्वहारा वर्ग को अपने आपको संविधान सभा का रक्षक बना लेना चाहिये और फिर दोनों एक साथ*** जनवादी जनतंत्र की ओर क़दम से क़दम मिलाकर आगे बढ़ेंगे।

"यह है सामाजिक-जनवादी कार्यनीति, और केवल इसी से हमें विजय प्राप्त हो सकती है।"

पाठक यह न समझें कि यह हद दर्ज की बकवास नये 'ईस्क्रा' के किसी ऐसे अनुयायी का लिखने का केवल प्रथम प्रयास है जिसकी कोई साख या असर नहीं है। नहीं, यह बात नये 'ईस्क्रा'-वादियों की एक पूरी समिति के, तिफ़लिस समिति के, **मुखपत्र** में कही गयी है। और इतना ही नहीं है। इस बकवास

---

*तो "रूढ़िवादियों को सरकार में से निकाल फेंकने" की कार्यनीति का यह मतलब है!

**लेकिन यदि हम इस सही और गूढ़ कार्यनीति का अनुसरण करें तो ऐसा हो ही कैसे सकता है!

***सशस्त्र सर्वहारा वर्ग और "सरकार से निकाल फेंके गये" रूढ़िवादी दोनों?

का **'ईस्क्रा' ने खुले तौर पर अनुमोदन किया है**, जिसके १०० वें अंक में हम 'सोत्सिअल-देमोक्रात' के बारे में निम्नलिखित बात पढ़ते हैं:

"पहले अंक का सम्पादन बड़े सप्राण तथा प्रतिभाशाली ढंग से किया गया है। इसपर एक योग्य सम्पादक तथा लेखक के अनुभवी हाथों की छाप स्पष्ट दिखायी देती है... यह बात पूरे विश्वास के साथ कही जा सकती है कि इस अखबार ने अपने सामने जो लक्ष्य रखा हैं उसे यह शानदार ढंग से पूरा करेगा।"

जी हां! यदि वह लक्ष्य हर आदमी के सामनें नये 'ईस्क्रा'-वाद के घोर सैद्धांतिक क्षय को स्पष्ट रूप से दिखाना हो, तब तो वह लक्ष्य सचमुच "शानदार" ढंग से पूरा कर लिया गया है। नये 'ईस्क्रा'-वादियों के पतित होकर उदारवादी-पूंजीवादी अवसरवाद के स्तर पर पहुंच जाने को कोई भी इतने "सप्राण, प्रतिभाशाली तथा योग्य" ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता था।

८. 'ओस्वोबोज्देनिये'-वाद और नया 'ईस्क्रा'-वाद

आइये, अब हम नये 'ईस्क्रा'-वाद के राजनीतिक अर्थ की एक और ज्वलंत पुष्टि की ओर ध्यान दें।

एक बहुत ही बढ़िया, उल्लेखनीय तथा शिक्षाप्रद लेख में, जिसका शीर्षक है "अपने आपको कैसे पहचाना जाये" ('ओस्वोबोज्देनिये', अंक ७१), श्री स्त्रूवे ने हमारी अतिवादी पार्टियों के "कार्यक्रम-संबंधी क्रांतिवाद" के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया है। श्री स्त्रूवे विशेष रूप से मुझसे ज़ाती तौर पर नाराज़ हैं।* जहां तक मेरा संबंध है मैं किसी और बात पर श्री स्त्रूवे से इतना ज़्यादा ख़ुश नहीं

---

* "श्री लेनिन और उनके साथियों के क्रांतिवाद की तुलना में बेबेल के, और यहां तक कि काउत्स्की के पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक-जनवाद का क्रांतिवाद अवसरवाद है, परंतु इस क्रांतिवाद की भी बुनियादें, जिसकी तीव्रता बहुत कम हो चुकी है, खोखली हो चुकी हैं और इतिहास के प्रबल प्रवाह में बह गयी हैं।" वार तो बहुत गुस्से में आकर किया है। लेकिन बस श्री स्त्रूवे का यह सोचना ग़लत है कि वह मेरे ऊपर जो भी चीज़ चाहे लाद सकते हैं, जैसे मैं मर गया हूं। मेरे लिए बस इतना ही काफ़ी है कि मैं श्री स्त्रूवे को एक चुनौती दे दूं जिसे वह कभी भी स्वीकार न कर सकेंगे। मैंने "बेबेल तथा काउत्स्की के क्रांतिवाद"

हो सकता था : नये 'ईस्क्रा'-वादियों के फिर से उभरते हुए "अर्थवाद" के ख़िलाफ़ और "समाजवादी-क्रांतिकारियों" ने जो घोर सिद्धांत-विहीनता दिखायी है उसके ख़िलाफ़ लड़ाई में मैं इससे अच्छा मित्र पाने की इच्छा नहीं कर सकता था। किसी दूसरे मौक़े पर हम यह बतायेंगे कि श्री स्त्रूवे और 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' ने व्यवहार में यह कैसे सिद्ध किया था कि समाजवादी-क्रांतिकारियों के प्रस्तावित कार्यक्रम में मार्क्सवाद में जो "संशोधन" किये गये हैं वे कितने घोर प्रतिक्रियावादी हैं। मैं कई बार कह चुका हूं कि जब भी श्री स्त्रूवे ने सिद्धांततः नये 'ईस्क्रा'-वादियों का अनुमोदन किया है* तब उन्होंने मेरी कितनी ईमानदारी तथा वफ़ादारी के साथ

को कब और कहां अवसरवाद कहा है? कब और कहां मैंने इस बात का दावा किया है कि मैंने अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद में किसी ऐसी विशेष धारा को जन्म दिया है जो बेबेल तथा काउत्स्की की धारा के **पूर्णतः समरूप नहीं** है? कब और कहां मेरे और बेबेल तथा काउत्स्की के बीच मतभेद सामने आये हैं – ऐसे मतभेद जो गंभीरता में, उदाहरण के लिए, उन मतभेदों के कहीं निकट भी पहुंचते हों जो ब्रेसलाउ में कृषि-समस्या के बारे में[32] बेबेल और काउत्स्की के बीच पैदा हो गये थे? श्री स्त्रूवे इन तीन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश करें।

और अपने पाठकों से हम कहते हैं: उदारवादी पूंजीपति वर्ग **हर जगह** और **हमेशा** इस तरीक़े का सहारा लेता है कि वह उस देश में अपने अनुयायियों को यह आश्वासन दिलाता है कि उस देश के सामाजिक-जनवादी बहुत बेजा हरकतें करते हैं लेकिन पड़ोसी देश में उनके साथी "अच्छे बच्चे" हैं। जर्मन पूंजीपति वर्ग ने **सैकड़ों बार** बबेल तथा काउत्स्की जैसे लोगों के सामने फ़्रांसीसी समाजवादियों को "अच्छे बच्चों" के आदर्श के रूप में पेश किया है। फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने अभी हाल ही में "अच्छे बच्चे" बेबेल को फ़्रांसीसी समाजवादियों के सामने आदर्श बनाकर पेश किया था। श्री स्त्रूवे, यह बहुत पुराना हथकंडा है! आप देखेंगे कि केवल बच्चे और बिल्कुल नादान लोग ही इस चरके में आयेंगे। कार्यक्रम तथा कार्यनीति के सभी मुख्य-मुख्य प्रश्नों पर अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद का पूर्ण मतैक्य एक सर्वथा अकाट्य सत्य है।

*हम पाठकों को याद दिलायें कि 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' ने बहुत ज़ोर-शोर से 'क्या नहीं किया जाना चाहिये?' शीर्षक लेख ('ईस्क्रा', अंक ५२) की प्रशंसा करते हुए उसे अवसरवादियों के साथ रिआयत की दिशा में एक "उल्लेखनीय

ग्रौर कितनी सच्ची सेवा की है ग्रौर हम यहां पर इस बात को एक बार फिर कहेंगे।

श्री स्त्रूवे के लेख में कई बहुत ही दिलचस्प बातें कही गयी हैं जिनका हम यहां पर केवल सरसरी तौर पर ही उल्लेख कर सकते हैं। वह "वर्ग-संघर्ष का नहीं बल्कि वर्ग-सहयोग का सहारा लेकर रूसी जनवाद की रचना करने" का इरादा रखते हैं, जिस दशा में "सामाजिक दृष्टि से विशेषाधिकार प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग" (कुछ "सुसंस्कृत ग्रभिजात वर्ग" जैसी चीज़ जिसके ग्रागे श्री स्त्रूवे समाज के उच्च स्तर के ग्रसली... मुसाहिब के ग्रंदाज़ में शीश नवाते हैं) इस "ग्र-वर्गीय" पार्टी को "ग्रपनी सामाजिक स्थिति" का बल (ग्रपने थैलीशाहों का बल) प्रदान करेगा। श्री स्त्रूवे नवयुवकों को यह दिखाने की इच्छा प्रकट करते हैं कि "यह पिटा-पिटाया ग्रामूलवादी मत कि पूंजीपति वर्ग भयभीत हो गया है ग्रौर उसने सर्वहारा वर्ग को ग्रौर स्वाधीनता के ध्येय को बेच दिया है" कितना दो कौड़ी का है। (हम इस इच्छा का हार्दिक स्वागत करते हैं। कोई दूसरी चीज़ इस मार्क्सीय "पिटे-पिटाये" मत के ग्रौचित्य की इतने ग्रच्छे ढंग से पुष्टि नहीं कर सकती जितनी कि यह बात कि श्री स्त्रूवे उसके ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दें। श्री स्त्रूवे, कृपया ग्रपनी इस शानदार योजना को स्थगित न कर दीजियेगा!)

मोड़" कहा था। 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' ने रूसी सामाजिक-जनवादियों की फूट के बारे में एक लेख में नये 'ईस्क्रा' के विचारों के पीछे काम करनेवाले सिद्धांतों की धाराग्रों को विशेष रूप से सराहा था। त्रोत्स्की की 'हमारे राजनीतिक काम' नामक पुस्तिका पर टीका करते हुए 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' ने इस लेखक के विचारों ग्रौर 'राबोचेये देलो'-वादी[33] क्रिचेव्स्की, मार्तिनोव, ग्रकीमोव द्वारा एक ज़माने में लिखी तथा कही गयी बातों की समानता बतायी थी (देखिये 'व्पेर्योद' द्वारा प्रकाशित पर्चा 'हर बात को मान जानेवाला उदारवादी')। 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' ने दो ग्रधिनायकत्वों के बारे में मार्तिनोव की पुस्तिका का स्वागत किया ('व्पेर्योद' के ९वें ग्रंक में लेख देखिये)। ग्रंत में 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' ने पुराने 'ईस्क्रा' के इस पुराने नारे के बारे में कि "पहले ग्रंतर बतानेवाली रेखा खींचो ग्रौर फिर एकता स्थापित करो" पर स्तारोवेर की बहुत बाद में की गयी शिकायतों के प्रति विशेष सहानुभूति दिखायी है।

हमारे इस विषय के लिए उन **व्यावहारिक** नारों की ओर ध्यान देना बहुत महत्वपूर्ण है जिनके ख़िलाफ़ रूसी पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक दृष्टि से अति संवेदनशील इस प्रतिनिधि ने, जिस पर मौसम के ज़रा-से भी परिवर्तन का फ़ौरन असर पड़ता है, इस समय लड़ाई छेड़ रखी है। सबसे पहले तो वह जनतंत्रवाद के नारे के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। श्री स्त्रूवे का यह पक्का विश्वास है कि यह नारा "आम जनता की समझ से बाहर है और उसके लिए एक अनजानी चीज़ है" (वह यह और कहना भूल गये कि वह पूंजीपति वर्ग की समझ में तो आता है पर उसके हित में नहीं है!)। हम देखना चाहेंगे कि श्री स्त्रूवे को हमारी अध्ययन गोष्ठियों और हमारी आम सभाओं में मज़दूरों की तरफ़ से क्या जवाब मिलता है! या मज़दूर जनता नहीं हैं? और किसान? श्री स्त्रूवे के कथनानुसार वे "नासमझी के जनतंत्रवाद" ("ज़ार को ठोकर मारकर निकाल दो") के आदी हैं, परंतु उदारवादी पूंजीपति वर्ग का यह विश्वास है कि **नासमझी के** जनतंत्रवाद का स्थान जागृत जनतंत्रवाद नहीं बल्कि जागृत राजतंत्रवाद लेगा! श्री स्त्रूवे, यह परिस्थितियों पर निर्भर है। न तो ज़ारशाही के लिए और न पूंजीपति वर्ग के लिए ही यह मुमकिन है कि वह बड़ी-बड़ी भू-सम्पत्तियों की बलि देकर किसानों की दशा में बुनियादी सुधार का विरोध न करें, जबकि मज़दूर वर्ग के लिए यह मुमकिन नहीं है कि वह इस मामले में किसानों की सहायता न करे।

दूसरे, श्री स्त्रूवे हमें विश्वास दिलाते हैं कि "गृहयुद्ध में जो पक्ष आक्रमण करता है वह हमेशा ग़लती पर होता है"। यह विचार नये 'ईस्क्रा' के विचारों की उपरोक्त धाराओं के लगभग बिल्कुल समान है। ज़ाहिर है, हम यह तो नहीं कहेंगे कि गृहयुद्ध में आक्रमण करना **हमेशा** लाभदायक होता है; नहीं, कभी-कभी **कुछ समय के लिए** प्रतिरक्षात्मक कार्यनीति अपनाना अनिवार्य हो जाता है। परंतु श्री स्त्रूवे ने जो प्रस्थापना की है उसे १६०५ में रूस पर लागू करने का मतलब कुछ अंश में ठीक उसी "पिटे-पिटाये आमूलवादी मत" को ("पूंजीपति वर्ग भयभीत हो जाता है और स्वाधीनता के ध्येय के साथ विश्वासघात करता है") प्रकट करना है। जो भी इस समय एकतंत्र और प्रतिक्रिया पर आक्रमण करने से इंकार करता है, जो भी इस प्रकार के आक्रमण के लिए तैयारियां नहीं कर रहा है, जो भी इसका प्रचार नहीं कर रहा है, वह व्यर्थ ही क्रांति के समर्थक का नाम धारण करता है।

श्री स्त्रूवे "गोपनीयता" और "उपद्रव" (उपद्रव का अर्थ है "एक छोटा-मोटा विद्रोह") के नारों की निंदा करते हैं। श्री स्त्रूवे दोनों ही को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं और वह ऐसा "जन-साधारण तक पहुंचने" के दृष्टिकोण से करते हैं! हम श्री स्त्रूवे से पूछना चाहेंगे कि क्या वह, उदाहरण के लिए, 'क्या करें' में—जो उनके दृष्टिकोण से एक घोर क्रांतिकारी की रचना है—एक भी ऐसा टुकड़ा बता सकते हैं जिसमें "उपद्रव" का समर्थन किया गया हो? जहां तक "गोपनीयता" का सवाल है तो क्या इस पर, मिसाल के लिए, हममें और श्री स्त्रूवे में बहुत अंतर है? क्या हम दोनों ही ऐसे "ग़ैर-क़ानूनी" अख़बारों में काम नहीं कर रहे हैं जो "चोरी-छुपे" रूस में पहुंचाये जा रहे हैं और जो या तो 'ओस्वोबोज्देनिये' लीग के या रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के "गुप्त" दलों के काम आते हैं? हमारे मज़दूरों की आम सभाएं बहुधा "गुप्त रूप से" होती हैं—यह कलंक तो मौजूद है। परंतु 'ओस्वोबोज्देनिये' लीग के सज्जनों की सभाओं के बारे में आपका क्या ख़्याल है? श्री स्त्रूवे, क्या आपके पास डींग मारने और घृणित गोपनीयता के घृणित पक्षधरों को तिरस्कार की दृष्टि से देखने का कोई कारण है?

यह तो सच है कि मज़दूरों को हथियार पहुंचाने के लिए सख़्त गोपनीयता की ज़रूरत होती है। इस सवाल पर श्री स्त्रूवे ने ज़्यादा सफ़ाई के साथ बात कही है। ज़रा सुनिये: "जहां तक सशस्त्र विद्रोह का, या प्राविधिक अर्थ में क्रांति का सवाल है तो केवल जनवादी कार्यक्रम के पक्ष में जनव्यापी प्रचार ही एक आम सशस्त्र विद्रोह के लिए सामाजिक-मानसिक परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण से भी कि सशस्त्र विद्रोह मुक्ति के वर्तमान संघर्ष का **अनिवार्य** चरम रूप है—जिस मत से मैं सहमत नहीं हूं—जन-साधारण में जनवादी सुधार के विचारों को कूट-कूटकर भर देना एक अत्यंत बुनियादी तथा अत्यंत आवश्यक काम है।"

श्री स्त्रूवे इस सवाल से कतराना चाहते हैं। वह क्रांति की विजय के लिए विद्रोह की आवश्यकता की बात करने के बजाय विद्रोह की अनिवार्यता की बात करते हैं। विद्रोह बिना किसी तैयारी के, स्वतःस्फूर्त ढंग से, छुटपुट तौर पर आरंभ हो चुका है। कोई भी क़सम खाकर यह नहीं कह सकता कि वह विकसित होकर जनता के एक समूचे तथा एकाकार सशस्त्र विद्रोह का रूप धारण कर लेगा,

क्योंकि यह बात तो क्रांतिकारी शक्तियों की दशा पर (जिसका पता पूरी तरह संघर्ष के दौरान ही में लगाया जा सकता है), सरकार और पूंजीपति वर्ग के आचरण पर, और ऐसी कई दूसरी परिस्थितियों पर निर्भर है जिनका सही-सही अनुमान लगाना असंभव है। अनिवार्यता के बारे में, इस अर्थ में कि किसी निश्चित घटना का होना सर्वथा अवश्यम्भावी है, श्री स्त्रूवे की तरह बात करने में कोई तुक नहीं है। यदि आप क्रांति के पक्षधर होना चाहते हैं तो आपको जिस बात पर विचार करना चाहिये वह यह है कि क्या विद्रोह क्रांति की **विजय के लिए आवश्यक** है, क्या इस बात की ज़ोरदार ढंग से उद्घोषणा करना, उसका प्रचार करना और उसके लिए फ़ौरन तथा ज़ोरदार ढंग से तैयारियां करना आवश्यक है। यह नामुमकिन है कि श्री स्त्रूवे इस अंतर को न समझ सकें: उदाहरण के लिए, वह सार्विक मताधिकार की आवश्यकता के सवाल पर–जिसके बारे में किसी भी जनवादी को कोई शंका नहीं हो सकती–यह सवाल उठाकर परदा नहीं डालते कि वर्तमान क्रांति के दौरान में उसकी प्राप्ति अनिवार्य है कि नहीं–जो एक विवादास्पद प्रश्न है और राजनीतिक कार्य में संलग्न लोगों के लिए कोई तात्कालिक महत्व नहीं रखता। विद्रोह की आवश्यकता के प्रश्न से कतराकर श्री स्त्रूवे उदारवादी पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक स्थिति के सबसे आंतरिक सार-तत्व को व्यक्त करते हैं। पहली बात तो यह कि पूंजीपति वर्ग एकतंत्र को कुचलने के बजाय उसके साथ समझौता कर लेना कहीं ज़्यादा पसंद करेगा; दूसरे, पूंजीपति **वर्ग** सशस्त्र संघर्ष का काम तो हर हालत में मज़दूरों पर डाल देता है। श्री स्त्रूवे के कतराने का **असली** मतलब यही है। यही कारण है कि वह विद्रोह की आवश्यकता के प्रश्न से **मुंह फेरकर** उसके लिए आवश्यक "सामाजिक-मानसिक परिस्थितियों" के प्रश्न की ओर, प्राथमिक "प्रचार" के प्रश्न की ओर, रुख़ करते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे १८४८ की फ़्रैंकफ़ुर्ट संसद में कोरी बातें बघारनेवाले पूंजीवादी ऐसे समय पर जबकि सरकार की सशस्त्र शक्ति को पीछे ढकेलने का सवाल था, जबकि आंदोलन सशस्त्र संघर्ष की "आवश्यकता की ओर ले जा रहा था," जबकि केवल ज़बानी समझाना-बुझाना (जो तैयारी के ज़माने में सौ गुना आवश्यक होता है) टुच्चापन, पूंजीवादी निष्क्रियता और कायरता बन गया था, प्रस्ताव, घोषणाएं और फ़ैसले तैयार करने में, "जनव्यापी प्रचार" में, और "सामाजिक-मानसिक परिस्थितियां" तैयार करने

में व्यस्त रहते थे—ठीक उसी प्रकार श्री स्त्रूवे भी कुछ **फ़िक़रों** की ग्राड़ लेकर विद्रोह के सवाल से कतराते हैं। श्री स्त्रूवे हमारे सामने बहुत स्पष्ट रूप से उस चीज़ का चित्रण कर देते हैं जिसे बहुत-से सामाजिक-जनवादी उम्र भर नहीं देख पाते, ग्रर्थात् यह कि क्रांतिकारी काल इतिहास के मामूली, रोज़मर्रा के, तैयारी के कालों से इस बात में भिन्न होता है कि जन-साधारण के तेवर, उनकी उद्विग्नता ग्रौर उनके दृढ़ विश्वास इस काल में **व्यवहार** में प्रकट होने चाहिये ग्रौर प्रकट होते हैं।

क्रांतिवाद का विकृत रूप इस बात को नहीं देखता कि कथनी करनी भी होती है; इस प्रस्थापना को यदि **ग्राम तौर पर पूरे** इतिहास के प्रसंग में या इतिहास के उन कालों के प्रसंग में देखा जाये जब कोई खुली जनव्यापी राजनीतिक हलचल नहीं होती, ग्रौर जब किसी भी प्रकार के ग्राकस्मिक शासन-परिवर्तन द्वारा न तो उनका स्थान लिया जा सकता है ग्रौर न ही उन्हें कृत्रिम रूप से उकसाया जा सकता है, तो यह प्रस्थापना ग्रकाट्य है। पुछल्लावादी क्रांतिकारी इस बात को नहीं समझ पाते कि ऐसे समय पर जबकि क्रांतिकारी काल ग्रारंभ हो गया हो, जबकि पुराना ऊपरी "ढांचा" ऊपर से नीचे तक चिटक गया हो, जबकि ग्रपने लिए एक नया ऊपरी ढांचा तैयार करने में संलग्न वर्गों तथा जन-साधारण की खुली राजनीतिक हलचल एक वास्तविकता बन गयी हो, जब गृहयुद्ध छिड़ गया हो—तब ग्रपने ग्रापको **पुराने ज़माने की तरह** "शब्दों" तक ही सीमित रखना, ग्रौर "व्यवहार" के क्षेत्र में प्रवेश करने का **सीधा-सीधा नारा** न देना, स्थूल रूप से "मानसिक परिस्थितियों" ग्रौर "प्रचार" की ग्रावश्यकता का राग ग्रलापते रहकर व्यावहारिक कार्य से बचने की कोशिश करते रहना या तो ग्रकर्मण्यता, निष्प्राणता तथा पांडित्य है या फिर क्रांति के साथ विश्वासघात ग्रौर ग़द्दारी है। जनवादी पूंजीपति वर्ग के फ़्रैंकफ़ुर्ट वाले कोरी बातें बघारनेवाले ठीक इसी प्रकार के विश्वासघात, या इसी प्रकार की पांडित्यपूर्ण मूर्खता का स्मरणीय तथा ऐतिहासिक उदाहरण हैं।

क्या ग्राप चाहते हैं कि क्रांतिवाद के विकृत रूप ग्रौर क्रांतिकारियों के पुछल्लावाद के इस ग्रंतर को रूस के सामाजिक-जनवादी ग्रांदोलन के इतिहास से कोई उदाहरण देकर समझा दिया जाये? हम ग्रापको इस प्रकार का उदाहरण देकर ग्रापको वह ग्रंतर समझायेंगे। १६०१ तथा १६०२ के वर्षों को याद कीजिये,

जो अभी बहुत समय पहले की बात नहीं है पर जो हमें आज प्राचीन इतिहास मालूम होने लगा है। प्रदर्शन शुरू हो चुके थे। क्रांतिवाद के विकृत रूप के समर्थकों ने "धावा बोल देने" ('राबोचेये देलो') का शोर मचाया, "ख़ून के प्यासे पर्चे" जारी किये गये (यदि मैं भूलता नहीं हूं तो इनका स्रोत बर्लिन में था), एक समाचारपत्र के ज़रिये राष्ट्रव्यापी पैमाने पर प्रचार करने के विचार को आराम कुर्सी पर बैठकर "साहित्य लिखने" की प्रवृत्ति ठहराकर उसकी बड़ी निंदा की गयी थी (नदेज्दिन)[34]। दूसरी ओर, क्रांतिकारियों का पुछल्लावाद उनके इस प्रचार में प्रकट हुआ कि "आर्थिक संघर्ष राजनीतिक आंदोलन चलाने का **सबसे अच्छा** साधन है।" क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों का क्या रवैया था? उन्होंने इन दोनों ही धाराओं पर प्रहार किया। उन्होंने ढोल पीटने, डींगें मारने की और धावा बोल देने के शोर-गुल की निंदा की, क्योंकि यह बात तो सभी के लिए स्पष्ट थी, या स्पष्ट होनी चाहिये थी, कि खुला जन-संघर्ष भविष्य की बात थी। उन्होंने पुछल्लावाद की निंदा की और खुले शब्दों में जनव्यापी सशस्त्र विद्रोह **तक** का नारा दिया, प्रत्यक्ष अपील के अर्थ में नहीं (हमारे उस ज़माने के कथनों में श्री स्त्रूवे "उपद्रवों" के लिए कोई अपील नहीं पायेंगे), बल्कि **आवश्यक** निष्कर्ष के "प्रचार" के अर्थ में (जिसका ध्यान श्री स्त्रूवे को अब आया है – हमारे माननीय श्री स्त्रूवे हमेशा समय से कई वर्ष पिछड़े रहते हैं), उन्हीं "सामाजिक-मानसिक परिस्थितियों" को तैयार करने के अर्थ में जिनके बारे में बौखलाये हुए, मोल-तोल करनेवाले पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि अब "उदास भाव से तथा अनुपयुक्त ढंग से" उपदेश दे रहे हैं। **उस समय** प्रचार तथा आंदोलन, आंदोलन तथा प्रचार के काम को वस्तुगत परिस्थितियों ने सचमुच ढकेलकर सबसे आगे लाकर रख दिया था। **उस समय** अखिल रूसी राजनीतिक अख़बार प्रकाशित करने के काम को, जिसके प्रति सप्ताह प्रकाशित होने को आदर्श समझा गया था, विद्रोह की तैयारी करने के काम की कसौटी के रूप में प्रस्तावित किया जा सकता था (और 'क्या करें' में यह सुझाव रखा भी गया था)। **उस समय** सीधे-सीधे सशस्त्र कार्रवाई के **बजाय** जनव्यापी प्रचार का समर्थन करनेवाले नारे, ढोल पीटने के **बजाय** विद्रोह के लिए सामाजिक-मानसिक परिस्थितियां तैयार करने के नारे ही क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के लिए एकमात्र सही नारे थे। **इस समय** घटनाओं ने इन नारों को पीछे छोड़ दिया है, आंदोलन उनसे आगे निकल गया

है, वे उतरन बन गये हैं, वे ऐसे चीथड़े हैं जो 'ओस्वोबोज्देनिये' की मक्कारी और नये 'ईस्क्रा' के पुछल्लावाद को छुपाने के लिए ही उपयुक्त हैं!

या शायद मैं ग़लती कर रहा हूं? शायद क्रांति अभी आरंभ नहीं हुई है? शायद अभी वर्गों द्वारा खुली सशस्त्र कार्रवाई का समय नहीं आया है? शायद अभी तक कोई गृहयुद्ध नहीं हो रहा है, और अस्त्रों की आलोचना को अभी आलोचना के अस्त्र का **आवश्यक** तथा अनिवार्य उत्तराधिकारी, वारिस, संरक्षक तथा इस अस्त्र को चलानेवाला नहीं बनना चाहिये?

चारों ओर नज़र दौड़ाइये, अपने अध्ययन-कक्ष से ज़रा गरदन बाहर निकालकर इसका उत्तर पाने के लिए सड़क पर देखिये। क्या शांतिपूर्ण तथा निहत्थे नागरिकों को हर जगह बहुत बड़ी संख्या में गोलियों का निशाना बनाकर स्वयं सरकार ने गृहयुद्ध आरंभ नहीं कर दिया है? क्या सशस्त्र यमदूत सभाएं एकतंत्र के "तर्कों" के रूप में काम नहीं कर रही हैं? क्या पूंजीपति वर्ग ने—पूंजीपति वर्ग तक ने—नागरिकों की सेना की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया है? क्या श्री स्त्रूवे स्वयं, आदर्श रूप में अनुग्र तथा शिष्टाचारी श्री स्त्रूवे स्वयं, यह नहीं कहते हैं (अफ़सोस, वह केवल इस समस्या से कतराने के लिए ही ऐसा कहते हैं!) कि "क्रांतिकारी कार्रवाई का खुला स्वरूप" (हम लोग आज इस नौबत पर पहुंच गये हैं!) "अब आम जनता पर शिक्षात्मक प्रभाव डालने के लिए एक सबसे महत्वपूर्ण शर्त है"?

जिन लोगों के पास देखने को आंखें हैं उन्हें इस बात के बारे में कोई भी शंका नहीं है कि इस समय क्रांति के पक्षधरों को सशस्त्र विद्रोह का प्रश्न किस ढंग से पेश करना चाहिये। यह प्रश्न जिन **तीन** तरीक़ों से उन स्वतंत्र अख़बारों में पेश किया गया है, जो **जन-साधारण** पर प्रभाव डालने की ज़रा भी क्षमता रखते हैं, उसपर बस एक नज़र डालिये।

प्रश्न को पेश करने का पहला तरीक़ा। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस का प्रस्ताव।* यह बात खुले-आम स्वीकार की गयी है

---

*पूरा प्रस्ताव इस प्रकार है:

"चूंकि

"१) सर्वहारा वर्ग अपनी स्थिति के ही कारण सबसे आगे बढ़ा हुआ तथा एकमात्र सुसंगत क्रांतिकारी वर्ग है और इसी लिए रूस के आम जनवादी क्रांतिकारी आंदोलन में नेतृत्व की भूमिका अदा करने की ज़िम्मेदारी उसपर आ पड़ी है;

तथा घोषित की गयी है कि आम जनवादी क्रांतिकारी आंदोलन की **वजह से** सशस्त्र विद्रोह की **आवश्यकता** पैदा हो चुकी है। विद्रोह के लिए सर्वहारा वर्ग का संगठन पार्टी के एक आवश्यक, मुख्य तथा **अपरिहार्य** काम के रूप में फ़ौरन

"२) इस समय इस आंदोलन के कारण सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता उत्पन्न हो चुकी है;

"३) सर्वहारा वर्ग अनिवार्य रूप से इस विद्रोह में बहुत आगे बढ़कर हिस्सा लेगा, और रूस में क्रांति के भाग्य का फ़ैसला उसके इसी भाग लेने पर निर्भर होगा;

"४) सर्वहारा वर्ग इस क्रांति में नेतृत्व की भूमिका उसी समय अदा कर सकता है जब वह सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के झंडे के नीचे, जो न केवल सैद्धांतिक दृष्टि से बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी उसके संघर्ष का संचालन करेगी, एक संयुक्त तथा स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में एकबद्ध हो जाये;

"५) केवल इसी भूमिका को अदा करके सर्वहारा वर्ग को पूंजीवादी-जनवादी रूस के सम्पत्तिवान वर्गों के ख़िलाफ़ समाजवाद के लिए संघर्ष के वास्ते सबसे अनुकूल परिस्थितियों का आश्वासन हो सकता है;

"रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस इस बात को स्वीकार करती है कि एकतंत्र के विरुद्ध सीधे संघर्ष के लिए सशस्त्र विद्रोह द्वारा सर्वहारा वर्ग को संगठित करने का काम वर्तमान क्रांतिकारी काल में पार्टी का एक सबसे महत्वपूर्ण तथा तात्कालिक काम है।

"इसलिए कांग्रेस पार्टी के सभी संगठनों को यह आदेश देने का फ़ैसला करती है:

"क) कि वे आंदोलन तथा प्रचार द्वारा सर्वहारा वर्ग को भावी सशस्त्र विद्रोह का राजनीतिक महत्व ही नहीं बल्कि उसके व्यावहारिक-संगठनात्मक पहलू भी समझायें;

"ख) इस आंदोलन तथा प्रचार में वे जनव्यापी राजनीतिक हड़तालों की भूमिका समझायें, जो इस विद्रोह के शुरू में और उसके दौरान में भी बहुत महत्वपूर्ण हो सकती हैं;

"ग) कि वे सर्वहारा वर्ग को सशस्त्र करने के लिए बहुत ज़बर्दस्त उपाय करें और सशस्त्र विद्रोह के लिए तथा उसके प्रत्यक्ष नेतृत्व के लिए एक योजना भी तैयार करें, और इस उद्देश्य से जिस हद तक भी आवश्यक हो, पार्टी के कार्यकर्ताओं के विशेष दलों की स्थापना करें।" (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी।–सं०)

ज़रूरी हो गया है। सर्वहारा वर्ग को सशस्त्र करने और विद्रोह का सीधे-सीधे नेतृत्व करने की संभावना को सुनिश्चित बनाने के लिए **बहुत ज़बर्दस्त** उपाय करने के आदेश जारी किये गये हैं।

प्रश्न को पेश करने का दूसरा तरीक़ा। "रूसी संविधानवादियों के नेता" का (यूरोपीय पूंजीपति वर्ग के 'फ़्रैंकफ़ुर्ट समाचारपत्र'[35] जैसे प्रभावशाली मुखपत्र ने हाल ही में श्री स्त्रूवे का वर्णन इन्हीं शब्दों में किया था), या रूस के प्रगतिशील पूंजीपति वर्ग के नेता का, 'ओस्वोबोज्देनिये' में एक लेख जिसमें सारे सिद्धांत बताये गये हैं। वह इस मत से सहमत नहीं हैं कि विद्रोह अनिवार्य है। गुप्त ढंग से काम करना और उपद्रव विवेकहीन क्रांतिवाद के विशिष्ट तरीक़े हैं। जनतंत्रवाद स्तंभित कर देने का तरीक़ा है। सशस्त्र विद्रोह का प्रश्न वास्तव में केवल एक प्राविधिक प्रश्न है, जबकि "बुनियादी और सबसे ज़रूरी काम" जनव्यापी पैमाने पर प्रचार करना और सामाजिक-मानसिक परिस्थितियां तैयार करना है।

प्रश्न को पेश करने का तीसरा तरीक़ा। नये 'ईस्क्रा'-वादियों के सम्मेलन का प्रस्ताव। हमारा काम विद्रोह की तैयारी करना है। सुनियोजित विद्रोह का सवाल पैदा नहीं होता। विद्रोह के लिए अनुकूल परिस्थितियां सरकार के असंगठित होने से, हमारे आंदोलन से और हमारे संगठन से उत्पन्न होती हैं। तभी जाकर "प्राविधिक सैनिक तैयारियां कमोबेश गंभीर महत्व धारण कर सकती हैं"।

बस इतनी ही बात है? हां, बस इतनी ही बात है। सर्वहारा वर्ग के नये 'ईस्क्रा'-वादी नेता अभी तक इस बात को नहीं जानते कि विद्रोह आवश्यक हो गया है कि नहीं। यह बात उनके दिमाग़ में अभी तक साफ़ तौर पर नहीं आयी है कि सीधी लड़ाई के लिए सर्वहारा वर्ग को संगठित करने का काम अभी ज़रूरी हुआ है कि नहीं। बहुत ज़बर्दस्त उपाय करने का अनुरोध करना आवश्यक नहीं है; मोटी-मोटी रूपरेखाओं में यह समझाना कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण है (१९०२ में नहीं बल्कि १९०५ में) कि किन परिस्थितियों में ये उपाय "कमोबेश गंभीर" महत्व धारण कर सकते हैं...

नये 'ईस्क्रा' के साथियो, अब आपने देखा कि मार्तिनोववाद की ओर आपका मुड़ना आपको कहां ले आया है? क्या आप इस बात को महसूस करते हैं कि आपके राजनीतिक दार्शनिक विचार 'ओस्वोबोज्देनिये' के दार्शनिक विचारों

का ही ठोंक-पीटकर बदला हुआ रूप सिद्ध हुए हैं? कि (आपकी इच्छा के विरुद्ध और आपको पता चले बिना ही) आप राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग की दुम के पीछे-पीछे चल रहे हैं? क्या यह बात अब आपकी समझ में आ गयी है कि रटी-रटायी बातों को दोहराते हुए और कुतर्क में पूर्ण निपुणता प्राप्त करके आपने इस बात को अपनी आंखों से ओझल कर दिया है कि–प्योत्र स्त्रूवे के स्मरणीय लेख के स्मरणीय शब्दों में–"क्रांतिकारी **कार्रवाई** का खुला स्वरूप अब आम जनता पर शिक्षात्मक प्रभाव डालने के लिए एक सबसे महत्वपूर्ण शर्त है"?

९. क्रांति के समय में उग्रतम विरोध-पक्ष की पार्टी होने का क्या मतलब होता है?

आइये, अब हम फिर अस्थायी सरकार वाले प्रस्ताव की ओर वापस लौटें। हम दिखा चुके हैं कि नये 'ईस्क्रा'-वादियों की कार्यनीति क्रांति को आगे बढ़ाने के बजाय–संभव है कि वे अपने प्रस्ताव द्वारा इसे संभव बनाना चाहते रहे हों–पीछे ढकेलती है। हम दिखा चुके हैं कि ठीक यही कार्यनीति है जो ढुलमुल पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संघर्ष में सामाजिक-जनवाद के **हाथ बांध देती है** और पूंजीवादी जनवाद में विलीन हो जाने से उसकी रक्षा नहीं करती। स्वाभाविक रूप से प्रस्ताव की ग़लत मान्यताओं से यह ग़लत निष्कर्ष निकलता है कि "इसलिए सामाजिक-जनवाद को अपने सामने अस्थायी सरकार में सत्ता पर अधिकार कर लेने या सत्ता में हिस्सा बंटाने का लक्ष्य नहीं रखना चाहिये बल्कि उसे उग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहना चाहिये।" इस निष्कर्ष के पूर्वार्द्ध पर विचार कीजिये, जो उद्देश्यों की सूची का एक भाग है। क्या नये 'ईस्क्रा'-वादी ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय को सामाजिक-जनवादी गतिविधियों का लक्ष्य घोषित करते हैं? हां, वे करते हैं। वे निर्णायक विजय के लिए आवश्यक बातों का सही-सही प्रतिपादन तो नहीं कर पाते और 'ओस्वोबोज्देनिये' के ढंग के प्रतिपादनों में भटक जाते हैं, परंतु उपरोक्त लक्ष्य वे अपने सामने ज़रूर रखते हैं। और भी: क्या वे अस्थायी सरकार का संबंध

विद्रोह के साथ जोड़ते हैं? हां, यह कहकर कि अस्थायी सरकार "विजयी जन-विद्रोह में से उत्पन्न होगी" वे स्पष्ट रूप से ऐसा करते हैं। अंतिम बात यह कि क्या वे विद्रोह का नेतृत्व करने का लक्ष्य अपने सामने रखते हैं? हां, श्री स्त्रूवे की तरह ही वे भी इस बात को नहीं स्वीकार करते कि विद्रोह एक तात्कालिक आवश्यकता है, पर इसके साथ ही श्री स्त्रूवे के प्रतिकूल वे कहते हैं कि "सामाजिक-जनवाद उसे" (विद्रोह को) "अपने प्रभाव तथा **नेतृत्व** के **अधीन ले आने** और उसे मज़दूर वर्ग के हित में इस्तेमाल करने की चेष्टा करता है।"

कैसी सुंदर लड़ी पिरोयी है, है न? हम जन-साधारण के सर्वहारा और **ग़ैर-सर्वहारा** दोनों ही के विद्रोह को अपने प्रभाव तथा अपने नेतृत्व के अधीन ले आने और उसे अपने हित में इस्तेमाल करने का **लक्ष्य** अपने सामने रखते हैं। इसलिए विद्रोह में सर्वहारा वर्ग और क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग ("ग़ैर-सर्वहारा समूह") दोनों ही का नेतृत्व करने, अर्थात् सामाजिक-जनवाद और क्रांतिकारी पूंजीपति वर्ग के बीच विद्रोह का नेतृत्व **"बांट लेने"** का लक्ष्य हम अपने सामने रखते हैं। हम विद्रोह को **विजयी** बनाने का लक्ष्य अपने सामने रखते हैं, जिसके फलस्वरूप अस्थायी सरकार की स्थापना होगी ("जो कि एक विजयी जन-विद्रोह में से उत्पन्न होगी")। **इसलिए...** इसलिए हमें अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में सत्ता पर अधिकार करने या सत्ता में हिस्सा बंटाने का लक्ष्य अपने सामने नहीं रखना चाहिये!!

हमारे मित्र अपने तर्कों की चूल से चूल नहीं बिठा पाते। वे श्री स्त्रूवे के दृष्टिकोण के, जो विद्रोह के सवाल से कतरा रहे हैं, और क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के दृष्टिकोण के बीच, जो इस तात्कालिक काम का बीड़ा उठाने के लिए हमारा आवाहन करता है, ढुलमुल रहते हैं। वे अराजकतावाद के, जो अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में किसी भी रूप में भाग लेने को सर्वहारा वर्ग के साथ ग़द्दारी ठहराकर सिद्धांततः उसकी निंदा करता है, और मार्क्सवाद के बीच ढुलमुल रहते हैं, जो इस शर्त पर भाग लेने की मांग करता है कि सामाजिक-जनवाद नेता के रूप में विद्रोह में अपना असर डाले।* उनका अपना

---

*देखिये 'प्रोलेतारी', अंक ३, 'अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के बारे में', दूसरा लेख।

कोई स्वतन्त्र मत नहीं है: न श्री स्त्रूवे वाला मत, जो ज़ारशाही के साथ समझौता कर लेना चाहते हैं और इसलिए विद्रोह के सवाल पर तरह-तरह से दामन बचा जाते हैं और तरह-तरह की बहानेबाज़ियां करते हैं, और न अराजकतावादियों वाला मत, जो "ऊपर से" होनेवाली हर कार्रवाई की और पूंजीवादी क्रांति में किसी भी रूप में भाग लेने की निंदा करते हैं। नये 'ईस्क्रा'-वादी ज़ारशाही के साथ सौदा हो जाने और ज़ारशाही पर विजय प्राप्त करने को एक ही चीज़ समझते हैं। वे पूंजीवादी क्रांति में हिस्सा लेना चाहते हैं। वे मार्तिनोव के 'दो अधिनायकत्व' से भी कुछ आगे चले गये हैं। वे जनता के विद्रोह का नेतृत्व करने पर भी राज़ी हैं–विजय प्राप्त हो जाने के फ़ौरन बाद (या शायद विजय से फ़ौरन पहले?) उस नेतृत्व का परित्याग कर देने के लिए, अर्थात् **इसलिए कि वे स्वयं विजय के फलों का उपभोग न करें** बल्कि ये सारे फल **पूरी तरह पूंजीपति वर्ग** के हवाले कर दें। यह है वह चीज़ जिसे वे "विद्रोह को मज़दूर वर्ग के हित में इस्तेमाल करना"... कहते हैं।

इस गोरखधंधे पर और अधिक विचार करने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस बात की जांच करना अधिक उपयोगी होगा कि यह गोरखधंधा उस स्थापना में से कैसे **उत्पन्न हुआ** जिसके शब्द हैं: "उग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहना।"

यह अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद की एक सुपरिचित प्रस्थापना है। यह एक बिल्कुल सही प्रस्थापना है। संसदीय पद्धतिवाले देशों में संशोधनवाद या अवसरवाद के सभी विरोधियों के लिए यह एक बहुत पिटी हुई बात बन गयी है। इसे आम तौर पर "संसदीय बौड़मपन", मिलेरांवाद, बर्न्सटीनवाद[36] और तुराती मार्का इटैलियन सुधारवाद का न्यायोचित तथा आवश्यक मुंहतोड़ जवाब माना जाने लगा है। हमारे भले नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने इस बहुत ही बढ़िया प्रस्थापना को कंठस्थ कर लिया है और वे इसे बड़े उत्साह के साथ लागू कर रहे हैं... **बिल्कुल अनुपयुक्त तरीक़े से।** संसदीय संघर्ष की परिकल्पनाएं उन प्रस्तावों में घुसेड़ी जाती हैं जो ऐसी परिस्थितियों के लिए लिखे गये हैं जिनमें संसद का अस्तित्व ही नहीं है। "विरोध-पक्ष" की अवधारणा को, जो एक ऐसी राजनीतिक स्थिति का प्रतिबिम्ब तथा अभिव्यक्ति बन गयी है जिसमें कोई भी गंभीरतापूर्वक **विद्रोह** की बात नहीं करता, बिना सोचे-समझे एक ऐसी

परिस्थिति पर लागू किया जाता है जिसमें विद्रोह **आरंभ हो चुका है** और जिसमें क्रांति के सभी समर्थक उसमें नेतृत्व के बारे में सोच रहे हैं तथा बातें कर रहे हैं। पुराने तरीक़े से, अर्थात् केवल "नीचे से" कोई क़दम उठाने के तरीक़े से, **"चिपके रहने"** की इच्छा **ठीक ऐसे समय पर** बड़ी धूमधाम से व्यक्त की जा रही है जब क्रांति ने हमारे सामने, विद्रोह के विजयी हो जाने की दशा में, **ऊपर से** कोई क़दम उठाने की आवश्यकता को लाकर रख दिया है।

नहीं, हमारे नये 'ईस्क्रा'-वादियों का कुछ भाग्य ही ख़राब है! जब वे किसी सही सामाजिक-जनवादी प्रस्थापना का प्रतिपादन कर भी देते हैं तब भी उनकी समझ में यह नहीं आता कि उसे सही तरीक़े से लागू कैसे करें। वे इस बात को ध्यान में नहीं रख सके कि ऐसे ज़माने में जब क्रांति आरंभ हो गयी हो, जब कोई संसद न हो, जब गृहयुद्ध हो रहा हो, जब विद्रोहात्मक विस्फोट हो रहे हों, तब संसदीय संघर्ष की अवधारणाएं और उसकी शब्दावली बदल जाती है और उनका अर्थ बिल्कुल उल्टा हो जाता है। वे इस बात को ध्यान में नहीं रख सके कि उल्लिखित परिस्थितियों में संशोधन सड़कों पर होनेवाले प्रदर्शनों द्वारा पेश किये जाते हैं, सरकार से प्रश्न सशस्त्र नागरिकों की आक्रामक कार्रवाई द्वारा पूछा जाता है, सरकार का विरोध बलपूर्वक सरकार का तख़्ता उलटकर किया जाता है।

हमारी लोक-कथा के उस सुविख्यात नायक की तरह, जो हमेशा ग़लत मौक़े पर कोई अच्छी सलाह देता था, मार्तिनोव के प्रशंसक भी शांतिपूर्ण संसदवाद के सबक़ ठीक ऐसे समय पर दोहराते हैं, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, जब लड़ाई सचमुच आरंभ हो गयी है। एक ऐसे प्रस्ताव में, जो "क्रांति की निर्णायक विजय" और "जन-विद्रोह" के उल्लेख से आरंभ होता है, बड़ी धूमधाम से "उग्रतम विरोध-पक्ष" के नारे पर इस प्रकार ज़ोर देने से अधिक हास्यास्पद कोई दूसरी बात नहीं हो सकती! सज्जनो, ज़रा कल्पना करने की कोशिश कीजिये कि विद्रोह के काल में "उग्रतम विरोध-पक्ष" होने का क्या अर्थ होता है। इसका अर्थ सरकार की क़लई खोलना होता है या उसे शासन के पद से हटाना होता है? इसका अर्थ सरकार के ख़िलाफ़ वोट देना होता है या खुली लड़ाई में उसकी सेना को हराना होता है? इसका अर्थ सरकार को अपना राजकोष भरने देने की अनुमति न देना होता है या इसका अर्थ यह होता

है कि क्रांतिकारी ढंग से राजकोष पर अधिकार कर लिया जाये ताकि उसे विद्रोह की आवश्यकताओं के लिए, मज़दूरों तथा किसानों को हथियारबंद करने के लिए और एक संविधान सभा का आयोजन करने के लिए इस्तेमाल किया जा सके ? सज्जनो, क्या आप इस बात को नहीं समझने लगे हैं कि "उग्रतम विरोध-पक्ष" का मतलब केवल नकारात्मक कार्रवाइयों से होता है – क़लई खोलना, ख़िलाफ़ वोट देना, अनुमति न देना ? ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह शब्दावली केवल संसदीय संघर्ष पर लागू होती है और, इसके अलावा एक ऐसे काल पर लागू होती है जब कोई भी "निर्णायक विजय" को संघर्ष का तात्कालिक लक्ष्य नहीं बनाता। क्या आप इस बात को नहीं समझने लगे हैं कि जिस क्षण राजनीतिक रूप से उत्पीड़ित जनता विजय के लिए सब कुछ दांव पर लगाकर संघर्ष करते हुए पूरे मोर्चे पर दृढ़संकल्प होकर आक्रमण शुरू करती है उस क्षण से इस मामले में परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है ?

मज़दूर हमसे पूछते हैं : क्या विद्रोह के तात्कालिक काम में उत्साहपूर्वक जुट जाना आवश्यक है ? उदीयमान विद्रोह को विजयी बनाने के लिए क्या किया जाना चाहिये ? इस विजय का क्या उपयोग किया जाना चाहिये ? उस समय कौनसा कार्यक्रम लागू किया जा सकता है और किया जाना चाहिये ? नये 'ईस्क्रा'-वादी, जो मार्क्सवाद को और गूढ़ बना रहे हैं, उत्तर देते हैं : हमें उग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहना चाहिये... देखा न आपने, हम ठीक न कहते थे कि ये सूरमा कूपमंडूकता में उस्ताद हैं ?

१०. "क्रांतिकारी कम्यून" और सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व

नया 'ईस्क्रा' अपनी बातों द्वारा जिस अराजकतावादी स्थिति में पहुंच गया था ("नीचे से और ऊपर से" नहीं, केवल "नीचे से") उसपर नये 'ईस्क्रा'-वादियों का सम्मेलन टिका नहीं रह सका। विद्रोह की संभावना को स्वीकार करना और विजय की तथा अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में भाग लेने की संभावना को न स्वीकार करना एक ऐसी बेतुकी बात थी कि अंधा भी उसके

बेतुकेपन को देख सकता था। इसलिए प्रस्ताव में मार्तिनोव तथा मार्तोव द्वारा पेश की गयी समस्या के हल में कुछ संकोच और कुछ प्रतिबंध शामिल कर दिये गये। आइये, हम इन संकोचों पर विचार करें जिनका उल्लेख प्रस्ताव के निम्नलिखित हिस्से में इस प्रकार किया गया है:

"इस कार्यनीति का" ("उग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहना") "मतलब, ज़ाहिर है, किसी भी प्रकार यह नहीं है कि शुद्धतः विद्रोह को फैलाने में सहायता देने और सरकार की व्यवस्था को भंग करने के उद्देश्य से आंशिक रूप से तथा अलग एक छोटी सी घटना के रूप में सत्ता पर अधिकार करने की वांछनीयता को स्वीकार किया ही नहीं जाना चाहिये, या किसी शहर में, या किसी ज़िले में क्रांतिकारी कम्यूनों की स्थापना की ही नहीं जानी चाहिये।"

इस परिस्थिति को देखते हुए, इसका मतलब यह है कि सिद्धांत में वे केवल नीचे से ही नहीं बल्कि ऊपर से भी कोई क़दम उठाये जाने की संभावना को स्वीकार करते हैं। इसका मतलब यह है कि 'ईस्क्रा' (अंक ९३) में ल० मार्तोव के प्रख्यात लेख में जो प्रस्थापना दी गयी थी उसे रद्द कर दिया गया है और 'व्पेर्योद' की कार्यनीति को, अर्थात् केवल "नीचे से" ही नहीं बल्कि "ऊपर से" भी, सही माना गया है।

इसके अतिरिक्त, सत्ता पर अधिकार करने का (भले ही वह आंशिक रूप से, अलग एक छोटी-सी घटना के रूप में, आदि ही क्यों न हो) मतलब स्पष्टतः यह है कि यह बात पहले से मान ली गयी है कि उसमें केवल सामाजिक-जनवादी ही और केवल सर्वहारा वर्ग ही भाग नहीं लेगा। यह नतीजा इस बात से निकलता है कि जनवादी क्रांति में केवल सर्वहारा वर्ग को ही दिलचस्पी नहीं होती और केवल वही उसमें सक्रिय रूप से भाग नहीं लेता। यह नतीजा इस बात से निकलता है कि विद्रोह एक "जन" विद्रोह है, जैसा कि विचाराधीन प्रस्ताव के आरंभ में ही कहा गया है, कि "ग़ैर-सर्वहारा समूह" (विद्रोह के बारे में सम्मेलन के प्रस्ताव में प्रयुक्त शब्द) भी, अर्थात् पूंजीपति वर्ग, उसमें भाग लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सिद्धांत को **सम्मेलन ने रद्द कर दिया** कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में निम्न-पूंजीपति वर्ग के साथ समाज-वादियों का किसी भी रूप में भाग लेना मज़दूर वर्ग के साथ विश्वासघात है;

'व्पेर्योद' भी यही कराना चाहता था। ऐसा नहीं होता कि "विश्वासघात" केवल इसलिए विश्वासघात न रह जाये कि जो काम विश्वासघात का द्योतक है वह आंशिक है, या अलग एक छोटी-सी घटना के रूप में है, स्थानीय है, आदि। इसलिए, अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में भाग लेने और विकृत जोरेसवाद के बीच जो समानता बतायी गयी थी उसे सम्मेलन ने **रद्द कर दिया;** 'व्पेर्योद' भी यही कराना चाहता था[37]। ऐसा नहीं होता कि कोई सरकार केवल इसलिए सरकार न रह जाये कि उसकी सत्ता कई शहरों में फैली हुई न होकर केवल एक शहर तक ही सीमित है, कई ज़िलों में फैली हुई न होकर केवल एक ज़िले तक ही सीमित है और इसलिए कि इस सरकार का नाम क्या है। इस प्रकार, इस **समस्या के सिद्धांतों को जिस रूप में प्रतिपादित करने** की कोशिश नये 'ईस्क्रा' ने की थी उसे **सम्मेलन ने रद्द कर दिया।**

आइये, अब हम देखें कि क्रांतिकारी सरकारों के निर्माण और उनमें भाग लेने पर, जिसे अब सिद्धांततः स्वीकार किया जाता है, सम्मेलन में जो प्रतिबंध लगाये गये हैं वे तर्कसंगत हैं कि नहीं। हमें मालूम नहीं कि "अलग एक छोटी-सी घटना के रूप में" और "अस्थायी" इन दो अवधारणाओं में क्या अंतर है। हमें तो ऐसा लगता है कि इस "नयी" और अपरिचित शब्दावली का प्रयोग साफ़ तौर पर न सोच सकने को छुपाने के लिए किया गया है। वह "अधिक गूढ़" **प्रतीत होती है** पर वास्तव में वह अधिक अप्रचलित और उलझी हुई है। किसी शहर या ज़िले में आंशिक रूप से "सत्ता पर अधिकार करने" की "वांछनीयता" और पूरे राज्य की अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में भाग लेने में क्या अंतर है? क्या "शहरों" में पीटर्सबर्ग जैसा शहर शामिल नहीं है, जहां ९ जनवरी वाली घटनाएं हुई थीं? क्या ज़िलों में काकेशस शामिल नहीं है जो बहुतेरे राज्यों से बड़ा है? जिस क्षण हम ज़िले की बात तो छोड़िये, किसी एक शहर में भी "सत्ता पर अधिकार कर लेंगे", उसी क्षण क्या हमारे सामने ये समस्याएं न आ खड़ी होंगी (जो एक ज़माने में नये 'ईस्क्रा' को परेशान करती रहती थीं) कि हम जेलख़ानों, पुलिस, सरकारी कोष-प्रणाली आदि का क्या करें? ज़ाहिर है कि इस बात से तो कोई भी इंकार नहीं करेगा कि यदि हमारे पास काफ़ी शक्तियां न हुईं, यदि विद्रोह पूरी तरह सफल न हुआ, या यदि विजय निर्णायक न हुई, तो यह संभव है कि अलग-अलग

जगहों में, अलग-अलग शहरों में और इसी तरह अन्य स्थानों में अस्थायी क्रांतिकारी सरकारें क़ायम होंगी। परंतु इस तरह की बात मान लेने में तुक क्या है, सज्जनो? क्या स्वयं आपने प्रस्ताव के आरंभ में "क्रांति की निर्णायक विजय" की, "विजयी जन-विद्रोह" की बात नहीं की थी?? सामाजिक-जनवादियों ने अराजकतावादियों का काम कब से संभाल लिया है: सर्वहारा वर्ग के ध्यान और उद्देश्यों को बांट देना, उसका ध्यान सामान्य, एक इकाई, एकाकार और पूर्ण की ओर से "आंशिक" की ओर मोड़ देना? किसी एक शहर में "सत्ता पर अधिकार करने" की बात को पहले से मानकर आप स्वयं "विद्रोह को फैलाने" की बात करते हैं — क्या हम यह सोचने का साहस करें कि आप विद्रोह को किसी दूसरे शहर में फैलायेंगे? क्या हम यह आशा करने का साहस करें कि आप विद्रोह को सभी शहरों में फैलायेंगे? सज्जनो, आपके निष्कर्ष उतने ही निराधार और ऊटपटांग, उतने ही विरोधपूर्ण और उलझे हुए हैं जितनी कि आपकी मान्यताएं थीं। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस ने आम तौर पर अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के पूरे सवाल का बहुत विस्तृत तथा स्पष्ट उत्तर दिया था। और यह उत्तर स्थानीय अस्थायी सरकारों के सभी उदाहरणों पर भी लागू होता है। परंतु सम्मेलन ने इस प्रश्न के एक **भाग** को कृत्रिम रूप से तथा मनमाने ढंग से अलग निकालकर उसका जो उत्तर दिया है उसमें कुछ मिलाकर पूरी समस्या से केवल **दामन छुड़ाया गया है** (परंतु असफलतापूर्वक) और उलझाव पैदा किया गया है।

"क्रांतिकारी कम्यून" का क्या अर्थ होता है? क्या यह "अस्थायी क्रांतिकारी सरकार" से भिन्न है और यदि है तो किस बात में? सम्मेलनवाले सज्जन स्वयं भी नहीं जानते। उलझे हुए क्रांतिकारी विचारों के कारण, जैसा कि बहुधा होता है, वे **क्रांतिकरी लफ़्फ़ाज़ी** पर उतर आते हैं। जी हां, सामाजिक-जनवाद के प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकार किये गये प्रस्ताव में "क्रांतिकारी कम्यून" शब्दों का प्रयोग क्रांतिकारी लफ़्फ़ाज़ी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मार्क्स ने अनेक बार इस प्रकार की लफ़्फ़ाज़ी की निंदा की है, जब भविष्य के कामों को छुपाने के लिए **बीते हुए ज़माने** के "आकर्षक" शब्द इस्तेमाल किये जाते थे। ऐसे उदाहरणों में वह आकर्षक शब्द जो इतिहास में अपनी भूमिका पूरी कर चुका हो, एक निरर्थक तथा ख़तरनाक चमक-दमक बन जाता

है, वह बच्चों का झुनझुना बन जाता है। हमें मज़दूरों को और सारी जनता को स्पष्ट तथा असंदिग्ध रूप से यह बात समझानी चाहिये कि हम यह **क्यों** चाहते हैं कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की स्थापना हो, और यदि सरकार में हमारा निर्णायक प्रभाव हुआ तो हम उस जन-विद्रोह की विजय के फ़ौरन बाद, जो आरंभ हो चुका है, **कौनसे परिवर्तन** लायेंगे। ये हैं वे सवाल जो राजनीतिक नेताओं के सामने आते हैं।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस ने इन प्रश्नों के बिल्कुल स्पष्ट उत्तर दिये थे और इन परिवर्तनों का एक पूरा कार्यक्रम तैयार किया था–जो हमारी पार्टी का अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम है। परंतु "कम्यून" शब्द हरगिज़ इसका उत्तर नहीं देता है; वह केवल एक सुमधुर शब्द, या खोखले शब्दाडम्बर की दूर से आनेवाली प्रतिध्वनि से लोगों को उलझाव में डाल देने का काम करता है। उदाहरण के लिए, १८७१ के पेरिस कम्यून की स्मृति को हम जितना ही पुनीत मानते हैं उतनी ही कम इस बात की इजाज़त दी जा सकती है कि हम उसकी ग़लतियों का और उससे संबंधित परिस्थितियों का विश्लेषण किये बिना जहां चाहें उसका प्रयोग कर दें। ऐसा करना ब्लांकीवादियों के बेतुके उदाहरण का अनुसरण करना होगा–जिनका एंगेल्स ने मज़ाक़ उड़ाया था–जिन्होंने (१८७४ में अपने "घोषणापत्र" में) कम्यून[३४] की हर बात की सराहना की थी। यदि कोई मज़दूर **इस** "क्रांतिकारी कम्यून" के बारे में, जिसका कि प्रस्ताव में उल्लेख किया गया है, किसी सम्मेलनवाले से पूछेगा तो वह क्या उत्तर देगा? वह केवल यही उत्तर दे सकेगा कि यह मज़दूरों की उस सरकार का नाम है, जिससे इतिहास परिचित है, जो जनवादी क्रांति के और समाजवादी क्रांति के तत्वों के बीच अंतर नहीं कर सकी, और उस समय कर भी नहीं सकती थी, जिसने जनतंत्र के लिए लड़ने के कामों और समाजवाद के लिए लड़ने के कामों को एक में मिला दिया, जो वारसाई के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त सैनिक आक्रमण करने का काम पूरा न कर सकी, जिसने फ़्रांस के बैंक पर क़ब्ज़ा न करके ग़लती की, आदि। सारांश यह कि अपने उत्तर में आप चाहे पेरिस कम्यून का हवाला दें या किसी दूसरे कम्यून का, आपका उत्तर यही होगा: वह एक ऐसी सरकार थी **जैसी कि हमारी सरकार नहीं होनी चाहिये।** सचमुच, बहुत ही कमाल का जवाब है! क्या इसमें उस रट्टू तोते की पांडित्यपूर्ण

उपदेश देने की प्रवृत्ति और उस क्रांतिकारी शक्तिहीनता का प्रमाण नहीं मिलता, जो पार्टी के व्यावहारिक कार्यक्रम के बारे में तो कुछ नहीं कहता और बेमौक़े एक प्रस्ताव में इतिहास का पाठ पढ़ाना शुरू कर देता है? क्या इससे उसी ग़लती का पता नहीं चलता है जिसे करने का आरोप असफलतापूर्वक वे हमारे ऊपर लगाते हैं, अर्थात् यह कि जनवादी क्रांति और समाजवादी क्रांति के अंतर को न देखना, जिनके बीच किसी भी "कम्यून" ने अंतर नहीं किया था?

अस्थायी सरकार का (जिसे सर्वथा अनुपयुक्त ढंग से "कम्यून" कहा गया है) उद्देश्य "केवल" विद्रोह को फैलाना और सरकार की व्यवस्था को भंग करना घोषित किया गया है। यदि "केवल" का शाब्दिक अर्थ लिया जाये तो उसमें अन्य सभी उद्देश्य ख़त्म हो जाते हैं, यह "केवल नीचे से" वाले बेसिर-पैर के सिद्धांत की प्रतिध्वनि है। इस प्रकार अन्य सभी उद्देश्यों को छांटकर अलग कर देना अदूरदर्शिता का और चिंतन के अभाव का एक दूसरा उदाहरण है। "क्रांतिकारी कम्यून" को, अर्थात् क्रांतिकारी सरकार को, वह भले ही एक ही शहर तक सीमित हो, अनिवार्य रूप से राज्य के **सभी** मामलात की व्यवस्था चलाना पड़ेगी (अस्थायी रूप से, "आंशिक रूप से, अलग एक छोटी-सी घटना के रूप में" ही सही) और इस बात की ओर से मुंह फेरकर इसे देखने से इंकार करना मूर्खता की हद होगी। इस सरकार को दिन में आठ घंटे काम की व्यवस्था लागू करना पड़ेगी, फ़ैक्टरियों पर मज़दूरों का निरीक्षण स्थापित करना होगा, और मुफ़्त आम शिक्षा की स्थापना करना पड़ेगी, जजों के निर्वाचन की पद्धति चालू करना पड़ेगी, किसान समितियां स्थापित करना पड़ेंगी, आदि; कहने का मतलब यह कि उसे निःसंदेह कई सुधार करना पड़ेंगे। इन सुधारों को "क्रांति को फैलाने में सहायता देना" कहना शब्दों के साथ खेलना होगा और एक ऐसे मामले में, जिसमें पूर्ण स्पष्टता की आवश्यकता है, और अधिक गड़बड़ी पैदा करना होगा।

नये 'ईस्क्रा'-वादियों के प्रस्ताव के अंतवाले भाग में "अर्थवाद" के सिद्धांतों की उस धारा की आलोचना के लिए तो कोई नयी सामग्री नहीं मिलती जो हमारी पार्टी में फिर से पैदा हो गयी है, परंतु उससे ऊपर कही गयी बातों पर कुछ भिन्न कोण से प्रकाश पड़ता है।

वह भाग इस प्रकार है:

"केवल एक दशा में सामाजिक-जनवाद को अपनी पहलक़दमी पर सत्ता पर अधिकार करने और जब तक संभव हो उसपर अपना अधिकार बनाये रखने की दिशा में कोशिश करनी चाहिये – अर्थात् उस दशा में जब क्रांति पश्चिमी यूरोप के उन्नत देशों में फैल जाये जहां समाजवाद की सफलता के लिए परिस्थितियां कुछ" (?) "हद तक परिपक्व हो चुकी हैं। उस दशा में रूसी क्रांति के सीमित ऐतिहासिक क्षेत्र को काफ़ी व्यापक बनाया जा सकता है और तब समाजवादी सुधारों के मार्ग पर क़दम रखना संभव हो जायेगा।

"इस मत के अनुसार कि क्रांति के पूरे दौरान में सामाजिक-जनवादी पार्टी उन सभी सरकारों की तरफ़, जो क्रांति के दौरान में एक के बाद एक करके स्थापित हों, उग्रतम क्रांतिकारी विरोध का रुख़ रखेगी, अपनी कार्यनीति निर्धारित करके सामाजिक-जनवाद अपने आपको सरकार की सत्ता का उपयोग करने के लिए, यदि वह उसके हाथ में आ पड़े," (??) "सबसे अच्छे ढंग से तैयार कर सकेगा।"

इसका आधारभूत विचार वही है जो 'व्पेर्योद' ने बार-बार प्रतिपादित किया है, जिसमें कहा गया है कि हमें जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की पूर्ण विजय से, अर्थात् सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व से, डरना नहीं चाहिये (जैसे कि मार्तिनोव डरते हैं), क्योंकि इस प्रकार की विजय से हम यूरोप की जनता में उत्साह भर सकेंगे, और यूरोप का समाजवादी सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग की ग़ुलामी से मुक्त होकर हमें समाज़वादी क्रांति करने में सहायता देगा। परंतु नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने इस विचार को जिस ढंग से पेश किया है उसमें इसका रूप कितना बिगड़ गया है। हम छोटी-छोटी बातों पर विचार करने में समय नष्ट नहीं करेंगे – जैसे इस बेसिर-पैर की मान्यता पर कि ऐसा भी हो सकता है कि सत्ता एक ऐसी वर्ग-चेतन पार्टी के हाथों में "आ पड़े" जो सत्ता पर अधिकार करने को हानिकारक कार्यनीति समझती है; या इस बात पर कि यूरोप में समाजवाद के लिए परिस्थितियां कुछ हद तक नहीं बल्कि पूरी तरह परिपक्व हो चुकी हैं; या इस बात पर कि हमारी पार्टी के कार्यक्रम में समाजवादी परिवर्तनों का कोई भी ज़िक्र न करके केवल समाजवादी क्रांति का ज़िक्र किया गया है। आइये,

अब हम देखें कि 'व्पेर्योद' द्वारा प्रस्तुत किये गये विचार और प्रस्ताव में प्रस्तुत किये गये विचार में क्या मुख्य तथा बुनियादी अंतर है। 'व्पेर्योद' ने रूस के क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के सामने एक सक्रिय लक्ष्य रखा था: जनवाद की लड़ाई जीतना और क्रांति को यूरोप तक पहुंचाने के लिए इस विजय को इस्तेमाल करना। प्रस्ताव हमारी "निर्णायक विजय" (नये 'ईस्क्रा' वाले अर्थ में नहीं) और यूरोप में क्रांति के इस पारस्परिक संबंध को नहीं समझ पाता और इसलिए उसमें सर्वहारा वर्ग के कामों की और **उसकी** विजय की संभावनाओं की बातें न करके केवल एक संभावना का मोटे-मोटे तौर पर उल्लेख किया गया है: "उस दशा में जब क्रांति फैल जाये"... 'व्पेर्योद' में साफ़ तौर पर तथा निश्चित रूप से इस बात की ओर संकेत किया गया था – और यह बात रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव में शामिल कर ली गयी थी – कि "सरकार की सत्ता" का "उपयोग" सर्वहारा वर्ग के हित में किस प्रकार किया जा सकता है और किया जाना चाहिये, इस बात को ध्यान में रखते हुए कि कौनसी बातें सामाजिक विकास की उस अवस्था में फ़ौरन की जा सकती हैं, और समाजवाद के लिए संघर्ष के वास्ते पहले जिन जनवादी बातों का होना आवश्यक है उनमें से कौनसी बातें सबसे पहले पूरी की जानी चाहिये। इस मामले में भी यह कहकर कि वह "अपने आपको सरकार की सत्ता का उपयोग करने के लिए तैयार कर सकेगी" प्रस्ताव बुरी तरह दुम के पीछे-पीछे घिसटते चलने का प्रमाण देता है, पर उसमें यह नहीं बताया गया है कि वह **किस प्रकार** समर्थ हो सकेगा, वह **किस प्रकार** अपने आपको तैयार करेगा, और उपयोग **किस चीज़ के लिए** करेगा। उदाहरण के लिए, हमें इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि यह हो सकता है कि नये 'ईस्क्रा'-वादी पार्टी में नेतृत्व के स्थान का "उपयोग करने के लिए अपने आपको तैयार कर सकें"; परंतु सवाल तो यह है कि अब तक उन्होंने इस उपयोग का जो अनुभव ग्रहण किया और अपनी तैयारी की है उससे तो इस बात की ज्यादा उम्मीद पैदा नहीं होती कि यह संभावना वास्तविकता का रूप धारण कर सकेगी...

'व्पेर्योद' ने बिल्कुल निश्चित रूप से बताया था कि "सत्ता पर अधिकार रखने की" असली "संभावना" किस बात में निहित है – अर्थात् सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व में; उनकी

संयुक्त जन-शक्ति में जो प्रतिक्रांति की सारी शक्तियों पर भारी पड़ सकती है, **जनवादी** परिवर्तनों में उनके हितों की अनिवार्य समानता में। इस मामले में भी सम्मेलन के प्रस्ताव में कोई निश्चित बात नहीं कही गयी है, उसमें केवल इस समस्या से दामन बचाया गया है। निःसंदेह, रूस में सत्ता पर अधिकार रखने की संभावना स्वयं रूस में सामाजिक शक्तियों की रचना द्वारा और इस समय हमारे देश में जो जनवादी क्रांति हो रही है उसकी परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होनी चाहिये। यूरोप में सर्वहारा वर्ग की विजय के फलस्वरूप (क्रांति को यूरोप में ले जाने और सर्वहारा वर्ग की विजय के बीच अभी तक बहुत फ़ासला है) रूसी पूंजीपति वर्ग सब कुछ दांव पर लगाकर क्रांति-विरोधी संघर्ष करेगा—फिर भी नये 'ईस्क्रा'-वादियों के प्रस्ताव में इस क्रांति-विरोधी शक्ति के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा गया है, जिसके महत्व का मूल्यांकन रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव में किया गया है। यदि जनतंत्र तथा जनवाद के लिए अपनी लड़ाई में हमें सर्वहारा वर्ग के सिवा किसानों ही का भरोसा न हो तो हमारे लिए "सत्ता पर अधिकार रखने" की कोई संभावना नहीं रह जायेगी। परंतु यदि यह संभावना है, यदि "ज़ारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय" इस प्रकार की संभावना उत्पन्न कर देती है, तो हमें उसकी ओर संकेत करना चाहिये, हमें तुरंत उसे वास्तविकता में बदल देने का सक्रिय रूप से नारा देना चाहिये और न केवल उस **संयोग के लिए** कि क्रांति यूरोप तक पहुंच जाये बल्कि उसे वहां तक ले जाने के **उद्देश्य से भी** व्यावहारिक नारे देने चाहिये। पुछल्लावादी सामाजिक-जनवादियों ने "रूसी क्रांति के सीमित ऐतिहासिक क्षेत्र" की जो बात कही है वह इस जनवादी क्रांति के उद्देश्यों के बारे में और इस क्रांति में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व की भूमिका के बारे में उनकी सीमित समझ-बूझ के लिए केवल एक आड़ का काम करती है!

"सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व" के नारे पर एक आपत्ति यह भी की जाती है कि अधिनायकत्व के लिए "एक इच्छा" ('ईस्क्रा', अंक ९५) का होना आवश्यक है और सर्वहारा वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग की इच्छा कभी एक हो ही नहीं सकती। यह आपत्ति तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि वह "एक इच्छा" शब्द की अमूर्त तथा "अधिभूतवादी"

व्याख्या पर आधारित है। यह हो सकता है कि किसी एक मामले में इच्छा एक हो और दूसरे मामले में इच्छा एक न हो। समाजवाद के प्रश्नों पर और समाजवाद के लिए संघर्ष में एकता न होने का मतलब यह नहीं है कि जनवाद के प्रश्नों पर और जनतंत्र के लिए संघर्ष में भी इच्छा एक न हो। इसे भूल जाना जनवादी तथा समाजवादी क्रांति के तर्कसंगत तथा ऐतिहासिक अंतर को भूल जाने के बराबर होगा। इस बात को भूल जाना जनवादी क्रांति के इस स्वरूप को भूल जाने के बराबर होगा कि वह **सारी जनता की** क्रांति होती है: यदि वह "सारी जनता की" है तो इसका मतलब यह है कि ठीक इसी लिए कि क्रांति सारी जनता की सामान्य आवश्यकताओं तथा ज़रूरतों को पूरा करती है उसमें "इच्छा की एकता" है। जनवाद की सीमाओं से परे सर्वहारा वर्ग तथा किसान पूंजीपति वर्ग की इच्छा एक होने का सवाल ही नहीं उठता। उनके बीच वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है; परंतु जनवादी जनतंत्र में ही यह संघर्ष **समाजवाद के लिए** जनता का सबसे भरपूर तथा सबसे व्यापक संघर्ष होगा। संसार की अन्य सभी चीज़ों की तरह ही सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व का भी अतीत और भविष्य होता है। उसका अतीत है एकतंत्र, कृषि-दासता, राजतंत्र तथा विशेषाधिकार। इस अतीत के विरुद्ध संघर्ष में, प्रतिक्रांति के विरुद्ध संघर्ष में, सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग की "इच्छा एक" हो सकती है क्योंकि इस मामले में हितों का ऐक्य है।

उसका भविष्य है निजी सम्पत्ति के ख़िलाफ़ संघर्ष, मालिक के ख़िलाफ़ मज़दूरी करनेवाले का संघर्ष, समाजवाद के लिए संघर्ष। इस मामले में इच्छा एक होना असंभव है*। इस मामले में हमारा मार्ग एकतंत्र से जनतंत्र की ओर नहीं बल्कि निम्न-पूंजीवादी जनवादी जनतंत्र से समाजवाद की ओर जानेवाला मार्ग है।

अलबत्ता वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थितियों में अतीत के तत्व भविष्य के तत्वों के साथ घुल-मिल जाते हैं, दोनों रास्ते एक-दूसरे को काटते हैं।

---

*पूंजीवाद का विकास, जो कि जहां स्वतंत्रता होती है अधिक व्यापक तथा अधिक वेगमय होता है, अनिवार्य रूप से इच्छा की एकता को बहुत तेज़ी से ख़त्म कर देगा, प्रतिक्रांति तथा प्रतिक्रिया को जितनी ही जल्दी कुचल दिया जायेगा उतनी ही जल्दी इच्छा का ऐक्य भी समाप्त हो जायेगा।

मज़दूरी के बदले श्रम की पद्धति, और उसके साथ निजी सम्पत्ति के ख़िलाफ़ उसका संघर्ष एकतंत्र में भी मौजूद रहता है, वह कृषि-दासता के अंतर्गत भी उत्पन्न होती है। परंतु यह बात किसी भी प्रकार हमें इस बात से नहीं रोकती कि हम विकास की मुख्य अवस्थाओं के बीच उनका अंतर बतानेवाली तर्कसंगत तथा ऐतिहासिक रेखाएं खींच दें। हम सभी लोग पूंजीवादी क्रांति तथा समाजवादी क्रांति के बीच अंतर करते हैं, हम सभी लोग उनके बीच निहायत सख़्ती के साथ अंतर करने की आवश्यकता पर पूरा ज़ोर देते हैं; परंतु क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि इतिहास में दोनों क्रांतियों के कुछ ख़ास-ख़ास इक्का-दुक्का तत्व आपस में घुल-मिल जाते हैं? क्या यरोप में जनवादी क्रांतियों के काल में अनेक समाजवादी आंदोलन तथा समाजवाद की स्थापना करने की कोशिशें नहीं हुई हैं? और क्या यूरोप की भावी समाजवादी क्रांति को वह बहुत सारा काम नहीं करना पड़ेगा जो जनवाद के क्षेत्र में अधूरा छोड़ दिया जायेगा?

किसी भी सामाजिक-जनवादी को एक क्षण के लिए भी इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि सर्वहारा वर्ग को अनिवार्य रूप से सबसे अधिक जनवादी तथा सबसे अधिक जनतांत्रिक पूंजीपति वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ भी समाजवाद के लिए वर्ग-संघर्ष करना पड़ेगा। इसमें किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं। इसी लिए सामाजिक-जनवाद की एक अलग, स्वतंत्र तथा पूर्णतः वर्ग-पार्टी होना नितांत आवश्यक है। यही कारण है कि पूंजीपति वर्ग के साथ "मिलकर प्रहार करने" की हमारी कार्यनीति कुछ समय के लिए ही होती है और हमारा कर्तव्य यह होता है कि हम "अपने मित्र पर एक शत्रु की तरह" नजर रखें, आदि। इन सब बातों में भी शंका की कोई गुंजाइश नहीं है। परंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना हास्यास्पद तथा प्रतिक्रियावादी बात होगी कि हमें इन कामों को, जो क्षणिक और अस्थायी होते हुए भी इस समय बुनियादी काम हैं, भुला देना चाहिये या उनकी उपेक्षा अथवा अवहेलना करना चाहिये। एकतंत्र के विरुद्ध संघर्ष समाजवादियों का एक अस्थायी तथा क्षणिक काम है परंतु इस काम की किसी भी प्रकार अवहेलना या उपेक्षा करना समाजवाद के साथ विश्वासघात करने और प्रतिक्रांति की सेवा करने के बराबर होगा। सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व निःसंदेह समाजवादियों

का एक क्षणिक तथा अस्थायी लक्ष्य है, परंतु जनवादी क्रांति के ज़माने में इस लक्ष्य की उपेक्षा करना सरासर प्रतिक्रियावादी बात होगी।

ठोस राजनीतिक लक्ष्य ठोस परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर निर्धारित किये जाने चाहिये। सभी चीज़ें सापेक्षिक होती हैं, सभी चीज़ों में प्रवाह होता है और सभी चीज़ें बदलती रहती हैं। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के कार्यक्रम में जनतंत्र की मांग नहीं है। जर्मनी में परिस्थिति ऐसी है कि व्यवहार में इस प्रश्न को समाजवाद के प्रश्न से अलग नहीं किया जा सकता (हालांकि जर्मनी के संबंध में भी एंगेल्स ने १८९१ में एर्फ़र्ट कार्यक्रम के प्रारूप पर अपनी टीका में जनतंत्र के और जनतंत्र के लिए संघर्ष के महत्व को गिराने के ख़िलाफ़ चेतावनी दी थी![39])। रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी में उसके कार्यक्रम तथा आंदोलन में से जनतंत्र की मांग को निकाल देने का सवाल कभी भी पैदा नहीं हुआ है क्योंकि हमारे देश में जनतंत्र के प्रश्न और समाजवाद के प्रश्न के बीच अटूट संबंध का कोई सवाल ही नहीं हो सकता। १८९८ के किसी जर्मन सामाजिक-जनवादी के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक बात थी कि वह जनतंत्र के विशेष प्रश्न को सबसे आगे न रखे, और इस पर न तो हमें आश्चर्य होता है और न ही इसके लिए हम उसकी निंदा करते हैं। परंतु यदि कोई जर्मन सामाजिक-जनवादी १८४८ में जनतंत्र के प्रश्न को अंधकार में डाल देता तो वह क्रांति के साथ सरासर ग़द्दारी करता। अमूर्त सत्य जैसी कोई चीज़ नहीं होती। सत्य हमेशा ठोस होता है।

वह समय भी आयेगा जब रूसी एकतंत्र के विरुद्ध संघर्ष का अंत हो जायेगा और रूस में जनवादी क्रांति का काल समाप्त हो जायेगा; उस समय सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग की "इच्छा के एक होने" और जनवादी अधिनायकत्व आदि की बात करना हास्यास्पद होगा। जब वह समय आयेगा तब हम सीधे-सीधे सर्वहारा वर्ग के समाजवादी अधिनायकत्व की ओर ध्यान देंगे और अधिक विस्तारपूर्वक उस पर विचार करेंगे। परंतु इस समय आगे बढ़े हुए वर्ग की पार्टी के लिए पूरा ज़ोर लगाकर ज़ारशाही पर जनवादी क्रांति की निर्णायक विजय की चेष्टा करना अनिवार्य है। और निर्णायक विजय का अर्थ सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

टिप्पणी[40]

१) हम पाठकों को इस बात की याद दिलायें कि 'ईस्क्रा' और 'व्पेर्योद' के बीच जो बहस हुई थी उसमें 'ईस्क्रा' ने अन्य चीज़ों के अतिरिक्त तुराती के नाम एंगेल्स के उस पत्र का हवाला दिया था जिसमें एंगेल्स ने इटली के सुधारवादियों के (भावी) नेता को यह चेतावनी दी थी कि वह जनवादी क्रांति को समाजवादी क्रांति के साथ न गड़बड़ायें[41]। १८९४ में इटली की राजनीतिक स्थिति के बारे में एंगेल्स ने लिखा था कि इटली में जो क्रांति होनेवाली है वह समाजवादी क्रांति नहीं बल्कि एक निम्न-पूंजीवादी, जनवादी क्रांति होगी। 'ईस्क्रा' ने 'व्पेर्योद' को इस बात के लिए लताड़ा था कि वह एंगेल्स के बताये हुए सिद्धांत से हट गया है। उसकी यह भर्त्सना अनुचित थी क्योंकि 'व्पेर्योद' ने (अंक १४)* उन्नीसवीं शताब्दी की क्रांतियों की तीन मुख्य शक्तियों के पारस्परिक अंतर के मार्क्स के सिद्धांत के औचित्य को कुल मिलाकर पूरी तरह स्वीकार किया था। इस सिद्धांत के अनुसार निम्नलिखित शक्तियां पुरानी व्यवस्था के ख़िलाफ़, एकतंत्र, सामंतवाद, कृषि-दासता के ख़िलाफ़ टक्कर लेती हैं: १) उदारवादी बड़ा पूंजीपति वर्ग, २) आमूलवादी निम्न-पूंजीपति वर्ग, ३) सर्वहारा वर्ग। पहली शक्ति सांविधानिक राजतंत्र से अधिक किसी चीज़ के लिए नहीं लड़ती; दूसरी शक्ति जनवादी जनतंत्र के लिए लड़ती है; तीसरी शक्ति समाजवादी क्रांति के लिए। पूर्ण जनवादी क्रांति के लिए निम्न-पूंजीवादी संघर्ष को समाजवादी क्रांति के लिए सर्वहारा संघर्ष के साथ गड़बड़ा देना किसी भी समाजवादी के राजनीतिक दिवालियेपन का द्योतक होता है। इस आशय की मार्क्स की चेतावनी सर्वथा उचित है। परंतु ठीक यही कारण है जिसकी वजह से "क्रांतिकारी कम्यूनों" का नारा त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इतिहास में जो कम्यून हुए हैं उन्होंने यही ग़लती की कि उन्होंने जनवादी क्रांति को और समाजवादी क्रांति को एक ही चीज़ समझ लिया। इसके विपरीत, हमारा नारा – सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व – हमें इस ग़लती

---

*देखिये व्ला० इ० लेनिन का 'सामाजिक-जनवाद और अस्थायी क्रांतिकारी सरकार' शीर्षक लेख। – सं०

से पूरी तरह सुरक्षित रखता है। क्रांति के असंदिग्ध पूंजीवादी स्वरूप को स्वीकार करते हुए, जो एक सीधी-सादी जनवादी क्रांति की सीमाओं का **सीधे-सीधे** उल्लंघन करने की क्षमता नहीं रखती, हमारा नारा इस क्रांति को **आगे बढ़ाता है** और उसे ऐसे रूपों में ढालने की कोशिश करता है जो सर्वहारा वर्ग के लिए सर्वाधिक हितकर हों, फलस्वरूप वह जनवादी क्रांति का ज़्यादा से ज़्यादा उपयोग करने की चेष्टा करता है ताकि समाजवाद के लिए सर्वहारा वर्ग के और आगे के संघर्ष में अधिकतम सफलता प्राप्त हो सके।

११. रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के और "सम्मेलन" के कई प्रस्तावों की सरसरी-सी तुलना

अस्थायी क्रांतिकारी सरकार का प्रश्न इस समय के सामाजिक-जनवाद के कार्यनीति-संबंधी प्रश्नों का आधार-बिंदु है। सम्मेलन के अन्य प्रस्तावों पर इतने अधिक विस्तार के साथ विचार करना न तो संभव है और न आवश्यक। हम अपने आपको केवल कुछ ऐसी बातों की ओर संकेत करने तक ही सीमित रखेंगे जिनसे रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के और सम्मेलन के प्रस्तावों की कार्यनीति-संबंधी दिशाओं के उस सिद्धांतगत अंतर की पुष्टि होती है जिसका कि हमने ऊपर विश्लेषण किया है।

क्रांति की पूर्व-वेला में सरकार की कार्यनीति की ओर रवैये के सवाल को लीजिये। इस प्रश्न का भी पूरा-पूरा विस्तृत उत्तर आपको रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के एक प्रस्ताव में मिल जायेगा। इस प्रस्ताव में उस क्षण विशेष की सभी विविध परिस्थितियों तथा कामों को दृष्टिगत रखा गया है। सरकार की रिआयतों की मक्कारी का भंडाफोड़, "जनता के प्रतिनिधित्व के ढोंगों" का फ़ायदा उठाना, मज़दूर वर्ग की तात्कालिक मांगों को (जिनमें सबसे प्रमुख दिन में आठ घंटे काम की मांग है) क्रांतिकारी ढंग से पूरा कराना, और अंतिम बात यमदूत सभाओं का विरोध करना। सम्मेलन के प्रस्तावों में यह प्रश्न कई भागों में बिखरा हुआ है: "प्रतिक्रिया की दुष्ट

शक्तियों का विरोध" करने का उल्लेख केवल अन्य पाटियों की तरफ़ रवैये वाले प्रस्ताव की भूमिका में किया गया है। प्रतिनिधि-संस्थाओं में भाग लेने के प्रश्न पर ज़ारशाही तथा पूंजीपति वर्ग की "समझौतेबाज़ियों" के प्रश्न से अलग विचार किया गया है। दिन में आठ घंटे काम की पद्धति क्रांतिकारी ढंग से लागू करवा लेने का नारा देने के बजाय एक ख़ास प्रस्ताव में, जिसका शीर्षक "आर्थिक संघर्ष के बारे में" सुनने में बहुत ही रोबदार है ("रूस के सार्वजनिक जीवन में श्रम-समस्या को जो केंद्रीय स्थान प्राप्त है" उसके बारे में अनेक भारी-भरकम तथा अत्यंत मूर्खतापूर्ण बातें कहने के बाद), "दिन में आठ घंटे काम की पद्धति क़ानून द्वारा लाग करा लेने" के लिए प्रचार करने का पुराना नारा दोहराया भर गया है। यह बात कि इस समय यह नारा काफ़ी नहीं है और उसका समय निकल चुका है इतनी स्पष्ट है कि उसका प्रमाण देने की कोई ज़रूरत नहीं।

खुली राजनीतिक कार्रवाई का प्रश्न। तीसरी कांग्रेस हमारी गतिविधियों में आगे चलकर होनेवाले **बुनियादी** परिवर्तन को दृष्टिगत रखती है। गुप्त काम और गुप्त संगठन के विकास को किसी भी हालत में त्यागना नहीं चाहिये: ऐसा करना पुलिस के हाथों में खेलना होगा और सरकार के लिए बेहद फ़ायदेमंद होगा। परंतु इसके साथ ही हम बहुत जल्दी कोई खुला क़दम उठाने की बात भी नहीं सोच सकते। इस प्रकार की कार्रवाइयों के वांछनीय रूप और इसके परिणामस्वरूप इस काम के लिए ख़ास संगठन – जो कम गुप्त हों – फ़ौरन **तैयार किये जाने चाहिये।** क़ानूनी तथा अर्ध-क़ानूनी संस्थाओं का इस्तेमाल इस उद्देश्य से किया जाना चाहिये कि उन्हें आगे चलकर जहां तक संभव हो रूस की भावी खुली सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के आधारों में परिवर्तित कर दिया जाये।

इस मामले में भी सम्मेलन ने इस सवाल को कई हिस्सों में बांट दिया है और कोई सुगठित नारे नहीं दिये हैं। एक अलग धारा के रूप में संगठन-आयोग के नाम यह आदेश बीच में टपक पड़ा है कि वह क़ानूनी ढंग से काम करनेवाले अपने लेखकों को "उचित स्थान पर बिठाने" का प्रबंध करे। फिर यह सर्वथा बेतुका निर्णय है कि "उन जनवादी अख़बारों को जो मज़दूर वर्ग के आंदोलन की सहायता करने का लक्ष्य अपने सामने रखते हैं अपने प्रभाव के अधीन कर लिया जाये"। हमारे सभी क़ानूनी उदारवादी अख़बार इसी लक्ष्य

का दम भरते हैं, और उनमें से लगभग सभी 'ओस्वोबोज्देनिये' की विचारधारा के माननेवाले हैं। 'ईस्क्रा' के सम्पादक अपनी सलाह पर ख़ुद अमल करके शुरुआत क्यों नहीं करते और हमारे सामने इस बात का उदाहरण क्यों नहीं रखते कि 'ओस्वोबोज्देनिये' को सामाजिक-जनवादी प्रभाव के अधीन कैसे लाया जा सकता है? क़ानूनी ढंग से काम करनेवाली मौजूदा यूनियनों को **पार्टी** के लिए आधार स्थापित करने के उद्देश्य से इस्तेमाल करने के नारे के बजाय हमें पहले तो केवल "ट्रेड"-यूनियनों के बारे में विशिष्ट रूप से सलाह दी गयी है (कि पार्टी के सभी सदस्य उनमें अनिवार्यतः शामिल हों) और दूसरे यह सलाह दी गयी है कि हम "मज़दूरों के क्रांतिकारी संगठनों का" = "उन संगठनों का जो बाज़ाब्ता तौर पर नहीं संगठित किये गये हैं" = "क्रांतिकारी मज़दूरों के क्लबों" का मार्गदर्शन करें। इन क्लबों की गणना उन संगठनों की श्रेणी में किस दृष्टि से की गयी है जो बाज़ाब्ता तौर पर संगठित नहीं गिये गये हैं, और ये क्लब वास्तव में क्या हैं—भगवान ही जानता है। पार्टी की किसी सर्वोच्च संस्था की तरफ़ से निश्चित तथा स्पष्ट आदेशों के बजाय हमें कुछ विचारों की धुंधली-धुंधली रूपरेखा और कुछ लेखकों के कच्चे मसविदे मिलते हैं। हमें अपने सभी कामों में एक पूर्णतः नये आधार की दिशा में पार्टी के संक्रमण की शुरुआत का कोई पूरा चित्र नहीं मिलता।

"किसानों की समस्या" को पार्टी कांग्रेस और सम्मेलन ने बिल्कुल ही अलग-अलग तरीक़ों से पेश किया था। कांग्रेस ने "किसान आंदोलन की ओर रवैये" के बारे में प्रस्ताव तैयार किया था और सम्मेलन ने "किसानों के बीच काम" के बारे में। एक में तो ज़ारशाही के विरुद्ध लड़ाई के आम राष्ट्रीय हित में व्यापक क्रांतिकारी-जनवादी आंदोलन का संचालन करने के काम को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। दूसरे में इस समस्या को घटाकर समाज के केवल एक ख़ास हिस्से के बीच "काम" करने तक ही सीमित कर दिया गया है। एक में हमारे आंदोलन के लिए एक केंद्रीय व्यावहारिक नारा दिया गया है जिसमें सभी जनवादी परिवर्तनों को पूरा करने के लिए फ़ौरन क्रांतिकारी किसान समितियां संगठित करने का नारा दिया गया है। दूसरे में "समितियों के संगठन की मांग" संविधान सभा के सामने पेश की जायेगी। हम इस संविधान सभा की प्रतीक्षा क्यों करें? क्या वह सचमुच संविधान सभा होगी? क्या वह उसके

साथ ही साथ प्राथमिक रूप में क्रांतिकारी किसान समितियों की स्थापना के बिना स्थायी होगी? सम्मेलन ने इन तमाम प्रश्नों की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। उसके सभी निर्णयों में वही मोटा-मोटा विचार प्रतिबिम्बित होता है जिसका हमने उल्लेख किया है—अर्थात् यह कि पूंजीवादी क्रांति में हमें पूरे जनवादी आंदोलन का नेतृत्व करने तथा इस काम को स्वतंत्र रूप से करने का लक्ष्य अपने सामने रखे बिना केवल अपना विशिष्ट काम करना चाहिये। ठीक उसी प्रकार जैसे "अर्थवादी" यह राग अलापते रहते थे कि सामाजिक-जनवादियों को केवल आर्थिक संघर्ष की ओर ध्यान देना चाहिये और राजनीतिक संघर्ष की चिंता करने का काम उदारवादियों के लिए छोड़ देना चाहिये, उसी प्रकार नये 'ईस्क्रा'-वादी अपनी हर बहस में यही राग अलापते रहते हैं कि हमें पूंजीवादी क्रांति के रास्ते से अलग हटकर किसी कोने-खुतरे में दुबक रहना चाहिये और इसको पूरा करने का सक्रिय काम पूंजीपति वर्ग के लिए छोड़ देना चाहिये।

अंत में, हम अन्य पार्टियों की ओर रवैये वाले प्रस्ताव की ओर भी ध्यान दिये बिना नहीं रह सकते। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया है कि हमें पूंजीवादी मुक्ति आंदोलन की सभी परिसीमाओं तथा ख़ामियों का पर्दाफ़ाश करना चाहिये, और अपने मन में यह नासमझी का विचार नहीं पालना चाहिये कि हम हर कांग्रेस में इस प्रकार की परिसीमाओं के सभी संभव उदाहरण गिनायेंगे या बुरे पूंजीपतियों और अच्छे पूंजीपतियों का अंतर बतायेंगे। सम्मेलन स्तारोवेर द्वारा की गयी ग़लती को दोहराते हुए निरंतर ऐसी नीति की खोज में लगा रहा और उसने "लिटमस काग़ज़" वाले प्रख्यात सिद्धांत का विकास किया। स्तारोवेर ने शुरुआत एक बहुत अच्छे विचार से की थी: पूंजीपति वर्ग के सामने कड़ी से कड़ी शर्तें रखना। वह बस इतना भूल गये कि ऐसे पूंजीपतियों को जो स्वीकृति, समझौतों आदि के योग्य हैं, पहले ही से उन पूंजीपतियों से, जो इसके अयोग्य हैं, अलग कर देने की कोशिश के फलस्वरूप हम ऐसे "सूत्र" पर जा पहुंचते हैं जिसे घटनाक्रम फ़ौरन रद्द कर देता है और जो सर्वहारा वर्ग की वर्ग-चेतना में उलझाव पैदा कर देता है। संघर्ष में वास्तविक एकता के बजाय ज़ोर घोषणाओं, वादों तथा नारों पर दिया जाने लगता है। स्तारोवेर का यह मत था कि "सार्विक तथा समान मताधिकार, सीधे चुनाव और गुप्त

मतदान" ऐसा ही आमूलवादी नारा है। परंतु दो वर्ष भी नहीं बीत पाये थे कि "लिटमस काग़ज़" की निरर्थकता सिद्ध हो गयी, सार्विक मताधिकार का नारा 'ओस्वोबोज्देंत्सी' ने अपना लिया, जो केवल यही नहीं कि इसके फलस्वरूप सामाजिक-जनवाद के ज़रा भी निकट नहीं आये बल्कि उल्टे जिन्होंने इसी नारे की सहायता से मज़दूरों को गुमराह करने और उन्हें समाजवाद के पथ से हटाने की कोशिश की।

अब नये 'ईस्क्रा'-वादी ऐसी "शर्तें" रख रहे हैं जो "और भी कड़ी" हैं। वे ज़ारशाही के शत्रुओं से यह "मांग कर रहे हैं" कि वे "संगठित सर्वहारा वर्ग की हर दृढ़संकल्प कार्रवाई" आदि का "पूरे उत्साह के साथ तथा बिना कोई शर्त लगाये" (!?) "समर्थन करें" जिसमें "जनता को अपने आप सशस्त्र करने के काम में सक्रिय रूप से भाग लेना" भी शामिल है। यह सिलसिला और भी आगे तक ले जाया गया है—परंतु फिर भी यह नीति **एक बार फिर अभी से अप्रचलित हो गयी है**, उसकी निरर्थकता फ़ौरन प्रकट हो गयी। उदाहरण के लिए, उसमें जनतंत्र का कोई नारा क्यों नहीं है? यह कैसी बात है कि सामाजिक-जनवादी—"सामाजिक श्रेणियों तथा राजतंत्र की व्यवस्था के सभी आधारों के ख़िलाफ़ निर्मम क्रांतिकारी युद्ध" के हित में—पूंजीवादी जनवादियों से दुनिया भर की चीज़ों की मांग करते हैं पर बस एक जनतंत्र के लिए लड़ाई की मांग नहीं करते?

'रूसी मुक्ति संघ' ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि यह सवाल केवल दोषारोपण का सवाल नहीं है, कि नये 'ईस्क्रा'-वादियों की ग़लती बहुत ही बुनियादी राजनीतिक महत्व रखती है (देखिये 'प्रोलेतारी', अंक ४)*। ये

---

*'प्रोलेतारी' के अंक ४ में, जो ४ जून १९०५ को प्रकाशित हुआ था, 'एक नया क्रांतिकारी श्रमिक संघ' शीर्षक से एक बहुत लम्बा लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख में इस संघ द्वारा जारी की गयी अपीलों की विषय-वस्तु दी गयी थी, जिसने 'रूसी मुक्ति संघ' का नाम धारण किया था और जिसने अपने सामने सशस्त्र विद्रोह की सहायता से संविधान सभा आयोजित करने का लक्ष्य रखा था। इसके अतिरिक्त इस लेख में इस प्रकार के निर्दलीय संघों की तरफ़ सामाजिक-जनवादियों का रवैया बताया गया था। इस संघ का सचमुच कहां तक अस्तित्व था और क्रांति में इसका क्या अंजाम हुआ, यह बात हमें बिल्कुल भी मालूम नहीं है। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी।—सं०)

"ज़ारशाही के शत्रु" नये 'ईस्क्रा'-वादियों की सभी "शर्तों" पर पूरे उतरेंगे। फिर भी हम साबित कर चुके हैं कि इस 'रूसी मुक्ति संघ' के कार्यक्रम में (या कार्यक्रम के अभाव में) 'ओस्वोबोज्देनिये' की भावना व्याप्त है और ओस्वोबोज्देंत्सी बड़ी आसानी से उन्हें अपने साथ नत्थी कर सकते हैं। परंतु सम्मेलन ने प्रस्ताव के अंतिम भाग में यह घोषणा की है कि "सामाजिक-जनवादी **जनता के मक्कार मित्रों का**, उन सभी राजनीतिक पार्टियों का विरोध करते रहेंगे जो उदारवादी तथा जनवादी झंडे के नीचे काम करते हुए भी सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष को सच्चा समर्थन प्रदान करने से इंकार करते हैं।" 'रूसी मुक्ति संघ' न केवल इस प्रकार का समर्थन देने से इंकार नहीं करता बल्कि अत्यधिक आग्रह के साथ यह समर्थन देता है। क्या यह इस बात की गारंटी है कि इस संघ के नेता ओस्वोबोज्देंत्सी होते हुए भी "जनता के मक्कार मित्र" नहीं हैं?

देखिये बात यह है: पहले से ऐसी "शर्तें" गढ़कर और ऐसी "मांगें" रखकर जो अपनी भयानक शक्तिहीनता के कारण हास्यास्पद होती हैं, नये 'ईस्क्रा'-वादी फ़ौरन अपने आपको उपहासजनक स्थिति में डाल देते हैं। ज्यों ही जीवन की वास्तविकताओं की थाह लेने का सवाल पैदा होता है उनकी सारी शर्तें और मांगें अपर्याप्त सिद्ध होती हैं। उनका सूत्रों के पीछे भागना व्यर्थ है क्योंकि ऐसा कोई भी सूत्र नहीं हो सकता जो पूंजीवादी जनवादियों की मक्कारी, उनके ढुलमुलपन तथा उनकी ख़ामियों की सभी विविध अभिव्यक्तियों को अपनी लपेट में ले ले। यह सवाल "लिटमस काग़ज़" का, रूपों का, या लिखी हुई तथा छपी हुई मांगों का सवाल नहीं है और न ही यह पहले से "जनता के" मक्कार और सच्चे "मित्रों" का अंतर बतानेवाली विभाजन रेखा खींचने का सवाल है; यह सवाल है संघर्ष में सच्ची एकता का, पूंजीवादी जनवाद द्वारा उठाये गये हर "ढीले" क़दम की सामाजिक-जनवादियों द्वारा अथक आलोचना का। "जनवादी परिवर्तन में दिलचस्पी रखनेवाली सभी सामाजिक शक्तियों को सचमुच सुदृढ़ करने" के लिए आवश्यकता उन "सूत्रों" की नहीं होती है जिन पर सम्मेलन ने व्यर्थ इतनी मेहनत की है, बल्कि उसके लिए ज़रूरत होती है सचमुच क्रांतिकारी नारे देने की योग्यता की। इसके लिए ऐसे नारों की आवश्यकता होती है जो क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग

को ऊंचा उठाकर सर्वहारा वर्ग के स्तर पर ले आयें न कि सर्वहारा वर्ग के उद्देश्यों को घटाकर राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के स्तर पर पहुंचा दें। इसके लिए सशस्त्र विद्रोह के तात्कालिक कामों से कुतर्कों द्वारा कतराने की नहीं बल्कि अत्यंत उत्साहपूर्वक विद्रोह में भाग लेने की आवश्यकता है।

१२. यदि पूंजीपति वर्ग ने जनवादी क्रांति से मुंह फेर लिया तो क्या उसकी व्यापकता कम हो जायेगी?

उपरोक्त पंक्तियां लिखी जा चुकी थीं जब हमें नये 'ईस्क्रा'-वादियों के काकेशियाई सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों की एक प्रतिलिपि मिली, जो 'ईस्क्रा' ने प्रकाशित की थी। भोजन के बाद मुंह मीठा करने के लिए हम इससे अच्छी सामग्री की कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

'ईस्क्रा' के सम्पादकों ने ठीक ही कहा है: "कार्यनीति के बुनियादी सवाल पर काकेशियाई सम्मेलन भी **हूबहू वैसे ही**" (सचमुच!) "निर्णय पर पहुंचा जैसा कि अखिल-रूसी सम्मेलन का" (अर्थात् नये 'ईस्क्रा'-वादियों के सम्मेलन का) "था। काकेशिया के साथियों ने अस्थायी क्रांतिकारी सरकार की ओर सामाजिक-जनवादियों के रवैये के सवाल को 'व्पेर्योद' दल द्वारा और उसमें शामिल हो जानेवाले तथाकथित कांग्रेस के प्रतिनिधियों द्वारा बताये गये नये तरीक़े का बिल्कुल स्पष्टवादिता के साथ विरोध करके तै कर दिया है।" "यह मानना पड़ेगा कि पूंजीवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग की पार्टी की कार्यनीति का प्रतिपादन जिस रूप में सम्मेलन ने किया है वह **बिल्कुल उचित** है।"

जो सत्य है वह सत्य है। नये 'ईस्क्रा'-वादियों की बुनियादी ग़लती को इससे अधिक "उचित" शब्दों में कोई दूसरा प्रतिपादित नहीं कर सकता था। हम इस प्रतिपादन को पूरे का पूरा उद्धृत करेंगे और कोष्ठकों में पहले तो पुष्पों की ओर संकेत करेंगे और अंत में उसका फल प्रस्तुत करेंगे।

अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के बारे में नये 'ईस्क्रा'-वादियों के काकेशियाई सम्मेलन का प्रस्ताव इस प्रकार है:

"चूंकि हम इसे अपना कर्तव्य समझते हैं कि हम सर्वहारा वर्ग की सामाजिक-जनवादी चेतना को और गूढ़ बनाने के लिए" (क्यों नहीं! उन्हें

इतना और कह देना चाहिये था कि "मार्तिनोव के ढंग से!") "क्रांतिकारी स्थिति का फ़ायदा उठायें" (जनतंत्र प्राप्त करने के लिए नहीं, केवल चेतना को और गूढ़ बनाने के लिए? क्रांति की कैसी "गूढ़" अवधारणा है!) "और पार्टी के लिए उदीयमान पूंजीवादी-राज्य पद्धति की आलोचना करने की पूर्णतम स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए" (जनतंत्र हासिल करने का काम हमारा नहीं है। हमारा काम तो केवल आलोचना की स्वतंत्रता प्राप्त करना है। अराजकतावादी विचार अराजकतावादी भाषा को जन्म देते हैं: "पूंजीवादी-राज्य" पद्धति!), "सम्मेलन सामाजिक-जनवादी अस्थायी सरकार के निर्माण और ऐसी सरकार में भाग लेने के ख़िलाफ़ अपना मत घोषित करता है" (स्पेन की क्रांति से दस महीने पहले बकूनिनवादियों[42] द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को याद कीजिये जिसका हवाला एंगेल्स ने दिया है: देखिये 'प्रोलेतारी', अंक ३[43]), "और इसे राज्य-पद्धति के व्यावहार्य हद तक" (?!) "जनवादीकरण के लिए पूंजीवादी अस्थायी सरकार पर बाहर से" (ऊपर से नहीं बल्कि नीचे से) "दबाव डालने का सबसे वांछनीय तरीक़ा समझता है। सम्मेलन का विश्वास है कि यदि सामाजिक-जनवादियों ने अस्थायी सरकार बनायी या यदि वे ऐसी सरकार में शरीक हुए तो इसका नतीजा एक ओर तो यह होगा कि सर्वहारा जन-साधारण सामाजिक-जनवादी पार्टी की ओर से निराश हो जायेंगे और उसे त्याग देंगे क्योंकि सामाजिक-जनवादी सत्ता पर अधिकार कर लेने के बावजूद मज़दूर वर्ग की तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकेंगे, जिसमें समाजवाद की स्थापना भी शामिल है" (जनतंत्र तात्कालिक आवश्यकता नहीं है! इस प्रस्ताव के रचयिता अपनी नादानी में इस बात को नहीं देखते कि वे शुद्धतः अराजकतावादी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, मानो वे पूंजीवादी क्रांतियों में भाग लेने का खंडन कर रहे हों!), "और दूसरी ओर, **इसके फलस्वरूप पूंजीवादी वर्ग क्रांति से मुंह फेर लेंगे और इस प्रकार उसकी व्यापकता को कम कर देंगे।**"

यही तो है झगड़े की जड़! यहीं पर अराजकतावादी विचार शुद्धतम अवसरवाद के साथ घुलमिल कर एक हो जाते हैं (जैसा कि पश्चिमी-यूरोपीय बर्न्सटीनवादियों के साथ भी हमेशा होता है)। ज़रा सोचिये: अस्थायी सरकार में इसलिए शरीक न होना कि इससे पूंजीपति वर्ग क्रांति से मुंह फेर लेगा और

इस प्रकार क्रांति की व्यापकता को कम कर देगा! सचमुच इस प्रस्ताव में हमें नये 'ईस्क्रा' के दार्शनिक विचार अपने पूर्ण, शुद्ध तथा सुसंगत रूप में मिलते हैं: क्रांति पूंजीवादी क्रांति है इसलिए हमें पूंजीवादी कूपमंडूकता के सामने सर झुका देना चाहिये और उसके लिए रास्ता छोड़ देना चाहिये। यदि हम आंशिक रूप से भी, एक क्षण के लिए भी इस विचार के अधीन अपना पथ निर्धारित करते हैं कि हमारे शरीक होने से संभव है पूंजीपति वर्ग मुंह फेर ले, तो हम इस प्रकार बस क्रांति का नेतृत्व पूंजीवादी वर्गों के हाथों में सौंप देते हैं। इस प्रकार हम सर्वहारा वर्ग को पूरी तरह पूंजीपति वर्ग के अधीन कर देते हैं (पर हमें पूरी "आलोचना की स्वतंत्रता" रहती है!!), और सर्वहारा वर्ग को भीरु और विनम्र बन जाने पर मजबूर कर देते हैं ताकि उसकी वजह से पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले। हम सर्वहारा वर्ग की सबसे बुनियादी ज़रूरतों को अर्थात् उसकी राजनीतिक ज़रूरतों को—जिन्हें "अर्थवादियों" तथा उनके अनुयाइयों ने कभी ठीक से नहीं समझा है— क्षीण कर देते हैं ताकि कहीं इनके कारण पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले। सर्वहारा वर्ग को जिस हद तक जनवाद की आवश्यकता है उसे प्राप्त करने के क्रांतिकारी संघर्ष का मैदान हम पूरी तरह छोड़ देते हैं और पूंजीपति वर्ग के साथ समझौता करने का, अपने सिद्धांतों के साथ विश्वासघात करने का, पूंजीपति वर्ग की स्वैच्छिक अनुमति ("कि वह कहीं मुंह न फेर ले") प्राप्त करने का मूल्य चुकाने के लिए क्रांति के साथ विश्वासघात करने का मैदान अपना लेते हैं।

दो संक्षिप्त पंक्तियों में काकेशियाई नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने क्रांति के साथ विश्वासघात करने की और सर्वहारा वर्ग को पूंजीवादी वर्गों का एक तुच्छ दुमछल्ला बना देने की कार्यनीति का सार-तत्व व्यक्त कर दिया है। ऊपर हमने नये 'ईस्क्रा'-वादियों की ग़लतियों की दिशा में जिस प्रवृत्ति का चित्रण किया था वह अब हमारे सामने एक स्पष्ट तथा सुनिश्चित सिद्धांत के रूप में उभरकर आती है, अर्थात् यह कि राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग की दुम में घिसटते रहना। चूंकि जनतंत्र की स्थापना का नतीजा यह होगा (और हो रहा है: उदाहरण के लिए श्री स्त्रूवे) कि पूंजीपति वर्ग मुंह फेर लेगा, इसलिए जनतंत्र के लिए लड़ाई का नाश हो। चूंकि सर्वहारा वर्ग की हर दृढ़ तथा सुसंगत जनवादी मांग के कारण हमेशा और हर जगह पूंजीपति वर्ग मुंह फेर लेता है, इसलिए

कामरेडो और मज़दूर साथियो, अपनी-अपनी मांद में दुबके पड़े रहो, केवल बाहर से ही काम करो, क्रांति के हित में "पूंजीवादी-राज्य" पद्धति के यंत्रों तथा अस्त्रों को इस्तेमाल करने का स्वप्न न देखो, और अपने लिए केवल "आलोचना की स्वतंत्रता" सुरक्षित रखो।

यहां पर "पूंजीवादी क्रांति" के बारे में उनकी अवधारणा की बुनियादी गलती उभरकर ऊपर आ जाती है। इन शब्दों की मार्तिनोव वाली या नये 'ईस्क्रा' वाली "अवधारणा" का परिणाम सीधे-सीधे यह होता है कि पूंजीपति वर्ग की ख़ातिर सर्वहारा वर्ग के ध्येय के साथ विश्वासघात किया जाता है।

जो लोग पुराने "अर्थवाद" को भूल चुके हैं, जो उसका अध्ययन नहीं करते या उसे याद नहीं रखते, उनको "अर्थवाद" की वर्तमान प्रतिध्वनि को समझने में कुछ कठिनाई होगी। बर्न्सटीनवादियों के 'क्रीडो'[44] की याद कीजिये। "शुद्धत: सर्वहारा" विचारों तथा कार्यक्रमों से लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे: हमें, सामाजिक-जनवादियों को, केवल आर्थिक सवालों से, मज़दूरों के वास्तविक ध्येय से, हर प्रकार की राजनीतिक तिकड़मों की आलोचना करने की स्वतंत्रता से, सामाजिक-जनवादी काम को सचमुच अधिक गूढ़ बनाने से, सरोकार रखना चाहिये। राजनीति उदारवादियों के लिए है। भगवान हमें "क्रांतिवाद" में फंस जाने से बचाये: उसकी वजह से पूंजीपति वर्ग मुंह फेर लेगा। जो लोग पूरे 'क्रीडो' को, या 'राबोचाया मीस्ल' के ६वें अंक (सितम्बर १८६६)[45] के क्रोडपत्र को एक बार फिर पढ़ लेंगे वे इस पूरे तर्क-क्रम को समझ सकेंगे।

आज भी हम देखते हैं कि यही चीज़, बस ज़रा कुछ बड़े पैमाने पर, पूरी "महान" रूसी क्रांति पर लागू की जा रही है—अफ़सोस, कट्टर कूपमंडूकता के सिद्धांतवेत्ताओं ने पहले ही से इस क्रांति को विकृत कर दिया है और उसे एक ढोंग बना दिया है। हमें, सामाजिक-जनवादियों को, आलोचना की स्वतंत्रता से, वर्ग-चेतना को और गूढ़ बनाने से, बाहर से कार्रवाई करने से सरोकार रखना चाहिये। उन्हें, पूंजीवादी वर्गों को, कोई भी क़दम उठाने की स्वतंत्रता, क्रांतिकारी (इसे पढ़िये: उदारवादी) नेतृत्व की पूरी छूट, ऊपर से "सुधार" लागू करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये।

मार्क्सवाद को भ्रष्ट करनेवाले इन लोगों ने कभी इस बात पर विचार भी नहीं किया है कि मार्क्स ने आलोचना के हथियार की जगह हथियारों द्वारा

ग्रालोचना को ग्रपनाने के बारे में क्या कहा था[46]। ग्रकारण ही मार्क्स का नाम लेकर वे वास्तव में पूरी तरह फ़्रैंकफ़ुर्ट के उन कोरी बातें बघारनेवाले पूंजीवादियों के ढर्रे पर कार्यनीति-संबंधी प्रस्ताव तैयार करते हैं, जो खुलकर निरंकुशता की ग्रालोचना करते थे, जनवादी चेतना को ग्रौर गूढ़ बनाते थे पर यह नहीं समझ पाते थे कि क्रांति का ज़माना संघर्ष का, ऊपर से ग्रौर नीचे से दोनों ही तरफ़ से संघर्ष का, ज़माना होता है। मार्क्सवाद को पांडित्य का विषय बनाकर, उन्होंने ग्रागे बढ़े हुए, सबसे दृढ़संकल्प ग्रौर सबसे उत्साहपूर्ण क्रांतिकारी वर्ग की विचारधारा को उसके उन सबसे ग्रविकसित स्तरों की विचारधारा बना दिया है, जो कठिन क्रांतिकारी-जनवादी कामों से जी चुराते हैं ग्रौर इन जनवादी कामों की चिंता करने का काम स्त्रूवे जैसे लोगों के लिए छोड़ देते हैं।

यदि पूंजीवादी वर्ग इस कारण क्रांति से मुंह फेर लेते हैं कि सामाजिक-जनवादी क्रांतिकारी सरकार में शामिल हो गये हैं, तो वे इस प्रकार क्रांति की "व्यापकता को कम कर देते हैं"।

रूसी मज़दूरो, ज़रा यह सुनना: यदि क्रांति स्त्रूवे जैसे लोगों के हाथों से सम्पन्न होगी, जो सामाजिक-जनवादियों से भयभीत होकर भाग नहीं खड़े होते ग्रौर जो ज़ारशाही पर विजय नहीं प्राप्त करना चाहते बल्कि उसके साथ समझौता कर लेना चाहते हैं, तो उसकी व्यापकता ग्रधिक प्रबल होगी। ऊपर हमने जिन दो संभावित परिणामों का उल्लेख किया है उनमें से यदि पहली संभावना फलीभूत होती है, ग्रर्थात् यदि शिपोव मार्का "संविधान" के सिलसिले में राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग का एकतंत्र के साथ कोई समझौता हो जाता है तो क्रांति की व्यापकता ग्रधिक प्रबल होगी।

जो सामाजिक-जनवादी पूरी पार्टी का पथप्रदर्शन करने के उद्देश्य से तैयार किये गये प्रस्तावों में ऐसी शर्मनाक बातें लिखते हैं, या जो ऐसे "उपयुक्त" प्रस्तावों का ग्रनुमोदन करते हैं, वे ग्रपने पांडित्य के कारण, जिसने मार्क्सवाद में से उसकी सप्राण भावना को घुन की तरह खा लिया है, इतने ग्रंधे हो जाते हैं कि वे यह भी नहीं देख पाते कि उनके ये प्रस्ताव किस प्रकार उनकी ग्रन्य सभी ग्रच्छी-ग्रच्छी बातों को कोरी लफ़्फ़ाज़ी में परिवर्तित कर देते हैं। 'ईस्क्रा' में उनका कोई भी लेख ले लीजिये, या हमारे प्रख्यात मार्तिनोव की

लिखी हुई कुख्यात पुस्तिका को ले लीजिये—तो आप उसमें **जन**-विद्रोह के बारे में, क्रांति को **पूर्णता तक** ले जाने के बारे में, ढुलमुल पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ाई में **आम जनता** पर भरोसा करने की चेष्टा करने के बारे में पढ़ेंगे। परंतु ज्यों ही आप इस बात को स्वीकार कर लेते हैं या इस विचार का अनुमोदन करते हैं कि पूंजीपति वर्ग के अलग हो जाने के फलस्वरूप "क्रांति की व्यापकता" "घट" जायेगी तो ये सारी निहायत उम्दा बातें फ़ौरन घटिया लफ़्फ़ाज़ी बन जाती हैं। सज्जनो, दो में से एक ही बात हो सकती है: या तो हमें जनता के साथ मिलकर ढुलमुल, स्वार्थी तथा कायर पूंजीपति वर्ग **के बावजूद** क्रांति को पूरा करना चाहिये और ज़ारशाही पर पूर्ण विजय प्राप्त करना चाहिये, या फिर हम इस "बावजूद" को नहीं स्वीकार करते हैं, हम इस बात से डरते हैं कि पूंजीपति वर्ग कहीं क्रांति से "मुंह न फेर ले", जिस सूरत में हम पूंजीपति वर्ग की ख़ातिर—ढुलमुल, स्वार्थी तथा कायर पूंजीपति वर्ग की ख़ातिर—सर्वहारा वर्ग के साथ तथा जनता के साथ विश्वासघात करते हैं।

मैंने जो कुछ कहा है उसका ग़लत अर्थ लगाने की कोशिश न कीजिये। यह शोर मचाना मत शुरू कीजिये कि आप पर जान-बूझकर विश्वासघात करने का आरोप लगाया जा रहा है। नहीं आप हमेशा रेंगते रहे हैं और आप आख़िरकार रेंगकर पुराने ज़माने के उन "अर्थवादियों" की तरह अनजाने ही कीचड़ में पहुंच गये हैं जो मार्क्सवाद को "और गूढ़" बनाने की ढलान पर तेज़ी से बेरोक-टोक लुढ़कते हुए क्रांति-विरोधी, निष्प्राण तथा निर्जीव "दार्शनिक उपदेश देने" की मंज़िल पर जा पहुंचे थे।

सज्जनो, क्या आपने कभी इस बात पर विचार किया है कि वह कौनसी वास्तविक सामाजिक शक्तियां हैं जो "क्रांति की व्यापकता" को निर्धारित करती हैं? वैदेशिक राजनीति की, अंतर्राष्ट्रीय संयोजनों की शक्तियों को छोड़ दीजिये, जो इस समय हमारे लिए बहुत अनुकूल सिद्ध हुई हैं, पर जिन्हें हम सभी लोग अपनी बहस में छोड़ देते हैं, और ठीक ही छोड़ देते हैं क्योंकि हमारा संबंध रूस की अन्दरूनी शक्तियों के सवाल से होता है। इन अन्दरूनी सामाजिक शक्तियों पर नज़र डालिये। क्रांति के ख़िलाफ़ एकतंत्र, शाही दरबार, पुलिस, नौकरशाही, सेना और मुठी भर उच्च अभिजात वर्ग के लोग मोर्चा जमाये हैं। जनता का क्रोध जितना ही गहरा होता जाता है, सेना पर उतना

ही कम विश्वास किया जा सकता है और नौकरशाही उतनी ही अधिक ढुलमुल रहने लगती है। इसके अतिरिक्त, कुल मिलाकर, पूंजीपति वर्ग इस समय क्रांति के पक्ष में है, वह बड़े उत्साह के साथ स्वाधीनता के पक्ष में भाषण दे रहा है, दिन-बदिन ज़्यादा मौक़ों पर वह जनता के नाम की, और यहां तक कि क्रांति के नाम की दुहाई देने लगा है*। परंतु हम सारे मार्क्सवादी सिद्धांत से और अपने उदारवादियों, ज़ेम्सत्वो-वादियों और ओस्वोबोज्देंत्सी को हर दिन, हर घड़ी देखते रहने के कारण इस बात को जानते हैं कि पूंजीपति वर्ग क्रांति का समर्थन करने के मामले में ढुलमुल, स्वार्थी और कायर होता है। ज्यों ही पूंजीपति वर्ग के संकुचित, स्वार्थपूर्ण हित पूरे हो जायेंगे, ज्यों ही वह सुसंगत जनवाद से "मुंह फेरेगा" **(और वह उसकी तरफ़ से मुंह फेरने लग गया है!)** तो वह फ़ौरन, एक समूह के रूप में अनिवार्य रूप से प्रतिक्रांति की तरफ़, एकतंत्र की तरफ़, क्रांति के खिलाफ़ और जनता के खिलाफ़ अपना रुख़ करेगा। फिर रह जाती है "जनता", अर्थात् सर्वहारा वर्ग और किसान: सर्वहारा वर्ग ही अकेला ऐसा है जिस पर यह भरोसा किया जा सकता है कि वह आख़िर तक जायेगा, क्योंकि वह जनवादी क्रांति से बहुत आगे जा रहा है। यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग सबसे आगे रहकर जनतंत्र के लिए लड़ता है और इस बेवक़ूफ़ी की तथा फ़ज़ूल सलाह को तिरस्कार के साथ ठुकरा देता है कि उसे सावधान रहना चाहिये कि कहीं वह पूंजीपति वर्ग को डराकर भगा न दे। किसान वर्ग में बहुत बड़ी संख्या में अर्ध-सर्वहारा तथा निम्न-पूंजीवादी तत्व भी होते हैं। इसके कारण वह भी अस्थिर हो जाता है और सर्वहारा वर्ग को इसपर मजबूर कर देता है कि वह शुद्धतः अपने वर्ग की पार्टी में संगठित हो जाये। परंतु किसान वर्ग की अस्थिरता पूंजीपति वर्ग की अस्थिरता से मूलतः भिन्न है, क्योंकि इस समय किसान वर्ग को निजी स्वामित्व के पूर्ण रूप से संरक्षण में उतनी दिलचस्पी नहीं है जितनी कि बड़ी-बड़ी भू-सम्पत्तियों के ज़ब्त किये जाने में, जो निजी सम्पत्ति का एक प्रमुख रूप हैं। हालांकि इस बात की वजह से

---

*इस प्रसंग में जोरेस के नाम श्री स्त्रूवे का खुला पत्र बहुत महत्व रखता है, जिसे अभी हाल ही में जोरेस ने *«L'Humanité»*[47] में और श्री स्त्रूवे ने 'ओस्वोबोज्देनिये' के ७२वें अंक में प्रकाशित किया है।

किसान वर्ग न तो समाजवादी हो जाता है और न ही यह होता है कि वह निम्न-पूंजीवादी न रह जाये, पर उसमें जनवादी क्रांति का पूरे हृदय से तथा अत्यंत उग्र समर्थक होने की क्षमता होती है। किसान वर्ग अनिवार्य रूप से यह रूप धारण कर लेगा यदि क्रांतिकारी घटनाक्रम की प्रगति को, जो उसमें जागृति फूंक रही है, पूंजीपति वर्ग का विश्वासघात और सर्वहारा वर्ग की पराजय बहुत जल्दी रोक न दे। इस शर्त के पूरा होने पर किसान वर्ग अनिवार्य रूप से क्रांति और जनतंत्र की एक अजेय शक्ति बन जायेगा, क्योंकि केवल पूर्णतः विजयी क्रांति ही किसान वर्ग को कृषि-सुधारों के क्षेत्र में **सब कुछ** दे सकती है— वह **सब कुछ** जो किसान चाहते हैं, जिसके वे स्वप्न देखते हैं और जिनकी उन्हें सचमुच ज़रूरत है (पूंजीवाद के उन्मूलन के लिए नहीं जैसा कि "समाजवादी-क्रांतिकारी" समझते हैं, बल्कि) इसलिए कि वे अर्ध-कृषिदासत्व की दलदल से बाहर निकल सकें, उत्पीड़न तथा ग़ुलामी के अंधकार से बाहर निकल सकें, इसलिए कि वे अपने जीवन की परिस्थितियों को बिकाऊ माल के उत्पादन की व्यवस्था के अंतर्गत जिस हद तक भी सुधारना संभव हो सुधार सकें।

इसके अतिरिक्त क्रांति के साथ किसान वर्ग का संबंध केवल आमूल कृषि-सुधार की संभावना के कारण ही नहीं होता बल्कि उसके आम तथा स्थायी हितों के कारण भी होता है। सर्वहारा वर्ग के कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष करने में भी किसान वर्ग को जनवाद की आवश्यकता होती है, क्योंकि केवल जनवादी व्यवस्था ही उसके हितों को सही-सही व्यक्त कर सकती है और जन-समूह के रूप में, बहुमत के रूप में उसके प्रभुत्व को सुनिश्चित बना सकती है। किसान वर्ग में जितनी ही ज़्यादा जागृति पैदा होगी (और जापान के साथ युद्ध के बाद से उसमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से जागृति पैदा हो रही है जितना कि वे लोग समझते हैं, जो जागृति को स्कूली मानदंडों से नापने के आदी होते हैं), उतने ही अधिक सुसंगत रूप से तथा दृढ़संकल्प होकर वह आमूल जनवादी क्रांति का पक्ष लेगा, क्योंकि वह पूंजीपति वर्ग से भिन्न स्थिति में है, उसे जनता के प्रभुत्व से डरने का कोई कारण नहीं है, बल्कि उल्टे इससे उसका लाभ होगा। किसान वर्ग ज्यों ही अपने आपको अपनी नासमझ राजतंत्रवादी भावनाओं से मुक्त करने लगेगा त्यों ही जनवादी जनतंत्र किसान वर्ग का आदर्श बन जायेगा, क्योंकि पूंजीवादी सट्टेबाज़ों के जागृत विचारों वाले

राजतन्त्रवाद (ऊपरी सदन, आदि सहित) का अर्थ किसान वर्ग के लिए यह होता है कि वह अधिकारों से उसी प्रकार वंचित रहे और उसी तरह कुचला हुआ तथा जाहिल बना रहे जैसा कि वह इस समय है, बस अंतर केवल यह होगा कि इन सब बातों पर यूरोपीय संविधानवाद का थोड़ा-सा मुलम्मा और चढ़ जायेगा।

यही कारण है कि पूंजीपति वर्ग एक वर्ग की हैसियत से स्वाभाविक तथा अनिवार्य रूप से उदारवादी-राजतंत्रवादी पार्टी की छत्रछाया में आ जाने की चेष्टा करता है, जबकि किसान वर्ग का अधिकांश भाग क्रांतिकारी तथा जनतंत्रवादी पार्टी के नेतृत्व में आने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि पूंजीपति वर्ग जनवादी क्रांति को उसकी चरम सीमा तक नहीं ले जा सकता, जबकि किसान वर्ग एसा करने की क्षमता रखता है और हमें ऐसा करने में उसकी सहायता करने की पूरी कोशिश करनी चाहिये।

आपत्ति उठायी जा सकती है: लेकिन इन सब बातों को तो सिद्ध करने की कोई ज़रूरत नहीं, यह सब तो क-ख-ग के समान है, सभी सामाजिक-जनवादी इस बात को भली भांति समझते हैं। परंतु ऐसी बात नहीं है। वे लोग जो पूंजीपति वर्ग के क्रांति से अलग हो जाने के कारण क्रांति की "व्यापकता" के "घट" जाने की बात कर सकते हैं वे इस बात को नहीं समझते। इस प्रकार के लोग हमारे कृषि-संबंधी कार्यक्रम के शब्दों को दोहराते हैं, जिसे उन्होंने उसका अर्थ समझे बिना ही कंठस्थ कर लिया है, क्योंकि अन्यथा वे सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व की अवधारणा से भयभीत न होते, जो पूरे मार्क्सीय विश्व दृष्टिकोण और हमारे कार्यक्रम का एक अनिवार्य निष्कर्ष है; अन्यथा वे महान रूसी क्रांति की व्यापकता को उन सीमाओं तक सीमित न कर देते जहां तक कि पूंजीपति वर्ग जाने को तैयार है। इस प्रकार के लोग अपने ठोस मार्क्सवाद-विरोधी तथा क्रांति-विरोधी प्रस्तावों द्वारा अपने अमूर्त मार्क्सीय क्रांतिकारी शब्दों पर पानी फेर देते हैं।

जो लोग विजयी रूसी क्रांति में किसान वर्ग की भूमिका को सचमुच समझते हैं वे कभी स्वप्न में भी यह नहीं कह सकते कि यदि पूंजीपति वर्ग उससे मुंह फेर लेगा तो क्रांति की व्यापकता घट जायेगी। क्योंकि, वास्तव में, रूसी क्रांति में उसकी असली व्यापकता उसी समय आना शुरू होगी, उसमें पूंजीवादी-

जनवादी क्रांति के युग में यथासंभव विस्तृततम क्रांतिकारी व्यापकता सचमुच उसी समय आयेगी जब पूंजीपति वर्ग उसकी तरफ़ से मुंह फेर लेगा और जब आम किसान सर्वहारा वर्ग के कंधे से कंधा मिलाकर सक्रिय क्रांतिकारियों के रूप में सामने आयेगा। इस बात के लिए कि वह सुसंगत रूप से अपनी आख़िरी मंज़िल तक पहुंच सके, हमारी जनवादी क्रांति को ऐसी शक्तियों पर भरोसा करना चाहिये जो पूंजीपति वर्ग के अनिवार्य ढुलमुलपन को निष्क्रिय करने की क्षमता रखती हों। (अर्थात् जो ठीक इसी बात की क्षमता रखती हों कि वे "उसे क्रांति से मुंह फेर लेने के लिए मजबूर कर दें," जिस बात से 'ईस्क्रा' के काकेशियाई समर्थक अपने विवेक की कमी के कारण इतना डरते हैं।)

सर्वहारा वर्ग को बलपूर्वक एकतंत्र के विरोध को कुचल देने के लिए और पूंजीपति वर्ग की अस्थिरता को निष्क्रिय कर देने के लिए अधिकांश किसानों को अपने साथ लेकर जनवादी क्रांति को पूर्ति तक पहुंचाना चाहिये। सर्वहारा वर्ग को बलपूर्वक पूंजीपति वर्ग के विरोध को कुचल देने के लिए और किसान वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग की अस्थिरता को निष्क्रिय कर देने के लिए जनसंख्या के अधिकांश अर्ध-सर्वहारा तत्वों को अपने साथ मिलाकर समाजवादी क्रांति को पूरा करना चाहिये। ये हैं सर्वहारा वर्ग के काम जिन्हें नये 'ईस्क्रा'-वादी क्रांति की व्यापकता से संबंधित अपनी सभी दलीलों तथा प्रस्तावों में इतने संकुचित रूप में प्रस्तुत करते हैं।

परंतु एक बात को नहीं भूलना चाहिये, हालांकि क्रांति की "व्यापकता" से संबंधित बहसों में उसे बहुधा भुला दिया जाता है। इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि सवाल इस बात का नहीं है कि इस समस्या में हमारे सामने कौन-कौनसी कठिनाइयां आती हैं, बल्कि यह कि हमें किस रास्ते पर चलकर इस समस्या का हल ढूंढना चाहिये। सवाल यह नहीं है कि क्रांति की व्यापकता को शक्तिशाली तथा अजेय बनाना आसान है या कठिन, बल्कि सवाल यह है कि इस व्यापकता को और शक्तिशाली बनाने के लिए हमें किस तरह काम करना चाहिये। हमारे विचारों में ठीक इसी बात पर मतभेद हैं कि हमारी गतिविधियों का बुनियादी स्वरूप क्या हो, वे कौनसी दिशा अपनायें। हम इस बात पर इसलिए ज़ोर देते हैं कि लापरवाह तथा सिद्धांतहीन लोग अक्सर दो सवालों को एक में मिला देते हैं, अर्थात् मार्ग की दिशा का सवाल, यानी यह कि दो

13. Заключение. Смеем ли мы победить?

Люди, поверхностно знакомые с положением дел в российской социалдемократии, или судящие со стороны, не знающие истории всей нашей внутрипартийной борьбы со времени экономизма, очень часто отделываются и от определившихся теперь, особенно после 3-го съезда, тактических разногласий простой ссылкой на две естественных, неизбежных, вполне примиримых тенденции всякого социалдемократического движения. С одной стороны, дескать, усиленное подчеркивание обычной, текущей, повседневной работы, необходимости развивать пропаганду и агитацию, подготовлять силы, углублять движение и т. д. С другой стороны, подчеркивание боевых, общеполитических, революционных задач движения, указание необходимости вооруженного восстания, выдвигание лозунгов: революционно-демократической диктатуры, временного революционного правительства. Ни той ни другой стороне не следует преувеличивать,

लेनिन कृत 'जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' (१९०५) शीर्षक पुस्तक की पांडुलिपि का १५७वां पृष्ठ।
छोटे आकार में
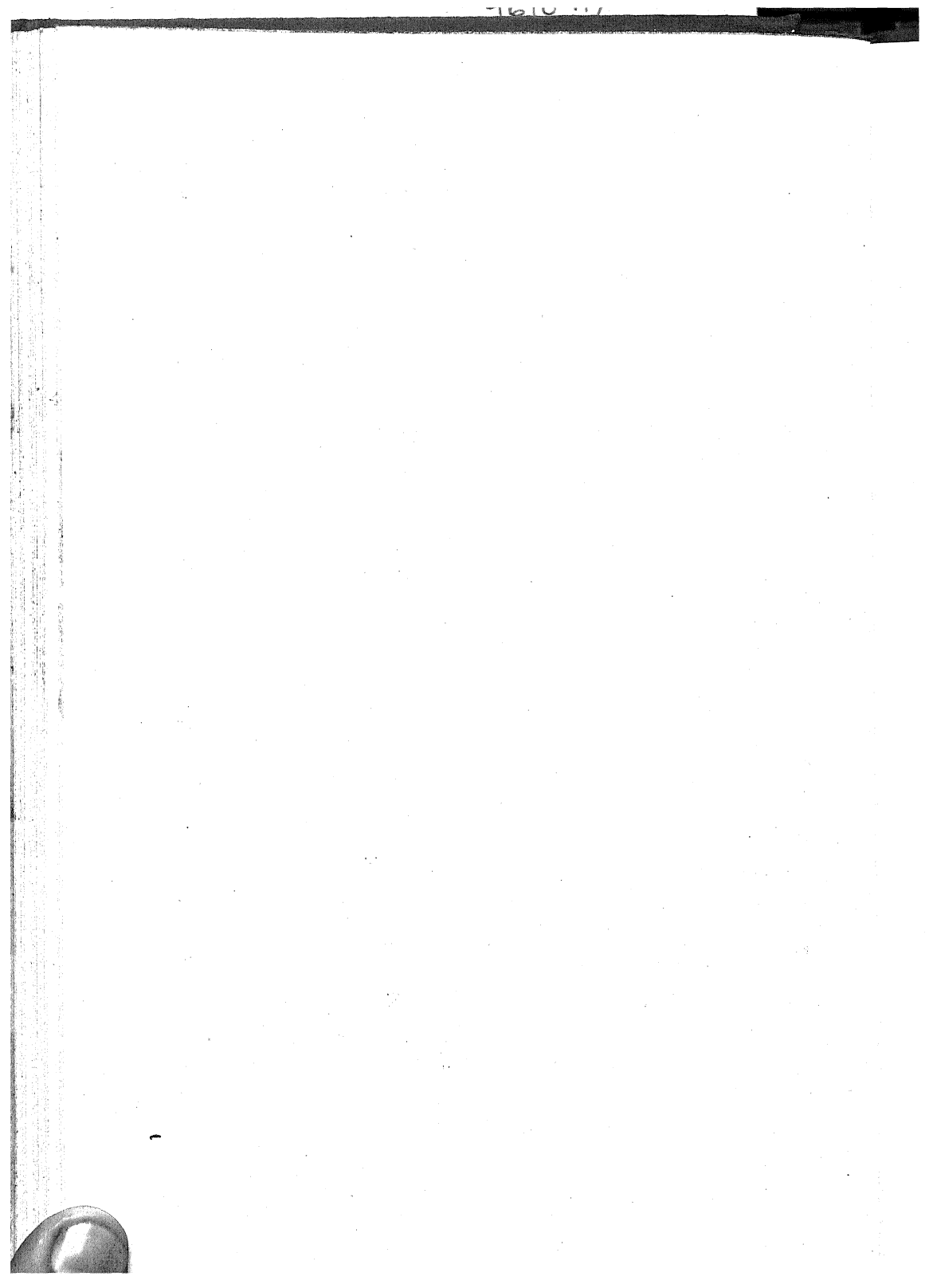
ग्रलग-ग्रलग मार्गों में से कौनसा मार्ग चुना जाये, ग्रौर दूसरा यह सवाल कि लक्ष्य तक कितनी ग्रासानी से पहुंचा जा सकता है, या उस मार्ग पर चलकर लक्ष्य कितना नज़दीक हो जायेगा।

हमने ग्रबसे पहले जो कुछ कहा है उसमें हमने इस ग्राख़िरी सवाल पर विचार नहीं किया है क्योंकि इसपर पार्टी में कोई झगड़ा या मतभेद पैदा नहीं हुग्रा है। परंतु यह तो मानी हुई बात है कि यह प्रश्न स्वतः बहुत महत्वपूर्ण है ग्रौर वह इस योग्य है कि सभी सामाजिक-जनवादी इसकी ग्रोर ग्रत्यधिक गंभीरतापूर्वक ध्यान दें। ग्रांदोलन में केवल मज़दूर वर्ग के ही नहीं बल्कि किसान वर्ग के भी जन-साधारण को खींचकर लाने के काम में जो कठिनाइयां सामने ग्राती हैं उन्हें भुला देना ग्रक्षम्य ग्राशावादिता होगी। ये कठिनाइयां ग्रनेक बार ऐसी चट्टानें सिद्ध हो चुकी हैं जिनसे टकराकर जनवादी क्रांति को पूर्ति तक ले जाने के प्रयास चकनाचूर हो गये हैं; ग्रौर सबसे ग्रधिक विजय ढुलमुल तथा स्वार्थी पूंजीपति वर्ग की हुई, क्योंकि उसने जनता के ख़िलाफ़ राजतंत्र का संरक्षण प्राप्त करके "परिस्थिति का पूरा लाभ उठाया" ग्रौर इसके साथ ही उदारवाद की... या 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' की विचारधारा की "निष्कलंकता को भी सुरक्षित रखा"। परंतु कठिन का ग्रर्थ ग्रसंभव नहीं होता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पक्का विश्वास हो कि जो मार्ग चुना गया है वह सही मार्ग है, ग्रौर यह विश्वास उस क्रांतिकारी शक्ति तथा उस क्रांतिकारी उत्साह को, जो चमत्कार कर सकते हैं, सौ गुना बढ़ा देगा।

कौनसा मार्ग चुना जाये, इस सवाल पर ग्राजकल के सामाजिक-जनवादियों के बीच कितने गहरे मतभेद हैं, यह बात रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव के साथ नये 'ईस्क्रा'-वादियों के काकेशियाई प्रस्ताव की तुलना करने से फ़ौरन समझ में ग्रा सकती है। कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया है: पूंजीपति वर्ग ढुलमुल है, वह ग्रवश्य ही हमें क्रांति के लाभों से वंचित कर देने की कोशिश करेगा इसलिए, मज़दूर साथियो, लड़ाई के लिए ग्रौर ज़ोरदार तैयारियां करो! ग्रपने को सशस्त्र करो, किसान वर्ग को ग्रपनी तरफ़ मिलाग्रो। हम बिना लड़े ग्रपनी क्रांति की उपलब्धियों को स्वार्थी पूंजीपति वर्ग के हवाले नहीं कर देंगे। काकेशिया के नये 'ईस्क्रा'-वादियों का प्रस्ताव कहता है: पूंजीपति वर्ग ढुलमुल है, हो सकता है कि वह क्रांति से मुंह

फेर ले। इसलिए, मज़दूर साथियो, कृपा करके अस्थायी सरकार में शरीक होने की बात न सोचो, क्योंकि यदि तुमने ऐसा किया तो पूंजीपति वर्ग अवश्य ही मुंह फेर लेगा और इसके फलस्वरूप क्रांति की व्यापकता घट जायेगी!

एक पक्ष कहता है: ढुलमुल पूंजीपति वर्ग के विरोध या उसकी निष्क्रियता के बावजूद क्रांति को आगे बढ़ाओ, उसे उसकी चरम अवस्था तक ले जाओ।

दूसरा पक्ष कहता है: स्वतंत्र रूप से क्रांति को पूर्ति की मंज़िल तक ले जाने की बात भी न सोचो, क्योंकि यदि तुमने ऐसा किया तो ढुलमुल पूंजीपति वर्ग उसकी तरफ़ से मुंह फेर लेगा।

क्या ये दोनों मार्ग एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं? क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि इन दोनों कार्यनीतियों की कोई भी बात एक-दूसरे से नहीं मिलती? क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि पहली कार्यनीति क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद की एकमात्र सही नीति है, जबकि दूसरी कार्यनीति वास्तव में शुद्धतः 'ओस्वोबोज्देनिये' की कार्यनीति है।

१३. निष्कर्ष। क्या हम जीतने का साहस कर सकते हैं?

जो लोग रूसी सामाजिक-जनवाद की परिस्थिति की ऊपरी-ऊपरी जानकारी रखते हैं, या जो लोग "अर्थवाद" के दिनों से हमारी पार्टी के अंदरूनी संघर्ष के पूरे इतिहास को जाने बिना ही केवल तमाशबीनों की तरह ही हर बात के बारे में अपनी राय क़ायम करते हैं, वे बहुधा कार्यनीति-संबंधी उन मतभेदों को भी जो अब, विशेष रूप से तीसरी कांग्रेस के बाद से, ठोस रूप धारण कर चुके हैं, यह सीधी-सादी दलील देकर टाल देते हैं कि हर सामाजिक-जनवादी आंदोलन में स्वाभाविक तथा अनिवार्य रूप से ऐसी दो धाराएं होती हैं जिनके बीच समझौता बिल्कुल संभव होता है। वे कहते हैं कि एक पक्ष तो साधारण, चालू, प्रतिदिन के काम पर शिक्षा तथा प्रचार को विकसित करने, शक्तियों को तैयार करने, आंदोलन की जड़ें गहरी करने आदि की आवश्यकता पर विशेष ज़ोर देता है, जबकि दूसरा पक्ष आंदोलन के लड़ाकू, आम राजनीतिक, क्रांतिकारी कामों पर ज़ोर देता है, सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता बताता है

और क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के लिए, अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के लिए नारे देता है। वे कहते हैं इन दोनों में से किसी भी पक्ष को अतिशयोक्ति से काम नहीं लेना चाहिये; अति बुरी होती है, इस मामले में भी और उस मामले में भी (और आम तौर पर दुनिया में हर जगह), आदि, आदि।

सांसारिक (और उद्धरण चिन्हों के भीतर "राजनीतिक") बुद्धि के पिटे-पिटाये स्वतःसिद्ध सत्य, जिनका कि इस प्रकार की दलीलों में निःसंदेह समावेश होता है, बहुधा पार्टी की तात्कालिक तथा तीव्र आवश्यकताओं को समझने की असमर्थता को छुपा लेते हैं। इस समय रूसी सामाजिक-जनवादियों के बीच कार्यनीति के सवाल पर जो मतभेद हैं उन्हीं को ले लीजिये। ज़ाहिर है कि प्रतिदिन के तथा बंधे हुए काम पर विशेष ज़ोर देने से, जैसा कि हम कार्यनीति के बारे में नये 'ईस्क्रा'-वादियों की दलीलों में देखते हैं, स्वतः कोई ख़तरा पैदा नहीं हो सकता था और न ही उससे कार्यनीति-संबंधी नारों के बारे में कोई मतभेद पैदा हो सकता था। परंतु ज्यों ही आप रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रस्तावों की तुलना सम्मेलन के प्रस्तावों के साथ करते हैं तो यह मतभेद ज्वलंत रूप से स्पष्ट हो जाता है।

फिर आख़िर झगड़ा क्या है? झगड़ा यह है कि पहली बात तो यह कि हवाई तौर पर आंदोलन की दो धाराओं की ओर और अति के बुरे होने की ओर संकेत भर कर देना काफ़ी नहीं है। हमें ठोस रूप से यह मालूम होना चाहिये कि किसी समय विशेष पर कोई आंदोलन विशेष किस व्याधि का शिकार है, इस समय पार्टी के सामने वास्तविक राजनीतिक ख़तरा क्या है। दूसरे, हमें यह जानना चाहिये कि अमुक कार्यनीति-संबंधी नारे से—या शायद अमुक नारे के न होने से—किन वास्तविक राजनीतिक शक्तियों को फ़ायदा हो रहा है। नये 'ईस्क्रा'-वादियों की बात सुनकर तो हम इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि सामाजिक-जनवादी पार्टी के सामने आंदोलन तथा प्रचार को, आर्थिक संघर्ष को तथा पूंजीवादी जनवाद की आलोचना को तिलांजलि दे देने का, और सैनिक तैयारियों, सशस्त्र आक्रमणों, सत्ता पर अधिकार करने आदि में ज़रूरत से ज़्यादा लीन हो जाने का ख़तरा है। परंतु वास्तव में पार्टी को बिल्कुल ही दूसरी दिशा से ख़तरा है। जो भी आंदोलन की दशा से ज़रा भी घनिष्ठ रूप से परिचित है, जो भी ध्यानपूर्वक तथा विचारपूर्वक उसकी प्रगति पर नज़र रखता है वह नये 'ईस्क्रा' की आशंकाओं के हास्यास्पद

पहलू को देखे बिना नहीं रह सकता। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का पूरा काम पूरी तरह ऐसे पक्के तथा अपरिवर्तनशील रूपों में ढाला जा चुका है, जिनसे इस बात की बिल्कुल गारंटी हो गयी है कि हमारा ध्यान मुख्यत: शिक्षा तथा प्रचार पर, बिना तैयारी के बुलायी गयी तथा सार्वजनिक सभाओं पर, पर्चे तथा पुस्तिकाएं बांटने पर, आर्थिक संघर्ष में सहायता देने पर और उस संघर्ष के नारों के पक्ष में आवाज़ उठाने पर केंद्रित रहेगा। एक भी पार्टी समिति, एक भी ज़िला समिति, प्रतिनिधियों की एक भी केंद्रीय सभा या एक भी फ़ैक्टरी दल ऐसा नहीं है जिसमें निन्यानबे प्रतिशत ध्यान, शक्ति तथा समय हमेशा और लगातार इन कामों पर न व्यय किया जाता हो, जो काम कि पिछली शताब्दी के अंतिम दशक से दृढ़ रूप से स्थापित हो चुके हैं। केवल वे ही लोग जो आंदोलन से सर्वथा अनभिज्ञ हैं इस बात को नहीं जानते। केवल बहुत ही नादान या कम जानकारी रखनेवाले लोग ही नये 'ईस्क्रा'-वादियों के पुराने पिटे हुए सत्यों को बार-बार इस तरह दोहराने से प्रभावित हो सकते हैं जैसे वे कोई बहुत महत्वपूर्ण बात कह रहे हों।

असलियत यह है कि हमारे बीच केवल यही नहीं कि क्रांति के कामों की तरफ़, आम राजनीतिक नारों और पूरी जन-क्रांति का नेतृत्व करने के सवाल की तरफ़ कोई आवश्यकता से अधिक उत्साह नहीं दिखायी देता बल्कि इसके विपरीत इसी मामले में हमारा **पिछड़ापन** सबसे अधिक ज्वलंत रूप में उभरकर सामने आता है, वही हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी और आंदोलन के लिए असली ख़तरा है, जो, संभव है, व्यवहार में क्रांतिकारी होने के स्तर से गिरकर केवल शब्दों में क्रांतिकारी रह जाये, और कहीं-कहीं तो उसका यह पतन हो भी रहा है। उन अनेक, सैकड़ों संगठनों, दलों और मंडलों में जो पार्टी का काम कर रहे हैं आपको एक भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसने अपनी स्थापना के समय से ही उस प्रकार का प्रतिदिन का काम न किया हो, जिसके बारे में नये 'ईस्क्रा' के तीसमारखां अब इस तरह बात करते हैं जैसे उन्होंने किन्हीं नये सत्यों की खोज की हो। दूसरी तरफ़ आपको ऐसे दल तथा मंडल नगण्य संख्या में मिलेंगे जिन्होंने इस बात को समझ लिया हो कि सशस्त्र विद्रोह के सिलसिले में कौन-कौन काम हमारे सामने आते हैं, जिन्होंने उन कामों को पूरा करना शुरू कर दिया हो, और जिन्होंने ज़ारशाही के ख़िलाफ़ पूरी जन-

क्रांति का नेतृत्व करने की आवश्यकता को, और इस उद्देश्य से कोई दूसरे नारे न देकर कुछ निश्चित प्रगतिशील नारे ही देने की आवश्यकता को महसूस कर लिया हो।

हम अपने प्रगतिशील तथा असली क्रांतिकारी कामों में बेहद पीछे हैं, और बहुत-से मामलों में तो हमें उनका एहसास भी नहीं हुआ है, इस मामले में अपने पिछड़ेपन के कारण हम जहां-तहां क्रांतिकारी पूंजीवादी जनवाद के मज़बूत होने को भी नहीं देख पाये हैं। परंतु नये 'ईस्क्रा' के लेखक घटनाक्रम की तरफ़ से और समय के तक़ाज़ों की तरफ़ से मुंह फ़ेरकर आग्रहपूर्वक यही दोहराते रहते हैं: जो कुछ पुराना है उसको न भूलो! जो कुछ नया है उसके प्रवाह में बह न जाओ! सम्मेलन के सभी महत्वपूर्ण प्रस्तावों का मुख्य नमूना यही है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; जबकि कांग्रेस के प्रस्तावों में आप हमेशा यही बात पढ़ेंगे: जो कुछ पुराना है उसकी पुष्टि करते हुए (और केवल इस कारण कि वह पुराना है और साहित्य में, प्रस्तावों में तथा अनुभवों द्वारा उसे तै किया जा चुका है तथा दर्ज किया जा चुका है, बार-बार उसे चबाते रहने के लिए रुके बिना) हम नया काम सामने रखते हैं, उसकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, नया नारा देते हैं और यह मांग करते हैं कि जो सामाजिक-जनवादी सचमुच क्रांतिकारी हैं वे इस नारे को व्यवहार में पूरा करने के लिए फ़ौरन जुट जायें।

सामाजिक-जनवाद की कार्यनीति की दो धाराओं के प्रश्न के संबंध में परिस्थिति वास्तव में ऐसी ही है। क्रांतिकारी काल ने हमारे सामने नये काम रखे हैं जिन्हें जो बिल्कुल अंधा होगा वही नहीं देख पायेगा। और कुछ सामाजिक-जनवादी ऐसे हैं जो बिना किसी संकोच के इन कामों को स्वीकार करते हैं और उन्हें यह कहकर अपना तात्कालिक लक्ष्य घोषित करते हैं: सशस्त्र विद्रोह में कोई विलम्ब नहीं किया जा सकता, फ़ौरन और पूरा ज़ोर लगाकर उसके लिए अपने आपको तैयार करो, याद रखो कि निर्णायक विजय के लिए यह अनिवार्य है, जनतंत्र का, अस्थायी सरकार का, सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व का नारा दो। परंतु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो पीछे हट जाते हैं, प्रतीक्षा करते रहते हैं, नारे देने के बजाय भूमिकाएं लिखते रहते हैं, जो कुछ पुराना है उसकी पुष्टि करते हुए नये की ओर संकेत करने

के बजाय वे इसी पुराने को बड़ी मेहनत के साथ और विस्तारपूर्वक दोहराते रहते हैं, निर्णायक विजय की परिस्थितियां निर्धारित करने और पूर्ण विजय प्राप्त करने की चेष्टा के अनुकूल एकमात्र नारे देने में असमर्थ रहने के कारण वे जो कुछ नया है उससे कतराने के लिए तरह-तरह के बहाने गढ़ते हैं।

इस पुछल्लावाद का राजनीतिक परिणाम हमारी आंखों के सामने है। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के "बहुमत" और क्रांतिकारी पूंजीवादी जनवाद के बीच सुलह-समझौते की कपोल-कल्पना अभी तक एक कपोल-कल्पना ही बनी हुई है जिसकी पुष्टि एक भी राजनीतिक तथ्य, "बोल्शेविकों" के एक भी महत्वपूर्ण प्रस्ताव, या रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस की एक भी कार्रवाई द्वारा नहीं हुई है। दूसरी ओर अवसरवादी, राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग, जिसका प्रतिनिधित्व 'ओस्वोबोज्देनिये' करता है, बहुत समय से नये 'ईस्क्रा'-वादी "सिद्धांतों" की धाराओं का **स्वागत करता आया है** और अब वह उनके साधनों से अपना उल्लू सीधा कर रहा है, और "गोपनीयता" तथा "उपद्रवों" के ख़िलाफ़, क्रांति के "प्राविधिक" पहलू पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देने के ख़िलाफ़, खुले तौर पर सशस्त्र विद्रोह का नारा देने के ख़िलाफ़, अतिवादी मांगों के "क्रांतिवाद" इत्यादि के ख़िलाफ़ उनके नारों तथा "विचारों" को अंगीकार कर रहा है। काकेशिया में "मेंशेविक" सामाजिक-जनवादियों के एक पूरे प्रस्ताव में और नये 'ईस्क्रा' के सम्पादकों द्वारा इस प्रस्ताव की पुष्टि में इन सब बातों को राजनीतिक दृष्टि से इस तरह सार-रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती: यदि सर्वहारा वर्ग क्रांतिवादी-जनवादी अधिनायकत्व में भाग ले तो कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले! यही है उसका पूरा सार-तत्व। इस बात से सर्वहारा वर्ग को राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग का दुमछल्ला बना देने का काम अंतिम रूप से पूरा हो जाता है। इस बात से नये 'ईस्क्रा' के पुछल्लावाद का **राजनीतिक महत्व** किसी एक व्यक्ति द्वारा लगे-हाथों की गयी घोषणा द्वारा नहीं बल्कि एक पूरी धारा द्वारा विशेष रूप से अनुमोदित प्रस्ताव द्वारा वास्तव में सिद्ध हो जाता है।

जो भी इन तथ्यों पर विचार करेगा वह सामाजिक-जनवादी आंदोलन के दो पक्षों और उसकी दो धाराओं की ओर हर बार किये जानेवाले संकेत

के वास्तविक महत्व को समझ सकेगा। बहुत बड़े पैमाने पर इन धाराओं का अध्ययन करने के लिए बर्न्सटीनवाद को ले लीजिये। बर्न्सटीनवादी ठीक इसी ढंग से दिन-रात हमारे कानों में यही शोर मचाते रहे हैं कि सर्वहारा वर्ग की सच्ची आवश्यकताओं को, उसके विकास से संबंधित कामों को, सारी गतिविधि को अधिक गूढ़ बना देने से संबंधित कामों को, एक नये समाज के तत्वों को तैयार करने से संबंधित कामों को और शिक्षा तथा प्रचार से संबंधित कामों को केवल वे ही समझते हैं। बर्न्सटीन कहते हैं: हम मांग कहते हैं, कि जो कुछ मौजूद है उसे स्वीकार किया जाये, और इस प्रकार वे "अंतिम लक्ष्यों" से **रहित** "आंदोलन" को मान्यता देते हैं, केवल प्रतिरक्षात्मक कार्यनीति को मान्यता देते हैं, और इस भय की कार्यनीति का प्रचार करते हैं कि "कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले"। बर्न्सटीनवादियों ने क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों के "जैकोबिनवाद" के ख़िलाफ़, उन "साहित्यिकों" के ख़िलाफ़ भी शोर मचाया था जो "मज़दूरों की पहलक़दमी" को समझ नहीं पाते इत्यादि। वास्तव में, जैसा कि सभी जानते हैं, क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों ने प्रतिदिन के छोटे-मोटे काम को, शक्तियों को जुटाने आदि के काम को त्यागने की बात कभी सोची भी नहीं है। उन्होंने केवल इस बात की मांग की थी कि अंतिम लक्ष्य को स्पष्ट रूप से समझा जाये, क्रांतिकारी कामों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जाये, वे अर्ध-सर्वहारा तथा अर्ध-निम्न-पूंजीपति स्तरों को सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी स्तर तक उठा लाना चाहते थे न कि इस स्तर को गिराकर इस प्रकार के अवसरवादी विचारों के स्तर पर पहुंचा देना चाहते थे कि "कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले"। पार्टी के बुद्धिजीवी-अवसरवादी पक्ष और सर्वहारा क्रांतिकारी पक्ष के इस झगड़े की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति इस प्रश्न के रूप में हुई: dürfen wir siegen? "क्या हम जीतने का साहस कर सकते हैं?" क्या हमें जीतने की इजाज़त है? क्या जीत हमारे लिए ख़तरनाक नहीं होगी? क्या हमें जीतना चाहिये? परंतु यह प्रश्न, जो पहली बार देखने में इतना विचित्र प्रतीत होता है इसलिए उठाया गया और उसे इसलिए उठाना पड़ा कि अवसरवादी विजय से डरते थे, वे सर्वहारा वर्ग को उससे डराकर भगाये दे रहे थे, वे यह भविष्यवाणी कर रहे थे कि उससे हम मुसीबत में फंस जायेंगे और जिन नारों में सीधे-सीधे इसकी आवाज़ उठायी गयी थी, उनका वे मज़ाक़ उड़ा रहे थे।

बुद्धिजीवी-अवसरवादी और सर्वहारा-क्रांतिकारी धाराओं के बीच यही बुनियादी विभाजन हमारे अंदर भी मौजूद है, परंतु एक बहुत ठोस अंतर यह है कि हमारे सामने समाजवादी क्रांति का नहीं बल्कि जनवादी क्रांति का सवाल है। यह सवाल कि "क्या हम जीतने का साहस कर सकते हैं ?" जो पहली बार देखने में इतना बेतुका मालूम होता है, हमारे बीच भी उठाया गया है। यह सवाल मार्तिनोव ने अपनी 'दो अधिनायकत्व' नामक रचना में उठाया था, जिसमें उन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि यदि हमने विद्रोह की तैयारी अच्छी तरह की और उसे बिल्कुल सफलतापूर्वक पूरा कर लिया तो हम भारी मुसीबत में फंस जायेंगे। यह प्रश्न अस्थायी क्रांतिकारी सरकार से संबंधित नये 'ईस्क्रा' के सारे साहित्य में उठाया गया है और तमाम वक़्त लगातार पूंजीवादी-अवसरवादी सरकार में मिलेरां के शरीक होने को निम्न-पूंजीवादी क्रांतिकारी सरकार में वर्लिन के भाग लेने के समान ठहराने के प्रयत्न किये गय हैं, हालांकि ये प्रयत्न विफल रहे हैं। यह बात एक प्रस्ताव में मूर्त कर दी गयी है: "कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले!" और हालांकि, उदाहरण के लिए, काउत्स्की अब व्यंग करने की कोशिश करते हैं और कहते हैं कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार के बारे में हमारा झगड़ा बिल्कुल वैसा ही है जैसे भालू को मारने से पहले ही उसकी खाल का बंटवारा कर लिया जाये, इस व्यंग से केवल यह सिद्ध होता है कि होशियार और क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी भी जब किसी ऐसी चीज़ के बारे में बात करते हैं जिसकी उन्हें केवल सुनी-सुनायी जानकारी होती है तो वे भी यही ग़लती कर सकते हैं। जर्मन सामाजिक-जनवाद अभी अपने भालू को मारने (समाजवादी क्रांति पूरी करने) के इतना निकट नहीं पहुंचा है, परंतु यह झगड़ा कि क्या हम भालू को मारने का "साहस कर सकते हैं" सिद्धांतों की दृष्टि से और व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से अत्यधिक महत्व रखता था। रूसी सामाजिक-जनवादी अभी तक इतना काफ़ी ताक़तवर होने के कहीं निकट भी नहीं पहुंचे हैं कि वे "अपने भालू को मार सकें" (जनवादी क्रांति कर सकें), परंतु यह सवाल कि क्या हम उसे मारने का "साहस कर सकते हैं" रूस के पूरे भविष्य के लिए और रूसी सामाजिक-जनवाद के भविष्य के लिए बहुत अधिक महत्व रखता है। जब तक हमें यह विश्वास न हो कि हम जीतने का "साहस कर सकते हैं" तब तक सेना को उत्साहपूर्वक

तथा सफलतापूर्वक न तो एकत्रित किया जा सकता है न उसका नेतृत्व किया जा सकता है।

हमारे पुराने "अर्थवादियों" को ले लीजिये। वे भी यही शोर मचाते थे कि उनके विरोधी षड्यंत्रकारी हैं, वे जैकोबिन हैं (देखिये 'राबोचेये देलो', विशेषत: उसका अंक १०, और दूसरी कांग्रेस में कार्यक्रम पर होनेवाली बहस में मार्तिनोव का भाषण), कि राजनीति के मैदान में कूदकर वे अपने आपको जनता से अलग किये ले रहे हैं, कि वे मज़दूर वर्ग के आंदोलन की बुनियादी बातों को आंख से ओझल करते जा रहे हैं, मज़दूरों की पहलक़दमी की उपेक्षा कर रहे हैं, इत्यादि। वास्तव में "मज़दूरों की पहलक़दमी" के ये समर्थक अवसरवादी बुद्धिजीवी थे जो मज़दूरों पर सर्वहारा वर्ग के कामों के बारे में स्वयं अपनी संकुचित तथा कूपमंडूक अवधारणा थोप देना चाहते थे। वास्तव में "अर्थवाद" के विरोधियों ने, जैसा कि हर आदमी पुराने 'ईस्क्रा' में देख सकता है, सामाजिक-जनवादी काम के किसी भी पहलू की न तो उपेक्षा की और न ही उसे पीछे फेंका, और न ही उन्होंने आर्थिक संघर्ष को ज़रा भी भुलाया, परंतु इसके साथ ही वे ज़रूरी तथा तात्कालिक राजनीतिक कामों को उनकी पूरी व्यापकता के साथ प्रस्तुत करने में सफल हुए और उन्होंने मज़दूरों की पार्टी को उदारवादी पूंजीपति वर्ग का एक "आर्थिक" दुमछल्ला बना देने का विरोध किया।

"अर्थवादियों" ने इस बात को कंठस्थ कर रखा था कि राजनीति अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है और उन्होंने इसका मतलब यह "समझा था" कि राजनीतिक संघर्ष को गिराकर आर्थिक संघर्ष के स्तर पर ले आना चाहिये। नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने इस बात को रट रखा है कि जनवादी क्रांति का आर्थिक आधार पूंजीवादी क्रांति है और उन्होंने इसका अर्थ यह "समझा है" कि सर्वहारा वर्ग के जनवादी उद्देश्यों को गिराकर पूंजीवादी मृदुता के स्तर पर ले आना चाहिये, उन सीमाओं के भीतर ले आना चाहिये जिनसे आगे जाने पर "पूंजीपति वर्ग मुंह फेर लेगा"। इस काम को अधिक गूढ़ बनाने के बहाने, मज़दूरों की पहलक़दमी की भावना को प्रोत्साहित करने और शुद्धत: वर्ग-नीति का अनुसरण करने के बहाने "अर्थवादी" वास्तव में मज़दूर वर्ग को उदारवादी-पूंजीवादी राजनीतिज्ञों के हाथों में सौंपे दे रहे थे, अर्थात् वे पार्टी को एक

ऐसे मार्ग पर लिये जा रहे थे जिसका अर्थ वस्तुगत दृष्टि से बिल्कुल यही था। इन्हीं बहानों का सहारा लेकर, नये 'ईस्क्रा'-वादी वास्तव में पूंजीपति वर्ग की ख़ातिर जनवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग के हितों के साथ विश्वासघात कर रहे हैं, अर्थात् वे पार्टी को एक ऐसे रास्ते पर लिये जा रहे हैं जिसका अर्थ वस्तुगत दृष्टि से ठीक यही निकलता है। "अर्थवादी" यह सोचते थे कि राजनीतिक संघर्ष में नेतृत्व सामाजिक-जनवादियों का नहीं बल्कि वास्तव में उदारवादियों का काम है। नये 'ईस्क्रा'-वादी सोचते हैं कि जनवादी क्रांति का सक्रिय रूप से सचालन करना सामाजिक-जनवादियों का नहीं बल्कि वास्तव में जनवादी पूंजीपति वर्ग का काम है, क्योंकि वे यह दलील देते हैं कि यदि सर्वहारा वर्ग ने नेतृत्व किया और प्रमुख रूप से भाग लिया तो उससे क्रांति की "व्यापकता घट" जायेगी।

सारांश यह कि नये 'ईस्क्रा'-वादी "अर्थवाद" की औलाद हैं, दूसरी पार्टी कांग्रेस में उनकी उत्पत्ति की दृष्टि से ही नहीं बल्कि जिस ढंग से वे इस समय जनवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग के कामों को पेश कर रहे हैं उसकी दृष्टि से भी। वे भी पार्टी का एक बुद्धिजीवी-अवसरवादी पक्ष हैं। संगठन के क्षेत्र में उन्होंने बुद्धिजीवियों के अराजकतावादी व्यक्तिवाद को लेकर पदार्पण किया और आख़िर में वे "असंगठन-एक-प्रक्रिया" पर पहुंच गये, उन्होंने सम्मेलन द्वारा स्वीकृत "नियमावली"[48] में यह बात हमेशा के लिए तै कर दी कि पार्टी की प्रकाशन-संबंधी गतिविधियों को पार्टी के संगठन से अलग कर दिया जाये, चुनावों की एक अप्रत्यक्ष तथा प्रायः चार मंज़िलों में पूरी होनेवाली पद्धति जारी की जाये, जनवादी प्रतिनिधित्व के बजाय बोनापार्टवादी मतसंग्रह की पद्धति लागू की जाये, और अंत में उन्होंने अंश तथा पूर्ण के बीच "समझौतों" का सिद्धांत "नियमावली" में शामिल कर दिया। पार्टी की कार्यनीति में वे उसी ढलान पर नीचे की तरफ़ फिसलते गये। "ज़ेम्सत्वो की मुहिम की योजना" में उन्होंने घोषणा की कि ज़ेम्सत्सोवादियों के सामने किये जानेवाले भाषण "उच्चतम कोटि के प्रदर्शन" हैं, और उन्हें राजनीतिक रंगमंच पर (९ जनवरी से फ़ौरन पहले!) केवल दो शक्तियां दिखायी दीं – सरकार और पूंजीवादी जनवाद। उन्होंने हथियार उठा लेने का सीधा-सीधा तथा व्यावहारिक नारा देने के बजाय यह नारा देकर कि जनता में अपने आपको सशस्त्र करने की

तीव्र इच्छा पैदा कर दो, सशस्त्रीकरण की ज़रूरी समस्या को "और भी गढ़" बना दिया। अब उन्होंने अपने सरकारी प्रस्तावों में सशस्त्र विद्रोह, अस्थायी सरकार की स्थापना और क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व से संबंधित कामों को विकृत रूप दे दिया है और उनकी धार कुंद कर दी है। "कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले"—उनके आख़िरी प्रस्ताव की यह टेक इस प्रश्न पर भरपूर प्रकाश डालती है कि उनका मार्ग पार्टी को कहां लिये जा रहा है।

अपने सामाजिक तथा आर्थिक सार के कारण रूस की जनवादी क्रांति एक पूंजीवादी क्रांति है। परंतु इसी सही मार्क्सीय प्रस्तावना को केवल दोहरा देना ही काफ़ी नहीं है। इसे ठीक तरह से समझा जाना चाहिये और ठीक तरह से राजनीतिक नारों में लागू किया जाना चाहिये। आम तौर पर वे सभी राजनीतिक स्वतंत्रताएं, जो उत्पादन के वर्तमान, अर्थात् पूंजीवादी, संबंधों पर आधारित हैं, पूंजीवादी स्वतंत्रताएं हैं। स्वाधीनता की मांग मुख्यतः पूंजीपति वर्ग के हितों को व्यक्त करती है। उसी के प्रतिनिधियों ने पहले-पहल यह मांग उठायी थी। उसके समर्थकों ने जो स्वाधीनता हासिल की उसका उपयोग हर जगह उन्होंने मालिकों की तरह किया है, उसे बहुत छोटी-छोटी तथा नपी-तुली पूंजीवादी खुराकों में बांटा है, और उसके साथ ही शांति के समय में क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग को कुचलने के बहुत ही छुपे-ढके तरीक़े और तूफ़ानी दौर में बहुत ही पाशविक तथा क्रूर तरीक़े इस्तेमाल किये हैं।

परंतु इस बात से केवल विद्रोही नरोदनिक, अराजकतावादी और "अर्थवादी" ही यह निष्कर्ष निकाल सकते थे कि स्वाधीनता के लिए संघर्ष नहीं चलाया जाना चाहिये या उसे बहुत अधिक महत्व न दिया जाना चाहिये। ये बुद्धिजीवी-कूपमंडूक मत केवल कुछ समय के लिए ही और उसकी इच्छा के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग पर थोपे जा सकते थे। सर्वहारा वर्ग स्वभावतः हमेशा से इस बात को महसूस करता था कि उसे राजनीतिक स्वाधीनता की ज़रूरत है, औरों से ज़्यादा ज़रूरत है, इस बात के बावजूद ज़रूरत है कि उसका तात्कालिक परिणाम यही होगा कि पूंजीपति वर्ग मज़बूत और संगठित होगा। सर्वहारा वर्ग वर्ग-संघर्ष से कतराकर नहीं बल्कि उसे विकसित करके, उसे व्यापक बनाकर, उसकी चेतना को, उसके संगठन तथा संकल्प को बढ़ाकर अपनी मुक्ति प्राप्त करने की आशा करता है। जो भी राजनीतिक संघर्ष के कामों के महत्व को घटाता

है वह सामाजिक-जनवादी को जनता के प्रवक्ता के स्तर से गिराकर ट्रेड-यूनियन का सेक्रेटरी बना देता है। जो भी जनवादी पूंजीवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग के कामों के महत्व को घटाता है वह सामाजिक-जनवादी को जनता की क्रांति के नेता के पद से गिराकर एक स्वतंत्र मज़दूर यूनियन के नेता के पद पर पहुंचा देता है।

जी हां, **जनता की** क्रांति। सामाजिक-जनवाद "जनता" शब्द के पूंजीवादी-जनवादी दुरुपयोग के ख़िलाफ़ लड़ा है और इस समय भी बिल्कुल ठीक ही लड़ रहा है। वह मांग करता है कि इस शब्द का प्रयोग जनता के बीच पाये जानेवाले वर्ग-विरोधों को समझने की असमर्थता को छुपाने के लिए नहीं किया जायेगा। वह बिना किसी लाग-लपेट के सर्वहारा वर्ग की पार्टी के लिए पूर्ण वर्ग-स्वतंत्रता की आवश्यकता पर आग्रह करता है। परंतु वह "जनता" को "वर्गों" में विभाजित करता है, इस उद्देश्य से नहीं कि आगे बढ़ा हुआ वर्ग अपने ही घिरौंदे में बंद होकर रह जाये, अपने आपको संकुचित उद्देश्यों के भीतर सीमित कर ले और इस भय से अपनी गतिविधियों को काट-छांट दे कि कहीं संसार के आर्थिक शासक मुंह न फेर लें बल्कि इस उद्देश्य से कि आगे बढ़ा हुआ वर्ग, जो बीच के वर्गों की अर्धमनस्कता, ढुलमुलपन तथा अनिश्चय का शिकार नहीं होता, अधिक शक्ति तथा उत्साह के साथ पूरी जनता के ध्येय के लिए, पूरी जनता का नेतृत्व करते हुए लड़ सके।

इसी बात को आजकल के नये 'ईस्क्रा'-वादी बहुधा समझ नहीं पाते और यही कारण है कि वे जनवादी क्रांति में सक्रिय राजनीतिक नारों के स्थान पर खोखले पांडित्य के ढंग से केवल "वर्ग" शब्द को उसके सभी लिंगों तथा उसके सभी कारकों की व्याख्या करके दोहराते रहते हैं!

जनवादी क्रांति पूंजीवादी क्रांति है। आम बंटवारे या "भूमि और स्वाधीनता" का नारा—उस किसान जनता का यह सबसे व्यापक नारा, जो कुचली हुई और जाहिल होते हुए भी बड़ी व्यग्रता के साथ प्रकाश तथा सुख के लिए लालायित है—एक पूंजीवादी नारा है। परंतु हम मार्क्सवादियों को इस बात को जानना चाहिये कि सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग की वास्तविक स्वतंत्रता के लिए पूंजीवादी स्वतंत्रता तथा पूंजीवादी प्रगति के रास्ते को छोड़कर न तो कोई दूसरा रास्ता है और न हो सकता है। हमें इस बात को नहीं भूलना

चाहिये कि इस समय समाजवाद को निकटतर लाने का पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के अलावा, जनवादी जनतंत्र के अलावा, सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के अलावा न तो कोई दूसरा साधन है और न हो सकता है। आगे बढ़े हुए और एकमात्र क्रांतिकारी वर्ग के, उस वर्ग के जो बिना किसी संकोच या शंका के क्रांतिकारी है और जो कभी पीछे मुड़कर नहीं देखता, प्रतिनिधियों की हैसियत से हमें यथासंभव अधिक से अधिक व्यापक रूप में, अधिक से अधिक साहस के साथ तथा अधिक से अधिक पहलक़दमी दिखाते हुए जनवादी क्रांति के कामों को सारी जनता के सामने रखना चाहिये। सिद्धांत में इन कामों के महत्व को गिराना मार्क्सवाद को एक ढोंग बना देना है, उसे कूपमंडूक ढंग से विकृत करना है, जबकि व्यावहारिक राजनीति में इसका अर्थ क्रांति के ध्येय को पूंजीपति वर्ग के हाथों में सौंप देना है, जो अनिवार्य रूप से क्रांति को सुसंगत रूप से पूरा करने के काम से मुंह फेर लेगा। क्रांति की पूर्ण विजय के रास्ते में जो कठिनाइयां सामने आयेंगी वे बहुत बड़ी हैं। यदि अपनी शक्ति भर सब कुछ करने के बाद भी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरोध, पूंजीपति वर्ग के विश्वासघात और जन-साधारण के अज्ञान के कारण सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधियों के प्रयास विफल हो जाते हैं तो कोई भी इसका दोष उन्हें नहीं दे सकता। परंतु यदि सामाजिक-जनवाद इसलिए कि वह जीतने से डरता है, इसलिए कि उसे इस बात का ध्यान रखना है कि कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले, इसलिए कि वह जनवादी विद्रोह की क्रांतिकारी शक्ति को कम करता है और क्रांतिकारी जोश को ठंडा करता है तो सभी लोग, और सबसे बढ़कर वर्ग-चेतन सर्वहारा वर्ग, उसकी निंदा करेंगे।

मार्क्स ने कहा था कि क्रांतियां इतिहास के इंजन होती हैं[49]। क्रांतियां उत्पीड़ितों तथा शोषितों के उत्सव होती हैं। जन-साधारण और किसी भी समय इतने सक्रिय रूप से एक नयी समाज-व्यवस्था के रचयिताओं के रूप में सामने आने की स्थिति में नहीं होते जितना कि क्रांति के समय। ऐसे मौक़ों पर जनता, यदि क्रमिक विकास के संकुचित तथा कूपमंडूक पैमाने से नापा जाये, चमत्कार कर सकती है। परंतु ऐसे मौक़े पर क्रांतिकारी पार्टियों के नेताओं को भी अपने उद्देश्य अधिक विशद तथा साहसपूर्ण बनाने चाहिये ताकि उनके नारे हमेशा जन-साधारण की क्रांतिकारी पहलक़दमी से आगे रहें, वे प्रकाश-स्तंभ का काम करें,

हमारे जनवादी तथा समाजवादी आदर्श को पूरी विशालता तथा भव्यता के साथ उनके सामने प्रस्तुत करें और उन्हें दिखायें कि पूर्ण, परम तथा निर्णायक विजय के लिए सबसे छोटा तथा सबसे सीधा रास्ता कौनसा है। क्रांति तथा सीधे मार्ग के भय के कारण समझौते के चक्करदार तथा टेढ़े रास्ते मालूम करने का काम हम 'ओस्वोबोज्देनिये'-वादी पूंजीपति वर्ग के अवसरवादियों पर छोड़ दें। यदि हमें ज़बर्दस्ती इन रास्तों पर घिसटने पर मजबूर कर दिया गया तो हम अपना कर्तव्य छोटे-मोटे प्रतिदिन के काम में भी निभा सकेंगे। परंतु पहले निर्मम संघर्ष द्वारा इस बात का फ़ैसला तो हो जाये कि कौनसा मार्ग चुना जाता है। यदि हमने जन-साधारण की इस शक्ति को, जैसी कि उत्सव के समय ही देखने में आती है, और उनके क्रांतिकारी उत्साह को सीधे और निर्णायक मार्ग के लिए निर्मम तथा आत्म-बलिदानपूर्ण संघर्ष चलाने के लिए इस्तेमाल न किया तो हम क्रांति के ग़द्दार होंगे, उसके साथ विश्वासघात करेंगे। पूंजीवादी अवसरवादियों को भावी प्रतिक्रिया पर कायरों की तरह भयभीत होकर विचार करने दो। मज़दूर न तो इस विचार से भयभीत होंगे कि प्रतिक्रिया बहुत भयानक रूप धारण करनेवाली है और न इस विचार से कि पूंजीपति वर्ग मुंह फेर लेने का इरादा रखता है। मज़दूर सौदा करने की आस नहीं लगाये हैं और न ही वे ख़ैरात मांग रहे हैं, वे बिना कोई दया दिखाये प्रतिक्रियावादी शक्तियों को कुचल देने की, अर्थात् **सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व** स्थापित करने की, चेष्टा कर रहे हैं।

ज़ाहिर है कि उदारवादी प्रगति की निर्विघ्न "यात्रा" के कालों की अपेक्षा, जिसका मतलब होता है कि मज़दूर वर्ग के शोषक बहुत कष्टमय ढंग से धीरे-धीरे उसे निचोड़ लें, तूफ़ानी ज़मानों में हमारी पार्टी के जहाज़ के लिए अधिक बड़े-बड़े ख़तरे पैदा हो जाते हैं। ज़ाहिर है कि क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के काम "उग्रतम विरोध-पक्ष" के या शुद्धतः संसदीय संघर्ष के कामों की अपेक्षा हज़ार गुना अधिक कठिन तथा अधिक पेचीदा होते हैं। परंतु जो भी वर्तमान क्रांतिकारी स्थिति में जान-बूझकर निर्विघ्न यात्रा या सुरक्षित "विरोध" का मार्ग पसंद कर सकता है, उसके लिए यही बेहतर है कि वह कुछ समय के लिए सामाजिक-जनवादी काम छोड़ दे, उसके लिए बेहतर है कि वह उस समय की प्रतीक्षा करे जब कि क्रांति पूरी हो जायेगी, जबकि उत्सव

के दिन बीत जायेंगे, जबकि ज़िंदगी फिर रोज़मर्रा के पिटे हुए ढर्रे पर चलने लगेगी और उसके संकुचित बंधे-बंधाये मानदंड इतने असह्य रूप में कर्कश न प्रतीत होंगे, या आगे बढ़े हुए वर्ग के कामों का इतना विकृत रूप नहीं मालूम होंगे।

सारी जनता की, और विशेष रूप से किसान वर्ग की अगुआई करते हुए – पूर्ण स्वतंत्रता के लिए, सुसंगत जनवादी क्रांति के लिए, जनतंत्र के लिए! समस्त श्रमिकों तथा शोषितों की अगुआई करते हुए – समाजवाद के लिए! व्यवहार में क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग की नीति ऐसी ही होनी चाहिये, यह है वह वर्गीय नारा जो हर कार्यनीति-संबंधी समस्या और क्रांति के दौरान में मज़दूरों की पार्टी के हर व्यावहारिक क़दम के हल में कूट कूटकर भरा होना चाहिये और इसी नारे के अनुसार वह हल निर्धारित होना चाहिये।

उपसंहार

एक बार फिर 'ग्रोस्वोबोज्देनिये'-वाद, एक बार फिर नया 'ईस्क्रा'-वाद

ग्रपनी पुस्तिका के ८वें ग्रध्याय में हमने जिस प्रश्न पर विचार किया था उसके बारे में 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' के ग्रंक ७१-७२ में तथा 'ईस्क्रा' के ग्रंक १०२-१०३ में विपुल परिमाण में नयी सामग्री मिलती है। चूंकि यहां पर इस पूरी विपुल सामग्री का उपयोग करना ग्रसंभव है, इसलिए हम ग्रपने को केवल सबसे महत्वपूर्ण बातों तक ही सीमित रखेंगे: पहली तो यह बात कि 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' सामाजिक-जनवाद में किस प्रकार के "यथार्थवाद" की प्रशंसा करता है ग्रौर वह किस कारण उसकी प्रशंसा करता है, दूसरी यह बात कि क्रांति तथा ग्रधिनायकत्व की ग्रवधारणाग्रों के बीच ग्रापस में क्या संबंध है।

१. पूंजीवादी उदारवादी यथार्थवादी किस बात के लिए सामाजिक-जनवादी "यथार्थवादियों" की प्रशंसा करते हैं?

'रूसी सामाजिक-जनवाद में फूट' ग्रौर 'सामान्य बुद्धि की विजय' शीर्षक लेखों में ('ग्रोस्वोबोज्देनिये', ग्रंक ७२) सामाजिक-जनवाद के बारे में उदारवादी पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों की राय बतायी गयी है, ग्रौर यह राय ऐसी है जो वर्ग-चेतन सर्वहारागण के लिए उल्लेखनीय महत्व रखती है। हम हर सामाजिक-जनवादी से इन लेखों को शुरू से ग्राख़िर तक पढ़ने ग्रौर उनके एक-एक वाक्य पर **विचार करने** की सिफ़ारिश करने का काम बहुत

ज़रूरी नहीं समझते। सबसे पहले तो हम इन दोनों लेखों में दी गयी सबसे महत्वपूर्ण प्रस्थापनाओं को उद्धृत करेंगे।

'ओस्वोबोज्देनिये' लिखता है, "बाहर से देखनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए उन मतभेदों के असली राजनीतिक अर्थ को समझना काफ़ी कठिन है जिनके कारण सामाजिक-जनवादी पार्टी दो गुटों में बंट गयी है। 'बहुमत' वाले गुट की परिभाषा इस रूप में करना कि वह अधिक आमूलवादी तथा अधिक अडिग है, और उसके बरख़िलाफ़ 'अल्पमत' की परिभाषा यह करना कि वह ध्येय के हित में कुछ समझौतों की गुंजाइश रखता है, बिल्कुल सही नहीं होगा, और बहरहाल उससे उनके पूरे चरित्र का चित्रण नहीं होगा। कुछ भी हो, अल्पमत वाला गुट मार्क्सवादी कट्टरपंथ की परम्परागत रूढ़ियों का पालन शायद लेनिन के गुट से भी ज़्यादा उत्साह के साथ करता है। हमारी राय में उनकी निम्नलिखित व्याख्या अधिक सही होगी। 'बहुमत' की बुनियादी राजनीतिक मनोवृत्ति अमूर्त क्रांतिवाद की ओर है, वह विद्रोह की ख़ातिर विद्रोह चाहता है, वह हर संभव उपाय से जन-साधारण के बीच विद्रोह की आग भड़काना चाहता है और उनके नाम पर फ़ौरन सत्ता पर अधिकार कर लेने को उत्सुक है; कुछ हद तक यह बात 'लेनिनवादियों' को समाजवादी-क्रांतिकारियों के अधिक निकट ले आती है और इसके कारण उनके दिमाग़ में सारी जनता को अपनी लपेट में ले लेनेवाली रूसी क्रांति का विचार वर्ग-संघर्ष के विचार पर हावी हो जाता है; 'लेनिनवादी' व्यवहार में सामाजिक-जनवादी मत की बहुत-कुछ संकीर्णता को तो तिलांजलि देते हैं पर दूसरी ओर उनमें क्रांतिवाद की संकीर्णता कूट-कूटकर भरी हुई है, वे तत्काल विद्रोह की तैयारी के अतिरिक्त और सभी व्यावहारिक काम का परित्याग करते हैं, वे सिद्धांततः क़ानूनी तथा ग़ैर-क़ानूनी प्रचार के सभी रूपों का और अन्य विरोधात्मक प्रवृत्तियों के साथ व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी हर प्रकार के समझौते की उपेक्षा करते हैं। इसके विपरीत अल्पमत मार्क्सवादी मत पर दृढ़ रूप से अटल रहकर उसके साथ ही मार्क्सीय विश्व दृष्टिकोण के यथार्थवादी तत्वों को भी सुरक्षित रखता है। इस गुट का बुनियादी विचार पूंजीपति वर्ग के हितों की टक्कर

पर 'सर्वहारा वर्ग' के हितों को रखना है। परंतु दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की कल्पना – ज़ाहिर हैं सामाजिक-जनवाद के अटल सिद्धांतों द्वारा निर्धारित कुछ सीमाओं के भीतर – इस संघर्ष की सभी ठोस परिस्थितियों तथा उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से महसूस करते हुए यथार्थवादी ढंग से काफ़ी संजीदा ढंग से की गयी है। इन दोनों गुटों में से कोई भी अपने बुनियादी दृष्टिकोण का सुसंगत रूप से पालन नहीं करता क्योंकि अपनी सैद्धांतिक तथा राजनीतिक गतिविधियों में वे सामाजिक-जनवादी नियमावली के कड़े सूत्रों से बंधे हुए हैं, जिनके कारण 'लेनिनवादी' कम से कम कुछ समाजवादी-क्रांतिकारियों जैसे अटल विद्रोही नहीं बन पाते, और 'ईस्क्रा'-वादी मज़दूर वर्ग के वास्तविक राजनीतिक आंदोलन के व्यावहारिक नेता नहीं बन पाते।"

और सबसे महत्वपूर्ण प्रस्तावों में कही गयी बातों को उद्धृत करने के बाद, 'ओस्वोबोज्देनिये' का लेखक उनके बारे में कुछ ठोस टिप्पणियों द्वारा अपने आम "विचारों" की व्याख्या करता है। वह कहता है कि तीसरी कांग्रेस की तुलना में "अल्पमत का सम्मेलन सशस्त्र विद्रोह की तरफ़ बिल्कुल ही दूसरा रवैया अपनाता है"। "सशस्त्र विद्रोह के प्रसंग में" अस्थायी सरकार से संबंधित इनके अलग-अलग प्रस्तावों में मतभेद है। "इसी प्रकार का मतभेद मज़दूरों की ट्रेड-यूनियनों के संबंध में दिखायी देता है। 'लेनिनवादी' अपने प्रस्ताव में मज़दूर वर्ग की राजनीतिक शिक्षा तथा संगठन के इस सबसे महत्वपूर्ण आधार-बिंदु के बारे में एक शब्द भी नहीं कहते। इसके विपरीत अल्पमत ने बहुत ही सारगर्भित प्रस्ताव तैयार किया।" वह कहता है कि उदारवादियों के बारे में इन दोनों गुटों में मतैक्य है परंतु तीसरी कांग्रेस ने "उदारवादियों की तरफ़ रवैये के बारे में दूसरी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्लेख़ानोव के प्रस्ताव को लगभग शब्दशः दोहराया है और उसी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत स्तारोवेर के प्रस्ताव को ठुकरा दिया है जिसमें उदारवादियों की ओर इतना सख़्त रवैया नहीं अपनाया गया था"। यद्यपि किसानों के आंदोलन के बारे में कांग्रेस तथा सम्मेलन के प्रस्ताव कुल मिलाकर बिल्कुल एक जैसे ही हैं, "पर 'बहुमत' ज़मींदारों की जागीरों तथा दूसरी ज़मीनों को क्रांतिकारी

ढंग से ज़ब्त कर लेने के विचार पर अधिक ज़ोर देता है, जबकि 'अल्पमत' जनवादी राज्य और प्रशासन-संबंधी सुधारों की मांग को अपने प्रचार का आधार बनाना चाहता है।"

अंत में, 'ओस्वोबोज्देनिये' 'ईस्क्रा' के १००वें अंक से एक मेंशेविक प्रस्ताव उद्धृत करता है जिसकी मुख्य धारा इस प्रकार है: "इस बात को देखते हुए कि इस समय केवल गुप्त काम ही से जन-साधारण काफ़ी हद तक पार्टी के जीवन में भाग नहीं ले सकते और इसके फलस्वरूप कुछ हद तक यह भी होता है कि जन-साधारण और एक ग़ैर-क़ानूनी संगठन के रूप में पार्टी के बीच एक विरोध-सा पैदा हो जाता है, इसलिए पार्टी को मज़दूरों के ट्रेड-यूनियन संघर्ष का नेतृत्व क़ानूनी ढंग से अपने हाथ में ले लेना चाहिये, और बड़ी सख़्ती के साथ इस संघर्ष का संबंध सामाजिक-जनवादी कामों के साथ स्थापित करना चाहिये।" इस प्रस्ताव की टीका करते हुए 'ओस्वोबोज्देनिये' ख़ुश होकर कहता है: "हम इस प्रस्ताव का हार्दिक स्वागत करते हैं क्योंकि वह सामान्य बुद्धि की विजय है, क्योंकि वह इस बात का प्रमाण है कि सामाजिक-जनवादी पार्टी का एक निश्चित हिस्सा कार्यनीति के संबंध में समझदारी का परिचय देने लगा है।"

अब पाठक के सामने 'ओस्वोबोज्देनिये' की सारी बुनियादी रायें हैं। ज़ाहिर है इन रायों को इस अर्थ में सही समझ लेना कि वे वस्तुगत सत्य के अनुकूल हैं, बहुत बड़ी भूल होगी। हर सामाजिक-जनवादी बड़ी आसानी से हर क़दम पर उनमें ग़लतियां पकड़ लेगा। इस बात को भूल जाना नादानी होगी कि इन रायों में उदारवादी पूंजीपति वर्ग के हित तथा दृष्टिकोण कूट-कूटकर भरे हुए हैं और इसी लिए वे सर्वथा पक्षपातपूर्ण तथा एकतरफ़ा हैं। वे सामाजिक-जनवादियों के विचारों को उसी प्रकार प्रतिबिम्बित करती हैं जिस तरह चीज़ों का प्रतिबिम्ब गोलाईदार आइनों में दिखायी देता है। परंतु इस बात को भूल जाना और भी बड़ी ग़लती होगी कि ये पूंजीवादी विकृत रायें पूंजीपति वर्ग के वास्तविक हितों को प्रतिबिम्बित करती हैं, जो निःसंदेह एक वर्ग की हैसियत से इस बात को सही-सही समझता है कि सामाजिक-जनवाद की कौनसी

धाराएं उसके लिए हितकर, उसके निकट, उससे मिलती-जुलती तथा उसके लिए रुचिकर हैं और कौनसी धाराएं उसके लिए हानिकारक, दूर की, बेमेल तथा उसकी विरोधी हैं। पूंजीवादी दार्शनिक या पूंजीवादी प्रचारक कभी भी सामाजिक-जनवाद को, न मेंशेविक सामाजिक-जनवाद को और न बोल्शेविक सामाजिक-जनवाद को, ठीक से नहीं समझ सकता है। परंतु यदि वह समझदार प्रचारक है तो उसका सहज वर्ग-स्वभाव उसे धोखा नहीं देगा और वह पूंजीपति वर्ग के लिए सामाजिक-जनवादी आंदोलन की विभिन्न धाराओं के महत्व को हमेशा कुल मिलाकर सही-सही समझ लेगा, हालांकि यह हो सकता है कि वह उसे तोड़-मरोड़कर पेश करे। यही कारण है कि हमारे शत्रु का सहज वर्ग-स्वभाव, उसका वर्ग-मत हमेशा इस योग्य होता है कि हर वर्ग-चेतन सर्वहारा अत्यधिक गंभीरतापूर्वक उसपर ध्यान दे।

तो फिर रूसी पूंजीपति वर्ग का सहज वर्ग-स्वभाव जिस रूप में 'ओस्वोबोज्देनिये' में व्यक्त होता है उससे क्या पता चलता है?

वह बिल्कुल निश्चित रूप से उस धारा पर संतोष प्रकट करता है जिसका प्रतिनिधित्व नया 'ईस्क्रा' करता है, उसकी यथार्थवादिता, संजीदगी, सामान्य बुद्धि की विजय, उसके प्रस्तावों की गम्भीरता, कार्यनीति के संबंध में उसका समझदारी से काम लेना शुरू कर देने, उसकी व्यावहारिकता आदि के लिए उसकी प्रशंसा करता है—और वह तीसरी कांग्रेस वाली धारा पर असंतोष प्रकट करता है, उसकी संकीर्णता, उसके क्रांतिवाद, उसकी विद्रोही भावना, उसके द्वारा व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी समझौतों के परित्याग आदि के लिए उसकी निंदा करता है। पूंजीपति वर्ग का सहज वर्ग-स्वभाव उसे ठीक वही बात सुझाता है जो हमारे साहित्य में अत्यंत सुनिश्चित तथ्यों द्वारा बार-बार सिद्ध की जा चुकी है, अर्थात् यह कि नये 'ईस्क्रा'-वादी अवसरवादी हैं और उनका विरोधी है वर्तमान रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन का क्रांतिकारी पक्ष। उदारवादियों के लिए इनमें से पहलेवाली धारा के साथ सहानुभूति रखना और बाद वाली धारा की भर्त्सना करना अनिवार्य है। पूंजीपति वर्ग के सिद्धांतवेत्ता होने के नाते उदारवादी इस बात को भली भांति समझते हैं कि पूंजीपति वर्ग को मज़दूर वर्ग की "व्यावहारिकता, संजीदगी तथा गंभीरता" से क्या फ़ायदे हैं, अर्थात् इस बात से कि मज़दूर वर्ग अपने कार्य-क्षेत्र को पूंजीवाद, सुधारों, ट्रेड-यूनियन

संघर्ष आदि की सीमाओं के भीतर ही रखे। सर्वहारा वर्ग की "क्रांतिकारी संकीर्णता" और अपने वर्ग-उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए रूसी जन-क्रांति में नेतृत्व प्राप्त करने की उसकी कोशिश पूंजीपति वर्ग के लिए ख़तरनाक तथा भयंकर है।

और बातों के अतिरिक्त इससे पहले 'ओस्वोबोज्देनिये' तथा श्री स्त्रूवे ने जिस ढंग से "यथार्थवाद" शब्द का प्रयोग किया था उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'ओस्वोबोज्देनिये' ने इस शब्द का प्रयोग किस वास्तविक अर्थ में किया है। स्वयं 'ईस्क्रा' को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि 'ओस्वोबोज्देनिये' के "यथार्थवाद" का **यही** अर्थ है। उदाहरण के लिए, 'ईस्क्रा' के अंक ७३-७४ के क्रोड़पत्र के 'समय आ गया है!' शीर्षक लेख को ले लीजिये। इस लेख के लेखक ने (जिन्होंने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में "दलदल" के दृष्टिकोण को बड़े सुसंगत ढंग से पेश किया था) खुलकर यह मत व्यक्त किया कि "कांग्रेस में अकीमोव ने अवसरवाद के सच्चे प्रतिनिधि के बजाय उसकी प्रेतात्मा की भूमिका अदा की"। और 'ईस्क्रा' के सम्पादकों को एक टिप्पणी में निम्नलिखित बात कहकर 'समय आ गया है!' शीर्षक लेख के लेखक की बात में फ़ौरन सुधार करना पड़ा:

> "हम इस राय से सहमत नहीं हो सकते। कार्यक्रम के बारे में कामरेड अकीमोव के विचारों पर अवसरवाद की स्पष्ट छाप है, जिस बात को 'ओस्वोबोज्देनिये' के आलोचक तक ने स्वीकार किया है, जिसने —इस अख़बार के अभी हाल ही के एक अंक में—यह कहा कि कामरेड अकीमोव 'यथार्थवादी'—इसे पढ़िये: संशोधनवादी—प्रवृत्ति के समर्थक हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ईस्क्रा' स्वयं इस बात से भली भांति परिचित है कि 'ओस्वोबोज्देनिये' का "यथार्थवाद" महज़ अवसरवाद है और कुछ नहीं। यदि "उदारवादी यथार्थवाद" पर प्रहार करते समय ('ईस्क्रा', अंक १०२) अब 'ईस्क्रा' इस बात के बारे में कुछ भी नहीं कहता कि उसके यथार्थवाद के लिए किस प्रकार **उदारवादियों ने उसकी प्रशंसा की थी**, तो इस बात का कारण यह है कि इस प्रशंसा को स्वीकार करना किसी भी निंदा को बर्दाश्त करने की अपेक्षा अधिक कठिन है। इस प्रकार की प्रशंसा से (जो

'ओस्वोबोज्देनिये' ने न संयोगवश की है और न पहली बार की है) वास्तव में उदारवादी यथार्थवाद और सामाजिक-जनवादी "यथार्थवाद" (इसे पढ़िये: अवसरवाद) की उन प्रवृत्तियों का घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है जो उनकी पूरी कार्यनीति के भ्रांत स्वरूप के कारण नये 'ईस्क्रा'-वादियों के हर प्रस्ताव में पायी जाती हैं।

सचमुच, रूसी पूंजीपति वर्ग ने "जन" क्रांति में अपने ढुलमुलपन और अपने अहंकार को पूरी तरह प्रकट कर दिया है – उसने इन बातों को श्री स्त्रूवे के तर्कों में, अनेक उदारवादी अख़बारों में कही गयी बातों तथा उन बातों के लहजे द्वारा और अधिकांश ज़ेम्सत्वो-वादियों, अधिकांश बुद्धिजीवियों और आम तौर पर सर्वश्री त्रुबेत्सकोइ, पेत्रुंकेविच, रोदीचेव तथा उनकी मंडली के राजनीतिक कथनों के स्वरूप द्वारा प्रकट कर दिया है। ज़ाहिर है, पूंजीपति वर्ग हमेशा इस बात को साफ़-साफ़ नहीं समझ पाता परंतु आम तौर पर और कुल मिलाकर वह अपने सहज वर्ग-स्वभाव द्वारा इस बात को भली भांति समझ लेता है कि एक ओर तो सर्वहारा वर्ग तथा "जनता" तोपों के ईंधन के रूप में, एकतंत्र के ख़िलाफ़ क़ुरबानी के बकरे के रूप में **उसकी** क्रांति के लिए उपयोगी हैं, लेकिन दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग और क्रांतिकारी किसान वर्ग उसके लिए बहुत ख़तरनाक सिद्ध होंगे यदि उन्होंने "ज़ारशाही पर निर्णायक विजय" प्राप्त कर ली और जनवादी क्रांति को पूर्ति की मंज़िल तक पहुंचा दिया। यही कारण है कि पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग को इस बात पर राज़ी करने की पूरी कोशिश करता है कि वह क्रांति में एक "मामूली" भूमिका पर संतोष कर ले, वह अधिक संजीदा, व्यावहारिक तथा यथार्थवादी रहे, कि वह अपनी गतिविधियों में हमेशा इस सिद्धांत द्वारा निर्देशित हो कि "कहीं पूंजीपति वर्ग मुंह न फेर ले"।

बुद्धिजीवी पूंजीवादी इस बात को भली भांति जानते हैं कि वे मज़दूर वर्ग के आंदोलन से छुटकारा नहीं पा सकेंगे। यही कारण है कि वे खुलकर मज़दूर वर्ग के आंदोलन का विरोध नहीं करते, वे खुलकर सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष का विरोध नहीं करते – नहीं, वे मुंह से तो हड़ताल करने के अधिकार और शराफ़त के वर्ग-संघर्ष का भी समर्थन करते हैं, वे मज़दूर वर्ग के आंदोलन तथा वर्ग-संघर्ष को ब्रेन्तानो या हिर्श-डुंकेर वाले अर्थ में समझते हैं। दूसरे शब्दों में वे मज़दूरों को हड़ताल करने और ट्रेड-यूनियनों में संगठित होने का अधिकार

(जिसे वास्तव में मज़दूरों ने लगभग स्वयं प्राप्त कर लिया है) इस शर्त पर "दे देने" को पूरी तरह तैयार हैं कि वे अपना "विद्रोही स्वभाव", अपना "संकीर्ण क्रांतिवाद", "व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी समझौते" के प्रति विरोध और "रूसी जन-क्रांति" पर **अपने** वर्ग-संघर्ष की छाप, सर्वहारा दृढ़ता, सर्वहारा संकल्प तथा "सर्वसाधारण के जैकोबिनवाद" की छाप डालने के अपने दावों तथा अपनी आकांक्षाओं को त्याग दें। यही कारण है कि बुद्धिजीवी पूंजीवादी सारे रूस में मज़दूरों में (पूंजीवादी) संजीदगी, (उदारवादी) व्यावहारिकता, (अवसरवादी) यथार्थवाद, (ब्रेन्तानो) वर्ग-संघर्ष, (हिर्श-डुंकेर) ट्रेड-यूनियनों[50] आदि के विचार कूट-कूटकर भर देने के लिए हर कोशिश करते हैं, हज़ारों उपायों तथा साधनों – पुस्तकों*, व्याख्यानों, भाषणों, वार्ताओं आदि, आदि – का सहारा लेते हैं। इनमें से बादवाले दो नारे "सांविधानिक-जनवादी" पार्टी या 'ओस्वोबोज्देनिये' की पार्टी के पूंजीपति के लिए विशेष रूप से सुविधाजनक हैं, क्योंकि बाहर से देखने में वे मार्क्सवादी नारों से मेल खाते हैं, क्योंकि कुछ छोटी-छोटी बातों को छोड़ देने से और कुछ थोड़ा-सा तोड़ मरोड़कर इन नारों को ऐसा बनाया जा सकता है कि उन पर सामाजिक-जनवादी नारों का भ्रम हो और कभी-कभी तो उन्हें सामाजिक-जनवादी नारे कहकर भी पेश किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, क़ानूनी उदारवादी अख़बार 'रास्सवेत' (जिस पर हम किसी दिन 'प्रोलेतारी' के पाठकों के साथ अधिक विस्तारपूर्वक विचार करने की कोशिश करेंगे) अक्सर वर्ग-संघर्ष के बारे में, इस संभावना के बारे में कि पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग को धोखा दे सकता है, मज़दूर वग के आंदोलन के बारे में, सर्वहारा वर्ग की पहलक़दमी के बारे में, और इसी प्रकार की अन्य बातों के बारे में इतनी "हिम्मत के साथ" बातें कहता है कि जो पाठक बहुत ध्यान देकर न पढ़े या वह मज़दूर जो जागृत न हो बड़ी आसानी से यह विश्वास करने लग सकता है कि 'रास्सवेत' की "सामाजिक-जनवादिता" खरी है। परंतु वास्तव में वह सामाजिक-जनवादिता की पूंजीवादी नक़ल, और वर्ग-संघर्ष की अवधारणा का अवसरवादियों द्वारा बिगाड़ा हुआ तथा विकृत किया हुआ रूप है।

---

* देखिये : **प्रोकोपोविच**, 'रूस में श्रम-समस्या'।

इस पूरी विशाल (जन-साधारण पर प्रभाव की व्यापकता की दृष्टि से) पूंजीवादी तिकड़म की बुनियाद में मज़दूर वर्ग के ग्रांदोलन को घटाकर मुख्यत: एक ट्रेड-यूनियन ग्रांदोलन बना देने, उसे एक स्वतंत्र (अर्थात् क्रांतिकारी और जनवादी अधिनायकत्व की ओर निर्देशित) नीति से यथासंभव दूर रखने, "मज़दूरों के दिमाग़ में सारी जनता को अपनी लपेट में ले लेनेवाली रूसी क्रांति के विचार पर वर्ग-संघर्ष के विचार को हावी कर देने" की प्रवृत्ति काम करती रहती है।

जैसा कि पाठक देखेंगे हमने 'ओस्वोबोज्देनिये' के प्रतिपादन को उलट दिया है। यह बहुत ही उम्दा प्रतिपादन है जो जनवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग की भूमिका के बारे में दो दृष्टिकोणों को बहुत अच्छे ढंग से व्यक्त करता है: पूंजीवादी दृष्टिकोण और सामाजिक-जनवादी दृष्टिकोण। पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग को ट्रेड-यूनियन ग्रांदोलन तक सीमित रखना चाहता है और इस प्रकार "उसके दिमाग़ में सारी जनता को अपनी लपेट में ले लेनेवाली रूसी क्रांति के विचार पर (**ब्रेन्तानो**) वर्ग-संघर्ष के विचार को हावी कर देना" चाहता है– जो 'क्रीडो' के बर्न्सटीनवादी लेखकों की भावना के सर्वथा अनुकूल है, जिन्होंने मज़दूरों के दिमाग़ में राजनीतिक संघर्ष के विचार पर "शुद्धत: मज़दूर वर्ग के" ग्रांदोलन के विचार को हावी कर दिया था। परंतु सामाजिक-जनवाद इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष को विकसित करके उस हद तक पहुंचा देना चाहता है जहां वह रूसी जन-क्रांति में नेतृत्व की भूमिका अदा कर सके, अर्थात् वह इस क्रांति को सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के अधिनायकत्व तक पहुंचा सके।

पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग से कहता है कि हमारे देश में क्रांति ऐसी क्रांति है जो सारी जनता को अपनी लपेट में ले लेती है। इसलिए तुम्हें एक अलग वर्ग की हैसियत से अपने आपको अपने वर्ग-संघर्ष तक ही सीमित रखना चाहिये, "सामान्य बुद्धि" के नाम पर अपना ध्यान मुख्यत: ट्रेड-यूनियनों की ओर और इन ट्रेड-यूनियनों को क़ानूनी करवाने की ओर देना चाहिये, इन ट्रेड-यूनियनों को "अपनी राजनीतिक शिक्षा तथा संगठन का सबसे महत्वपूर्ण आधार-बिंदु" समझना चाहिये, क्रांतिकारी स्थिति में ज़्यादातर वक़्त नये 'ईस्क्रा' के प्रस्ताव जैसे "गंभीर" प्रस्ताव तैयार करना चाहिये, उन प्रस्तावों

की ओर बहुत ग़ौर से ध्यान देना चाहिये जिनमें "उदारवादियों की तरफ़ इतना सख़्त रवैया नहीं अपनाया जाता", ऐसे नेताओं को पसंद करना चाहिये जिनमें "मज़दूर वर्ग के वास्तविक राजनीतिक आंदोलन के व्यावहारिक नेता" बनने की प्रवृत्ति पायी जाती हो, "मार्क्सीय विश्व दृष्टिकोण के यथार्थवादी तत्वों को सुरक्षित रखना" चाहिये (यदि तुम दुर्भाग्यवश इस "अवैज्ञानिक" प्रश्नोत्तरी के "कड़े सूत्रों" का शिकार बन चुके हो)।

सामाजिक-जनवाद सर्वहारा वर्ग से कहता है कि हमारे देश में क्रांति एक ऐसी क्रांति है जो सारी जनता को अपनी लपेट में लेती है। इसलिए तुम्हें सबसे प्रगतिशील और एकमात्र पूर्णतः क्रांतिकारी वर्ग होने के नाते उसमें न केवल सबसे सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिये बल्कि उसका नेतृत्व भी करना चाहिये। इसलिए तुम्हें अपने आपको संकुचित विचार से निर्धारित की गयी वर्ग-संघर्ष की सीमाओं में ही नहीं घिरे रहना चाहिये, जिसका मतलब मुख्यतः ट्रेड-यूनियन आंदोलन होता है, बल्कि इसके विपरीत तुम्हें अपने वर्ग-संघर्ष की सीमाओं तथा उसके सार को इतना व्यापक बनाना चाहिये कि उसमें न केवल सारी जनता की वर्तमान, यानी जनवादी, रूसी क्रांति के **सभी** उद्देश्य बल्कि इसके बाद होनेवाली समाजवादी क्रांति के उद्देश्य भी **शामिल हो जायें।** इसलिए, ट्रेड-यूनियन आंदोलन की उपेक्षा न करते हुए, ज़रा-सी भी क़ानूनी संभावनाओं का फ़ायदा उठाने से इंकार न करते हुए, तुम्हें एक क्रांतिकारी काल में सशस्त्र विद्रोह और एक क्रांतिकारी सेना तथा एक क्रांतिकारी सरकार के निर्माण से संबंधित कामों को सबसे आगे रखना चाहिये क्योंकि यह ज़ारशाही पर जनता की पूर्ण विजय प्राप्त करने और एक जनवादी जनतंत्र तथा वास्तविक राजनीतिक स्वाधीनता हासिल करने का एकमात्र उपाय है।

इस प्रश्न के बारे में नये 'ईस्क्रा'-वादी प्रस्तावों में उनकी भ्रांत "नीति" के कारण जो ढीला-ढाला तथा अ-सुसंगत रुख़ अपनाया गया, जिससे स्वाभाविक रूप से पूंजीपति वर्ग इतना ख़ुश है, उसके बारे में कुछ कहना फ़ज़ूल होगा।

२. कामरेड मार्तिनोव ने एक बार फिर प्रश्न को "और गूढ़" बना दिया

आइये, अब हम 'ईस्क्रा' के अंक १०२ तथा १०३ में प्रकाशित मार्तिनोव के लेखों पर विचार करें। स्वभावतया एंगेल्स तथा मार्क्स के कई उद्धरणों की हमारी व्याख्या को ग़लत और अपनी व्याख्या को सही साबित करने की मार्तिनोव ने जो कोशिशें की हैं उनका तो हम कोई उत्तर नहीं देंगे। ये कोशिशें इतनी ओछी, मार्तिनोव के हथकंडे इतने स्पष्ट और यह प्रश्न इतना साफ़ है कि इस बात पर दुबारा विचार करना व्यर्थ होगा। हर सवाल पर क़दम पीछे हटाते हुए मार्तिनोव ने जिन सीधी-सादी तिकड़मों का सहारा लिया है उन्हें हर समझदार पाठक बड़ी आसानी से पहचान लेगा, विशेष रूप से उस समय जबकि एंगेल्स की पुस्तिका 'कार्यरत बकूनिनवादी' और मार्क्स के मार्च १८५० के 'कम्युनिस्ट लीग की केंद्रीय परिषद् की अपील' के पूरे अनुवाद प्रकाशित हो जायेंगे, जिस काम में इस समय 'प्रोलेतारी' के साथ सहयोग करनेवाले कुछ लोग संलग्न हैं। मार्तिनोव के लेख के केवल एक उद्धरण से ही पाठक स्पष्ट रूप से यह समझ सकेंगे कि वह किस तरह पीछे क़दम हटा रहे हैं।

मार्तिनोव अंक १०३ में कहते हैं, "'ईस्क्रा' इस बात को 'स्वीकार करता है' कि अस्थायी सरकार की स्थापना क्रांति को आगे बढ़ाने का एक संभव तथा वांछनीय तरीक़ा है और 'ईस्क्रा' भविष्य में चलकर समाजवादी क्रांति के लिए राज्य-व्यवस्था पर पूर्ण रूप से अधिकार के हित में ही इस बात से इंकार करता है कि **पूंजीवादी** अस्थायी सरकार में सामाजिक-जनवादियों का भाग लेना वांछनीय है।" दूसरे शब्दों में, 'ईस्क्रा' अब राज्यकोष तथा बैंकों के सिलसिले में क्रांतिकारी सरकार के उत्तरदायित्व, "जेलख़ानों" को अपने अधिकार में ले लेने के ख़तरे तथा असंभवता आदि के संबंध में अपनी सारी आशंकाओं के बेतुकेपन को स्वीकार करता है। परंतु 'ईस्क्रा' पहले की तरह ही केवल चीज़ों को उलझा रहा है, जनवादी और समाजवादी अधिनायकत्व को एक में मिलाये दे रहा है। यह घोटाला अनिवार्य है, वह पीछे हटने को छुपाने का एक साधन है।

परंतु नये 'ईस्क्रा' के उलझे दिमाग़वाले लोगों में मार्तिनोव सबसे अव्वल दर्जे के उलझे दिमाग़वाले आदमी हैं, हम कह सकते हैं कि वह बहुत प्रतिभाशाली

उलझे दिमागवाले आदमी हैं। समस्या को "और गूढ़" बनाने के अपने अध्यवसायपूर्ण प्रयत्नों द्वारा उसे उलझाते हुए वह प्रायः अनिवार्य रूप से ऐसे नये प्रतिपादनों पर "जा पहुंचते" हैं जिनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने जो रुख़ अपनाया है वह बिल्कुल भ्रांत है। आपको याद होगा कि "अर्थवाद" के दिनों में उन्होंने किस प्रकार प्लेख़ानोव को "और गूढ़" बना दिया था और इस प्रतिपादन की रचना की थी: "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष"। "अर्थवादियों" के पूरे साहित्य में इस धारा के पूरे भ्रांतिपूर्ण स्वरूप की इससे अधिक उपयुक्त अभिव्यक्ति ढूंढना असंभव है। आज भी यही बात है। मार्तिनोव बड़े उत्साह के साथ नये 'ईस्क्रा' की सेवा करते हैं, और प्रायः जब भी वह अपना मुंह खोलते हैं तो वह नये 'ईस्क्रा' की इस भ्रांतिपूर्ण स्थिति के मूल्यांकन के लिए हमें नयी तथा बहुत उम्दा सामग्री प्रदान करते हैं। अंक १०२ में वह कहते हैं कि लेनिन ने "बहुत चुपके से क्रांति की अवधारणा के स्थान पर अधिनायकत्व की अवधारणा को रख दिया है" (पृष्ठ ३, स्तंभ २)।

सच तो यह है कि नये 'ईस्क्रा'-वादी हमारे ख़िलाफ़ जितने भी आरोप लगाते हैं वे सब इसी एक आरोप में समा जाते हैं। और इस आरोप के लिए हम मार्तिनोव के कितने आभारी हैं! अपने इस आरोप को इन शब्दों में रखकर उन्होंने नये 'ईस्क्रा' के विरुद्ध संघर्ष में हमारी कितनी बहुमूल्य सेवा की है! हमें 'ईस्क्रा' के सम्पादकों से अवश्य यह प्रार्थना करनी चाहिये कि वे और ज़्यादा मौक़ों पर मार्तिनोव को हमारे ख़िलाफ़ बेलगाम छोड़ दिया करें ताकि 'प्रोलेतारी' के ख़िलाफ़ प्रहार "और गूढ़" हो सकें और इन प्रहारों का प्रतिपादन "सचमुच सिद्धांतनिष्ठ ढंग से" हो सके। क्योंकि मार्तिनोव सिद्धांतों के स्तर पर तर्क करने के लिए जितना ही ज़्यादा ज़ोर लगाते हैं उनकी दलीलें उतनी ही ज़्यादा बुरी प्रतीत होती हैं, और वह नये 'ईस्क्रा' के विचारों के रिक्त स्थानों को जितने ही स्पष्ट ढंग से प्रकट करते हैं उतनी ही सफलतापूर्वक वह अपने पर तथा अपने मित्रों पर वह उपयोगी शैक्षणिक क्रिया सम्पन्न करते हैं (जिसे लैटिन भाषा में reductio ad absurdum (नये 'ईस्क्रा' के सिद्धांतों को बेतुकेपन की हद पर पहुंचा देना) कहा जाता है।)

'व्पेर्योद' तथा 'प्रोलेतारी' क्रांति शब्द के "स्थान पर" अधिनायकत्व

शब्द "रख देते हैं"। 'ईस्क्रा' इस प्रकार की "रद्दोबदल" नहीं चाहता। बिल्कुल ठीक है, अत्यंत माननीय कामरेड मार्तिनोव! आपने अनजाने ही एक महान सत्य कह दिया है। इस नये प्रतिपादन द्वारा आपने हमारे इस मत की पुष्टि कर दी है कि 'ईस्क्रा' क्रांति की दुम के पीछे-पीछे घिसट रहा है, वह भटककर अपने कामों का प्रतिपादन 'ओस्वोबोज्देनिये' के ढंग से कर रहा है, जबकि 'व्पेर्योद' तथा 'प्रोलेतारी' ऐसे नारे दे रहे हैं जो जनवादी क्रांति को आगे ले जाते हैं।

कामरेड मार्तिनोव, यह बात आपकी समझ में नहीं आती? इस प्रश्न के महत्व को देखते हुए हम आपको यह बात विस्तारपूर्वक समझायेंगे।

जनवादी क्रांति का पूंजीवादी स्वरूप और बातों के अतिरिक्त इस बात में व्यक्त होता है कि समाज के कई ऐसे वर्ग, दल तथा हिस्से, जो अपना रुख़ पूरी तरह निजी सम्पत्ति तथा बिकाऊ माल के उत्पादन को स्वीकार करने पर आधारित करते हैं और इन सीमाओं से आगे जा ही नहीं सकते, परिस्थितियों से विवश होकर एकतंत्र की, और आम तौर पर पूरी सामंती व्यवस्था की, निरर्थकता को मान लेते हैं और स्वाधीनता की मांग में साथ देते हैं। इस स्वाधीनता का पूंजीवादी स्वरूप, जिसकी मांग "समाज" करता है और जिसके समर्थन में ज़मींदार तथा पूंजीपति शब्दों की (बस केवल शब्दों की!) धारा प्रवाहित कर देते हैं, अधिकाधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त होता जा रहा है। इसके साथ ही स्वाधीनता के लिए मज़दूरों के संघर्ष तथा पूंजीपति वर्ग के संघर्ष का बुनियादी अंतर, सर्वहारा तथा उदारवादी जनवादिता का बुनियादी अंतर भी अधिक स्पष्ट होता जाता है। मज़दूर वर्ग और उसके वर्ग-चेतन प्रतिनिधि आगे बढ़ रहे हैं और इस संघर्ष को आगे बढ़ा रहे हैं, और केवल यही नहीं कि वे इसे पूर्ति की मंज़िल तक ले जाने से डरते नहीं बल्कि वे जनवादी क्रांति की सुदूरतम सीमाओं से भी आगे जाने की चेष्टा कर रहे हैं। पूंजीपति वर्ग ढुलमुल तथा स्वार्थी है और वह स्वाधीनता के नारे को केवल आंशिक रूप से और मक्कारी के साथ ही स्वीकार करता है। इस प्रकार की कोई विशिष्ट रेखा खींचने या कोई विशिष्ट "बातें" (स्तारोवेर के या सम्मेलनवालों के प्रस्ताव की बातों की तरह) निर्धारित करने की तमाम कोशिशों का विफल होना अनिवार्य है, जिनके बारे में हम यह कह सकें कि इनके बाद से स्वाधीनता

के पूंजीवादी मित्रों की यह मक्कारी आरंभ होती है, या यदि आप चाहें तो हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिनके बाद से स्वाधीनता के ये पूंजीवादी मित्र उसके साथ विश्वासघात आरंभ कर देते हैं; क्योंकि पूंजीपति वर्ग दो अंगों के बीच (एकतंत्र और सर्वहारा वर्ग के बीच) फंसकर अपना रुख़ और अपने नारे हज़ार तरीक़ों तथा उपायों से बदल सकता है, वह एक इंच वामपक्ष की ओर या एक इंच दक्षिणपंथ की ओर खिसककर लगातार सौदेबाज़ी तथा मोल-तोल करते हुए अपने आपको स्थिति के अनुसार ढाल सकता है। सर्वहारा जनवादिता का काम यह नहीं है कि वह इस प्रकार की निष्प्राण "बातें" गढ़ता रहे, बल्कि उसका काम है विकसित होती हुई राजनीतिक स्थिति की निरंतर आलोचना करना, पूंजीपति वर्ग की नित नयी तथा पहले से बतायी न जा सकनेवाली असंगतियों तथा विश्वासघातों का भंडाफोड़ करना।

ग़ैर-क़ानूनी अख़बारों में श्री स्त्रूवे की राजनीतिक घोषणाओं के इतिहास को, उनके साथ सामाजिक-जनवाद की लड़ाई के इतिहास को याद कीजिये, और आप स्पष्ट रूप से देखेंगे कि सर्वहारा जनवादिता के दृढ़ समर्थक सामाजिक-जनवाद ने इन कामों को किस प्रकार पूरा किया था। श्री स्त्रूवे ने शुरुआत एक शुद्धतः शिपोव मार्का नारे से की थी: "अधिकार और एक आधिकारिक ज़ेम्सत्वो" (देखिये 'ज़ार्या'[51] में मेरा लेख 'ज़ेम्सत्वो के संपीड़क तथा उदारवाद के हैनिबाल')। सामाजिक-जनवाद ने उनकी क़लई खोल दी और उन्हें निश्चित रूप से संविधानवादी कार्यक्रम की दिशा में ढकेल दिया। जब क्रांतिकारी घटनाओं की विशेषतः तीव्र प्रगति की बदौलत यह "ढकेलने का काम" पूरा हुआ तो संघर्ष बढ़कर जनवाद के **अगले** प्रश्न पर पहुंच गया: आम तौर पर केवल एक संविधान ही नहीं, बल्कि ऐसा संविधान जिसमें सार्विक तथा समान मताधिकार, सीधे चुनावों तथा गुप्त मतदान का आश्वासन हो। जब हमने "शत्रु" के ख़िलाफ़ इस नये मोर्चे को "सर कर लिया" ('ओस्वोबोज्देनिये लीग' द्वारा सार्विक मताधिकार की स्वीकृति) तो हम और आगे बढ़ने के लिए ज़ोर लगाने लगे; हमने संसद के दो सदनों वाली पद्धति की मक्कारी और निरर्थकता सिद्ध कर दी और यह दिखा दिया कि ओस्वोबोज्देंत्सी ने सार्विक मताधिकार को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया है; हमने उनकी **राजतंत्रवादिता** की ओर संकेत किया और यह दिखा दिया कि उनकी जनवादिता खोंचेवालों के मोल-तोल के समान

है, या दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'ओस्वोबोज्देनिये' के ये सूरमा तथा थैलीशाह महान रूसी क्रांति के हितों का **ब्योपार करते हैं।**

अंतिम बात यह कि एकतंत्र की पाशविक हठधर्मी, गृहयुद्ध की विशाल प्रगति और राजतंत्रवादियों ने रूस को जिस संकटमय स्थिति में फंसा दिया है, वह सब कुछ मोटी से मोटी अक़्लवाले की समझ में भी आने लगा है। क्रांति एक **वास्तविकता** बन गयी है। अब क्रांति को स्वीकार करने के लिए क्रांतिकारी होना आवश्यक नहीं रह गया है। एकतांत्रिक सरकार सबकी आंखों के सामने विघटित होती रही है और विघटित हो रही है। जैसा कि किसी उदारवादी ने (श्री ग्रेडेस्कुल) क़ानूनी अख़बारों में कहा है, इस सरकार की अवज्ञा वास्तव में आरंभ हो गयी है। बाहर से दिखायी देनेवाली अपनी तमाम शक्ति के बावजूद एकतंत्र शक्तिहीन साबित हुआ है, विकसित होती हुई क्रांति के प्रसंग में जो घटनाएं हुई हैं उन्होंने इस परजीवी अंग का सफ़ाया करना शुरू कर दिया है जो जीवित दशा में ही सड़ना शुरू हो गया था। अपनी गतिविधियों को (या यह कहना अधिक उचित होगा कि अपनी राजनीतिक सौदेबाज़ी को) संबंधों के उस रूप पर आधारित करने पर मजबूर होकर जिस रूप में कि वास्तव में वे हमारे सामने आ रहे हैं, उदारवादी पूंजीपति **क्रांति को स्वीकार करने की आवश्यकता को समझने लगे हैं।** वे ऐसा इसलिए नहीं करते कि वे क्रांतिकारी हैं, बल्कि इस बात के बावजूद करते हैं कि वे क्रांतिकारी नहीं हैं। वे ऐसा मजबूर होकर तथा अपनी इच्छा के विरुद्ध करते हैं, क्रांति की सफलताओं को क्रोध से देखते हुए वे एकतंत्र को क्रांति के लिए दोषी ठहराते हैं क्योंकि वह सौदा नहीं करना चाहता बल्कि ज़िंदगी या मौत का संघर्ष चाहता है। पैदायशी खोंचेवाले होने की वजह से वे संघर्ष तथा क्रांति से घृणा करते हैं, परंतु परिस्थितियां उन्हें क्रांति की ज़मीन पर क़दम रखने को मजबूर कर देती हैं क्योंकि उनके पैरों तले और कोई ज़मीन है ही नहीं।

हम एक अत्यंत शिक्षाप्रद तथा अत्यंत हास्यजनक दृश्य देख रहे हैं। पूंजीवादी उदारवादी वेश्याएं अपने आपको क्रांति के लिबास में सजाने की कोशिश कर रही हैं। ओस्वोबोज्देंत्सी – risum teneatis, amici!* – ओस्वोबोज्देंत्सी ने क्रांति

---

* – सज्जनो, अपनी हंसी रोकिये!

के नाम की दुहाई देना शुरू कर दिया है! ग्रोस्वोबोज्देंत्सी हमें यह ग्राश्वासन दिलाने लगे हैं कि वे "क्रांति से डरते नहीं" (श्री स्त्रूवे, 'ग्रोस्वोबोज्देनिये' के ग्रंक ७२ में)!!! ग्रोस्वोबोज्देंत्सी ग्रपना यह दावा जताने लगे हैं कि उन्हें "क्रांति का ग्रगुग्रा होना चाहिये"!!!

यह एक ग्रसाधारण रूप से महत्वपूर्ण घटना है जो केवल पूंजीवादी उदारवाद की प्रगति की लाक्षणिकताग्रों को ही नहीं बल्कि इससे भी ज़्यादा क्रांतिकारी ग्रांदोलन की, जिसे लोग स्वीकार करने पर **मजबूर हुए हैं**, वास्तविक सफलताग्रों की प्रगति की लाक्षणिकताग्रों को व्यक्त करती है। एकतंत्र इतना डांवांडोल हो गया है कि पूंजीपति वर्ग तक यह महसूस करने लगा है कि क्रांति का पक्ष लेना उसके लिए ग्रधिक हितकर है। दूसरी ग्रोर यही घटना, जो इस बात का प्रमाण है कि पूरा ग्रांदोलन एक नये तथा उच्चतर स्तर पर पहुंच गया है, हमारे सामने नये तथा उच्चतर स्तर के काम भी रखती है। किसी ख़ास पूंजीवादी सिद्धांतवेत्ता की वैयक्तिक ईमानदारी के बावजूद, पूंजीपति वर्ग क्रांति को ईमानदारी के साथ नहीं स्वीकार कर सकता। पूंजीपति वर्ग ग्रांदोलन की इस उच्चतर ग्रवस्था में भी स्वार्थपरता तथा ढुलमुलपन, सौदेबाज़ी की भावना ग्रौर तुच्छ प्रतिक्रियावादी तिकड़में घुसेड़े बिना नहीं रह सकता। ग्रब हमें ग्रपने कार्यक्रम के नाम पर ग्रौर ग्रपने कार्यक्रम की विस्तृत व्याख्या करते हुए क्रांति के तात्कालिक **ठोस** कामों को **दूसरे ढंग से** प्रतिपादित करना चाहिये। जो कल तक काफ़ी था वह **ग्राज नाकाफ़ी है।** शायद कल तक क्रांति को स्वीकार करना एक उन्नत जनवादी नारे के रूप में काफ़ी था। ग्राज यह काफ़ी नहीं है। क्रांति ने श्री स्त्रूवे तक को इस बात के लिए मजबूर कर दिया है कि वह उसे स्वीकार करें। ग्रब ग्रागे बढ़े हुए वर्ग को इस क्रांति के ज़रूरी तथा तात्कालिक कामों के **ग्रसली सार-तत्व** की सही-सही व्याख्या कर देना चाहिये। क्रांति को स्वीकार करते हुए भी स्त्रूवे जैसे सज्जन बार-बार ग्रपने गदहोंवाले कान दिखा देते हैं ग्रौर शांतिपूर्ण परिणति की संभावना, **निकोलाई** द्वारा 'ग्रोस्वोबोज्देंत्सी' को सत्ता संभालने के निमंत्रण ग्रादि के बारे में ग्रपना वही पुराना राग ग्रलापने लगते हैं। 'ग्रोस्वोबोज्देंत्सी' क्रांति को इसलिए स्वीकार करते हैं कि वे ग्रधिक सुरक्षित ढंग से उसे छू-मंतर से ग़ायब कर सकें, उसके साथ विश्वासघात कर सकें। इस समय हमारा यह कर्तव्य है कि हम सर्वहारा वर्ग

को और सारी जनता को यह बता दें कि "क्रांति" का नारा काफ़ी नहीं है; हम उन्हें यह बतायें कि क्रांति के **असली सार-तत्व** की स्पष्ट तथा असंदिग्ध, सुसंगत तथा दृढ़ परिभाषा कितनी आवश्यक है। और यह परिभाषा उस एक नारे में मिलती है जो क्रांति की "निर्णायक विजय" को सही-सही व्यक्त कर सकता है; वह नारा है: सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के लिए।

राजनीति में शब्दों का ग़लत प्रयोग एक बहुत आम बात है। उदाहरण के लिए "समाजवादी" शब्द का प्रयोग इंगलैंड के पूंजीवादी उदारवाद के समर्थकों ने (हारकोर्ट ने कहा था, "अब हम सब समाजवादी हैं"), बिस्मार्क के समर्थकों ने और पोप लियो त्रयोदश के मित्रों ने अकसर अपने लिए किया है। "क्रांति" शब्द का भी बड़ी आसानी से ग़लत प्रयोग किया जा सकता है और क्रांति के विकास की एक ख़ास अवस्था में पहुंचकर इस प्रकार का दुरुपयोग अनिवार्य भी है। जब श्री स्त्रूवे ने क्रांति के नाम की दुहाई देना शुरू की तो मुझे अनायास ही थियेर की याद आ गयी। फ़रवरी की क्रांति से कुछ दिन पहले इस दानवी बौने ने, पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक भ्रष्टाचार की इस चरम अभिव्यक्ति ने, आते हुए जनव्यापी तूफ़ान को भांप लिया और इसलिए उसने संसद के मंच से घोषणा की कि वह **क्रांति की पार्टी में है**! (देखिये मार्क्स की रचना 'फ़्रांस में गृहयुद्ध'।) क्रांति की दिशा में 'ओस्वोबोज्देनिये' के मोड़ का राजनीतिक महत्व **बिल्कुल वही** है जो थियेर की क़लाबाज़ी का था। इस बात से कि रूस में थियेर जैसे लोग क्रांति की पार्टी में होने की बात कर रहे हैं, यह पता चलता है कि क्रांति का नारा नाकाफ़ी और निरर्थक हो गया है और वह किसी भी काम की परिभाषा नहीं करता: क्योंकि क्रांति एक वास्तविकता बन गयी है और भांति-भांति के लोग उसके चारों ओर जमा होने लगे हैं।

वास्तव में, मार्क्सवादी दृष्टिकोण से क्रांति क्या है? बलपूर्वक उस अप्रचलनोन्मुख राजनीतिक ऊपरी ढांचे को छिन्न-भिन्न कर देना, जिसका और नये उत्पादन-संबंधों का पारस्परिक विरोध एक ख़ास मौक़े पर पहुंचकर उसके ध्वंस का कारण बनता है। एकतंत्र और पूंजीवादी रूस के पूरे ढांचे का पारस्परिक विरोध, रूस के पूंजीवादी-जनवादी विकास के सारे तक़ाज़ों का विरोध, अब उसके ध्वंस का कारण बन गये हैं, और जितने दीर्घकाल तक इस विरोध

को कृत्रिम रूप से बाक़ी रखा गया था उसके कारण यह ध्वंस और भी भीषण हुआ है। ऊपरी ढांचे का हर जोड़ खुलने लगा है, वह दबाव के आगे झुक रहा है, वह कमज़ोर होता जा रहा है। जनता को विविधतम वर्गों तथा सामाजिक समूहों के प्रतिनिधियों के ज़रिये अब स्वयं अपने प्रयासों से अपने लिए एक नया ऊपरी ढांचा बनाना पड़ता है। विकास की एक ख़ास मंज़िल में पहुंचकर पुराने ऊपरी ढांचे की अनुपयोगिता को सभी लोग स्पष्ट रूप से देखने लगते हैं। सभी लोग क्रांति को स्वीकार करने लगते हैं। अब काम इस बात को तै करना है कि यह नया ऊपरी ढांचा **किन** वर्गों को बनाना चाहिये और वे इसे **किस तरह** बनायें। यदि यह नहीं तै किया जाता तो इस समय क्रांति का नारा बिल्कुल खोखला और निरर्थक है, क्योंकि एकतंत्र की दुर्बलता ग्रांड ड्यूक जैसे लोगों तथा 'मास्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती'[52] को भी "क्रांतिकारी" बना देती है! यदि यह बात नहीं तै की जाती तो आगे बढ़े हुए वर्ग के उन्नत जनवादी कामों की कोई बात की ही नहीं जा सकती। यह परिभाषा इस नारे में मिलती है: सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग का जनवादी अधिनायकत्व। इस नारे में बताया गया है कि नये ऊपरी ढांचे के नये "निर्माता" किन वर्गों पर भरोसा कर सकते हैं और उन्हें भरोसा करना चाहिये, इस नये ऊपरी ढांचे का स्वरूप क्या हो (समाजवादी अधिनायकत्व न होकर "जनवादी" अधिनायकत्व), और उसका निर्माण किस तरह करना है (अधिनायकत्व, अर्थात् हिंसापूर्ण विरोध का हिंसापूर्ण दमन, जनता के क्रांतिकारी वर्गों को सशस्त्र करना)। जो भी इस समय क्रांतिकारी जनवादी अधिनायकत्व के इस नारे को, क्रांतिकारी सेना के, क्रांतिकारी सरकार के, क्रांतिकारी किसान समितियों के नारे को मानने से इंकार करता है वह या तो क्रांति के कामों को बिल्कुल समझता ही नहीं, वर्तमान परिस्थिति जिन नये तथा उच्चतर कामों का तक़ाज़ा करती है उनकी व्याख्या नहीं कर पाता, या फिर वह जनता को धोखा दे रहा है, क्रांति के साथ विश्वासघात कर रहा है, "क्रांति" के नारे का दुरुपयोग कर रहा है।

पहलीवाली बात कामरेड मार्तिनोव तथा उनके मित्रों पर लागू होती है। दूसरी वाली बात श्री स्त्रूवे तथा पूरी "सांविधानिक-जनवादी" ज़ेम्सत्वो पार्टी पर लागू होती है।

कामरेड मार्तिनोव इतने चालाक और तेज़ निकले कि उन्होंने क्रांति शब्द

"के स्थान पर" अधिनायकत्व शब्द रख देने का आरोप ठीक ऐसे वक़्त पर लगाया जबकि क्रांति के विकास का यह तक़ाज़ा था कि उसके कामों की व्याख्या अधिनायकत्व के नारे द्वारा की जाये! वास्तव में, इस बार भी कामरेड मार्तिनोव का दुर्भाग्य यह रहा कि वह सबसे पिछड़ गये, आख़िरी मंज़िल से पहले वाली मंज़िल में पहुंचकर वह भटक गये, उन्होंने **अपने आपको 'ओस्वोबोज्देनिये'-वाद के स्तर पर पाया,** क्योंकि "क्रांति" को (शब्दों में) स्वीकार करना और सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के जनवादी अधिनायकत्व को (अर्थात् व्यवहार में क्रांति को) स्वीकार करने से इंकार करना अब ठीक 'ओस्वोबोज्देनिये' के ही राजनीतिक रुख़ के, अर्थात् उदारवादी राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के हितों के अनुकूल है। उदारवादी पूंजीपति वर्ग श्री स्त्रूवे के मुख से अब क्रांति के पक्ष में अपना मत व्यक्त कर रहा है। वर्ग-चेतन सर्वहारा वर्ग क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों के मुख से सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के अधिनायकत्व की मांग कर रहा है। और यहां पर नये 'ईस्क्रा' का तीसमारखां बहस में कूद पड़ता है और चिल्लाकर कहता है: ख़बरदार, जो क्रांति शब्द "के स्थान पर" अधिनायकत्व शब्द "रखा"! देखा न आपने, क्या यह सच नहीं है कि नये 'ईस्क्रा'-वादियों ने जो भ्रांत पथ अपनाया है उसके कारण अब वे उम्र भर 'ओस्वोबोज्देनिये'-वाद की दुम के पीछे-पीछे घिसटते रहेंगे?

हम यह दिखा चुके हैं कि जनवादिता को स्वीकार करने के मामले में ओस्वोबोज्देंत्सी एक-एक सीढ़ी करके ऊपर चढ़ रहे हैं (अलबत्ता सामाजिक-जनवादियों को उन्हें आगे बढ़ाने के लिए कोंचते रहना पड़ता है)। पहले हमारे बीच झगड़ा इस बात पर था: शिपोव पद्धति (अधिकार और आधिकारिक ज़ेम्सत्वो) या संविधानवाद? फिर झगड़ा इस बात पर रहा: सीमित मताधिकार या सार्विक मताधिकार? उसके बाद इस बात पर: क्रांति को मानना या एकतंत्र के साथ सट्टेबाज़ों वाली सौदेबाज़ी? और अब अंत में झगड़ा इस बात पर है: सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के अधिनायकत्व के बिना क्रांति को स्वीकार करना या जनवादी क्रांति में इन वर्गों के अधिनायकत्व की मांग को स्वीकार करना? यह सभव है और हो सकता है कि ओस्वोबोज्देंत्सी सज्जन (इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि इस समय जो हैं वही या पूंजीवादी जनवादियों के वामपक्ष में उनके उत्तराधिकारी) एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ेंगे, अर्थात् कुछ

समय बीतने पर (शायद जिस समय तक कामरेड मार्तिनोव एक क़दम और ऊपर चढ़ जायेंगे) अधिनायकत्व के नारे को भी स्वीकार कर लेंगे। यदि रूसी क्रांति सफलतापूर्वक आगे बढ़ती रहती है और निर्णायक विजय प्राप्त कर लेती है तो ऐसा होना अनिवार्य है। उस दशा में सामाजिक-जनवाद की स्थिति क्या होगी? वर्तमान क्रांति की पूर्ण विजय जनवादी क्रांति की समाप्ति और समाजवादी क्रांति के लिए दृढ़संकल्प संघर्ष के श्रीगणेश की द्योतक होगी। वर्तमान किसान वर्ग की मांगों की पूर्ति, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पूर्ण विनाश और एक जनवादी जनतंत्र की स्थापना पूंजीपति वर्ग के, और यहां तक कि निम्न-पूंजीपति वर्ग के भी, क्रांतिवाद की पूर्ण समाप्ति की द्योतक होंगी – वे समाजवाद के लिए सर्वहारा वर्ग के वास्तविक संघर्ष के आरंभ की द्योतक होंगी। जनवादी क्रांति जितनी ही पूर्ण होगी, इस नये संघर्ष का विकास उतना ही शीघ्र, उतना ही अधिक व्यापक, उतना ही अधिक शुद्ध और उतने ही दृढ़संकल्प के साथ होगा। "जनवादी" अधिनायकत्व का नारा इतिहास की दृष्टि से वर्तमान क्रांति के सीमित स्वरूप को और समस्त उत्पीड़न तथा शोषण से मजदूर वर्ग की पूर्ण मुक्ति के लिए नयी व्यवस्था के आधार पर एक नये संघर्ष की आवश्यकता को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में: जब जनवादी पूंजीपति वर्ग या निम्न-पूंजीपति वर्ग एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ जायेगा, जब केवल क्रांति ही नहीं बल्कि क्रांति की पूर्ण विजय भी एक साकार सत्य बन जायेगी तब हम जनवादी अधिनायकत्व के नारे "के स्थान पर" सर्वहारा वर्ग के समाजवादी अधिनायकत्व का, अर्थात् पूर्ण समाजवादी क्रांति का नारा "रख देंगे" (और शायद इस पर नये, भावी मार्तिनोव जैसे लोग बहुत चीखें-चिल्लायेंगे और अपनी घोर अरुचि प्रकट करेंगे)।

३. अधिनायकत्व का पूंजीवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया विकृत रूप और उसके बारे में मार्क्स का मत

मेहरिंग ने १८४८ के 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' में मार्क्स के जो लेख प्रकाशित किये थे उनकी टिप्पणियों में उन्होंने हमें बताया है कि पूंजीवादी प्रकाशनों में इस अखबार को एक इस बात के लिए भी बुरा-भला कहा गया

है कि उनके कथनानुसार उसने यह मांग की कि "जनवाद प्राप्त करने के एकमात्र साधन के रूप में फ़ौरन अधिनायकत्व लागू कर दिया जाये" (Marx'Nachlass, खंड ३, पृष्ठ ५३)। विकृत पूंजीवादी दृष्टिकोण से अधिनायकत्व तथा जनवाद ऐसे दो शब्द हैं जिनका आपस में कोई संबंध नहीं हो सकता। वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को न समझ सकने के कारण और राजनीति के मैदान में विभिन्न पूंजीवादी मंडलों तथा गुटों की टुच्ची थुक्का-फ़ज़ीहत देखने का आदी होने के कारण पूंजीपति अधिनायकत्व का अर्थ यह लगाता है कि उसमें सारी स्वतंत्रताएं तथा जनवाद के सारे आश्वासन रद्द कर दिये जाते हैं, हर प्रकार का अत्याचार होता है और अधिनायक के वैयक्तिक हित में सत्ता का हर प्रकार से दुरुपयोग किया जाता है। बुनियादी तौर पर मार्तिनोव की रचनाओं में ठीक यही विकृत पूंजीवादी दृष्टिकोण व्यक्त होता है, जो नये 'ईस्क्रा' में अपनी "नयी मुहिम" को यह कहकर ख़त्म करते हैं कि अधिनायकत्व के नारे के प्रति 'व्पेर्योद' तथा 'प्रोलेतारी' के पक्षपात का कारण लेनिन की "अपनी क़िस्मत आज़माने की तीव्र इच्छा" है ('ईस्क्रा', अंक १०३, पृष्ठ ३, स्तंभ २)। मार्तिनोव को वैयक्तिक अधिनायकत्व के बरख़िलाफ़ वर्ग-अधिनायकत्व शब्द का अर्थ समझाने के लिए, और समाजवादी अधिनायकत्व के कामों के बरख़िलाफ़ जनवादी अधिनायकत्व के कामों को समझाने के लिए, 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' के मतों पर कुछ विस्तार के साथ ध्यान देना अनुचित न होगा।

'नोये राइनिशे त्साइटुङ' ने १४ सितम्बर, १८४८ को लिखा कि "क्रांति के बाद राज्य के हर अस्थायी संगठन को एक अधिनायकत्व की आवश्यकता होती है और सो भी ज़बर्दस्त अधिनायकत्व की। हमने शुरू से ही कैम्पहाउसेन" (१८ मार्च, १८४८ के बाद मंत्रिमंडल का प्रधान) "को इसलिए बुरा-भला कहा है कि उसने अधिनायक के ढंग से काम नहीं किया, कि उसने फ़ौरन पुरानी संस्थाओं को भंग करके समूल नष्ट नहीं कर दिया। और जिस समय हेर्र कैम्पहाउसेन अपने आपको सांविधानिक भुलावों से ख़ुश कर रहे थे, उसी बीच में पराजित पार्टी (अर्थात् प्रतिक्रिया की पार्टी) नौकरशाही में, सेना में अपनी स्थिति मज़बूत करती रही और जहां-तहां उसने खुले संघर्ष का भी साहस करना शुरू कर दिया।"[53]

मेहरिंग ने ठीक ही कहा है कि इन शब्दों में कुछ थोड़ी सी प्रस्थापनाओं के रूप में उन सभी बातों का सारांश प्रस्तुत कर दिया गया है जिनका प्रतिपादन 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' में कैम्पहाउसेन मंत्रिमंडल के बारे में लम्बे-लम्बे लेखों में विस्तार के साथ किया गया था। मार्क्स के इन शब्दों से क्या पता चलता है? यह कि अस्थायी क्रांतिकारी सरकार को अधिनायकत्व के ढंग से काम करना **चाहिये** (यह एक ऐसा सुझाव था जिसे 'ईस्क्रा' बिल्कुल समझ ही नहीं सका क्योंकि वह अधिनायकत्व के नारे से झिझक रहा था) और यह कि ऐसे अधिनायकत्व का काम पुरानी संस्थाओं के अवशेषों को नष्ट करना है (रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के प्रतिक्रांति के विरुद्ध संघर्ष से संबंधित प्रस्ताव में ठीक यही बात स्पष्ट रूप से कही गयी थी और यही बात सम्मेलन के प्रस्ताव में छोड़ दी गयी थी, जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं)। तीसरी और आख़िरी बात यह कि इन शब्दों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्क्स ने क्रांति तथा खुले गृहयुद्ध के ज़माने में "सांविधानिक भुलावों" में पड़े रहने के कारण पूंजीवादी जनवादियों को लताड़ा था। 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' के ६ जून, १८४८ के अंक में प्रकाशित लेख से इन शब्दों का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स ने लिखा, "राष्ट्रीय संविधान-सभा को सबसे पहले एक सक्रिय, क्रांतिकारी-सक्रिय सभा होनी चाहिये। परंतु फ़्रैंकफ़ुर्ट सभा अभ्यासार्थ स्कूली छात्रों की तरह संसद पद्धति की समस्याओं को हल करने में संलग्न है और उसने सरकार को कोई भी क़दम उठाने की छूट दे रखी है। मान लीजिये कि यह विद्वानों की सभा भली भांति विचार-विमर्श करने के बाद यथासंभव श्रेष्ठतम कार्य-सूची और यथासंभव श्रेष्ठतम संविधान तैयार करने में सफल हो जाती है। परंतु यदि इसी बीच में जर्मन सरकारों ने युद्ध को तात्कालिक लक्ष्य बना दिया तो फिर यथासंभव श्रेष्ठतम कार्य-सूची तथा यथासंभव श्रेष्ठतम संविधान का क्या फ़ायदा?"[54]

अधिनायकत्व के नारे का यही अर्थ है। इस बात से हम अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसे प्रस्तावों की ओर, जो "संविधान सभा बुलाने के निर्णय" को निर्णायक विजय कहते हैं, या जो हमें "उग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहने" का निमंत्रण देते हैं, मार्क्स का रवैया क्या होता!

जनताओं के जीवन में बड़ी-बड़ी समस्याएं केवल बलपूर्वक ही तै होती हैं। आम तौर पर प्रतिक्रियावादी वर्ग स्वयं ही पहले हिंसा का, गृहयुद्ध का सहारा लेते हैं, वे ही सबसे पहले "लड़ाई को तात्कालिक लक्ष्य बना देते हैं", जैसा कि रूसी एकतंत्र ६ जनवरी के बाद से हर जगह नियमित तथा अडिग रूप से कर रहा है। और चूंकि ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी है, चूंकि लड़ाई सचमुच राजनीतिक कार्य-सूची का मुख्य विषय बन गयी है, चूंकि विद्रोह नितांत आवश्यक तथा तात्कालिक सिद्ध हुआ है इसलिए सांविधानिक भुलावे तथा संसद-पद्धति की समस्याओं को स्कूली छात्रों की तरह अभ्यासार्थ हल करना क्रांति के साथ पूंजीवादी विश्वासघात के लिए एक आड़ का काम देता है, वह इस बात को छुपाने के लिए आड़ का काम देता है कि पूंजीपति वर्ग क्रांति से "मुंह फेर रहा" है। इसलिए सचमुच क्रांतिकारी वर्ग को अधिनायकत्व का नारा देना चाहिये।

इस अधिनायकत्व के कामों के बारे में मार्क्स ने 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' में ही लिखा था: "राष्ट्रीय सभा को अप्रचलनोन्मुख सरकारों की प्रतिक्रियावादी कोशिशों के ख़िलाफ़ अधिनायकत्व के ढंग से कार्रवाई करनी चाहिये थी; तब जनमत की शक्ति उसके पक्ष में इतनी प्रबल होती कि वह सारी संगीनों को चकनाचूर कर देती... परंतु यह सभा जनता को अपने साथ लेकर चलने या उसके साथ बह जाने के बजाय जर्मन जनता को अपनी बकवास से उकताती रहती है।"[55] मार्क्स की राय में, राष्ट्रीय सभा को यह करना चाहिये था कि "उस समय जो शासन-व्यवस्था जर्मनी में वास्तव में विद्यमान थी उसमें की उन तमाम चीज़ों को वह समूल नष्ट कर देती जो जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का खंडन करती थीं," फिर उसे यह करना चाहिये था कि वह "उस क्रांतिकारी आधार को सुदृढ़ बनाती जिसपर वह टिकी हुई थी, ताकि क्रांति के फलस्वरूप जनता की जो प्रभुसत्ता हासिल की गयी है उसे सभी प्रहारों से सुरक्षित रखा जा सके।"[56]

इस प्रकार १८४८ में मार्क्स ने क्रांतिकारी सरकार या अधिनायकत्व के सामने जो काम रखे थे उनका मतलब सारतः बुनियादी तौर पर **जनवादी** क्रांति था: प्रतिक्रांति के ख़िलाफ़ प्रतिरक्षा और जो भी चीज़ जनता की प्रभुसत्ता का खंडन करती हो उसका वास्तव में समूल विनाश। यह क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

आगे बढ़िये: मार्क्स की राय में वे कौनसे वर्ग थे जो इस काम को (जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का वास्तव में पूरी तरह उपयोग करना और प्रतिक्रांति के प्रहारों को निष्फल बनाना) पूरा कर सकते थे और जिन्हें इस काम को पूरा करना चाहिये था? मार्क्स ने "जनता" की बात कही है। परंतु हम जानते हैं कि वह हमेशा निर्ममतापूर्वक "जनता" की एकता और जनता के बीच वर्ग-संघर्ष के अभाव से संबंधित निम्न-पूंजीवादी भ्रमों के ख़िलाफ़ लड़े। "जनता" शब्द का प्रयोग करके ऐसा नहीं था कि मार्क्स ने वर्गों के पारस्परिक भेदों की तरफ़ से आंख मूंद ली हो, बल्कि उन्होंने केवल उन तत्वों को एकबद्ध कर दिया था जो क्रांति को पूर्ति तक ले जाने की क्षमता रखते थे।

१८ मार्च को बर्लिन के सर्वहारा वर्ग की विजय के बाद 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' ने लिखा कि क्रांति के दो परिणाम निकले: "एक ओर तो जनता सशस्त्र हो गयी, उसे संगठन बनाने का अधिकार मिल गया और जनता की प्रभुसत्ता वास्तव में हासिल हो गयी; दूसरी ओर राजतंत्र और कैम्पहाउसेन-हैंसमैन मंत्रिमंडल अर्थात् बड़े पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों की सरकार, ज्यों की त्यों बनी रही। इस प्रकार क्रांति के परिणामों के दो क्रम थे जिनका अलग-अलग दिशाओं में जाना अनिवार्य था। जनता ने विजय प्राप्त की थी; उसने निश्चित रूप से जनवादी ढंग की स्वतंत्रताएं प्राप्त की थीं परंतु प्रत्यक्ष सत्ता उसके हाथों में न आकर बड़े पूंजीपति वर्ग के हाथों में चली गयी थी। सारांश यह कि क्रांति पूरी नहीं हुई थी। जनता ने बड़े पूंजीपतियों का मंत्रिमंडल बन जाने दिया, और बड़े पूंजीपतियों ने प्रशा के पुराने अभिजात वर्ग तथा नौकरशाही की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाकर फ़ौरन अपनी चेष्टाओं को प्रकट कर दिया। आर्निम, कानिट्ज़ तथा श्वेरिन मंत्रिमंडल में शामिल हो गये।

"उच्च पूंजीपति वर्ग ने, जो हमेशा क्रांति-विरोधी रहता है, जनता के भय से, अर्थात् मजदूरों तथा जनवादी पूंजीपति वर्ग के भय से, प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ बचाव तथा आक्रमण दोनों ही के लिए मित्रता कर ली।" (शब्दों पर ज़ोर हमारा।)[57]

इस प्रकार, केवल "संविधान सभा संगठित करने का निर्णय" ही नहीं बल्कि सचमुच उसका आयोजन हो जाना भी क्रांति की निर्णायक विजय के लिए अपर्याप्त है! एक सशस्त्र संघर्ष में आंशिक विजय (१८ मार्च १८४८ को सेना

के ख़िलाफ़ बर्लिन के मज़दूरों की विजय) के बाद भी एक "अपूर्ण" क्रांति, एक ऐसी क्रांति "जिसे पूर्ति तक न ले जाया गया हो" संभव है। फिर उसकी पूर्ति किस बात पर निर्भर होती है? वह इस बात पर निर्भर होती है कि तात्कालिक शासन-व्यवस्था किसके हाथों में जाती है, पेत्रुंकेविच तथा रोदीचेव जैसे लोगों के हाथों में, अर्थात् कैम्पहाउसेन तथा हैंसमैन जैसे लोगों के हाथों में, या **जनता** के हाथों में, अर्थात् मज़दूरों तथा जनवादी पूंजीपति वर्ग के हाथों में। पहली वाली सूरत में सत्ता पर पूंजीपति वर्ग का अधिकार होगा और सर्वहारा वर्ग को "आलोचना की स्वतंत्रता" होगी, "उग्रतम क्रांतिकारी विरोध-पक्ष की पार्टी बने रहने की स्वतंत्रता" होगी। विजय के फ़ौरन बाद पूंजीपति वर्ग प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ मित्रता कर लेगा (उदाहरण के लिए, यदि रूस में सेना के ख़िलाफ़ सड़कों पर लड़ाई में पीटर्सबर्ग के मज़दूरों की केवल आंशिक विजय होती और वे सरकार बनाने का काम पेत्रुंकेविच मंडली के हाथों में छोड़ देते तो वहां भी अनिवार्य रूप से यही होता)। दूसरी वाली हालत में क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व, अर्थात् क्रांति की पूर्ण विजय संभव होगी।

अब केवल इस बात की अधिक सही-सही व्याख्या करना रह जाता है कि "जनवादी पूंजीपति वर्ग" (demokratische Bürgerschaft) से मार्क्स का वास्तव में क्या मतलब था, जिसे और मज़दूर वर्ग को मिलाकर उन्होंने जनता कहा था और जिसे उन्होंने बड़े पूंजीपति वर्ग से अलग बताया था।

२९ जुलाई १८४८ के 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' के एक लेख के निम्नलिखित अंश में उस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर मिल जाता है: "... १८४८ की जर्मन क्रांति १७८९ की फ़्रांसीसी क्रांति की केवल एक बिगड़ी हुई शक्ल है।

"४ अगस्त १७८९ को, बैस्टील पर धावे के तीन सप्ताह बाद फ़्रांसीसी जनता एक ही दिन में सामंती भारों से मुक्त हो गयी।

"११ जुलाई १८४८ को मार्च की मोर्चेबंदियों के चार महीने बाद, सामंती भार जर्मन जनता पर हावी हो गये। Teste Gierke cum Hansemanno.*

---

* "गवाह: श्री गिएर्के तथा श्री हैंसमैन।" हैंसमैन एक मंत्री थे जो बड़े पूंजीपति वर्ग की पार्टी का प्रतिनिधित्व करते थे (इनका रूसी नमूना त्रुबेत्सकोइ या रोदीचेव जैसे लोग हैं); हैंसमैन के मंत्रिमंडल में गिएर्के कृषि-मंत्री थे, जिन्होंने

"१७८९ का फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग एक क्षण कि लिए भी अपने मित्रों का, किसानों का, पल्ला छोड़कर भागा नहीं। वह जानता था कि देहातों में सामंतवाद का विनाश और एक स्वतंत्र भू-स्वामी (grundbesitzenden) किसान वर्ग का निर्माण ही उसके शासन का आधार है।

"१८४८ का जर्मन पूंजीपति वर्ग रत्ती भर भी संकोच किये बिना किसानों से विश्वासघात कर रहा है, जो उसके सबसे स्वाभाविक मित्र हैं, जिनके साथ उसका चोली दामन का साथ है और जिनके बिना वह अभिजात वर्ग का बाल भी बांका नहीं कर सकता।

"सामंती अधिकारों का पूर्ववत् बना रहना, (मिथ्या) विमोचन की आड़ में उनका अनुमोदन – यह है १८४८ की जर्मन क्रांति का परिणाम। खोदा पहाड़ निकली चुहिया।"[58]

यह बहुत ही शिक्षाप्रद अंश है: इससे हमें चार महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं मिलती हैं: १) अपूर्ण जर्मन क्रांति पूर्ण फ़्रांसीसी क्रांति से इसलिए भिन्न है कि पूंजीपति वर्ग ने न केवल आम तौर पर पूरे जनवाद के साथ, बल्कि विशेष रूप से किसान वर्ग के साथ भी विश्वासघात किया। २) जनवादी क्रांति की पूर्ण निष्पत्ति का आधार किसानों के एक स्वतंत्र वर्ग का निर्माण है। ३) इस प्रकार के वर्ग के निर्माण का अर्थ होता है सामंती भारों का उन्मूलन, सामंतवाद का विनाश, पर उसका अर्थ इस समय तक समाजवादी क्रांति नहीं होता। ४) किसान पूंजीपति वर्ग के, कहने का मतलब यह कि जनवादी पूंजीपति वर्ग के, "सबसे स्वाभाविक" मित्र होते हैं, जो उनके बिना प्रतिक्रिया के विरुद्ध बिल्कुल "बेबस" होता है।

"सामंती भारों का उन्मूलन" करने की एक "साहसपूर्ण" योजना बनायी थी जिसके बारे में कहा तो यही जाता था कि यह योजना "बिना कोई मुआवज़ा दिये" लागू की जायेगी परंतु वास्तव में वह केवल छोटे-मोटे तथा महत्वहीन भारों को ख़त्म करने और ज़्यादा बुनियादी भारों को या तो ज्यों का त्यों बना रहने देने या उनको मुआवज़ा देकर ख़त्म करने की योजना थी। हेर्र गिएर्के रूस के काब्लुकोव, मनुइलोव, हर्ज़ेन्सटीन तथा किसान के ऐसे ही दूसरे पूंजीवादी मित्रों की तरह के थे जो "किसानों के भू-स्वामित्व में वृद्धि" तो चाहते हैं पर ज़मींदारों को नाराज़ नहीं करना चाहते।

ठोस राष्ट्रीय विशिष्टताओं के अनुसार उचित परिवर्तन करके और सामंतवाद के स्थान पर कृषि-दासता को रखकर, ये सभी प्रस्थापनाएं १९०५ में रूस पर पूरी तरह लागू की जा सकती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जर्मनी के अनुभव का स्पष्टीकरण जिस रूप में मार्क्स ने किया है उससे यदि हम सबक़ लें तो हम क्रांति की निर्णायक विजय के लिए सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग के क्रांतिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के अतिरिक्त और किसी नारे पर नहीं पहुंच सकते। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस "जनता" के, जिसे १८४८ में मार्क्स ने विरोध करनेवाले प्रतिक्रियावादियों तथा विश्वासघातक पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ खड़ा किया था, मुख्य संघटक अंग सर्वहारा वर्ग तथा किसान वर्ग हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि रूस में भी उदारवादी पूंजीपति वर्ग और 'ओस्वोबोज्देनिये लीग' के सज्जन किसान वर्ग के साथ विश्वासघात कर रहे हैं और करते रहेंगे, अर्थात् यह कि वे अपने आपको एक तथाकथित सुधार तक ही सीमित रखेंगे और ज़मींदारों तथा किसान वर्ग के बीच निर्णायक लड़ाई में ज़मींदारों का पक्ष लेंगे। इस संघर्ष में केवल सर्वहारा वर्ग ही आख़िर तक किसान वर्ग का साथ दे सकता है। अंतिम बात यह कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि रूस में भी किसान संघर्ष की सफलता, अर्थात् पूरी भूमि का किसान वर्ग के हाथों में हस्तांतरण, पूर्ण जनवादी क्रांति की द्योतक होगी और वह अपनी पूर्णता तक ले जायी गयी क्रांति का सामाजिक अवलम्ब होगी, परंतु वह किसी भी प्रकार समाजवादी क्रांति या वह "समाजीकरण" नहीं होगा जिसकी बात निम्न-पूंजीपति वर्ग के सिद्धांतवेत्ता, समाजवादी-क्रांतिकारी करते हैं। किसान विद्रोह की सफलता, जनवादी क्रांति की विजय, एक जनवादी जनतंत्र के आधार पर समाजवाद के लिए सच्चे तथा निर्णायक संघर्ष के लिए केवल रास्ता साफ़ करेगी। इस संघर्ष में किसान वर्ग की भू-स्वामी वर्ग के रूप में वही विश्वासघातक तथा ढुलमुल भूमिका रहेगी जो इस समय जनवाद के लिए संघर्ष में पूंजीपति वर्ग की है। इस बात को भुला देना समाजवाद को भुला देना है, सर्वहारा वर्ग के वास्तविक हितों तथा कामों के बारे में अपने आपको और दूसरों को धोखा देना है।

१८४८ में मार्क्स के जो विचार थे उन्हें प्रस्तुत करने में कोई रिक्त स्थान न रहने देने के लिए उस समय के जर्मन सामाजिक-जनवाद (या यदि

उस समय की भाषा में कहा जाये तो सर्वहारा वर्ग की कम्युनिस्ट पार्टी) और आजकल के रूसी सामाजिक-जनवाद के बुनियादी अंतर को याद रखना आवश्यक है। देखिये मेहरिंग क्या कहते हैं।

"'नोये राइनिशे त्साइटुङ' राजनीतिक रंगमंच पर 'जनवाद के मुखपत्र' के रूप में प्रकट हुआ। उसके सभी लेखों में जो एक बुनियादी विचार समान रूप से पाया जाता था उसके बारे में किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। परंतु प्रत्यक्षतः वह पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग के हितों की अपेक्षा निरंकुशता तथा सामंतवाद के ख़िलाफ़ पूंजीवादी क्रांति के हितों का समर्थन अधिक करता था। उसके पृष्ठों में आपको क्रांति के वर्षों के दौरान में मज़दूर वर्ग के अलग आंदोलन के बारे में बहुत कम बातें मिलेंगी, हालांकि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उसके साथ ही मोल तथा शापर के सम्पादकत्व में सप्ताह में दो बार कोलोन मज़दूर संघ का एक विशेष मुखपत्र[59] निकलता था। कुछ भी हो, वर्तमान पाठक को यह बात खटकेगी कि 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' अपने समय के जर्मन मज़दूर वर्ग के आंदोलन की ओर लगभग बिल्कुल ही ध्यान नहीं देता था, हालांकि उसमें काम करनेवाला सबसे योग्य व्यक्ति स्टीफ़ान बोर्न पेरिस तथा ब्रसेल्स में मार्क्स तथा एंगेल्स का शिष्य रह चुका था और १८४८ में उनके अख़बार का बर्लिन में संवाददाता था। बोर्न ने अपने 'संस्मरण' में लिखा है कि मार्क्स तथा एंगेल्स ने मज़दूरों के बीच उसके प्रचार के ख़िलाफ़ एक शब्द भी नहीं कहा, फिर भी एंगेल्स की बाद वाली घोषणाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः वे असंतुष्ट थे, कम से कम इस प्रचार के तरीक़ों से तो वे असंतुष्ट थे ही। उनका असंतोष इस एतबार से उचित था कि बोर्न को जर्मनी के अधिकांश भाग में उस समय तक सर्वहारा वर्ग की पूर्णतः अविकसित वर्ग-चेतना के आगे कई बातों में दबकर रिआयतें करना पड़ी थीं, ऐसी रिआयतें जो 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के दृष्टिकोण से आलोचना की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं। उनका असंतोष इस एतबार से अनुचित था कि बोर्न ने इन बातों के बावजूद अपने प्रचार को अपेक्षतः काफ़ी उच्च स्तर पर क़ायम रखा... निःसंदेह मार्क्स तथा एंगेल्स का यह सोचना इतिहास तथा राजनीति की दृष्टि से सही था कि मज़दूर वर्ग का बुनियादी हित पूंजीवादी क्रांति को जहां तक हो सके आगे बढ़ाना है... फिर भी इस बात का एक उल्लेखनीय प्रमाण

कि मज़दूर वर्ग के आंदोलन का बुनियादी सहज स्वभाव बड़े से बड़े बुद्धिमानों की अवधारणाओं को ठीक कर सकता है, इस बात में मिलता है कि अप्रैल १८४९ में उन्होंने एक मज़दूरों के संगठन के पक्ष में अपना मत घोषित किया और मज़दूरों की उस कांग्रेस में भाग लेने का फ़ैसला किया जिसकी तैयारी विशेषतः पूर्वी एल्ब (पूर्वी प्रशा) का सर्वहारा वर्ग कर रहा था।"

इस प्रकार अप्रैल १८४९ में ही जाकर, क्रांतिकारी अख़बार का प्रकाशन आरंभ होने के लगभग पूरे एक वर्ष बाद ('नोये राइनिशे त्साइटुङ' का प्रकाशन १ जून, १८४८ को आरंभ हुआ था) मार्क्स तथा एंगेल्स ने मज़दूरों के एक ख़ास संगठन के पक्ष में अपना मत प्रकट किया! उस समय तक वे केवल एक ऐसा "जनवाद का मुखपत्र" चला रहे थे जिसका मज़दूरों की किसी स्वतंत्र पार्टी के साथ कोई संगठनात्मक संबंध नहीं था! यह बात हमारे आजकल के दृष्टिकोण से बेहूदा और असंभव भले ही प्रतीत होती हो, पर इससे स्पष्ट रूप से यह पता चलता है कि उन दिनों की जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी और आजकल की रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में कितना ज़मीन-आसमान का अंतर है। इस बात से पता चलता है कि जर्मन जनवादी क्रांति में (१८४८ में आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से जर्मनी के पिछड़ेपन के कारण—एक राज्य के रूप में उसमें एकता न होने के कारण) आंदोलन की सर्वहारा विशिष्टताएं, उसके अंदर सर्वहारा धारा, कितनी कम देखने में आती थीं। इस ज़माने के दौरान में और इससे कुछ बाद एक स्वतंत्र सर्वहारा पार्टी संगठित करने की आवश्यकता के बारे में मार्क्स द्वारा बार-बार की गयी घोषणाओं को जांचते समय इस बात को नहीं भूलना चाहिये। मार्क्स इस व्यावहारिक निष्कर्ष पर जनवादी क्रांति के अनुभव के फलस्वरूप ही लगभग पूरे एक वर्ष बाद पहुंचे—उस समय जर्मनी का पूरा वातावरण इतना कूपमंडूकों जैसा, इतना निम्न-पूंजीवादी था। हमारे लिए यह निष्कर्ष अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद के पचास वर्ष के अनुभव की एक पुरानी तथा ठोस उपलब्धि है—एक ऐसी उपलब्धि जिसे लेकर हमने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी को संगठित करना **आरंभ किया।** हमारे लिए, उदाहरण के तौर पर, इस बात का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता कि क्रांतिकारी सर्वहारा अख़बार सर्वहारा वर्ग की सामाजिक-जनवादी पार्टी के बाहर हों या वे एक क्षण के लिए भी केवल "जनवाद के मुखपत्रों" के रूप में निकलें।

परंतु मार्क्स तथा स्टीफ़ान बोर्न के बीच जो अंतर प्रकट होना मुश्किल से आरंभ ही हुआ था वह हमारे सिलसिले में एक ऐसे रूप में मौजूद है जो हमारी क्रांति के जनवादी प्रवाह में सर्वहारा धारा की अधिक प्रबल अभिव्यक्ति के कारण अधिक विकसित है। स्टीफ़ान बोर्न द्वारा संचालित प्रचार के बारे में मार्क्स तथा एंगेल्स के संभावित असंतोष की बात कहकर मेहरिंग ने अपने विचारों को बहुत हल्के तथा बहुत गोलमाल ढंग से व्यक्त किया है। १८८५ में एंगेल्स ने *«Enthüllungen über den Kommunistenprozess zu Köln»*. Zürich. 1885* की अपनी भूमिका में) बोर्न के बारे में यह लिखा था:

'कम्युनिस्ट लीग'[60] के सदस्य हर जगह उग्रतम जनवादी आंदोलन की अगुआई कर रहे थे, और इस प्रकार यह सिद्ध कर रहे थे कि लीग क्रांतिकारी संघर्ष की एक बहुत अच्छी पाठशाला थी। "स्टीफ़ान बोर्न नामक कम्पोज़ीटर ने, जो ब्रसेल्स तथा पेरिस में लीग के एक सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में काम कर चुका था, बर्लिन में 'मज़दूर बिरादरी" *(«Arbeiterverbrüderung»)* "की स्थापना की जो बहुत व्यापक होती गयी और १८५० तक क़ायम रही। बोर्न बहुत प्रतिभाशाली नवयुवक था परंतु उसे राजनीतिक नेता बन जाने की बहुत जल्दी थी और इसलिए वह दुनिया भर के ऐरों-गैरों नत्थू-ख़ैरों" (Kreti und Plethi) "से 'भाईचारा' रखता था ताकि एक भीड़ जुटा सके, और वह उस प्रकार का आदमी क़तई नहीं था जो विरोधी प्रवृत्तियों में एकता स्थापित कर सके या अंधकार में प्रकाश ला सके। फलस्वरूप संस्था के अधिकृत प्रकाशनों में 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में प्रस्तुत किये गये विचारों को श्रेणियों की संस्मृतियों तथा श्रेणी की आकांक्षाओं, लुई ब्लां तथा प्रूदों के कुछ टुकड़ों को, संरक्षणवाद आदि के साथ मिलाकर एक चूं-चूं का मुरब्बा तैयार कर दिया जाता था; सारांश यह कि वे सबको ख़ुश करना चाहते थे" (Allen alles sein)। **"विशेष रूप से हड़तालों, ट्रेड-यूनियनों तथा उत्पादकों की सहकारी समितियों के संगठन का काम चालू किया गया और इस बात को भुला दिया गया कि सबसे बड़ा सवाल राजनीतिक विजयों द्वारा पहले उस क्षेत्र पर अधिकार करने का है,**

---

*कोलोन में कम्युनिस्टों के मुक़द्दमे के बारे में रहस्योद्घाटन, ज़ूरिच, १८८५।—सं०

केवल जिसमें ही इस प्रकार की चीज़ें स्थायी आधार पर पूरी की जा सकती हैं।" (शब्दों पर ज़ोर हमारा)। "जब बाद में चलकर प्रतिक्रिया की विजयों के कारण बिरादरी के नेता क्रांतिकारी संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने की आवश्यकता को समझने लगे तो स्वाभाविक रूप से वह जन-समुदाय, जिसे उन्होंने अपने चारों ओर एकत्रित किया था उन्हें छोड़कर चला गया। बोर्न ने मई १८४९ में ड्रेसडेन के विद्रोह में भाग लिया और उसमें बाल-बाल बच गया। परंतु सर्वहारा वर्ग के महान राजनीतिक आंदोलन के बरख़िलाफ़ मज़दूरों की बिरादरी एक विशुद्ध सबसे अलग संघ साबित हुई, जिसका अस्तित्व बहुत बड़ी हद तक केवल कागज़ पर था और जिसकी भूमिका इतनी गौण थी कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने उसे १८५० तक और उसकी बची-खुची शाखाओं को इसके भी कई वर्ष बाद तक कुचलना आवश्यक नहीं समझा। बोर्न जिसका असली नाम Buttermilch (बटरमिल्ख़)" (जिसका शाब्दिक अर्थ है 'दही')* "था, बहुत बड़ा राजनीतिक नेता नहीं बल्कि स्विट्ज़रलैंड का एक छोटा-सा प्रोफ़ेसर बन गया है, जो अब श्रेणी की भाषा में मार्क्स का अनुवाद न करके विनम्र रेनान का अनुवाद स्वयं अपनी मधुर जर्मन भाषा में करता है।"

जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियों का मूल्यांकन एंगेल्स ने इस ढंग से किया था!

---

*एंगेल्स का अनुवाद करते समय पहले संस्करण में मैंने एक ग़लती यह की थी कि बटरमिल्ख़ शब्द को एक व्यक्तिवाचक संज्ञा न मानकर एक जातिवाचक संज्ञा समझ बैठा था। ज़ाहिर है इस ग़लती पर मेंशेविक बहुत ख़ुश हुए। कोल्त्सोव ने लिखा कि मैंने "एंगेल्स को और गूढ़ बना दिया" था ('दो वर्ष' नामक लेख संग्रह में पुनर्मुद्रित) और प्लेख़ानोव तो आज तक 'तोवारिश्च'[61] में इस ग़लती का हवाला देते हैं – सारांश यह कि इससे जर्मनी में १८४८ के **मज़दूर वर्ग के आंदोलन की दो प्रवृत्तियों के सवाल से कन्नी काटने का बहुत अच्छा बहाना मिल गया** – एक तो बोर्न वाली प्रवृत्ति (जो हमारे "अर्थवादियों" से मिलती-जुलती है) और दूसरी मार्क्सवादी प्रवृत्ति। अपने विरोधी की ग़लती का फ़ायदा उठाना, भले ही वह केवल बोर्न के नाम के बारे में ही रही हो, बिल्कुल स्वाभाविक ही है। परंतु अनुवाद में एक सुधार को दो कार्यनीतियों के सवाल से कन्नी काटने के लिए इस्तेमाल करना असली समस्या से कतराना है। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी। – सं०)

हमारे नये 'ईस्क्रा'-वादी भी "अर्थवाद" की ओर बढ़ते जा रहे हैं और इतने उत्साह से बढ़ते जा रहे हैं कि राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग भी "समझदारी की बातें करने" के लिए उनकी प्रशंसा कर रहा है। वे भी अपने चारों ओर एक पंचमेल भीड़ जमा करते हैं, "अर्थवादियों" की लल्लो-चप्पो करते हैं, "पहलक़दमी", "जनवाद", "स्वायत्त अधिकार" आदि, आदि के नारों से लफ़्फ़ाज़ी द्वारा अविकसित जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उनके मज़दूर यूनियनों का अस्तित्व भी ख़्लेस्ताकोव[62] के नये 'ईस्क्रा' के पृष्ठों पर ही है। उनके नारों तथा प्रस्तावों में भी "सर्वहारा वर्ग के महान राजनीतिक आंदोलन" के कामों को उसी तरह न समझ पाने का प्रमाण मिलता है।

लेखन-काल जून-जुलाई, १६०५

पुस्तक के रूप में
जेनेवा में प्रकाशित, जुलाई १६०५

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड ६, पृष्ठ १–११६

पार्टी का पुनर्संगठन[63]

१

हमारी पार्टी की कार्य-स्थितियों में ग्रामूल परिवर्तन हो रहा है। सभाग्रों, संघों ग्रौर प्रेस की ग्राज़ादी हासिल की जा चुकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये ग्रधिकार बहुत ही ग्रस्थायी हैं। वर्तमान स्वतन्त्रताग्रों पर विश्वास करना, यदि ग्रपराध नहीं, तो मूर्खता तो होगी ही। निर्णायक संघर्ष तो ग्रभी भविष्य में होगा। इस संघर्ष की तैयारी की ग्रोर ही सबसे ग्रधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। पार्टी का गुप्त ढांचा ग्रवश्य ही क़ायम रखा जाये। मगर साथ ही ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक विस्तृत वर्तमान स्वतन्त्रता का ग्रधिकतम लाभ उठाना भी बहुत जरूरी है। यह भी नितान्त ग्रावश्यक है कि पार्टी के गुप्त ढांचे के ग्रतिरिक्त ग्रनेकों नयी सार्वजनिक ग्रौर ग्रर्ध-सार्वजनिक पार्टी संस्थाएं (ग्रौर पार्टी से सम्बद्ध सस्थाएं भी) संगठित की जायें। ऐसा किये बिना ग्रपनी कार्रवाइयों को नयी परिस्थितियों के ग्रनुसार ढालना ग्रसम्भव होगा। हम नये कार्यों से सम्बन्धित मांगें पूरी नहीं कर सकेंगे...

संगठन को नया स्वरूप देने के लिए पार्टी की एक ग्रौर कांग्रेस होनी चाहिए। नियमानुसार तो साल में एक पार्टी कांग्रेस की व्यवस्था है। इसलिए ग्रगली कांग्रेस मई १९०६ में होनी चाहिए। मगर ग्रब इसे जल्दी बुलाना ज़रूरी हो गया है। ग्रगर हमने इस मौक़े का फ़ायदा न उठाया तो यह हाथ से निकल जायेगा। मतलब यह कि मज़दूर इस वक़्त संगठन की बेहद ज़रूरत महसूस कर रहे हैं। यह ज़रूरत पूरी न हुई तो स्थिति बहुत ही भद्दी ग्रौर भयानक रूप धारण कर लेगी। इससे "स्वतन्त्रवादी"[64] इत्यादि शक्तिशाली होंगे। हमें पार्टी को नये ढंग से संगठित करने में बिल्कुल देर नहीं करनी चाहिए। हमें नयी विधियों पर ग्राम बहस करके साहस ग्रौर दृढ़ता से "नयी नीति" निर्धारित करनी चाहिए।

इस अंक में पार्टी के नाम अपील प्रकाशित की गयी है। इस अपील पर हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्यों के हस्ताक्षर हैं[65]। मुझे बहुत विश्वास है कि इस अपील में नयी नीति की जो व्याख्या की गयी है वह बिल्कुल सही है। हम, क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के प्रतिनिधियों और "बहुमत" के समर्थकों ने बार-बार यह बात दोहरायी है कि गुप्त कार्य की परिस्थितियों में पार्टी का पूर्णतः जनवादी बनाया जाना असम्भव है। हमने यह भी कहा है कि इन परिस्थितियों में "चुनाव-सिद्धान्त" बेमानी है। वास्तविक जीवन ने हमारे इस कथन की पुष्टि की है। अल्पमत के भूतपूर्व समर्थकों ने बार-बार अपनी कृतियों में यह कहा है कि वास्तव में सही जनवादीकरण और चुनाव-सिद्धान्त का लागू किया जाना असम्भव सिद्ध हो चुका है (देखिये 'मज़दूर' की पुस्तिका, भूमिका लेखक अक्सेलरोद; 'ईस्क्रा'[66] में प्रकाशित 'अनेक में से एक मज़दूर' का पत्र और पुस्तिका 'पार्टी-फूट पर मज़दूरों के विचार')। मगर हम बोल्शेविकों ने हमेशा ही यह माना है कि परिस्थितियों के बदलने और राजनैतिक स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति पर चुनाव-सिद्धान्त को अपनाना आवश्यक होगा। यदि किसी प्रमाण की आवश्यकता हो तो रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस का संक्षिप्त विवरण इस बात का अकाट्य प्रमाण है।

हां तो, हमारा कार्य बिल्कुल स्पष्ट है—फ़िलहाल गुप्त ढांचा क़ायम रखा जाये और एक नयी सार्वजनिक संस्था का विकास किया जाये। कांग्रेस के सिलसिले में इस कार्य को (जिसे ठोस तरीक़े से पूरा करने के लिए, निःसंदेह, व्यावहारिक योग्यता और विशिष्ट समय तथा स्थान की सभी परिस्थितियों के ज्ञान की आवश्यकता है) इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है—पार्टी नियमावली के अनुसार चौथी कांग्रेस[67] बुलायी जाये और साथ ही, उसी समय, फ़ौरन, चुनाव-सिद्धान्त भी लागू किया जाये। केन्द्रीय समिति ने यह समस्या हल कर दी है—समिति सदस्य, पूर्णतः अधिकारी संस्थाओं के प्रतिनिधियों के रूप में औपचारिक तौर पर, और पार्टी की परंपरागत व्यवस्था के प्रतिनिधियों के रूप में वास्तविक तौर पर, कांग्रेस में भाग लेंगे। उन्हें निर्णायक मतदान का अधिकार होगा। केन्द्रीय समिति, अपने अधिकार का उपयोग करती हुई, **सभी** पार्टी सदस्यों और फलतः पार्टी में शामिल आम मज़दूरों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को कांग्रेस में भाग लेने के लिए **आमंत्रित करती है**। इन्हें

परामर्शकारी मतदान का अधिकार होगा। मगर केन्द्रीय समिति ने आगे यह घोषणा की है कि वह फ़ौरन ही कांग्रेस के सामने यह सुझाव पेश करेगी कि इन परामर्शकारी मतदानों को निर्णायक मतदान के अधिकार में बदल दिया जाये। क्या समितियों के पूरी तरह से अधिकारी प्रतिनिधि इससे सहमत होंगे?

केन्द्रीय समिति यह घोषणा करती है कि उसके मतानुसार, वे निश्चय ही इस सुझाव से सहमत हो जायेंगे। व्यक्तिगत रूप से मुझे तो पक्का यक़ीन है कि वे अवश्य इस सुझाव को मान लेंगे। इससे सहमत न होना असम्भव है। इस बात की कल्पना तक करना भी मुश्किल है कि सामाजिक-जनवादी सर्वहारा के नेताओं का बहुमत इस सुझाव से असहमति प्रकट करेगा। पार्टी कार्यकर्त्ताओं के वोटों को 'नोवाया जीज़्न'[68] बहुत ही सावधानी से दर्ज कर रहा है। हमें यक़ीन है कि ये वोट हमारे विचारों को बहुत जल्द ही सही सिद्ध कर देंगे। अगर इस विषय को लेकर (परामर्शकारी मतदान को निर्णायक मतदान के अधिकार में बदलने के विषय को लेकर) कोई संघर्ष हुआ भी तो उसका परिणाम तो पहले से ही निश्चित है।

इस प्रश्न पर एक दूसरे दृष्टिकोण से—औपचारिक दृष्टि से नहीं, समस्या के सारगत दृष्टिकोण से विचार कीजिये। क्या हमारी सुझायी गयी योजना से सामाजिक-जनवाद के लिए कोई ख़तरा पैदा होता है?

सहसा ही, और बहुत बड़ी संख्या में ग़ैर-सामाजिक-जनवादियों का पार्टी में शामिल होना ख़तरनाक समझा जा सकता है। ऐसा होने पर पार्टी साधारण जन-समूह में अपना अस्तित्व खोकर रह जायेगी। वह वर्ग का वर्ग-चेतन हरावल दस्ता नहीं रहेगी। उसकी भूमिका केवल पिच्छलग्गुओं जैसी रह जायेगी। यह तो सचमुच ही बहुत दुःखद बात होगी। **अगर** हममें तनिक भी सस्ती नेतागीरी की ओर रुझान पाया गया, अगर हममें पार्टी सिद्धान्तों (कार्यक्रम, कार्यनीति सम्बन्धी नियम, संगठन सम्बन्धी अनुभव) का अभाव हुआ या वे सिद्धान्त कमज़ोर और अस्थिर हुए, तो निस्सन्देह यह ख़तरा **बहुत भयंकर** रूप धारण कर लेगा। मगर वास्तव में ऐसी कोई "अगर-मगर" है ही नहीं। हम बोल्शेविकों में सस्ती नेतागीरी की रत्ती भर प्रवृत्ति नहीं है। इसके विपरीत हमने तो सस्ती नेतागीरी की ज़रा-सी कोशिश होने पर भी डटकर, खुले तौर पर और स्पष्ट रूप से उसके विरुद्ध हमेशा ही मोर्चा लिया है। हमने तो पार्टी सदस्य

बननेवालों से वर्ग-चेतना की मांग की है। हमने तो पार्टी के विकास में अविच्छिन्नता के अत्यधिक महत्त्व पर ज़ोर दिया है। हमने तो अनुशासन का प्रचार किया है और **हर** पार्टी सदस्य के किसी न किसी पार्टी संगठन में प्रशिक्षित किये जाने की ज़रूरत पर बल दिया है। हमारा तो दृढ़तापूर्वक निश्चित किया हुआ कार्यक्रम है जिसे सभी सामाजिक-जनवादियों की अधिकृत मान्यता प्राप्त है। इस कार्यक्रम की आधारभूत प्रस्थापनाएं कभी किसी आलोचना का विषय नहीं बनीं (कुछ अलग-अलग स्थलों और सूत्रों की आलोचना बहुत ही उचित और हर ज़िन्दा पार्टी में ज़रूरी है)। हमारे कार्यनीति सम्बन्धी प्रस्ताव हैं जिन्हें दूसरी और तीसरी कांग्रेसों में और सामाजिक-जनवादी समाचारपत्रों में अनेकों सालों के कार्य के परिणामस्वरूप सुसंगत रूप से और विधिवत् तैयार किया गया है। हमें कुछ संगठनात्मक अनुभव भी है। हमारा एक वास्तविक संगठन भी है जिसने जागृति पैदा करने के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यह भूमिका निस्सन्देह फलीभूत भी हुई है। पहली ही दृष्टि में इस भूमिका का महत्त्व जानना कठिन है, मगर केवल अन्धे या सफलताओं से चकाचौंध होनेवाले लोग ही इसके अस्तित्व से इन्कार कर सकते हैं।

नहीं, साथियो, इस ख़तरे के तिल को ताड़ बनाकर पेश करना ठीक नहीं। सामाजिक-जनवाद अपनी धाक जमा चुका है, उसने एक प्रवृत्ति को जन्म दिया है और सामाजिक-जनवादी कार्यकर्त्ताओं का अमला तैयार किया है। इस समय जब सर्वहारा वर्ग ने अपने वीरतापूर्ण कारनामों से यह सिद्ध कर दिया है कि वह स्पष्टतः जाने-समझे लक्ष्यों के लिए एकजुट होकर और डटकर लड़ने के योग्य तथा तत्पर है, और सामाजिक-जनवादी भावना के बिल्कुल अनुरूप लोहा ले सकता है, ऐसे समय में यह सन्देह करना सर्वथा हास्यास्पद होगा कि वे मज़दूर जो हमारी पार्टी के सदस्य हैं और वे जो केन्द्रीय समिति के निमन्त्रण पर कल इसके सदस्य बनेंगे, वे सौ में से निनानवे के हिसाब से सामाजिक-जनवादी होंगे। मज़दूर वर्ग तो स्वभावतः और स्वतः ही सामाजिक-जनवादी होता है और सामाजिक-जनवाद के दस वर्षों के कार्य ने इस स्वतःप्रवृत्ति को वर्ग-चेतना में बदलने में बहुत सहायता की है। साथियो, अपनी ही कल्पना से तरह-तरह के हौवे मत बनाइये! यह मत भूलिये कि हर ज़िन्दा और बढ़ती-फूलती पार्टी में अस्थिर, डांवांडोल तथा ढुलमुल तत्त्व होते हैं। मगर सामाजिक-जनवादियों

का दृढ़ और ठोस दल इन्हें प्रभावित कर सकता है और वे अवश्य ही उनके प्रभाव में आ जायेंगे।

हमारी पार्टी गुप्त स्थिति के कारण गतिहीन सी हो गयी है। तीसरी कांग्रेस में एक प्रतिनिधि ने ठीक ही कहा था कि गुप्त स्थिति के कारण पिछले कुछ बरसों में हमारी पार्टी का दम घुटता रहा है। गुप्त स्थिति टूट रही है। इसलिए हिम्मत से आगे बढ़िये, नये हथियार को उठाइये, इसे नये लोगों में बांटिये, अपने प्रभाव क्षेत्रों को विस्तृत कीजिये, सभी सामाजिक-जनवादी मज़दूरों को अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा कीजिये और उन्हें सैंकड़ों, हज़ारों की संख्या में पार्टी में लाइये। उनके प्रतिनिधियों को हमारे केन्द्रों में नया ज़ीवन फूंकने दीजिये! उन्हें हमारे केन्द्रों में युवा, क्रान्तिकारी रूस की नयी आत्मा का संचार करने दीजिये। क्रान्ति ने अभी तक तो मार्क्सवाद की सभी आधारभूत सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं, सामाजिक-जनवाद के सभी सारभूत नारों को उचित सिद्ध किया है। क्रान्ति ने **हमारे** सामाजिक-जनवादी कार्य, और सर्वहारा की सच्ची क्रान्तिकारी भावना में हमारी आशा और विश्वास को भी सही सिद्ध किया है। इसलिए, आइये, पार्टी में ज़रूरी सुधार करने के लिए सभी तरह की तंगदिली को अलविदा कहें; आइये फ़ौरन ही एक नयी राह अपना लें। हमारा पुराना गुप्त ढांचा तो बना ही रहेगा (इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक-जनवादी मज़दूरों ने इसे मान्यता और स्वीकृति दी है। जीवन के अनुभव और क्रान्ति के घटना-चक्र ने इसे निर्णयों और प्रस्तावों की तुलना में सौ गुना अधिक अच्छे ढंग से सही प्रमाणित कर दिया है)। इस तरह हमें नयी युवा शक्तियां मिलेंगी जो एकमात्र वास्तविक और सुदृढ़ क्रान्तिकारी वर्ग की गहराइयों में से सामने आयेंगी। इसी क्रान्तिकारी वर्ग ने रूस के लिए आधी स्वतन्त्रता हासिल की है और वही वर्ग उसके लिए पूरी स्वतंत्रता प्राप्त करेगा और इस स्वतन्त्रता में से रूस को समाजवाद की ओर अग्रसर करेगा।

२

हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की चौथी कांग्रेस आयोजित करने का निर्णय किया है और इसे 'नोवाया जीज़्न' के ९वें अंक में प्रकाशित किया गया है। यह निर्णय पार्टी संगठन में पूर्ण

जनवादीकरण की प्राप्ति की दिशा में निर्णायक क़दम है। कांग्रेस के लिए अवश्य ही एक महीने की अवधि में प्रतिनिधियों का चुनाव कर लिया जाना चाहिए (प्रतिनिधि शुरू में तो परामर्शकारी मतदान का अधिकार लेकर आयेंगे और बाद में उन्हें अवश्य ही निर्णायक मतदान का हक़ मिल जायेगा)। इसलिए सभी पार्टी संगठनों को, जितनी भी जल्दी सम्भव हो, उम्मीदवारों के नामों और कांग्रेस के कार्यों पर सोच-विचार शुरू कर देना चाहिए। इस बात की सम्भावना को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है कि दम तोड़ती हुई तानाशाही उन सभी स्वतन्त्रताओं को वापिस लेने की फिर से कोशिश करे जिनका उसने आश्वासन दे रखा है और क्रान्तिकारी मज़दूरों तथा विशेष रूप से उनके नेताओं पर चोट करे। इसलिए उम्मीदवारों के असली नाम छापना उचित नहीं होगा (विशेष परिस्थितियों को छोड़कर)। यमदूत सभा के सत्ताधारी रहते हुए, उन छद्म नामों को त्यागने का अभी वक़्त नहीं आया जिनका हमें राजनीतिक दासता के युग ने ही आदी बना दिया है। पहले की भांति, "गिरफ़्तारियों की सम्भावना" को ध्यान में रखते हुए स्थानापन्न प्रतिनिधियों का चुनाव भी करना उचित होगा। ख़ैर, हम गोपनीयता सम्बन्धी इन सभी प्रकार की सावधानियों की विस्तृत चर्चा नहीं करेंगे, कारण, काम की स्थानीय परिस्थितियों से परिचित कार्यकर्त्ता इस सम्बन्ध में पैदा होनेवाली सभी कठिनाइयों का ख़ुद ही आसानी से हल ढूंढ लेंगे। तानाशाही की परिस्थितियों में क्रान्तिकारी काम का अनुभव प्राप्त कर चुकने वाले साथी, नयी "स्वतन्त्र" (अभी उद्धरण-चिन्हों में स्वतन्त्र) परिस्थितियों में सामाजिक-जनवाद का कार्य शुरू करनेवाले नये कार्यकर्त्ताओं की अवश्य मदद करें, उन्हें राह दिखायें। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसा करते समय हमारे समिति-सदस्य बहुत ही समझ-बूझ से काम लेंगे। पहले के औपचारिक विशेष अधिकार अनिवार्य रूप से इस समय महत्त्वहीन हो जायेंगे। बहुत-सी अवस्थाओं में हमारे लिए बिल्कुल "शुरू से" ही अपना कार्य आरम्भ करना ज़रूरी होगा, हमें बहुत बड़ी संख्या में नये पार्टी सदस्यों के सम्मुख सुसंगत सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम, सामाजिक-जनवादी कार्यनीति और संगठन के महत्त्व को **प्रमाणित** करना होगा। हमें यह न भूलना चाहिए कि अभी तक तो हमें अक्सर ऐसे क्रान्तिकारियों से ही वास्ता पड़ता रहा है जो विशेष सामाजिक स्तर में से उठे थे। अब हमें जनता के विशिष्ट प्रतिनिधियों से वास्ता पड़ेगा।

इस परिवर्तन से प्रचार और आन्दोलन सम्बन्धी विधियों में ही नहीं (यानी यह कि अधिक सुबोधता होना, समाजवाद के आधारभूत सत्यों की सरलतम, स्पष्टतम और प्रभावशाली ढंग से व्याख्या करना इत्यादि) बल्कि संगठन-परिवर्त्तन भी करने होंगे।

इस लेख में मैं नये संगठन सम्बन्धी कार्यों की एक विशिष्टता का विस्तार से उल्लेख करना चाहता हूं। केन्द्रीय समिति ने अपने निर्णय में **सभी** पार्टी संगठनों को कांग्रेस में अपने प्रतिनिधि भेजने का निमन्त्रण दिया है। और **सभी** सामाजिक-जनवादी मज़दूरों का आवाहन किया है कि वे ऐसे संगठनों में शामिल हो जायें। इसलिए कि यह इच्छा वास्तव में पूरी हो सके, कार्यकर्त्ताओं का मात्र "निमन्त्रित" किया जाना ही काफ़ी नहीं है, पुराने ढंग के संगठनों की केवल संख्या बढ़ाना पर्याप्त नहीं होगा। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि सभी साथी अपने स्वतन्त्र रूप से, सृजनात्मक और संयुक्त प्रयत्नों द्वारा **नयी** क़िस्म के संगठन क़ायम करें। इसके लिए पूर्वनिर्धारित नियमों की चर्चा करना तो असम्भव है, कारण, कि हम सर्वथा नये क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। इसके लिए तो स्थानीय परिस्थितियों की जानकारी और ख़ास तौर पर पार्टी के **सभी** सदस्यों की पहलक़दमी का सदुपयोग किया जाना चाहिए। निश्चित ही संगठन का नया रूप या यों कहिये कि मज़दूर पार्टी के मूल संगठन सम्बन्धी केन्द्र का नया रूप, पुराने मण्डलों की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, नया केन्द्र, पहले से कम कठोर, अधिक "स्वतन्त्र" और अधिक "ढीला" संगठन भी होगा। सभा-समाज संगठित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता और जनता की शहरी आज़ादियों की पूर्ण गारन्टी के काल में हमें, नि:संदेह, सभी जगहों पर सामाजिक-जनवादी संघ (ट्रेड-यूनियन ही नहीं, राजनैतिक और पार्टी संघ) संगठित करने चाहिए। वर्तमान परिस्थितियों में हमें इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सभी उपलब्ध विधियों और साधनों का उपयोग करना चाहिए।

हमें अवश्य और तत्काल ही पार्टी के सभी कार्यकर्त्ताओं और सामाजिक-जनवाद से सहानुभूति रखनेवाले सभी कामगारों की पहलक़दमी को क्रियाशील बनाना चाहिए। हमें फ़ौरन और हर जगह, व्याख्यानों, वार्त्ताओं, सभाओं और गुप्त गोष्ठियों का आयोजन करना चाहिए और इनमें रूसी सामाजिक-जनवादी

मज़दूर पार्टी की चौथी कांग्रेस के आयोजन की घोषणा करना चाहिए, इस कांग्रेस के कार्यों की बहुत ही सरल और सुबोध ढंग से व्याख्या करना चाहिए, कांग्रेस के नये प्रकार के संगठन की ओर ध्यान दिलाना चाहिए – इन सभाओं-गोष्ठियों में सभी सामाजिक-जनवादियों से यह अपील करना चाहिए कि वे नये ढंग की सच्ची सर्वहारा सामाजिक-जनवादी पार्टी के निर्माण में हाथ बंटायें। ऐसा करने से हमें अनुभव के आधार पर बहुत-सी जनकारी प्राप्त हो जायेगी। ऐसा करने से दो-तीन हफ़्तों के दौरान में (अगर हमने लगन से काम किया) मज़दूरों में से नयी सामाजिक-जनवादी शक्तियां पैदा हो जायेंगी, लोगों का बहुत बड़ा हलक़ा सामाजिक-जनवादी पार्टी में दिलचस्पी लेने लगेगा, जिसे हमने अब सभी मज़दूर साथियों का सहयोग प्राप्त कर नये ढंग से पुनर्संगठित करने का निर्णय किया है। सभी सभाओं में फ़ौरन ही संघों, संगठनों और पार्टी दलों के निर्माण का प्रश्न उठाया जायेगा। हर संघ, संगठन और दल फ़ौरन अपने ब्यूरो, बोर्ड या प्रबन्ध-समिति का चुनाव करेंगे। मतलब यह कि हर संगठन अपना काम-काज चलाने के लिए एक केन्द्रीय और स्थायी समिति बना लेगा। यह समिति पार्टी की स्थानीय संस्थाओं से सम्बन्ध स्थापित करेगी, पार्टी-साहित्य प्राप्त करेगी तथा उसका वितरण करेगी, पार्टी-कार्य के लिए चन्दा इकट्ठा करेगी, सभाओं और व्याख्यानों की व्यवस्था और अन्ततः पार्टी कांग्रेस के लिए प्रतिनिधियों के चुनाव की तैयारी करेगी। पार्टी समितियां, निस्सन्देह, इन संगठनों की मदद करेंगी, उन्हें यह स्पष्ट करने के लिए कि रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी क्या है, इसका इतिहास क्या है और इस समय इसके सामने क्या महान कार्य हैं, आवश्यक सूचना-सामग्री देंगी।

अब वह वक़्त भी आ गया है कि जल-पान गृहों, चायख़ानों, बीयर-घरों, पुस्तकालयों, वाचनालयों और निशानेबाज़ी के केन्द्रों (तीर) * इत्यादि के रूप में मज़दूरों

---

*मुझे इसके अनुरूप रूसी शब्द मालूम नहीं है। "तीर" शब्द से (लेनिन फ़्रांसीसी शब्द का इस्तेमाल करते हैं – सं०) मेरा अभिप्राय उस जगह से है जहां बन्दूक़ से निशानेबाज़ी की जाती है, सभी प्रकार के शस्त्र रखे रहते हैं और मामूली सी फ़ीस देकर कोई भी पिस्तौल या बन्दूक़ से निशानेबाज़ी कर सकता है। रूस में सभाओं और संघों की आज़ादी की घोषणा की जा चुकी है। नागरिकों को निशानेबाज़ी सीखने के लिए इकट्ठे होने का अधिकार है। इससे

के सामाजिक-जनवादी संगठनों के स्थानीय आर्थिक गढ़ बनाये जायें। हमें यह न भूलना चाहिए कि सामाजिक-जनवादी मज़दूरों को "तानाशाही" पुलिस के दमन के अलावा, अपने "तानाशाही" मालिकों के दमन का शिकार भी होना पड़ेगा। वे आन्दोलनकारियों को काम से निकाल देंगे। इसलिए ऐसे गढ़ संगठित करना बहुत ज़रूरी है जो मालिकों के अत्याचार से यथासंभव मुक्त हों।

सामान्यतः, हम सामाजिक-जनवादियों को, कार्य-कलाप की स्वतन्त्रता की इस समय पायी जानेवाली वृद्धि का हर सम्भव लाभ उठाना चाहिए। यह स्वतन्त्रता जितनी अधिक सुनिश्चित होगी उतने ही अधिक ज़ोर से हम यह नारा लगायेंगे – "जनता में जाओ!" स्वयं मज़दूरों की पहलक़दमी अब इतने बड़े पैमाने पर प्रदर्शित होगी कि कल तक के हम, गुप्त व्यवस्था वाले कार्यकर्त्ता और "मण्डलवादी", इस पैमाने की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। सर्वहारा में समाजवादी विचारों का प्रभाव बढ़ रहा है और कुछ ऐसी दिशाओं में बढ़ता जायेगा कि अक्सर उनका अता-पता जानना बहुत मुश्किल होगा। इसलिए इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों का वितरण अधिक विवेकपूर्ण ढंग से करना होगा*। ऐसा करना इसलिए ज़रूरी है कि ये बुद्धिजीवी बेकार ही उन जगहों पर एड़ियां न रगड़ते रहें जहां कि आन्दोलन ख़ुद पहले से ही अपने पांव पर खड़ा हो सकता है, मतलब यह कि ख़ुद अपनी

किसी के लिए कोई ख़तरा नहीं हो सकता। हर बड़े यूरोपीय शहर में निशानेबाज़ी के ऐसे केन्द्र हैं। वे तहख़ानों में और कभी-कभी नगर के बाहर स्थित होते हैं। इनमें सभी लोग जा सकते हैं। मज़दूरों के लिए गोली चलाना और शस्त्रों की जानकारी हासिल करना बहुत ज़रूरी है। बेशक यह सही है कि हम यह काम कोई गम्भीर और विस्तृत रूप से तभी कर सकेंगे जब कि सभा-संघों के आयोजन का अधिकार सुनिश्चित होगा और जब हम ऐसी संस्थाओं को बन्द करने की जुर्रत करनेवाले पुलिस के बदमाशों पर मुक़द्दमा चला सकेंगे।

* पार्टी की तीसरी कांग्रेस में मैंने यह चाह प्रकट की थी कि लगभग आठ मज़दूरों के साथ दो बुद्धिजीवियों के अनुपात में पार्टी समितियां बनायी जायें। अब यह चाह कैसी बेमानी लगती है!

अब हमें नये पार्टी संगठनों में सैंकड़ों सामाजिक-जनवादी मज़दूरों के पीछे एक सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवी की चाह करनी चाहिए।

राह बना सकता है। उन्हें "निचले स्तरों" पर जाना चाहिए, जहां काम ज़्यादा मुश्किल, परिस्थितियां कठिन और अनुभवी तथा अधिक जानकारी रखनेवाले लोगों की अधिक ज़रूरत है, जहां प्रकाश-स्रोत कम और राजनैतिक जीवन की नब्ज़ कमज़ोर है। हमें अब "जनता में" जाना चाहिए जहां अब चुनावों में समूची जनसंख्या यहां तक कि दूरस्थ भागों के लोग भी भाग लेंगे। और (जो और भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है) खुले संघर्ष के अवसर पर "जनता में" जाना चाहिए ताकि प्रदेशीय वान्देय[69] के प्रतिक्रियावाद को शक्तिहीन किया जाये, कि बड़े केन्द्रों से आनेवाले नारों का सारे देश में, पूरे सर्वहारा जनसमूह में प्रचार किया जाये।

अतिवादी होना बेशक हमेशा ही बुरा होता है। अपने कार्य को अत्यधिक स्थायी और "आदर्श" ढंग पर संगठित करने के लिए हमें अभी भी अपनी सर्वोत्तम शक्तियों को किसी एक या दूसरे महत्त्वपूर्ण केन्द्र में केन्द्रित करना होगा। अनुभव से ही इस बात का पता चलेगा कि इस दृष्टि से हम किस अनुपात का अनुकरण करें। इस समय हमारे लिए नये संगठनों के नये प्रतिमान बनाना इतना ज़रूरी नहीं जितना कि अत्यधिक प्रभावशाली और साहसपूर्ण ढंग से कार्य करना। यही कार्य हमें चौथी कांग्रेस में पार्टी-अनुभव द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने तथा उन्हें सूत्रबद्ध करने के योग्य बनायेगा।

३

पहले दो लेखों में हमने पार्टी में चुनाव-सिद्धान्त के आम महत्त्व तथा नये संगठनात्मक केन्द्रों और संगठनात्मक रूपों की आवश्यकता की चर्चा की। हम अब एक अन्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करेंगे। वह प्रश्न है पार्टी एकता का।

यह तो खुली बात है कि सामाजिक-जनवादी मज़दूरों का बहुत बड़ा बहुमत पार्टी-फूट से अत्यधिक असन्तुष्ट है और एकता की मांग करता है। यह बात भी अब किसी से छिपी नहीं कि इस फूट के कारण सामाजिक-जनवादी मज़दूर (या वे जो सामाजिक-जनवादी बननेवाले हैं) सामाजिक-जनवादी पार्टी से कुछ विमुख हो गये हैं।

मज़दूर पार्टी "नेताओं" की एकता की आशा लगभग छोड़ चुके हैं। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस और इस वर्ष के मई महीने में हुए मेन्शेविक सम्मेलन में भी इस एकता की अधिकृत रूप से आवश्यकता स्वीकार की गयी थी। तब से अब तक आधा साल बीत चुका है, लेकिन एकता की दिशा में कुछ भी प्रगति नहीं हुई। अगर मज़दूर बेचैनी ज़ाहिर करने लगे हैं तो इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है। इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि 'ईस्क्रा' में एकता के बारे में लिखनेवाले 'अनेक में से एक मज़दूर' के लेख में और "बहुमत" द्वारा प्रकाशित पुस्तिका ('पार्टी-फूट पर मज़दूरों के विचार', केन्द्रीय समिति द्वारा प्रकाशित, जेनेवा, १६०५) में सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों को आख़िर "नीचे से चपत" की धमकी दी गयी है। कुछ सामाजिक-जनवादियों (मेन्शेविकों) ने उस समय इस धमकी को नापसन्द किया, कुछ ने (बोल्शेविकों ने) इसे उचित और सारतः न्यायसंगत समझा।

मुझे लगता है कि अब वह वक़्त आ गया है जब कि **वर्ग-चेतना रखने वाले** सामाजिक-जनवादी मज़दूर अपने इरादे को अमली जामा पहना सकते हैं और उन्हें अवश्य ऐसा करना भी चाहिए (मैं "धमकी" शब्द का प्रयोग नहीं करूंगा क्योंकि इससे दोषारोपण और सस्ती नेतागीरी की गन्ध आती है। हमें इन दोनों चीज़ों से बचने की पूरी-पूरी कोशिश करनी चाहिए)। वास्तव में वह समय आ गया है या आ रहा है जब कि पार्टी संगठन में चुनाव-सिद्धान्त केवल कोरी बातों के रूप में ही नहीं, बढ़िया गूंजवाले किन्तु बेमतलब वाक्य मात्र के रूप में नहीं — वास्तव में एक नये सिद्धान्त के रूप में लागू किया जा सकता है। यह सिद्धान्त सचमुच पार्टी-सम्बन्धों को नया जीवन देगा, उन्हें विस्तृत करेगा, सशक्त बनायेगा। "बहुमत" का प्रतिनिधित्व करनेवाली केन्द्रीय समिति ने चुनाव-सिद्धान्त के फ़ौरन स्वीकार और लागू करने की सीधी अपील की है। अल्पमत भी उसी पथ का अनुकरण कर रहा है। सभी सामाजिक-जनवादी संस्थाओं, संगठनों, जुलूसों और सभाओं इत्यादि में सामाजिक-जनवादी मज़दूरों का बहुत अधिक और बहुत बड़ी संख्या में बहुमत है।

इसलिए अब केवल एकता के लिए **आग्रह** करना और एकता करने के **वादों** पर ज़ोर देना ही नहीं, बल्कि वास्तव में एकता स्थापित करना बिल्कुल

सम्भव है। इसके लिए दोनों दलों के संगठित मज़दूरों के बहुमत को एकता करने का निर्णय मात्र करना है। इस तरह दूसरों पर अपना "मत लादने" का भी कोई सवाल नहीं होगा। कारण कि सिद्धान्त रूप में एकता की आवश्यकता को सभी की मान्यता प्राप्त है। जो समस्या सिद्धान्त रूप में हल हो चुकी है, मज़दूरों को केवल व्यावहारिक रूप में उसका निर्णय करना होगा।

सामाजिक-जनवादी मज़दूर आन्दोलन में बुद्धिजीवियों और सर्वहारा मज़दूरों के कार्यों के पारस्परिक सम्बन्ध शायद इस सामान्य नियम के रूप में व्यक्त किये जा सकते हैं—बुद्धिजीवी "सिद्धान्त" सम्बन्धी प्रश्नों को बहुत अच्छी तरह हल कर सकते हैं, अच्छी योजनाएं बना सकते हैं, कुछ विशेष कार्य करने की आवश्यकता के बारे में बढ़िया तर्क-वितर्क कर सकते हैं... मगर मज़दूर उसे अमली जामा पहनाते हैं; वे नीरस सिद्धान्तों को ठोस हक़ीक़त की शक्ल देते हैं।

मैं समझता हूं कि मैं सस्ती नेतागीरी का शिकार नहीं समझा जाऊंगा, मैं समझता हूं कि मैं मज़दूर आन्दोलन में चेतना की महान भूमिका को नीचा नहीं करूंगा, न ही मैं मार्क्सवादी विचारधारा और मार्क्सवादी सिद्धान्तों का किसी तरह महत्त्व कम करूंगा यदि अब यह कहूं कि कांग्रेस और सम्मेलन में हमने पार्टी एकता के केवल "नीरस सिद्धान्त" ही रचे। साथी मज़दूरो, इन नीरस सिद्धान्तों को वास्तविक जीवन में परिवर्तित करने में हमारी मदद करो! बड़ी संख्या में पार्टी संगठनों में शामिल हो जाओ! हमारी चौथी कांग्रेस और मेन्शेविकों के दूसरे सम्मेलन को सामाजिक-जनवादी मज़दूरों की शानदार तथा प्रभावशाली कांग्रेस में बदल दो! एकता क़ायम करने के इस व्यावहारिक प्रश्न के हल में हमारा साथ दो! इस प्रश्न को एक ऐसा अपवाद बन जाने दो (ऐसा अपवाद जो विपरीत नियम को सिद्ध करे) जिसमें दसवां भाग सैद्धान्तिक और नौ भाग व्यावहारिकता के हों। यक़ीनन ऐसी चाह बहुत उचित है, ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट है। इस उत्प्रवासन के वातावरण में इतने समय से हम "सिद्धान्त-प्रतिपादन" करते रहे हैं (हमें यह खुले तौर पर स्वीकार करना चाहिए कि कभी-कभार तो बिल्कुल बेकार ही)। भगवान की कसम अब अगर हम "कमान" को "दूसरी दिशा में थोड़ा अधिक झुका दें" और व्यावहारिकता को कुछ अधिक

प्रमुखता दे दें तो कुछ हर्ज नहीं होगा। एकता के प्रश्न के बारे में तो ऐसा करना निश्चित रूप से उचित होगा, और इस समस्या को लेकर फूट के कारणों से हमने ढेरों काग़ज़ और ढेरों स्याही बरबाद कर डाली है। हम राजनैतिक निर्वासित लोग तो विशेष रूप से व्यावहारिक कार्य करने के लिए बेचैन हैं। इतना ही नहीं, हम तो पूरी जनवादी क्रान्ति का बहुत बढ़िया और विस्तृत कार्यक्रम भी तैयार कर चुके हैं। तो आइये, इस क्रान्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकजुट भी हो जायें!

१०,१५ तथा १६
नवम्बर १९०५ को,
'नोवाया जीज़न' के अंक
९,१३ तथा १४ में
प्रकाशित किया गया;
हस्ताक्षर: **न० लेनिन**

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खण्ड १०, पृष्ठ १२–२१

मास्को विद्रोह के सबक़

'दिसम्बर १९०५ में मास्को' नामक पुस्तक (मास्को, १९०६) के प्रकाशन के लिए इससे अधिक उचित समय दूसरा नहीं हो सकता था। दिसम्बर विद्रोह के सबक़ों को गांठ बांध लेना मज़दूरों की पार्टी का एक तात्कालिक कर्तव्य है। दुर्भाग्यवश, यह पुस्तक ऐसी है जैसे शहद का पीपा एक चम्मच तारकोल मिला देने से ख़राब हो गया हो: अपूर्ण होने के बावजूद सामग्री अत्यंत रोचक है और निष्कर्ष अविश्वसनीय हद तक भोंडे तथा अविश्वसनीय हद तक घिसे-पिटे हैं। इन निष्कर्षों पर हम किसी दूसरे अवसर पर विचार करेंगे*; इस समय हम आजकल के ज्वलंत राजनीतिक प्रश्न पर, मास्को विद्रोह के सबक़ों पर, विचार करेंगे।

मास्को में दिसम्बर आंदोलन का मुख्य रूप शांतिपूर्ण हड़ताल तथा प्रदर्शनों का था। मज़दूर जनता के विशाल बहुमत ने संघर्ष के केवल इन्हीं रूपों में सक्रिय रूप से भाग लिया। परंतु मास्को में दिसम्बर की हलचल ने ही असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध कर दिया कि संघर्ष के एक स्वतंत्र तथा प्रधान रूप की हैसियत से आम हड़ताल अब पुरानी पड़ गयी है, कि आंदोलन प्रचंड तथा अदम्य शक्ति के साथ इन संकुचित सीमाओं को तोड़कर बाहर निकला जा रहा है और संघर्ष के उच्चतर रूप – विद्रोह – को जन्म दे रहा है।

हड़ताल की घोषणा करते समय सभी क्रांतिकारी पार्टियों को, मास्को की सभी यूनियनों को कुछ-कुछ मालूम था, बल्कि उन्हें इस बात का आभास भी था कि यह हड़ताल अनिवार्यतः एक विद्रोह का रूप धारण कर लेगी।

---

*देखिये व्ला० इ० लेनिन का 'दूर रहो!' शीर्षक लेख। – सं०

६ दिसम्बर को मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सोवियत ने "हड़ताल को एक सशस्त्र विद्रोह का रूप दे देने का प्रयत्न करने" का निश्चय किया। परंतु वास्तव में कोई भी संगठन इसके लिए तैयार न था। लड़नेवाले दस्तों की संयुक्त परिषद[70] ने भी (९ **दिसम्बर को!**) कहा कि विद्रोह बहुत दूर की बात है और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सड़कों पर जो लड़ाई हुई उसमें उसका न तो कोई हाथ ही था और न उसपर उसका कोई क़ाबू ही था। विभिन्न संगठन आंदोलन के विकास तथा उसकी व्यापकता का **साथ देन में असफल रहे**।

मुख्यतः उन वस्तुगत परिस्थितियों के दबाव के फलस्वरूप, जो अक्तूबर के बाद पैदा हो गयी थीं[71], हड़ताल ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। अब यह संभव न था कि आम हड़ताल इस तरह हो जाये कि सरकार उसका मुक़ाबला करने के लिए तैयार न हो; सरकार ने पहले ही से प्रतिक्रांति को संगठित कर लिया था, जो फ़ौजी कार्रवाई के लिए तैयार थी। अक्तूबर के बाद रूसी क्रांति के आम विकासक्रम ने, तथा दिसम्बर के उन दिनों में मास्को के घटनाक्रम ने मार्क्स की एक सारगर्भित प्रस्थापना की पुष्टि में ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत किये हैं: क्रांति की प्रगति सुदृढ़ तथा एकबद्ध प्रतिक्रांति को जन्म देती है, अर्थात् वह शत्रु को सुरक्षा के अधिकाधिक उग्र उपायों का सहारा लेने पर बाध्य करती है और इस प्रकार आक्रमण के अधिक शक्तिशाली साधनों का पता लगाती है[72]।

दिसम्बर ७ तथा ८: शांतिपूर्ण हड़ताल, शांतिपूर्ण जनव्यापी प्रदर्शन। ८ तारीख़ की शाम: एक्वेरियम की घेरेबंदी[73]। ९ तारीख़, दिन के वक़्त: स्त्रास्तनाया स्क्वायर में जन-समुदाय पर घुड़सवार सैनिकों का आक्रमण। शाम: फ़ीडलर का घर तहस-नहस कर दिया गया[74]। रोष बढ़ता है। सड़कों पर फिरती हुई असंगठित भीड़ों ने बिल्कुल स्वतःस्फूर्त ढंग से तथा झिझकते हुए प्रथम मोर्चेबंदियां खड़ी कीं।

१० तारीख़: मोर्चेबंदियों पर और सड़कों पर फिरते हुए जन-समूहों पर तोपें चलायी गयीं। अधिक विमर्शपूर्वक मोर्चेबंदियां खड़ी की गयीं, अब इक्का-दुक्का स्थानों पर नहीं बल्कि सचमुच बहुत बड़े पैमाने पर। पूरी आबादी सड़कों पर निकल आयी है; नगर के सभी मुख्य केंद्रों में मोर्चेबंदियों का एक जाल-सा बिछ गया है। कई दिन तक लड़नेवाले दस्ते फ़ौज के विरुद्ध डटकर छापेमार लड़ाई लड़ते हैं, जिससे सेना की हिम्मत टूट जाती है और दुबासोव को कुमक के लिए प्रार्थना करने पर बाध्य होना पड़ता है। १५ दिसम्बर को जाकर सरकारी

सेना की श्रेष्ठता पूरी तरह स्थापित हो पाती है और १७ दिसम्बर को सेम्योनोव्स्की रेजिमेंट[75] विद्रोह के अंतिम गढ़, प्रेस्न्या नामक मोहल्ले पर तूफ़ानी हमला करके उसपर क़ब्ज़ा करती है।

हड़ताल और प्रदर्शनों से इक्का-दुक्का मोर्चेबंदियों तक। इक्का-दुक्का मोर्चेबंदियों से व्यापक रूप से मोर्चेबंदियां खड़ी करने और सड़कों पर सेना के विरुद्ध लड़ने तक। संगठनों की सलाह लिये बिना सर्वहारा वर्ग के जन-संघर्ष ने एक हड़ताल से बढ़कर एक विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यह दिसम्बर १९०५ की रूसी क्रांति की महानतम ऐतिहासिक सफलता है; और इससे पहले की सभी सफलताओं की तरह इसके लिए भी अपरिमित बलिदानों का मूल्य चुकाना पड़ा। इस आंदोलन को एक सर्वव्यापी राजनीतिक हड़ताल से ऊंचा उठाकर एक उच्चतर अवस्था में पहुंचा दिया गया। उसने प्रतिरोध करने में प्रतिक्रिया को **हद तक** जाने पर बाध्य कर दिया, और इस प्रकार वह उस घड़ी को अत्यधिक निकट ले आया जब क्रांति भी आक्रमण के साधनों का उपयोग करने में हद तक जायेगी। प्रतिक्रिया मोर्चेबंदियों, घरों और सड़कों पर एकत्रित जन-समुदायों पर बमबारी करने **से आगे नहीं जा सकती**। परंतु क्रांति तो मास्को के लड़ाकू दस्तों से बहुत आगे जा सकती है, वह व्यापकता और गहराई दोनों ही में बहुत, बहुत ही ज़्यादा आगे जा सकती है। और दिसम्बर के बाद क्रांति बहुत आगे बढ़ी है। क्रांतिकारी संकट का आधार अपरिमित हद तक व्यापक हो गया है—अब तलवार की धार को और तेज़ करना है।

संघर्ष की वस्तुगत परिस्थितियों में परिवर्तन को और हड़ताल से विद्रोह में संक्रमण की आवश्यकता को सर्वहारा वर्ग ने अपने नेताओं की अपेक्षा अधिक जल्दी समझ लिया। जैसा कि हमेशा होता है, व्यवहार सिद्धांत से आगे निकल गया। शांतिपूर्ण हड़ताल और प्रदर्शनों से मज़दूरों को अब ज़रा भी संतोष न होता था; वे पूछते थे: अब इसके बाद क्या किया जाये? और वे अधिक दृढ़ कार्रवाई की मांग करने लगे। मोर्चेबंदियां खड़ी करने के आदेश मोहल्लों में बहुत देर में पहुंचे, उस समय जबकि नगर के केंद्रीय भाग में मोर्चेबंदियां खड़ी करने का काम आरंभ भी हो चुका था। मज़दूर बहुत बड़ी संख्या में लड़े, **पर उन्हें इससे भी संतोष नहीं हुआ**; वे जानना चाहते थे: इसके बाद क्या करना है?—वे मांग कर रहे थे कि सक्रिय क़दम उठाये जायें। दिसम्बर में हम लोगों का, सामाजिक-

जनवादी सर्वहारा वर्ग के नेताओं का आचरण उस प्रधान सेनापति जैसा था जिसने अपनी सेनाओं को इतने बेतुके ढंग से तैनात किया हो कि उनमें से अधिकांश को लड़ाई में हिस्सा लेने की नौबत ही न आये। आम मज़दूर जनव्यापी पैमाने पर कोई दृढ़ क़दम उठाने के आदेश मांग रहे थे पर उन्हें इस प्रकार के आदेश न मिल सके।

इस प्रकार, प्लेख़ानोव के इस मत से, जिसे सभी अवसरवादी ले उड़े हैं, अधिक अदूरदर्शिता की बात दूसरी हो ही नहीं सकती कि हड़ताल के लिए यह अवसर उचित नहीं था और हड़ताल आरंभ नहीं की जानी चाहिये थी और यह कि हमें "हथियार नहीं उठाने चाहिये थे"। इसके विपरीत हमें अधिक दृढ़ता, उत्साह और आक्रामक भावना के साथ हथियार उठाने चाहिये थे; हमें जन-साधारण को यह समझाना चाहिये था कि हमारे लिए अपने आपको शांतिपूर्ण हड़ताल तक ही सीमित रखना असंभव था और यह कि निर्भीकता तथा निर्ममता के साथ हथियार लेकर लड़ना अपरिहार्य हो गया था। और अब हमें आख़िरकार खुलकर और सार्वजनिक रूप से इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिये कि राजनीतिक हड़तालें अपर्याप्त हैं; हमें व्यापकतम रूप से सर्वसाधारण के बीच सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में प्रचार करना चाहिये और "प्राथमिक अवस्थाओं" की बातें करके इस समस्या पर परदा डालने या उसे किसी भी ढंग से धुंधला करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यदि हमने जनता से इस बात को छुपाया कि हमें जो क्रांतिकारी क़दम उठाना है वह शत्रु को समूल नष्ट कर देनेवाला भीषण रक्तपात का युद्ध होगा जिसमें हमें अपना सब कुछ दांव पर लगा देना होगा, तो हम स्वयं अपने आपको और जनता दोनों ही को धोखा देंगे।

दिसम्बर की घटनाओं का यह पहला सबक़ है। दूसरे सबक़ का संबंध इस बात से है कि विद्रोह का स्वरूप क्या हो, उसका संचालन किन तरीक़ों से किया जाये और वह कौनसी परिस्थितियां हैं जिनमें सेना आकर जनता के पक्ष में मिल जाती है। इस प्रश्न पर हमारी पार्टी के दक्षिणपंथ का दृष्टिकोण अत्यंत पूर्वाग्रहपूर्ण है। कहा यह जाता है कि आधुनिक सेनाओं के विरुद्ध लड़ना असंभव है, सेनाओं को क्रांतिकारी हो जाना चाहिये। इसमें तो संदेह नहीं कि जब तक क्रांति का स्वरूप जनव्यापी न हो जाये और सेना भी उससे प्रभावित न हो जाये तब तक गंभीर लड़ाई का प्रश्न नहीं उठता। सैनिकों के बीच काम किया जाना चाहिये,

यह तो मानी हुई बात है। परंतु हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि सेना एक ही झटके में, मानो समझाने-बुझाने के फलस्वरूप या स्वयं अपने दृढ़ विश्वासों के कारण हमारी तरफ़ आ जायेगी। मास्को के विद्रोह ने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिया कि यह दृष्टिकोण कितना पिटा-पिटाया और निकम्मा है। सच बात तो यह है कि सेना के डांवांडोल होने के फलस्वरूप, जो प्रत्येक सचमुच के जन-आंदोलन में अनिवार्य है, जब भी क्रांतिकारी संघर्ष अधिक उग्र हो जाता है सचमुच **सेनाओं को अपनी ओर मिलाने के लिए लड़ाई** होने लगती है। मास्को के विद्रोह में इस बात का दृष्टांत मिलता है कि सेना को अपनी ओर मिलाने के लिए प्रतिक्रिया और क्रांति किस प्रकार अपना सब कुछ दांव पर लगाकर घोर संघर्ष करती हैं। दुबासोव ने स्वयं घोषणा की थी कि मास्को की दुर्गरक्षक सेना (गैरिसन) के पंद्रह हज़ार सैनिकों में से केवल पांच हज़ार ऐसे थे जिनपर भरोसा किया जा सकता था। सरकार ने अत्यंत निराशोन्मत्त होकर अत्यंत विविध प्रकार के उपायों द्वारा डांवांडोल सिपाहियों को रोककर रखा: सरकार ने उनसे निवेदन किया, उनकी खुशामद की, उन्हें रिश्वतें दीं, उन्हें घड़ियां, पैसे, आदि उपहार में दिये; उन्हें वोदका पिला-पिलाकर मदहोश कर दिया, सरकार उनसे झूठ बोली, उन्हें धमकी दी, उन्हें बैरकों से बाहर न निकलने का दंड दिया और उनसे हथियार रखवा लिये, और जिन सिपाहियों पर सबसे कम विश्वसनीय होने की शंका थी उन्हें छल-कपट और हिंसा से रास्ते से हटा दिया गया। हममें खुले-आम और निःसंकोच इस बात को स्वीकार करने का साहस होना चाहिये कि इस क्षेत्र में हम सरकार से बहुत पीछे रह गये। डांवांडोल सैनिकों को अपनी ओर मिलाने के लिए सक्रिय, साहसपूर्ण, युक्तिपूर्ण तथा आक्रामक लड़ाई में अपनी शक्ति का उपयोग करने में हम असफल रहे, जैसी लड़ाई सरकार ने सफलतापूर्वक चलायी। हमने सैनिकों के बीच काम किया है और सेना को सिद्धांतों की दृष्टि से "अपनी ओर मिला लेने" के लिए हम भविष्य में अपनी कोशिशों को दुगना-चौगुना कर देंगे। परंतु यदि हम इस बात को भुला दें कि विद्रोह की घड़ी में सेना को अपनी ओर मिलाने के लिए हाथ-पैर की लड़ाई भी आवश्यक है तो हम बहुत ही घटिया क़िस्म के किताबी विद्वान सिद्ध होंगे।

दिसम्बर के दिनों में मास्को के सर्वहारा वर्ग ने हमें सिद्धांत की दृष्टि से सेना को "अपनी ओर मिला लेने" के संबंध में अत्यंत शानदार सबक़ सिखाये,

जैसे, उदाहरण के लिए, ८ दिसम्बर को स्त्रास्तनाया स्क्वायर में जन-समूह कज़्ज़ाकों को घेरकर उनमें घुलमिल गया और उनसे मेलभाव पैदा करके उसने उन्हें वापस लौट जाने पर राज़ी कर लिया। या १० दिसम्बर को प्रेस्न्या मोहल्ले में जब दो मज़दूर लड़कियां, जो १०,००० लोगों की भीड़ में लाल झंडा लिये जा रही थीं, कज़्ज़ाकों का सामना करने के लिए सहसा यह चिल्लाती हुई आगे झपटीं कि "हमें मार डालो! पर हम जीते-जी झंडा हाथ से नहीं छोड़ेंगी!" और कज़्ज़ाक सिटपिटा गये और सरपट घोड़े भगाते हुए वापस लौट गये और जन-समुदाय नारे लगाता रहा: "कज़्ज़ाकों की जय!"। साहस और वीरता के ये उदाहरण सर्वहारा वर्ग के मन में सदैव के लिए अंकित हो जाने चाहिये।

परंतु कुछ उदाहरण इस बात के भी देखिये कि हम किस प्रकार दुबासोव के पीछे रह गये। ६ दिसम्बर को सिपाही विद्रोहियों में जा मिलने के लिए बोल्शाया सेर्पुख़ोव्स्काया स्ट्रीट पर मर्सेइयेज़ नामक गीत गाते हुए क़दम मिलाये चले आ रहे थे। मज़दूरों ने उनका स्वागत करने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजे। मालाख़ोव स्वयं सरपट घोड़ा दौड़ाता हुआ उनकी ओर चला। मज़दूर बहुत देर में पहुंचे, मालाख़ोव उनके पास पहले पहुंच गया। उसने उनके सामने एक जोशीला भाषण दिया, सिपाहियों को डांवांडोल कर दिया, उन्हें घुड़सवार सैनिकों से घेर लिया और उन्हें वापस ले जाकर बैरकों में बंद कर दिया। मालाख़ोव सिपाहियों तक पहुंच गया और हम न पहुंच सके, यद्यपि हमारे आवाहन पर दो दिन के अंदर १,५०,००० आदमी कमर कसकर उठ खड़े हुए थे और इन लोगों को सड़कों पर गश्त लगाने के लिए संगठित किया जा सकता था और किया जाना चाहिये था। मालाख़ोव ने सिपाहियों को घुड़सवारों से घेर लिया जबकि हम मालाख़ोव जसों को बम फेंकनेवालों से न घेर सके। हम यह कर सकते थे और हमें यह करना चाहिये था; और बहुत पहले ही सामाजिक-जनवादी पत्रों ने (पुराने 'ईस्क्रा' ने) यह बताया था कि विद्रोह के समय हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम सभी असैनिक तथा सैनिक प्रधान पदाधिकारियों को निर्ममता के साथ ख़तम कर दें। बोल्शाया सेर्पुख़ोव्स्काया स्ट्रीट में जो कुछ हुआ, स्पष्टतः मूल रूप में वैसी ही घटनाएं नेसवीजस्की बैरक तथा क्रुतीत्स्की बैरक में हुईं, या जब मज़दूरों ने येकातेरिनोस्लाव रेजिमेंट को "बुलाने" का प्रयत्न किया, या जब अलेक्सांद्रोव में सफ़रमैना पल्टन के सिपाहियों के पास प्रतिनिधि भेजे गये, या जब मास्को की

ओर आते हुए रोस्तोव के तोपचियों को वापस लौटा दिया गया, जब कोलोम्ना में सफ़रमैना पल्टन के सिपाहियों से हथियार रखवा लिये गये, और ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण हैं। जब विद्रोह आरंभ हो गया तो डांवांडोल सिपाहियों को अपनी ओर मिलाने की लड़ाई में हम अपने दायित्व को निभाने में अयोग्य सिद्ध हुए।

दिसम्बर की घटनाओं ने मार्क्स की एक और सारगर्भित प्रस्थापना की, जिसे अवसरवादी भूल चुके हैं, पुष्टि की, अर्थात् यह कि विद्रोह एक कला है और इस कला का मुख्य नियम यह है कि वीरता के साथ सब कुछ दांव पर लगाकर और पांव पीछे न हटाने का दृढ़ संकल्प करके **आक्रमण** करना चाहिये[76]। हमने इस सत्य को पर्याप्त रूप से आत्मसात नहीं किया है। हमने इस कला को, किसी भी बाधा की परवाह न करते हुए आक्रमण करने के इस नियम को, न तो स्वयं पर्याप्त रूप से सीखा है न जनता को सिखाया ही है। हमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर इस कमी को पूरा करना चाहिये। राजनीतिक नारों के संबंध में यह तै कर लेना काफ़ी नहीं है कि हम किस नारे के पक्ष में हैं; सशस्त्र विद्रोह के प्रसंग में भी यह तै करना आवश्यक है कि हम किस ओर हैं। जो लोग इसके विरोधी हैं, जो लोग इसके लिए तैयारी नहीं करते उन्हें बड़ी निर्ममता के साथ क्रांति के समर्थकों की पांत से निकाल दिया जाना चाहिये, उन्हें बोरिया-बिस्तर समेत शत्रुओं, ग़द्दारों या कायरों के बीच भेज देना चाहिये, क्योंकि वह दिन निकट आ रहा है जब घटनाओं की शक्ति और संघर्ष की परिस्थितियां हमें शत्रुओं और मित्रों को इस सिद्धांत के अनुसार अलग-अलग कर लेने पर विवश कर देंगी। हमें हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने का उपदेश नहीं देना चाहिये, केवल इस बात की "प्रतीक्षा" में न रहना चाहिये कि कब सेना "आकर हमसे मिल जाये"। नहीं! हमें डंके की चोट पर साहस के साथ आक्रमण करने और सशस्त्र प्रहार की आवश्यकता, ऐसे मौक़ों पर शत्रु का सेनानायकत्व करनेवाले लोगों का संहार करने और डांवांडोल सैनिकों को अपनी ओर मिलाने के लिए पूरी शक्ति लगाकर लड़ने की आवश्यकता की घोषणा करनी चाहिये।

मास्को की घटनाओं ने जो तीसरा बड़ा सबक़ सिखाया उसका संबंध विद्रोह की कार्यनीति और उसके लिए शक्तियों के सगठन से है। सैनिक दांवपेंच सैन्य प्रविधि के स्तर द्वारा निर्धारित होते हैं। यह सीधा-सादा सत्य मार्क्सवादियों के कानों में बार-बार मंत्र की तरह एंगेल्स ने फूंका था[77]। आज की सैन्य टेकनीक वह नहीं

है जो १९वीं शताब्दी के मध्य में थी। भीड़ में तोपचियों से टक्कर लेना ग्रौर तमंचों से मोर्चेबंदियों की रक्षा करना मूर्खता होगी। काउत्स्की ने ठीक ही लिखा था कि मास्को की घटनाग्रों के बाद ग्रब समय ग्रा गया है कि हम एंगेल्स के निष्कर्षों में सुधार करें ग्रौर यह कि मास्को ने "**मोर्चेबंदी की नयी कार्यनीति**"[७९] को जन्म दिया है। यह कार्यनीति छापेमार युद्ध की कार्यनीति है। इस कार्यनीति के लिए जिस संगठन की ग्रावश्यकता है उसमें गतिमान ग्रौर बहुत ही छोटी-छोटी टुकड़ियां होनी चाहिये, दस-दस, तीन-तीन या हो सके तो दो-दो लोगों की टुकड़ियां होनी चाहिये। ग्रब हमें बहुधा ऐसे सामाजिक-जनवादी मिलते हैं जो पांच-पांच या तीन-तीन लोगों की टुकड़ियों की बात सुनते ही मन ही मन हंसने लगते हैं। परंतु मन ही मन हंसना ग्राधुनिक सैन्य टेकनीक द्वारा उत्पन्न की गयी परिस्थितियों के ग्रंतर्गत नगर-युद्ध के लिए ग्रावश्यक कार्यनीति तथा संगठन के **नये** प्रश्न की उपेक्षा करने का एक घटिया तरीक़ा है। सज्जनो, ध्यानपूर्वक मास्को के विद्रोह की कहानी का ग्रध्ययन कीजिये तब ग्रापकी समझ में ग्रा जायेगा कि "पांच-पांच की टुकड़ियों" ग्रौर "मोर्चेबंदी की नयी कार्यनीति" के प्रश्न का ग्रापस में क्या संबंध है।

मास्को ने इस कार्यनीति को जन्म तो दिया, परंतु वह उसे काफ़ी हद तक विकसित नहीं कर सका, वह उन्हें पर्याप्त रूप से, सचमुच जनव्यापी पैमाने पर लागू नहीं कर सका। टुकड़ियों की संख्या बहुत ही कम थी, साहसपूर्वक ग्राक्रमण करने का नारा ग्राम मज़दूरों को नहीं दिया गया ग्रौर उन्होंने उसे लागू नहीं किया; छापेमार दस्तों में बहुत ज़्यादा एकरूपता थी, उनके पास हथियारों ग्रौर रण-कौशल की कमी थी, जन-समुदाय की ग्रगुग्राई करने की उनकी योग्यता प्रायः बिल्कुल ही ग्रविकसित थी। हमें इन सब कमज़ोरियों को दूर करना होगा ग्रौर मास्को के ग्रनुभव से सीखकर, जन-साधारण के बीच इस ग्रनुभव का प्रसार करके ग्रौर इस ग्रनुभव को ग्रौर ग्रधिक विकसित करने के लिए हम उनके सृजनात्मक प्रयासों को उद्दीप्त करके ऐसा करेंगे। ग्रौर दिसम्बर के बाद से रूस में हर जगह ग्रौर लगभग निरंतर जो छापेमार युद्ध ग्रौर जनव्यापी ग्रातंक चल रहा है उनसे निस्संदेह ही सर्वसाधारण को यह सीखने में सहायता मिलेगी कि विद्रोह के समय कौनसी कार्यनीति ग्रपनाना उचित है। सामाजिक-जनवाद को इस जनव्यापी ग्रातंक को समझना चाहिये ग्रौर उसे ग्रपनी कार्यनीति में सम्मिलित कर लेना चाहिये,

उसे संगठित करना चाहिये और उसपर नियंत्रण रखना चाहिये। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि इस जनव्यापी आतंक को मज़दूर वर्ग के आंदोलन और आम क्रांतिकारी संघर्ष के हितों तथा परिस्थितियों के अधीन रखना चाहिये और साथ ही इस छापेमार युद्ध में से "गुंडागर्दी" के दोष को समूल नष्ट कर देना चाहिये और बड़ी निर्ममता के साथ मिटा देना चाहिये, जिसे हमारे मास्को के साथियों ने विद्रोह के दौरान में और लाटविया के निवासियों ने लाटविया के कुख्यात जनतंत्रों[79] के दिनों में इतने शानदार ढंग से और निर्ममता के साथ कुचल दिया था।

अभी इधर ही कुछ समय में सैन्य टेकनीक ने नयी प्रगति की है। जापानी युद्ध ने दस्ती बम को जन्म दिया। छोटे हथियार बनानेवाली फ़ैक्टरियों ने आटोमेटिक राइफ़िलें बाज़ार में बेचना आरंभ कर दिया है। इन दोनों हथियारों का रूसी क्रांति में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है परंतु बहुत ही अपर्याप्त हद तक। हम टेकनीक में जो उन्नति हुई है उसका लाभ उठा सकते हैं और हमें उठाना चाहिये, मज़दूरों की टुकड़ियों को बहुत बड़ी संख्या में बम बनाना सिखलाना चाहिये, और उन्हें तथा अपने लड़ाकू दस्तों को बारूद, फ़लीते तथा आटोमेटिक राइफ़िलों के भंडार प्राप्त करने में सहायता देनी चाहिये। यदि आम मज़दूर शहरों में विद्रोहों में भाग लें, यदि शत्रु पर बड़े पैमाने पर हमले किये जायें, यदि दृढ़संकल्प होकर और होशियारी के साथ सेनाओं को अपनी ओर मिलाने के लिए लड़ाई लड़ी जाये जो दूमा की घटनाओं के बाद, स्वेआबोर्ग तथा क्रोंश्टाद्त की घटनाओं के बाद[80] पहले कभी की अपेक्षा अधिक डांवांडोल हो रही हैं – और आम संघर्ष में देहाती इलाक़ों का भाग लेना सुनिश्चित हो जाये – तो अगले अखिल रूसी सशस्त्र विद्रोह में विजय हमारी होगी।

इसलिए हम रूसी क्रांति के गौरवशाली दिनों के सबक़ों को आत्मसात करते हुए अधिक व्यापक रूप से अपने काम को विकसित करें और अधिक साहस के साथ अपने लक्ष्य निर्धारित करें। हमारे काम का आधार वर्ग-हितों का और इस समय पूरे राष्ट्र के विकास की आवश्यकताओं का सही-सही मूल्यांकन है। ज़ारशाही शासन का तख़्ता उलटने और एक क्रांतिकारी सरकार द्वारा संविधान सभा बुलाने की मांग के नारे के गिर्द हम उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या में सर्वहारा वर्ग, किसान वर्ग तथा सैनिकों को संगठित कर रहे हैं और करते रहेंगे। अब तक की तरह ही

हमारे काम का आधार और उसका मुख्य सार जन-साधारण की चेतना को विकसित करना है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इस सामान्य, निरंतर तथा मूलभूत लक्ष्य के अतिरिक्त रूस की वर्तमान परिस्थिति जैसी परिस्थितियां हमारे सामने अन्य, विशिष्ट तथा विशेष लक्ष्य भी निर्दिष्ट कर देती हैं। हमें चाहिये कि हम खोखले पांडित्य तथा कूपमंडूक प्रवृत्ति के शिकार न हों, अपने स्थायी कर्तव्यों का निरर्थक हवाला देकर, जो सभी कालों तथा परिस्थितियों में एक ही रहते हैं इस समय के इन विशेष लक्ष्यों से, संघर्ष के विद्यमान रूपों के विशेष लक्ष्यों से न कतरायें।

हमें याद रखना चाहिये कि एक महान जन-संघर्ष निकट आ रहा है। वह एक सशस्त्र विद्रोह होगा। यथासंभव उसे हर जगह एक ही समय पर होना चाहिये। जन-साधारण को यह मालूम होना चाहिये कि वे एक सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र में पदार्पण कर रहे हैं जिसमें भीषण रक्तपात होगा और अपना सब कुछ दांव पर लगा देना होगा। जन-साधारण के बीच मृत्यु के प्रति तिरस्कार की भावना व्यापक रूप से फैल जानी चाहिये और इस प्रकार विजय को सुनिश्चित बनाना चाहिये। शत्रु के विरुद्ध अत्यंत उत्साहपूर्वक आक्रमण किया जाना चाहिये; जनता का नारा प्रतिरक्षा नहीं बल्कि आक्रमण होना चाहिये; निर्ममता के साथ शत्रु का संहार उसका काम होगा; संघर्ष का संगठन गतिशील तथा लचीला हो जायेगा; सेनाओं में जो लोग डांवांडोल हैं उन्हें सक्रिय संघर्ष में ले आया जायेगा। इस महान संघर्ष में वर्ग-चेतन सर्वहारा वर्ग की पार्टी को अपना कर्तव्य निभाना चाहिये।

'प्रोलेतारी', अंक २
अगस्त २९, १९०६

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड ११, पृष्ठ १४५–१५२

बढ़े चलो

पिछला बरस अव्यवस्था और सैद्धान्तिक तथा राजनीतिक मतभद का बरस था। तब पार्टी अपनी राह खोजने में असमर्थ रही। हमारे सभी पार्टी संगठनों की सदस्य-संख्या कम हो गयी है। उनमें से कुछ, यानी वे जिनके सदस्यों में सर्वहारा की न्यूनतम संख्या थी, बिल्कुल खण्ड-खण्ड हो गये हैं। क्रान्ति के फलस्वरूप, पार्टी के जिन अर्ध-वैधानिक संगठनों का निर्माण हुआ था उन संगठनों पर बार-बार छापे मारे गये हैं। स्थिति ने यह रुख़ लिया कि उस फूट के शिकार होनेवाले पार्टी के अन्दर ही कुछ तत्त्वों ने यह पूछना आरम्भ किया कि क्या पुरानी सामाजिक-जनवादी पार्टी को क़ायम रखना ज़रूरी है, क्या **इस पार्टी का** काम जारी रखना आवश्यक है? क्या फिर एक बार "गुप्त कार्य" ज़रूरी है और यह कैसे किया जाये? अतिवादी दक्षिणपंथियों (तथाकथित विसर्जनवादी प्रवृत्ति) ने इन प्रश्नों का जवाब यह दिया कि हमें हर हालत में, हर क़ीमत पर वैधानिक रूप धारण करना चाहिए भले ही पार्टी कार्यक्रम, कार्यनीति और संगठन को खुले तौर पर त्यागना पड़े। निस्सन्देह यह न केवल संगठन सम्बन्धी, बल्कि सैद्धान्तिक और राजनैतिक संकट भी था।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का हाल ही में हुआ अखिल रूसी संम्मेलन[81] पार्टी को मार्ग पर ले आया है। प्रतिक्रान्ति की विजय के बाद यह रूसी मज़दूर आन्दोलन के विकास में प्रकटतः नया मोड़ है। हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति द्वारा जारी किये गये एक विशेष 'संसूचन' में सम्मेलन के निर्णय प्रकाशित किये गये। केन्द्रीय समिति ने इन निर्णयों की पुष्टि की है। इसलिए अगली कांग्रेस होने तक ये पूरी पार्टी के निर्णय माने जायेंगे। ये निर्णय संकट के कारणों और उसके महत्त्व का बहुत ही सुनिश्चित उत्तर देते हैं। इन निर्णयों में

इस संकट को दूर करने के उपाय भी बताये गये हैं। इस सम्मेलन के प्रस्तावों के वास्तविक अभिप्राय के अनुसार काम करके, **सभी** पार्टी कार्यकर्त्ताओं को स्पष्ट रूप से और पूरी तरह पार्टी का वर्तमान कार्य समझाने का प्रयास करके, हमारे संगठन संयुक्त और क्रियाशील क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी कार्य के लिए अपनी शक्तियां मज़बूत और सुदृढ़ करने में सफल हो जायेंगे।

पार्टी संकट के प्रमुख कारण के बारे में संगठन सम्बन्धी प्रस्ताव की भूमिका में संकेत किया गया है। प्रमुख कारण है पार्टी से उन डांवांडोल बुद्धिजीवियों और टुटपुंजिया तत्त्वों का निकाल दिया जाना जो मुख्यतः इस आशा से मज़दूर आन्दोलन में शामिल हुए थे कि जल्द ही पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति की विजय होगी, और जो प्रतिक्रिया काल की ताब नहीं ला सके। उनकी अस्थिरता सिद्धान्त में ("क्रान्तिकारी मार्क्सवाद का परित्याग" – वर्तमान स्थिति के बारे में प्रस्ताव), कार्यनीति में ("नारों का कम किया जाना") तथा पार्टी की संगठन सम्बन्धी नीति के क्षेत्रों में व्यक्त हुई। वर्ग-चेतना रखनेवाले मज़दूरों ने इस अस्थिरता का विरोध किया और विसर्जनवादियों के विरुद्ध डट गये। वे पार्टी संगठनों का प्रबन्ध और नेतृत्व अपने हाथों में लेने लगे। हमारी पार्टी का यह मूलभूत केन्द्र, मतभेद और संकट के तत्त्वों पर एक ही झटके में क़ाबू नहीं पा सका। इसका कारण केवल यह नहीं था कि प्रतिक्रान्ति की सफलता के वातावरण में यह काम बहुत बड़ा और टेढ़ा था बल्कि यह भी कि क्रान्ति में विश्वास रखते हुए भी मज़दूर पर्याप्त रूप से समाजवादी वर्ग-चेतना नहीं रखते थे और पार्टी के प्रति किसी हद तक उदासीन रहे। सम्मेलन के निर्णय वास्तव में और मुख्यतः तो वर्ग-चेतना रखनेवाले मज़दूरों को सम्बोधित किये गये हैं। ये निर्णय मतभेद और अस्थिरता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सामाजिक-जनवादी विचारधारा के निचोड़ हैं।

वर्तमान वर्ग-सम्बन्धों और ज़ारशाही की नयी नीति का मार्क्सवादी विश्लेषण; संघर्ष के उस तात्कालिक उद्देश्य की ओर संकेत, जो हमारी पार्टी, पहले की भांति अब भी अपने सामने रखती जा रही है; क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी कार्यनीति के औचित्य की दृष्टि से क्रान्ति के पाठों का गुण-विवेचन; पार्टी संकट के कारणों की व्याख्या, इस संकट को दूर करने के सिलसिले में पार्टी के सर्वहारा तत्त्वों की भूमिका का उल्लेख; क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी संगठनों के आपसी

सम्बन्धों की समस्या का समाधान; दूमा के मंच के उपयोग की आवश्यकता को मान्यता देना और हमारे दूमा-दल की भूलों की प्रत्यक्ष आलोचना करके उसके पथप्रदर्शन के लिए निश्चित अनुदेश तैयार करना – यह थे सम्मेलन के निर्णयों के मुख्य तत्त्व – जिनमें इस प्रश्न का संपूर्ण उत्तर निहित है कि मज़दूर वर्ग की पार्टी इस कठिन समय में किस निश्चित मार्ग का अनुकरण करे। आइये, हम इस उत्तर का ध्यान से विवेचन करें।

राजनीतिक दलबन्दी में वर्ग-सम्बन्ध आज भी वैसे ही हैं जैसे कि पिछले, जनता के प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी संघर्ष के वक़्त थे। किसानों का बहुमत अनिवार्य रूप से उस कृषि-क्रान्ति के लिए प्रयत्न करेगा जो अर्ध-सामन्ती भूस्वामित्व को ख़त्म करेगी। ज़ारशाही की गद्दी उलटे बिना यह क्रान्ति नहीं हो सकती। प्रतिक्रिया की विजय, किसानों के जनवादी तत्त्वों के लिए तो विशेषतः दमनकारी सिद्ध हुई है और किसान एक ठोस संगठन बनाने में असमर्थ हैं। मगर सभी तरह के दमन, यमदूत सभा की दूमा और त्रुदोविकों[82] की अत्यधिक अस्थिरता के बावजूद किसान जनता की क्रान्तिकारी भावना तीसरी दूमा की बहसों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। रूस में पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति के कामों के सिलसिले में सर्वहारा की आधारभूत स्थिति पहले की भांति ज्यों की त्यों बनी है: जनवादी किसानों का पथप्रदर्शन, उन्हें उदारवादी पूंजीपतियों और कैडेट (संविधानिक-जनवादी) पार्टी के प्रभाव से मुक्त करना है। कैडेट पार्टी छोटे-मोटे और निजी मतभेदों के बावजूद अक्तूबरवादियों[83] के अधिकाधिक निकट होती जाती है। यह पार्टी हाल ही में राष्ट्रीय उदारवाद को संगठित करने और अन्धराष्ट्रवादी आन्दोलन द्वारा ज़ारशाही तथा प्रतिक्रिया का समर्थन करने का यत्न करती रही है। प्रस्ताव में कहा गया है कि पहले की भांति संघर्ष का उद्देश्य राजशाही प्रणाली का पूरी तरह उन्मूलन और सर्वहारा तथा क्रान्तिकारी किसानों द्वारा राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना है।

निरंकुशता, पहले की भांति, सर्वहारा और समूचे जनवाद की प्रमुख शत्रु है। फिर भी यह सोचना भारी भूल होगी कि इसके स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है। स्तोलीपिन का "संविधान" और स्तोलीपिन की कृषि-नीति[84], पुरानी, अर्ध-पितृसत्तात्मक, अर्ध-सामन्ती ज़ारशाही के पतन की दिशा में एक नयी अवस्था है। यह ज़ारशाही को पूंजीवादी राजशाही में बदलने की दिशा में एक नया

क़दम है। वे काकेशियाई प्रतिनिधि, जो वर्तमान स्थिति के ऐसे चित्रण को या तो प्रस्ताव में से निकाल देना चाहते थे अथवा "पूंजीवादी" की जगह "धनिकतन्त्रीय" शब्द का प्रयोग करना चाहते थे, ग़लत थे। निरंकुशता तो पिछले बहुत ही समय से धनिकतन्त्रीय है। मगर सिर्फ़ क्रान्ति के पहले चरण के बाद, क्रान्ति की चोटों के प्रभाव से ही, निरंकुशता, बुर्जुआशाही में बदल रही है। यह परिवर्त्तन इसकी कृषि-नीति और पूंजीवादियों की कुछ श्रेणियों के साथ प्रत्यक्ष, राष्ट्रीय स्तर पर संगठित गठबन्धन के रूप में हो रहा है। निरंकुशता काफ़ी अर्से से पूंजीवादी वर्ग का पोषण कर रही है। पूंजीवादी वर्ग काफ़ी अर्से से रूबल की मदद से "उच्च क्षेत्रों" में स्थान प्राप्त करता रहा है, क़ानूनसाज़ी और प्रशासन पर अपना प्रभाव बढ़ाता रहा है और कुलीनों के साथ-साथ उच्च पदों को भी हासिल करता रहा है। मगर वर्तमान स्थिति की विशिष्टता यह है कि निरंकुशता पूंजीवादी वर्ग की कुछ श्रेणियों के लिए एक प्रतिनिधि-सभा का निर्माण करने, इनके और सामन्ती ज़मींदारों के बीच छल-कपट से काम लेने और दूमा में इनके बीच गठबन्धन करवाने के लिए विवश हुई। निरंकुशता देहक़ान की पितृसत्तात्मक पद्धति से जो आशाएं लगाये थी उन्हें त्यागने और देहाती जनता के विरुद्ध अमीर किसानों की मदद हासिल करने के लिए मजबूर हुई। धनी किसान ही ग्रामीण समुदाय को तबाह कर रहे हैं।

निरंकुशता छद्म-वैधानिक संस्थाओं का नक़ाब ओढ़कर अपने असली रूप को छिपा रही है। मगर साथ ही वर्गीय स्वरूप जिस बुरी तरह अब बेनक़ाब हो रहा है वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। ऐसा इसलिए हो रहा है कि ज़ार ने केवल पुरिश्केविच और गुचकोव जैसे लोगों से ही गठबन्धन किया है और अन्य किसी से भी नहीं। उससे निरंकुशता पूंजीवादी क्रान्ति के उन कार्यों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेने की कोशिश कर रही है जो कि वस्तुगत रूप से ज़रूरी हैं। ये कार्य हैं—जन-प्रतिनिधि सभा की स्थापना, जो कि वास्तव में पूंजीवादी समाज का काम-काज चलायेगी, और गांवों को मध्यकालीन, उलझे-उलझाये तथा प्राचीन कृषि-सम्बन्धों से मुक्त करना। मगर निरंकुशता द्वारा की जानेवाली इन नयी कार्रवाइयों का व्यावहारिक परिणाम तो अभी तक शून्य रहा है। इस तरह यह बात और भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि इस ऐतिहासिक कार्य की पूर्त्ति के लिए दूसरी ही शक्तियों और अन्य साधनों की आवश्यकता है।

राजनीति के क्षेत्र में अनुभवहीन करोड़ों साधारण लोग तो अभी तक यही समझते थे कि निरंकुशता और सामान्य जन-प्रतिनिधित्व एक दूसरे के विपरीत हैं। अब, संघर्ष के उद्देश्य सीमित हो गये हैं। अब अधिक निश्चित रूप से संघर्ष का कार्य-भार है – राज्य में सत्ता-प्राप्ति। सत्ता-प्राप्ति ही प्रतिनिधित्व का स्वरूप और अर्थ निर्धारित करती है। इसी लिए तीसरी दूमा, पुरानी ज़ारशाही के पतन, इसके द्वारा जोखिम की भावना के अधिक तीव्र रूप धारण करने, पुराने क्रान्तिकारी कार्यों के अधिक गम्भीर रूप लेने और इन लक्ष्यों के लिए किये जानेवाले संघर्ष (तथा इस संघर्ष में भाग लेनेवालों की संख्या) के अधिक विस्तृत होने की दिशा में एक विशेष अवस्था है।

हमें इस अवस्था से छुटकारा पाना चाहिए; वर्तमान काल की नयी परिस्थितियों के लिए नये प्रकार के संघर्ष की ज़रूरत है; दूमा-मंच का उपयोग सर्वथा अनिवार्य है; सर्वहारा जन-साधारण को शिक्षित और संगठित करने का दीर्घकालीन कार्य विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हो जाता है; क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी संगठनों के मिलाप का सवाल पार्टी के सम्मुख विशेष समस्याएं पैदा करता है; उदारवादी और विसर्जनवादी बुद्धिजीवियों द्वारा निन्दा की गयी क्रान्ति के अनुभव की व्याख्या करना और उसे लोकप्रिय बनाना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक – दोनों प्रकार के उद्देश्यों – की दृष्टि से अनिवार्य है। मगर पार्टी की कार्यनीति पहले जैसी ही है। हां, उस कार्यनीति को संघर्ष के उपायों और विधियों को लागू करते समय नयी परिस्थितियों को अवश्य ही ध्यान में रखना होगा। सम्मेलन के एक प्रस्ताव में कहा गया है कि १९०५-१९०७ के जन-संघर्ष का अनुभव क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी कार्यनीति को सही सिद्ध कर चुका है। इस प्रथम हमले के फलस्वरूप क्रान्ति की पराजय से यह स्पष्ट नहीं होता कि हमारे लक्ष्य ग़लत थे, कि हमारे तात्कालिक लक्ष्य "काल्पनिक" थे, या यह कि इन कार्यों के लिए उपयोग में लाये गये साधन और विधियां ग़लत थीं। मगर शक्तियों की अपर्याप्त तैयारी की गयी थी और क्रान्तिकारी संकट का विस्तार और गहराई नाकाफ़ी थी। यह संकट गहरा और विस्तृत बनाने के लिए स्तोलीपिन और उसके साथी बहुत ही प्रशंसनीय उत्साह से काम कर रहे हैं! आज़ादी की पहली सच्ची जन-लड़ाई के बाद उदारवादी और आतंकित बुद्धिजीवी हिम्मत हार गये हैं। उन्हें हिम्मत हारने दीजिये। उन्हें कायरों की भांति यह दोहराने दीजिये – जहां पिट चुके हैं वहां मत जाइये, उसी

घातक पथ पर पांव बढ़ाना ठीक नहीं। वर्ग-चेतना सम्पन्न सर्वहारा उन्हें यह जवाब देगा – इतिहास के महान युद्ध और महान क्रान्तियों की समस्याएं अग्रणी वर्गों के बार-बार मोर्चा साधने से ही हल हुई हैं। पराजय के अनुभव से ही उन्होंने विजय प्राप्त की है। पराजित सेनाएं अच्छी तरह से पाठ सीखती हैं। रूस के क्रान्तिकारी वर्ग अपने पहले आन्दोलन में मात खा गये हैं, मगर क्रान्तिकारी स्थिति तो ज्यों की त्यों बनी है। नये रूपों में और दूसरे उपायों से, कभी-कभी हमारी इच्छा के विरुद्ध, धीमी गति से, क्रान्तिकारी संकट फिर सामने आ रहा है, फिर परिपक्व हो रहा है। हमें जन-साधारण को अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर इस क्रान्तिकारी संकट के लिए तैयार करने का दीर्घकालीन कार्य पूरा करना चाहिए। अधिक ऊंचे और ठोस कार्यों को ध्यान में रखते हुए यह तैयारी अधिक गम्भीर होनी चाहिए। इस कार्य को हम जितनी सफलतापूर्वक पूरा करेंगे, नये संघर्ष में हमारी विजय भी उतनी ही अधिक सुनिश्चित हो जायेगी। रूसी सर्वहारा इस बात पर गर्व कर सकता है कि १९०५ में उसके नेतृत्व में ग़ुलामों के राष्ट्र ने पहली बार ज़ारशाही पर चोट करनेवाली महान शक्ति और क्रान्तिकारी सेना का रूप धारण किया है। अब वही सर्वहारा अधिक शक्तिशाली क्रांतिकारी फ़ौज के नये अमले का शिक्षण और तैयारी दृढ़ता से, डटकर और सब्र के साथ कर पायेगा।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि दूमा-मंच का उपयोग इस शिक्षण और तैयारी का आवश्यक, अभिन्न अंग है। दूमा-दल के बारे में सम्मेलन का प्रस्ताव हमारी पार्टी को उस पथ का निर्देश करता है – अगर इतिहास में हमें अपनी नीति के समर्थन में उदाहरण ढूंढने ही हों तो – जो जर्मन सामाजिक-जनवाद के उस समय के अनुभवों के निकटतम है जब समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून[85] लागू किया गया था। ग़ैर-क़ानूनी पार्टी को अवश्य ही यह जानना और सीखना चाहिए कि वह क़ानूनी दूमा-दल का कैसे उपयोग करे। ग़ैर-क़ानूनी पार्टी अपने क़ानूनी दूमा-दल को ऐसा पार्टी संगठन बनने का अवश्य ही प्रशिक्षण दे जोकि सौंपे गये कार्यों को सफलतापूर्वक पूरा कर सके। वर्तमान काल की परिस्थितियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए पार्टी के क़ानूनी दूमा-दल को वापस बुलाने का सवाल उठाना (सम्मेलन में दो "बहिष्कारवादी"[86] थे, मगर उन्होंने यह प्रश्न खुले तौर पर नहीं उठाया था) या उसकी भूलों की प्रत्यक्ष और

खुली आलोचना न करना और प्रस्ताव में उनकी गणना न करना (जैसा कि कुछ प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में ज़ोर देकर कहा था) – सबसे बड़ी कार्यनीति सम्बन्धी भूल होगी और सुसंगत, सर्वहारा कार्य के सिलसिले में सबसे दुखद पथ-भ्रष्टता होगी। प्रस्ताव में इस बात को पूर्ण मान्यता दी गयी है कि पार्टी के दूमा-दल ने कुछ तो ऐसी भूलें की हैं जिनके लिए केवल वही ज़िम्मेदार नहीं था और वे हमारी सभी पार्टी संगठनों की अनिवार्य भूलों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थीं। मगर अन्य भूलें भी हैं जो पार्टी की **राजनीतिक नीति** से विचलित हो जाने की भूलें हैं। क्योंकि ऐसे व्यतिक्रमण हुए, और ये व्यतिक्रमण ऐसे संगठन ने किये जो खुले-आम समूची पार्टी के नाम पर काम कर रहा था, इसलिए पार्टी साफ़ और निश्चित तौर पर इन्हें व्यतिक्रमण घोषित करने के लिए बाध्य थी। पश्चिमी यूरोपीय समाजवादी पार्टियों के इतिहास में संसदीय गुट्टों और ख़ुद पार्टी के बीच नियमविरुद्ध सम्बन्धों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। लेटिन देशों* में ये सम्बन्ध आज भी बहुधा ऐसे बने हुए हैं। वहां पार्टी के संसदीय गुट्ट पर्याप्त पार्टी-भावना अभिव्यक्त नहीं करते हैं। हमें रूस में तो आरम्भ से ही सामाजिक-जनवादी संसदीय प्रणाली को अवश्य ही दूसरे ढंग से संगठित करना चाहिए। हमें तो अवश्य और फ़ौरन ही इस क्षेत्र में लग्न और आपसी सहयोग से कार्य करना चाहिए ताकि हर सामाजिक-जनवादी संसद-सदस्य वास्तव में यह अनुभव करे कि वह पार्टी का प्रतिनिधित्व करता है, कि उसकी भूलों से पार्टी को अफ़सोस होता है कि पार्टी उसको सही मार्ग बताने की चिन्ता करती है ताकि प्रत्येक पार्टी कार्यकर्त्ता पार्टी के सामान्य दूमा-कार्य में भाग ले सके, उसके कार्यों की कारोबारी मार्क्सवादी आलोचना से बहुत कुछ सीखे, संसदीय गुट्ट की सहायता करना अपना कर्त्तव्य माने और संसदीय गुट्ट के विशेष कार्य को पार्टी की प्रचारात्मक और आन्दोलनात्मक कार्रवाइयों के अधीन मानने का प्रयास करे।

पार्टी के सबसे प्रमुख संगठनों के प्रतिनिधियों का यह पहला अधिकृत सम्मेलन था जिसमें सामाजिक-जनवादी दूमा-दल की पूरे अधिवेशन की कार्रवाइयों पर विचार किया गया। सम्मेलन के निर्णय से बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी पार्टी दूमा-कार्य को क्या रूप देगी, इस क्षेत्र में वह अपने और दूमा-दल

*इटली, फ़्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, रूमानिया।

के सम्बन्ध में कैसी कड़ाई बरतेगी और यह कि वह तनिक भी विचलित हुए बिना और दृढ़तापूर्वक सच्ची सामाजिक-जनवादी संसद-प्रणाली लागू करने का इरादा रखती है।

दूमा-दल के प्रति हमारे रवैये के प्रश्न का कार्यनीतिक और संगठनात्मक पहलू है। इस अन्तिम अर्थ में दूमा-दल से सम्बन्धित प्रस्ताव, संगठन-नीति के सामान्य सिद्धान्तों को एक विशिष्ट स्थिति में लागू करने का एक और उदाहरण है। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन सम्मेलन ने संगठनात्मक प्रश्न के अनुदेशों सम्बन्धी प्रस्ताव में किया है। इस प्रश्न के बारे में सम्मेलन में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में दो आधारभूत प्रवृत्तियां देखने में आयीं। एक प्रवृत्ति तो ग़ैर-क़ानूनी पार्टी संगठन पर ज़ोर देती है। दूसरी प्रवृत्ति – जोकि बहुत कुछ विसर्जनवाद से मिलती-जुलती है – क़ानूनी और अर्ध-क़ानूनी संगठनों को ही केन्द्र-बिन्दु बनाने के पक्ष में है। वास्तव में वर्तमान स्थिति की विशिष्टता यह है कि पार्टी के कुछ कार्यकर्त्ता, ख़ास तौर पर बुद्धिजीवी और कुछ मज़दूर भी पार्टी से अलग हो गये हैं। हम इस बात का पहले ज़िक्र कर चुके हैं। विसर्जनवादी यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या पार्टी के सर्वश्रेष्ठ तथा सबसे अधिक सक्रिय तत्त्व ही पार्टी को छोड़कर क़ानूनी संगठनों को अपना कार्यक्षेत्र बना रहे हैं या कि "डांवांडोल बुद्धिजीवी और टुटपुंजिया तत्त्व" पार्टी को छोड़ रहे हैं? कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्मेलन ने दृढ़तापूर्वक विसर्जनवाद की भर्त्सना और उसे रद्द करके यही उत्तर दिया कि ये तत्त्व "डांवांडोल बुद्धिजीवी और टुटपुंजिया" ही हैं। पार्टी के अधिकतम सर्वहारा तत्त्व और बुद्धिजीवियों में सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यधिक दृढ़ और सामाजिक-जनवादी तत्त्व, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के प्रति वफ़ादार रहे हैं। ऐसे तत्त्वों के अलग होने का मतलब है पार्टी का परिष्कृत होना, अत्यधिक अस्थिर और अविश्वसनीय मित्रों और "पिच्छलग्गुओं" (Mitläufer) से पिंड छूटना जो हमेशा ही कुछ अर्से के लिए सर्वहारा का साथ देते हैं और टुटपुंजिया वर्ग या वर्गच्युत यानी किसी निश्चित वर्ग के घेरे से बाहर फेंके हुए लोग होते हैं।

पार्टी संगठन सम्बन्धी सिद्धान्त के इस मूल्यांकन का तर्कसंगत परिणाम है वह संगठनात्मक नीति जो सम्मेलन ने स्वीकार की। ग़ैर-क़ानूनी पार्टी संगठन को मज़बूत किया जाये, सभी कार्य-क्षेत्रों में पार्टी के प्राथमिक संगठन क़ायम किये जायें, सबसे पहले "प्रत्येक औद्योगिक उद्यम में मज़दूरों की शुद्ध पार्टी समितियां

बनायी जायें, बेशक उनमें मज़दूरों की संख्या कम ही हो", और ख़ुद मज़दूरों में से आनेवाले सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के नेताओं के हाथों में ही प्रमुख कार्य केन्द्रित किये जायें—आज यही महत्त्वपूर्ण कार्य है। इन प्राथमिक संगठनों और समितियों का, निःसन्देह, यही कार्य होना चाहिए कि वे "जनता से घनिष्ठतम सम्पर्क" क़ायम रखने के लिए अर्ध-क़ानूनी और जहां तक सम्भव हो क़ानूनी संस्थाओं का उपयोग करें और वे कार्य का निर्देशन इस तरह करें कि सामाजिक-जनवाद जनता की सारी आवश्यकताओं का प्रतिपादन कर सके। हर प्राथमिक संगठन और हर पार्टी मज़दूर समिति अवश्य ही "जनता में आन्दोलन, प्रचार और व्यावहारिक संगठनात्मक कार्य का आधार बन जाये"। दूसरे शब्दों में उन्हें वहां पहुंचना चाहिए जहां जनता हो—उन्हें हर क़दम पर जनता की चेतना को समाजवाद की दिशा में सजग करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे हर विशिष्ट प्रश्न को सर्वहारा के सामान्य कार्यों से जोड़ दें, और हर संगठनात्मक काम को **वर्ग** एकीकरण का रूप दें और इस तरह उत्साह और सैद्धान्तिक प्रभाव द्वारा (पद या दर्जे द्वारा नहीं) सभी सर्वहारा क़ानूनी संस्थाओं में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लें। यदि ये संगठन और समितियां संख्या में बहुत कम भी हुईं, तो भी पार्टी परम्पराओं, पार्टी संगठन और एक निश्चित वर्ग कार्यक्रम द्वारा आपस में शृंखलाबद्ध होंगी; इस प्रकार दो या तीन सामाजिक-जनवादी भी क़ानूनी संस्था की अनियमित भीड़ में खो जाने के बजाय, सभी तरह की स्थितियों, परिस्थितियों और वातावरण में **पार्टी** नीति का अनुकरण कर सकेंगे, समूची पार्टी की भावना के अनुसार अपने वातावरण को प्रभावित करेंगे और ख़ुद को उस वातावरण के प्रवाह में बहने नहीं देंगे।

यह सम्भव है कि एक या दूसरे प्रकार की जन-संस्थाएं तोड़ दी जायें, यह भी मुमकिन है कि क़ानूनी ट्रेड-यूनियन ख़त्म कर दिये जायें, यह भी हो सकता है कि प्रतिक्रियावादी शासन-काल में मज़दूरों का कोई भी खुला प्रयास पुलिस की ज़ोर-ज़बर्दस्ती का शिकार हो जाये, पर दुनिया की कोई भी ताक़त पूंजीवादी देश में मज़दूर-जनता के एकजुट होने की प्रक्रिया को नहीं रोक सकती,—और रूस पूंजीवादी देश बन चुका है। क़ानूनी या अर्ध-क़ानूनी, खुले तौर पर या लुक-छिपकर, ग़र्ज़ कि मज़दूर वर्ग एकजुट होने के साधन ढूंढ ही लेगा। वर्ग-चेतना रखनेवाले सामाजिक-जनवादी हर जगह और हमेशा ही जनता के अग्रणी रहेंगे

ग्रौर हर जगह तथा हमेशा ही एकजुट होकर पार्टी-भावना के अनुसार जनता को अपने प्रभाव में लाने का यत्न करेंगे। जिस सामाजिक-जनवाद ने एक खुली क्रान्ति में यह सिद्ध कर दिया कि वह एक वर्ग की पार्टी है, जो हड़ताल में, १९०५ के विप्लव में और १९०६-१९०७ के चुनावों में लाखों का नेतृत्व करने में समर्थ हुई, वह आज भी एक वर्ग की पार्टी, आम जनता की पार्टी बनी रह सकेगी। वह एक ऐसा हरावल दस्ता बनी रह सकेगी जो कठिनतम घड़ी में भी बाक़ी फ़ौज से टूटकर अलग नहीं होगा, जो कठिन घड़ियों को काट लेने, अपनी सैन्य पंक्तियों को पुनः व्यवस्थित करने और नित नये सैनिकों को प्रशिक्षित करने में फ़ौज की मदद कर सकेगा।

यमदूत सभा के शिकारी कुत्तों को दूमा के अन्दर और बाहर, राजधानी और गांव-देहातों में जाकर भूंकने और चीख़ने-चिल्लाने दीजिये। प्रतिक्रिया को बौखलाने दीजिये। अति बुद्धिमान श्री स्तोलीपिन, संतुलन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील निरंकुशता के पतन को और अधिक निकट लाये बिना, राजनीतिक असम्भावनाओं और बेहूदगियों के उलझाव को और जटिल बनाये बिना कोई भी क़दम नहीं उठा सकते। श्री स्तोलीपिन जो भी क़दम उठायेंगे उससे सर्वहारा की ताक़त बढ़ेगी और किसान जनता के क्रान्तिकारी तत्त्वों में नयी और ताज़ी शक्तियां पनपेंगी। जनता से सम्पर्क रखती हुई जो पार्टी दृढ़तापूर्वक कार्य करने के लिए अपना दृढ़ीकरण करने में सफल होगी, अग्रगामी वर्ग की पार्टी, वह पार्टी जो इस वर्ग के अग्रणी दस्तों को संगठित करने में सफल होगी, जो अपनी शक्तियों का निर्देशन इस ढंग से करेगी कि सर्वहारा के जीवन के हर पहलू को सामाजिक-जनवादी भावना के अनुसार प्रभावित कर पाये—हर हालत में, कुछ भी हो जाये वही पार्टी अन्त में जीतेगी।

'सोत्सिअल-देमोक्रात',
अंक २ में प्रकाशित
२८ जनवरी (१० फ़रवरी) १९०९

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खण्ड १५, पृष्ठ ३१६—३२६

हर्ज़ेन की स्मृति में

हर्ज़ेन की जन्मतिथि को सौ वर्ष बीत चुके हैं। बड़ी सावधानी के साथ समाजवाद के गंभीर प्रश्नों से कतराता हुआ और बड़ी मेहनत से उस बात को छुपाता हुआ जो **क्रांतिकारी** हर्ज़ेन को एक उदारवादी से अलग करती थी, समस्त उदारवादी रूस उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है। दक्षिणपंथी अख़बार भी हर्ज़ेन की वर्षगांठ मना रहे हैं, और यह मिथ्या दावा कर रहे हैं कि अपने जीवन के अंतिम वर्षों में हर्ज़ेन क्रांति से विमुख हो गये थे। और विदेशों में हर्ज़ेन के बारे में जो उदारवादी तथा नरोदनिक भाषण दिये जा रहे हैं उनमें लफ़्फ़ाज़ी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मज़दूर वर्ग की पार्टी को हर्ज़ेन की वर्षगांठ कूपमंडूकों की तरह उनका गौरव-गान करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं अपने कर्त्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए और यह मालूम करने के लिए मनाना चाहिये कि इस लेखक का, जिसका रूसी क्रांति का मार्ग प्रशस्त करने में बहुत बड़ा हाथ था, इतिहास में वास्तव में क्या स्थान है।

हर्ज़ेन पिछली शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अभिजात वर्ग तथा ज़मींदारों में से निकलने वाले क्रांतिकारियों की पीढ़ी में से थे। अभिजात वर्ग ने रूस को जहां एक ओर बिरोन तथा अराक्चेयेव जैसे लोग, असंख्य "शराबी अफ़सर, गुंडे, जुआरी, मेलों-ठेलों के छैले, कोड़ेबाज़, मवाली, लोगों की खाल खिंचवा लेनेवाले, और ज़िनाकार" दिये वहां दूसरी ओर मनीलोव[87] जैसे शील स्वभाव के लोग भी उसी वर्ग से आये। हर्ज़ेन ने लिखा था, "परंतु १४ दिसम्बर के लोग[88] भी उन्हीं में से निकले, ऐसे वीरों का एक अग्रदल जो रोमुलस तथा रीमस की भांति जंगली जानवरों का दूध पी-पीकर पले-बढ़े थे... वे ऐसे सूरमा थे जो सिर से पांव तक शुद्ध फ़ौलाद के ढले हुए थे, वे ऐसे शहीद योद्धा थे जिन्होंने नवयुवक पीढ़ी में एक नये जीवन

की चेतना जागृत करने के लिए और अत्याचार तथा दासता के वातावरण में पैदा हुए बच्चों को शुद्ध करने के लिए जान-बूझकर मौत को गले लगाया।"[89]

हर्ज़ेन भी इन्हीं बच्चों में से थे। दिसम्बरवादियों के विद्रोह ने उनमें जागृति पैदा की और उन्हें "शुद्ध कर दिया"। उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक के सामंती रूस में वह ऐसी ऊंचाई पर पहुंच गये कि उनकी गणना अपने समय के महानतम विचारकों में की जाने लगी। उन्होंने हेगेल के द्वंद्ववाद को आत्मसात् कर लिया। उन्होंने इस बात को समझ लिया कि वह "क्रांति की बीजगणित" है। वह हेगेल से भी आगे बढ़कर फ़ायरबाख़ का अनुसरण करते हुए पदार्थवाद तक पहुंचे। उनकी 'प्रकृति के अध्ययन से संबंधित पत्र' नामक रचना के पहले पत्र 'अनुभववाद तथा भाववाद' में, जो उन्होंने १८४४ में लिखा था, हमें एक ऐसे विचारक का रूप दिखायी देता है जो आज भी आधुनिक अनुभववादी प्रकृति विज्ञानवेत्ताओं के समुदाय और आजकल के झुंड के झुंड भाववादी तथा अर्ध-भाववादी दार्शनिकों से कहीं ऊंचा है। हर्ज़ेन द्वंद्वात्मक पदार्थवाद के प्रवेशद्वार पर खड़े थे, और वह वहीं ठहर गये—ऐतिहासिक पदार्थवाद तक पहुंचने से पहले।

इसी "ठहरने" के कारण १८४८ की क्रांति की पराजय के बाद हर्ज़ेन की आध्यात्मिक नौका टकराकर चूर-चूर हो गयी। हर्ज़ेन रूस छोड़कर जा चुके थे और उन्होंने क्रांति को बहुत निकट से देखा था। वह उस समय जनवादी, एक क्रांतिकारी, एक समाजवादी थे। परंतु उनका "समाजवाद" पूंजीवादी तथा निम्न-पूंजीवादी समाजवाद के उन विभिन्न रूपों तथा प्रकारों में से एक था जो १८४८ के युग की विशिष्टता थे और जिनपर उस वर्ष के जून के दिनों में घातक प्रहार किया गया था। सच बात तो यह है कि यह समाजवाद था ही नहीं, बल्कि केवल ऐसे भावनामय शब्द, ऐसी सुखद कल्पनाएं थीं जिनमें पूंजीवादी जनवाद का और सर्वहारा वर्ग का भी, जो अपने आपको उसके प्रभाव से मुक्त नहीं कर पाया था, **तत्कालीन** क्रांतिवाद का आवरण था।

हर्ज़ेन की आध्यात्मिक नौका का चूर-चूर होना, वह घोर अविश्वास तथा निराशा जिसका कि वह १८४८ के बाद शिकार हो गये, समाजवाद के **पूंजीवादी भ्रमों** का चूर-चूर होना था। हर्ज़ेन की दुःखद आध्यात्मिक स्थिति विश्व इतिहास के उस युग का परिणाम तथा प्रतिबिम्ब थी जब पूंजीवादी जनवाद के क्रांतिवाद का (यूरोप में) विलोप **आरंभ हो चुका था** और समाजवादी सर्वहारा वर्ग का क्रांतिवाद

अभी तक परिपक्व **नहीं** हो पाया था। यह एक ऐसी बात है जिसे वे रूसी उदारवादी, जो बेलगाम बकवास करने के सूरमा हैं, जो इस समय हर्ज़ेन के अविश्वास के संबंध में लच्छेदार बातें करके स्वयं अपने क्रांति-विरोध को छुपाने का प्रयत्न कर रहे हैं, न समझे हैं न समझ सकते हैं। इन सूरमाओं के लिए जिन्होंने १९०५ की रूसी क्रांति के साथ विश्वासघात किया और जो **क्रांतिकारी** की महान भूमिका के बारे में सोचना भी भूल चुके हैं, अविश्वास जनवाद के उदारवाद में संक्रमण का एक रूप है – उस अधम, नीच, पतित तथा क्रूर उदारवाद में जिसने १८४८ में मज़दूरों को गोलियों से भून दिया, ध्वस्त राजसिंहासनों को पुनर्स्थापित किया, नेपोलियन तृतीय का गुणगान किया और जिसके वर्ग-स्वरूप को न समझ सकने के कारण हर्ज़ेन जिसे **कोसा करते थे**।

हर्ज़ेन के लिए अविश्वास "वर्गोपरि" पूंजीवादी जनवाद के भ्रमों के सर्वहारा वर्ग के कठोर निर्मम तथा अपराजेय वर्ग-संघर्ष में संक्रमण का एक रूप था। इसका प्रमाण है: अपनी मृत्यु से एक वर्ष पहले १८६९ में हर्ज़ेन द्वारा बकूनिन को लिखे गये 'एक पुराने साथी के नाम पत्र'। इन पत्रों में हर्ज़ेन ने अराजकतावादी बकूनिन से अपना नाता तोड़ लिया है। यह तो सच है कि हर्ज़ेन इस संबंध-विच्छेद को कार्यनीति-संबंधी मतभेद से अधिक कुछ नहीं समझते थे; वह सर्वहारा के विश्वदृष्टिकोण में, जिसे अपने वर्ग की विजय पर पूरा विश्वास है, और निम्न-पूंजीपति के दृष्टिकोण में जो अपनी मुक्ति की आशा छोड़ चुका है, जो विशाल अंतर है उसको नहीं देखते। यह भी सच है कि इन पत्रों में हर्ज़ेन ने एक बार फिर इस आशय के पुराने पूंजीवादी जनवादी शब्दों को दोहराया है कि समाजवाद को "ऐसा उपदेश देना चाहिये जिसमें कमकर को और मालिक को, किसान को और टुटपुंजिये को समान रूप से संबोधित किया गया हो"। परंतु इन सब बातों के होते हुए भी, बकूनिन से अपना नाता तोड़कर हर्ज़ेन ने अपनी दृष्टि उदारवाद की ओर नहीं बल्कि **इंटरनेशनल** की ओर फेरी – उस इंटरनेशनल की ओर जिसके नेता मार्क्स थे, उस इंटरनेशनल की ओर जिसने सर्वहारा वर्ग की "**सेनाओं को एकत्रित**" करना, उस "**श्रमिक जगत**" को एकबद्ध करना "जो बिना काम किये सुख भोगनेवालों के जगत से अलग हो रहा है," आरंभ कर दिया था![90]

हर्ज़ेन १८४८ के पूरे आंदोलन और मार्क्सवाद से पहले के समाजवाद के सभी रूपों के पूंजीवादी-जनवादी सार-तत्व को समझने में असफल रहे, पर रूसी क्रांति के पूंजीवादी स्वरूप को तो वह और भी कम समझ पाये। हर्ज़ेन "रूसी" समाजवाद के, "नरोदवाद" के, संस्थापक हैं। वह **ज़मीन सहित** किसानों की मुक्ति में, सामुदायिक भू-स्वामित्व में और "ज़मीन पाने के अधिकार" के संबंध में किसान की धारणा में ही "समाजवाद" देखते थे। इस विषय पर उन्होंने अपने चहेते विचारों को असंख्य बार व्यक्त किया है।

वास्तव में आजकल के "समाजवादी-क्रांतिकारियों" के मुरझाये हुए नरोदवाद तक के पूरे रूसी नरोदवाद की तरह ही हर्ज़ेन के इस मत में भी समाजवाद का **लेश भी नहीं** है। पश्चिम के "१८४८ के समाजवाद" के विभिन्न रूपों की तरह ही यह भी उसी प्रकार के भावनामय शब्दों का जाल, उसी प्रकार की सुखद कल्पनाओं का समूह है, जिनमें रूस के पूंजीवादी किसान जनवाद का **क्रांतिवाद** मूर्त है। १८६१ में किसानों को जितनी अधिक ज़मीन मिली होती[91], और उसके लिए उन्हें जितना कम मूल्य चुकाना पड़ता उतनी ही अधिक सामंती ज़मींदारों की सत्ता की जड़ें खोखली होतीं और उतनी ही अधिक तेज़ी के साथ, उतनी ही पूरी तरह और उतने ही व्यापक रूप से रूस में पूंजीवाद का विकास हुआ होता। "ज़मीन पाने के अधिकार" और "ज़मीन के बराबर-बराबर बंटवारे" का विचार केवल ज़मींदारों की सत्ता को पूरी तरह उलट देने के लिए और ज़मींदारी के पूर्ण उन्मूलन के लिए संघर्षरत किसानों की समता स्थापित करने की चिरपोषित क्रांतिकारी आकांक्षाओं का निरूपण है।

यह बात १९०५ की क्रांति ने पूरी तरह सिद्ध कर दी। एक ओर सर्वहारा वर्ग सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का निर्माण करके बिल्कुल स्वतंत्र रूप से क्रांतिकारी संघर्ष के अगुआ के रूप में सामने आया; दूसरी ओर क्रांतिकारी किसान ('त्रुदोविक' और 'किसान लीग'[92]) जो ज़मींदारी के उन्मूलन के हर रूप के लिए लड़ते थे, जो यहां तक मांग करते थे कि "ज़मीन पर निजी स्वामित्व का ही उन्मूलन कर दिया जाये," बिल्कुल मालिकों के रूप में, छोटे-छोटे कारोबारी लोगों के रूप में लड़े।

आजकल, ज़मीन पर अधिकार के "समाजवादी स्वरूप" आदि से संबंधित बहस इस सचमुच महत्त्वपूर्ण तथा बुनियादी ऐतिहासिक प्रश्न पर केवल **परदा डालने**

और उसे टाल जाने में सहायता देती है कि रूसी **पूंजीवादी** क्रांति में उदारवादी पूंजीपति वर्ग तथा क्रांतिकारी किसान वर्ग के **हितों में** क्या अंतर है, दूसरे शब्दों में उन उदारवादी और जनवादी, "समझौतेबाज़" (राजतंत्रवादी) और जनतंत्रवादी प्रवृत्तियों के प्रश्न पर जो इस क्रांति में सामने आयीं। यदि हम केवल शब्दों तक ही सीमित न रहकर तह तक जायें, यदि हम "सिद्धांतों" और मतों को वर्ग-संघर्ष का नहीं बल्कि वर्ग-संघर्ष को "सिद्धांतों" और मतों का आधार मानकर छानबीन करें तो हम देखेंगे कि हर्ज़ेन के 'कोलोकोल'[93] ने यही समस्या सामने रखी थी।

हर्ज़ेन ने विदेश में स्वतंत्र रूसी पत्र-पत्रिकाओं की स्थापना की—यही उनकी महान सेवा थी। 'पोल्यार्नाया ज़्वेज़्दा'[94] ने दिसम्बरवादियों की परम्परा को अंगीकार किया। 'कोलोकोल' (१८५७-६७) ने डटकर किसानों की मुक्ति के लिए आवाज़ उठायी। दासों जैसी मूकता भंग हो गयी।

परंतु हर्ज़ेन की पृष्ठभूमि ज़मींदारों और अभिजात वर्ग की थी। वह १८४७ में रूस छोड़कर चले गये थे; उन्होंने क्रांतिकारी जनता नहीं देखी थी और उसके प्रति उनकी आस्था हो ही नहीं सकती थी। यही कारण था कि वह "ऊपर के लोगों" से उदारवादी ढंग से अपील किया करते थे। इसी कारण उन्होंने जल्लाद अलेक्सान्द्र द्वितीय के नाम 'कोलोकोल' में चिकनी-चुपड़ी भाषा में अपने वे अनेक पत्र लिखे, जिन्हें पढ़कर आज कोई भी क्षुब्ध हुए बिना नहीं रह सकता। चेर्निशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव, तथा सेर्नो-सोलोव्येविच ने, जो कि क्रांतिकारी-राज़्नोचीन्त्सी[95] की नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते थे, जब हर्ज़ेन की बीच-बीच में जनवाद के पथ से हटकर उदारवाद **का पथ अपनाने** के लिए जो निंदा की थी वह अक्षरशः सत्य थी। परंतु, हर्ज़ेन के बारे में न्याय की बात यही है कि यद्यपि वह जनवाद और उदारवाद के बीच बहुत डांवांडोल रहते थे फिर भी उनमें जो जनवाद की भावना थी उसको ही प्रधानता प्राप्त हुई।

जब कवेलिन ने, जो उदारवादियों की चाटुकारिता का एक सबसे घृणित नमूना था— जिसने किसी समय 'कोलोकोल' के प्रति केवल इसलिए बहुत उत्साह दिखाया था कि उसमें **उदारवादी** प्रवृत्तियां दिखायी देती थीं—संविधान बनाये जाने का विरोध किया, क्रांतिकारी आंदोलन पर हमला किया, "हिंसा" तथा हिंसा के लिए उकसावों की निंदा की और सहिष्णुता का उपदेश देना आरंभ किया तो हर्ज़ेन ने इस उदारवादी संत से अपना **नाता तोड़ लिया**। हर्ज़ेन ने इस "ओछी,

15—1

बेहूदा, हानिकारक पुस्तिका" की कड़ी आलोचना की जो कि "उदारवादी होने का ढोंग करने में सरकार के निजी मार्गदर्शन के लिए" लिखी गयी थी, कवेलिन के उन "भावनामय राजनीतिक सूत्रों" की निंदा की जिनमें "रूसी जनता को ढोर-डांगर और सरकार को बुद्धिमत्ता का साकार रूप" बताया गया था। 'कोलोकोल' ने "समाधि-लेख" के शीर्षक से एक लेख छापा जिसमें "अपने दंभपूर्ण तथा तुच्छ विचारों का सड़ा हुआ मकड़ी का जाला बुननेवाले प्रोफ़ेसरों की, उन भूतपूर्व प्रोफ़ेसरों की, जो किसी समय में आडम्बर से दूर थे पर बाद में जिनमें इसलिए कटुता आ गयी थी कि स्वस्थ विचारोंवाले नवयुवक उनके रुग्ण विचारों के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकते", खूब खुलकर आलोचना की गयी थी। इस चित्रण में कवेलिन ने अपनी सूरत तुरंत पहचान ली।

जब चेर्निशेव्स्की गिरफ़्तार किये गये तो उस नीच उदारवादी कवेलिन ने लिखा: "मैं इन गिरफ़्तारियों में कोई निंदनीय बात नहीं देखता... क्रांतिकारी पार्टी सरकार का तख़्ता उलटने के लिए हर साधन को उचित समझती है और सरकार भी अपना बचाव अपने उपायों से कर रही है।" मानो इस कैडेट का उत्तर देते हुए चेर्निशेव्स्की के मुक़द्दमे के बारे में अपने लेख में हर्ज़ेन ने लिखा: "और इन कमबख़्तों को देखिये, जिनकी तुलना हम अपने पांव तले की घास से कर सकते हैं, घिनौने जीव, जो कहते हैं कि हमें डाकुओं और बदमाशों के उस गिरोह की निंदा नहीं करना चाहिये जो हमारे ऊपर शासन कर रहा है।"

जब उदारवादी तुर्गेनेव ने अलेक्सान्द्र द्वितीय को यह आश्वासन दिलाते हुए एक निजी पत्र लिखा था कि मैं वफ़ादार तथा आज्ञाकारी प्रजा में से एक हूं और पोलैंड के विद्रोह को कुचलने के दौरान में घायल हुए सिपाहियों के लिए उसने दो स्वर्ण-मुद्राएं दान में दी थीं, तब 'कोलोकोल' ने "सफ़ेद बालोंवाली मैगदलेन (पुल्लिंग श्रेणी की)" के बारे में लिखा था "जिसने ज़ार को पत्र लिखकर यह सूचना दी थी कि उसकी नींद इसलिए ग़ायब हो गयी थी कि यह विचार उसे खाये जाता था कि ज़ार को उस पाश्चात्ताप का ज्ञान नहीं था जिसका कि वह शिकार था"। और तुर्गेनेव ने अपने आपको तुरंत पहचान लिया।

जब रूसी उदारवादियों का पूरा गिरोह पोलैंड का पक्ष लेने के कारण हर्ज़ेन से जल्दी-जल्दी अलग हो गया, जब पूरे "सुशिक्षित समाज" ने 'कोलोकोल' की ओर से मुंह फेर लिया, तो हर्ज़ेन को संकोच नहीं हुआ। वह पोलैंड की स्वतंत्रता

के पक्ष में अपनी आवाज़ उठाते रहे और अलेक्सान्द्र द्वितीय की सेवा में लगे हुए दमनकारियों, हत्यारों और जल्लादों की कड़ी आलोचना करते रहे। हर्ज़ेन ने रूसी जनवाद की लाज रखी। "हमने रूसी नाम की इज़्ज़त बचा ली है," उन्होंने तुर्गेनेव को लिखा, "और ऐसा करने के अपराध में हमने दास-प्रवृत्ति रखनेवाले बहुमत के हाथों बहुत मुसीबतें झेली हैं।"

एक कृषि-दास किसान से संबंधित एक समाचार की टीका करते हुए, जिसने उसकी मंगेतर के साथ बलात्कार की चेष्टा करने के लिए एक ज़मींदार को जान से मार दिया था, हर्ज़ेन ने 'कोलोकोल' में उल्लसित होकर लिखा: "शाबाश!" जब यह समाचार मिला कि "मुक्ति" की "शांतिमय" प्रगति पर निगरानी रखने के लिए फ़ौजी अफ़सर नियुक्त किये जायेंगे, तो हर्ज़ेन ने लिखा: "वह पहला बुद्धिमान कर्नल जो अपनी सेना के साथ किसानों को कुचलने के बजाय, उनका पक्ष लेगा वह अवश्य ही रोमानोव-वंश के राजसिंहासन पर बैठेगा।" जब कर्नल रीटर्न ने वारसा में (१८६०) गोली मारकर इसलिए आत्महत्या कर ली कि वह जल्लादों के साथी नहीं बनना चाहते थे, तब हर्ज़ेन ने लिखा: "अगर किसी को गोली मारना है तो उन जनरलों को गोली मारी जाना चाहिये जो निहत्थे लोगों पर गोली चलाने की आज्ञा देते हैं।" जब बेज़्दना में पचास किसान मारे गये और उनके नेता आन्तोन पेत्रोव को मृत्युदंड दिया गया (१२ अप्रैल, १८६१), तो हर्ज़ेन ने 'कोलोकोल' में लिखा:

> "ओह, रूस देश के श्रमिक और पीड़ित जन, काश मेरे शब्द तुम तक पहुंच सकते!.. मैं तुम्हें तुम्हारी आत्मा के रखवालों से घृणा करना सिखा देता, जिन्हें पीटर्सबर्ग की धर्म-समिति ने और एक जर्मन ज़ार ने तुम्हारे ऊपर बिठा रखा है... तुम ज़मींदारों से नफ़रत करते हो, तुम अफ़सरों से नफ़रत करते हो, तुम उनसे डरते हो—और यह ठीक भी है; परंतु ज़ार और बड़े पादरी के प्रति अब भी तुम्हारा विश्वास है... मत करो उनपर विश्वास। ज़ार उनके साथ है और वे ज़ार के साथ हैं। अब तुम उसे देखते हो—तुम, बेज़्दना में मारे गये नवयुवक के पिता, और तुम, पेंज़ा में मारे गये किसी पिता के पुत्र... तुम्हारे रखवाले तुम्हारी ही तरह अज्ञानी और तुम्हारे ही जैसे निर्धन हैं... साधु ऐंथनी (पादरी ऐंथनी नहीं, बल्कि बेज़्दना

का आन्तोन) ऐसा ही व्यक्ति था, जिसने कज़ान में तुम्हारे लिए मुसीबतों का सामना किया... तुम्हारे संतों के शव अड़तालीस चमत्कार नहीं कर सकते और वंदना करने से दांत का दर्द दूर नहीं हो सकता, परंतु उनकी सजीव स्मृति एक चमत्कार अवश्य कर सकती है—तुम्हारी मुक्ति।"

इससे पता चलता है कि जी-हुज़ूरिये "क़ानूनी" समाचारपत्रों में डटे हुए हमारे उदारवादी, जो हर्ज़ेन की कमज़ोरियों का गुणगान करते हैं और उनके सद्‌गुणों के बारे में बिल्कुल चुप हैं, कितने घृणित और नीच ढंग से हर्ज़ेन पर कीचड़ उछाल रहे हैं। यह हर्ज़ेन का दोष नहीं बल्कि उनका दुर्भाग्य है कि वह १८४०-५० में स्वयं रूस में क्रांतिकारी जनता को नहीं देख सके। जब उन्होंने **सातवें दशक में** क्रांतिकारी जनता को देखा तो उन्होंने निर्भीक होकर उदारवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी जनवाद का पक्ष लिया। वह उदारवादी पूंजीपति वर्ग और ज़मींदारों के ज़ार के बीच किसी सौदेबाज़ी के लिए नहीं बल्कि ज़ारशाही के विरुद्ध जनता की विजय के लिए लड़े। उन्होंने क्रांति का झंडा ऊंचा किया।

हर्ज़ेन की याद मनाते समय हम तीन पीढ़ियों को, उन तीन वर्गों को स्पष्ट रूप से देखते हैं, जो रूसी क्रांति में सक्रिय थे। पहले—अभिजात वर्ग के लोग और ज़मींदार, दिसम्बरवादी और हर्ज़ेन। इन क्रांतिकारियों का वृत्त बहुत संकीर्ण था। वे जनता से बहुत दूर थे। परंतु उनका काम व्यर्थ नहीं गया। दिसम्बरवादियों ने हर्ज़ेन में जागृति पैदा की। हर्ज़ेन ने क्रांतिकारी आंदोलन आरंभ किया।

उनके बाद इस आंदोलन को क्रांतिकारी-राज़्नोचीन्त्सी ने, जिनका क्रम चेर्निशेव्स्की से आरंभ हुआ था और 'नरोदनाया वोल्या'[96] के वीरों पर समाप्त हुआ था, अपने हाथों में ले लिया, उसे बढ़ाया, मज़बूत बनाया तथा तपाकर निखार दिया। लड़नेवालों का क्षेत्र व्यापक होता गया, जनता के साथ उनका सम्पर्क घनिष्ठतर होता गया। हर्ज़ेन ने उन्हें "भावी तूफ़ान के नवयुवक पोतसंचालक" कहा था। परंतु उस समय तक तूफ़ान आया नहीं था।

तूफ़ान तो स्वयं जनता का आंदोलन ही होता है। सर्वहारा वर्ग, जो कि एकमात्र ऐसा वर्ग है जो अंत तक क्रांतिकारी रहता है, जनता की अगुआई करता हुआ उठा और उसने पहली बार लाखों-करोड़ों किसानों को खुले क्रांतिकारी संघर्ष

के लिए कटिबद्ध किया। इस तूफ़ान में पहला धावा १६०५ में हुआ। दूसरे धावे का विकास हमारी आंखों के सामने आरंभ हो रहा है।

हर्ज़ेन की याद मनाते हुए सर्वहारा वर्ग उनके उदाहरण से क्रांतिकारी सिद्धांत के विशाल महत्व को समझना सीख रहा है। वह यह सीख रहा है कि यदि बीज बोने और फ़सल काटने के बीच कई दशकों की लम्बी अवधि पड़ जाये तब भी क्रांति के प्रति निःस्वार्थ लगन और जनता के बीच क्रांतिकारी प्रचार का काम कभी व्यर्थ नहीं जाते। वह रूसी तथा अंतर्राष्ट्रीय क्रांति में विभिन्न वर्गों की भूमिका की परिभाषा करना सीख रहा है। इन शिक्षाओं से समृद्ध होकर सर्वहारा वर्ग सभी देशों के समाजवादी मज़दूरों के साथ उन्मुक्त रूप से एकता स्थापित करेगा। वह उस घृणित वस्तु को, ज़ारशाही राजतंत्र को, कुचलकर रख देगा, जिसके विरुद्ध सबसे पहले हर्ज़ेन ने जनता को अपने **स्वतंत्र रूसी शब्दों** से संबोधित करके संघर्ष की महान पताका फहरायी थी।

'सोत्सिअल-देमोक्रात', अंक २६,
८ मई (२५ अप्रैल), १६१२

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड १८, पृष्ठ ६–१५

राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार

रूस के मार्क्सवादियों के कार्यक्रम की ९वीं धारा को लेकर, जो राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के बारे में है, इधर कुछ दिनों से (जैसा कि हम 'प्रोस्वेश्चेनिये'[97] में बता चुके हैं)* अवसरवादियों ने बाक़ायदा एक जेहाद छेड़ दिया है। रूसी विसर्जनवादी सेम्कोव्स्की ने पीटर्सबर्ग के विसर्जनवादी अख़बार में, बुंदवादी[98] लीबमैन ने और उक्रइनी राष्ट्रवादी सामाजिक-जनवादी युरकेविच ने अपने-अपने अख़बारों में इस धारा की कड़ी आलोचना की है और उसका उल्लेख घोर तिरस्कार के भाव से किया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि हमारे मार्क्सवादी कार्यक्रम पर अवसरवाद के इस "बारह भाषाओंवाले आक्रमण" का बहुत गहरा संबंध आजकल के आम राष्ट्रवादी ढुलमुलपन के साथ है। इसलिए हम इस प्रश्न के विस्तृत विश्लेषण को समयोचित समझते हैं। हम केवल यह बतायेंगे कि उपरोक्त अवसरवादियों में से किसी ने भी अपनी तरफ़ से एक भी स्वतंत्र दलील नहीं दी है: उन सबने केवल उन्हीं बातों को दोहराया है जो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने अपने १९०८-०९ के पोलिश भाषा के लम्बे लेख 'जातियों का प्रश्न और स्वायत्त अधिकार' में कही थीं। अपनी विवेचना में हम मुख्यतः रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के "मौलिक" तर्कों पर ही विचार करेंगे।

१. राष्ट्रों का आत्म-निर्णय क्या है?

जिसे आत्म-निर्णय कहा जाता है उसकी मार्क्सवादी ढंग से जांच करते समय स्वाभाविक रूप से यही प्रश्न सबसे पहले उठता है। इस शब्द का क्या

---

*देखिये लेनिन का 'जातीय प्रश्न सम्बन्धी आलोचनात्मक टिप्पणियां' शीर्षक लेख। – सं०

अर्थ समझना चाहिये ? क्या इसका उत्तर हमें उन क़ानूनी परिभाषाओं में ढूंढना चाहिये जो क़ानून की नाना प्रकार की "सामान्य अवधारणाओं" से निष्कर्ष निकालकर तैयार की गयी हैं? या हमें इसका उत्तर जातीय आंदोलनों के ऐतिहासिक तथा आर्थिक अध्ययन में ढूंढना चाहिये ?

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि सेम्कोव्स्की, लीबमैन तथा युरकेविच जैसे लोगों ने इन प्रश्नों को उठाने की बात सोची भी नहीं और अपने आपको केवल मार्क्सवादी कार्यक्रम की "अस्पष्टता" की खिल्ली उड़ाने तक ही सीमित रखा; ज़ाहिर है कि अपने भोलेपन के कारण उन्हें यह मालूम नहीं था कि राष्ट्रों के आत्म-निर्णय पर केवल १९०३ के रूसी कार्यक्रम में ही नहीं बल्कि १८९६ की लंदन की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रस्ताव में भी (जिसका उल्लेख मैं उचित स्थान पर विस्तारपूर्वक करूंगा) विचार किया गया है। इससे अधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग स्वयं भी, जिन्होंने इस विचाराधीन धारा के तथाकथित अमूर्त तथा अधिभूतवादी स्वरूप के बारे में बहुत-सी बातें कही हैं, अमूर्तता तथा अधिभूतवाद का शिकार हो गयी हैं। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग स्वयं ही लगातार आत्म-निर्णय के बारे में सामान्यानुमानों में भटक जाती हैं (जिसमें इस प्रश्न के बारे में उनका अत्यंत दिलचस्प निबंध भी शामिल है कि किसी राष्ट्र की इच्छा का पता कैसे लगाया जाये), उन्होंने कहीं भी अपने से स्पष्ट रूप से तथा ठीक-ठीक यह प्रश्न नहीं पूछा है कि इस समस्या का असली निचोड़ क़ानूनी परिभाषाओं में निहित है या समस्त विश्व के जातीय आंदोलनों के अनुभव में?

यदि इस प्रश्न को सही-सही प्रतिपादित किया जाता, जिससे कोई भी मार्क्सवादी कतरा नहीं सकता, तो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की हर दस दलीलों में से नौ की जड़ कट जाती। यह पहला अवसर नहीं है कि रूस में जातीय आंदोलन खड़े हुए हैं, और न ये अकेले इस देश की विशेषता हैं। सारी दुनिया में सामंतवाद पर पूंजीवाद की अंतिम विजय के काल का संबंध जातीय आंदोलनों के साथ रहा है। इन आंदोलनों का आर्थिक आधार यह तथ्य है कि बिकाऊ माल के उत्पादन की पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए पूंजीपति वर्ग के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपने देश की मंडियों पर कब्ज़ा कर ले, राज्यीय रूप से एकबद्ध ऐसे इलाक़े हों जिनके निवासी एक ही भाषा बोलते हों, और

इस भाषा के विकास की तथा उसे साहित्य में सुदृढ़ बनाने की राह में आनेवाली सारी बाधाएं दूर कर दी जायें। भाषा मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम है। आधुनिक पूंजीवाद के अनुकूल पैमाने पर सचमुच स्वतंत्र तथा व्यापक वाणिज्यिक आदान-प्रदान के लिए, अपने सभी अलग-अलग वर्गों में स्वतंत्र रूप से तथा मोटे-मोटे तौर पर जनसंख्या के समूहबद्ध होने के लिए, और अंतिम बात यह कि मंडी और छोटे-बड़े हर मालिक, ख़रीदार तथा विक्रेता के बीच घनिष्ठ संबंधों की स्थापना के लिए, भाषा की एकता तथा उसका अबाध विकास सबसे महत्त्वपूर्ण शर्तों में से एक है।

इसलिए हर जातीय आंदोलन की प्रवृत्ति **जातीय राज्य** बनाने की दिशा में होती है, जिनके अंतर्गत आधुनिक पूंजीवाद की ये आवश्यकताएं सबसे अच्छे ढंग से पूरी होती हैं। गूढ़तम आर्थिक तत्व इस लक्ष्य की ओर ले जाते हैं और इसलिए पूरे पश्चिमी यूरोप में बल्कि पूरे सभ्य जगत में, पूंजीवादी युग के लिए **लाक्षणिक**, प्रकृत राज्य-व्यवस्था जातीय राज्य है।

फलस्वरूप, यदि हम राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का अर्थ क़ानूनी परिभाषाओं के साथ खेलकर, या अमूर्त परिभाषाएं "गढ़कर" नहीं बल्कि जातीय आंदोलनों की ऐतिहासिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की जांच करके समझना चाहते हैं, तो हम अनिवार्य रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का अर्थ होता है इन राष्ट्रों का बेमेल जातीय निकायों से अलगाव और एक स्वतंत्र जातीय राज्य का निर्माण।

आगे चलकर हम इस बात के और भी बहुत-से कारणों पर विचार करेंगे कि आत्म-निर्णय के अधिकार का अर्थ एक अलग राज्य के रूप में अस्तित्व के अधिकार के अतिरिक्त और कोई भी अर्थ समझना क्यों ग़लत है। इस समय तो हम इस अनिवार्य निष्कर्ष को "चुटकियों में उड़ा देने" की रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की कोशिशों पर विचार करेंगे कि जातीय राज्य बनाने की चेष्टा गहरी आर्थिक बुनियादों पर आधारित होती है।

रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग काउत्स्की की 'जातीयता तथा अंतर्राष्ट्रीयता' नामक पुस्तिका से भली भांति परिचित हैं (*«Neue Zeit»*[99], अंक १, १६०७-०८, को क्रोड़पत्र; रूसी अनुवाद 'नाउच्नाया मीस्ल' नामक पत्रिका में, रीगा १६०८)। वह जानती हैं कि काउत्स्की इस पुस्तिका की चौथी धारा में जातीय राज्य के

प्रश्न की बड़े ध्यानपूर्वक छानबीन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि ओटो बावेर "एक जातीय राज्य का निर्माण करने की आकांक्षा की शक्ति को **बहुत कम करके आंकते हैं**" (पृष्ठ २३)। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने स्वयं काउत्स्की के इन शब्दों को उद्धृत किया है: "जातीय राज्य राज्यसत्ता का वह रूप है जो आजकल की परिस्थितियों के लिए" (अर्थात् मध्ययुगीन, पूंजीवाद से पहले आदि की परिस्थितियों से भिन्न पूंजीवादी, सभ्य, आर्थिक दृष्टि से प्रगतिशील परिस्थितियों के लिए) "**सबसे उपयुक्त है**, यह वह रूप है जिसमें वह अपने कामों को सर्वोत्तम ढंग से पूरा कर सकता है" (अर्थात् पूंजीवाद के सर्वाधिक स्वतंत्र, व्यापकतम तथा सर्वाधिक वेगमय विकास को सम्पन्न करने का काम)। इसके साथ ही हम काउत्स्की की इससे भी अधिक सही वह बात भी जोड़ दें जो उन्होंने अंत में कही है: मिले-जुले जातीय राज्य (जिन्हें जातीय राज्यों से फ़र्क़ करने के लिए बहुजातीय राज्य कहा जाता है) "हमेशा ऐसे राज्य होते हैं जिनकी आंतरिक रचना किसी न किसी कारण अप्रकृत अथवा अर्ध-विकसित" (पिछड़ी हुई) "रह गयी है"। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि काउत्स्की अप्रकृत अवस्था का उल्लेख केवल इस अर्थ में करते हैं कि वह उन बातों से मेल नहीं खाती जो विकासवान पूंजीवाद की आवश्यकताओं के सबसे अधिक अनुकूल होती हैं।

अब सवाल यह है कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का रवैया काउत्स्की के इन ऐतिहासिक-आर्थिक निष्कर्षों की तरफ़ क्या है? वे सही हैं या ग़लत? काउत्स्की का यह ऐतिहासिक-आर्थिक सिद्धांत सही है या बावेर सही हैं, जिनका सिद्धांत बुनियादी तौर पर मनोवैज्ञानिक है? बावेर के असंदिग्ध "जातीय अवसरवाद", उनके द्वारा सांस्कृतिक-जातीय स्वातंत्र्य की हिमायत, उनके जातिवादी मोह (जिसे काउत्स्की कहते हैं "यदा-कदा जातीय पहलू पर ज़ोर"), उनके "जातीय पहलू को बेहद बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने तथा अंतर्राष्ट्रीय पहलू को बिल्कुल छुपा देने" (काउत्स्की) का और एक जातीय राज्य की स्थापना करने की आकांक्षा की शक्ति को कम करके आंकने का आपस में क्या संबंध है?

रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने यह सवाल उठाया तक नहीं। वह इस संबंध को देख भी नहीं पायीं। उन्होंने बावेर के सैद्धांतिक विचारों को **उनके पूर्ण रूप में लेकर** उनके गुण-दोषों को नहीं जांचा। उन्होंने जातियों के प्रश्न के बारे

में एतिहासिक-आर्थिक सिद्धांत तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के बीच अंतर भी नहीं किया। उन्होंने काउत्स्की की आलोचना करते समय अपने आपको निम्नलिखित बातों तक ही सीमित रखा:

"...यह 'सर्वोत्तम' जातीय राज्य केवल एक अमूर्त भावना है, जिसे सिद्धांत रूप में प्रतिपादित करना तथा उसके पक्ष में तर्क देना बहुत आसान है, परंतु वह वास्तविकता की कसौटी पर पूरी नहीं उतरती" (*«Przegląd Socjaldemokratyczny»*[100], १६०८, अंक ६, पृष्ठ ४६६)।

और इस स्पष्ट कथन की पुष्टि में उसके बाद इस आशय के तर्क दिये गये हैं कि छोटी जातियों का "आत्म-निर्णय का अधिकार" बड़ी-बड़ी पूंजीवादी ताक़तों के विकास के कारण तथा साम्राज्यवाद के कारण एक मृगतृष्णा बनकर रह गया है। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग कहती हैं, "क्या हम गंभीरतापूर्वक मांटीनेग्रिन, बल्गारियाई, रूमानियाई, सर्ब, यूनानी, और कुछ हद तक स्विस, लोगों के 'आत्म-निर्णय' की बात कह सकते हैं, जो कहने को तो स्वतंत्र हैं परंतु जिनकी स्वतंत्रता भी 'यूरोप के कंसर्ट' के राजनीतिक संघर्ष तथा कूटनीतिक चालों का परिणाम है?"! (पृष्ठ ५००।) वह राज्य जो परिस्थितियों को देखते हुए सबसे अधिक उपयुक्त है "वह जातीय राज्य नहीं है, जैसा कि काउत्स्की समझते हैं, बल्कि एक लुटेरा राज्य है"। उन उपनिवेशों के आकार के बारे में, जो ब्रिटेन तथा फ़्रांस के क़ब्ज़े में हैं, तथा अन्य उपनिवेशों के बारे में दर्जनों आंकड़े दिये गये हैं।

ऐसी दलीलों को पढ़कर इस बात पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता कि इनकी रचयित्री ने क्या ऐसी तरक़ीब की कि वह यह न समझ सकीं कि **कौनसी चीज़ क्या है**! काउत्स्की को बड़ी गंभीरता के साथ यह सिखाना कि छोटे राज्य आर्थिक रूप से बड़े राज्यों पर निर्भर रहते हैं, कि अन्य जातियों को लूटमार कर उन्हें कुचल देने के लिए पूंजीवादी राज्यों के बीच संघर्ष चल रहा है, कि साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशों का अस्तित्व है—ये सब बातें होशियार बनने की हास्यास्पद हद तक बचकाना कोशिशों का परिचय देती हैं क्योंकि इन सब बातों का इस विषय से कोई संबंध नहीं है। केवल छोटे राज्य ही नहीं बल्कि, मिसाल के लिए, रूस भी "धनी" पूंजीवादी देशों की साम्राज्यवादी

वित्तीय पूंजी की शक्ति पर आर्थिक रूप से पूरी तरह निर्भर है। केवल नन्हें-नन्हें बाल्कन राज्य ही नहीं बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीका भी आर्थिक दृष्टि से यूरोप का एक उपनिवेश था, जैसा कि मार्क्स ने 'पूंजी' में बताया है। ज़ाहिर है, काउत्स्की, और सभी मार्क्सवादी, इस बात से भली भांति परिचित हैं, परंतु जहां तक जातीय आंदोलनों तथा जातीय राज्य का प्रश्न है तो वह न यहां है न वहां।

पूंजीवादी समाज में जातियों के राजनीतिक आत्म-निर्णय के और राज्यों के रूप में उनकी स्वाधीनता के प्रश्न के स्थान पर रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने उनकी आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न लाकर रख दिया है। इस बात में उतनी ही समझदारी है जैसे कोई व्यक्ति कार्यक्रम में उठायी गयी पूंजीवादी राज्य में संसद की, अर्थात् जनता के प्रतिनिधियों की सभा की, सर्वोच्च सत्ता की मांग पर विचार करते हुए इस सर्वथा उचित विश्वास का प्रतिपादन करने लगे कि पूंजीवादी देश में शासन-व्यवस्था कैसी ही हो पर उसपर प्रभुत्व बड़े पूंजीपतियों का ही रहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि सबसे अधिक जनसंख्या वाले महाद्वीप एशिया का अधिकांश भाग या तो "बड़ी ताक़तों" के उपनिवेशों का है या ऐसे राज्यों का है जो अत्यधिक परावलम्बी तथा राष्ट्रों के रूप में उत्पीड़ित हैं। परंतु क्या इस बात से, जिसे लोग आम तौर पर जानते हैं, इस अकाट्य तथ्य के बारे में ज़रा भी शंका उत्पन्न होती है कि स्वयं एशिया में भी बिकाऊ माल के उत्पादन के पूर्ण विकास के लिए, पूंजीवाद के सर्वाधिक स्वतंत्र, व्यापकतम तथा सर्वाधिक वेगमय विकास के लिए परिस्थितियां केवल जापान में, अर्थात् केवल एक स्वतंत्र जातीय राज्य में, उत्पन्न हुई हैं? यह राज्य एक पूंजीवादी राज्य है इसलिए इसने स्वयं भी अन्य जातियों को उत्पीड़ित करना तथा उपनिवेशों को ग़ुलाम बनाना आरंभ कर दिया है। हम यह तो नहीं बता सकते कि पूंजीवाद के पराभव से पहले एशिया को इतना समय मिलेगा कि नहीं कि यरोप की तरह वहां भी स्वतंत्र जातीय राज्यों की व्यवस्था स्थायी रूप धारण कर ले। परंतु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि पूंजीवाद ने एशिया में जागृति फैलाकर उस महाद्वीप में भी हर जगह जातीय आंदोलनों को जन्म दिया है, कि इन आंदोलनों की प्रवृत्ति एशिया में जातीय राज्यों की स्थापना करने की ओर है,

कि पूंजीवाद के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां ठीक ऐसे ही राज्यों द्वारा सुनिश्चित होती हैं। एशिया का उदाहरण काउत्स्की के **पक्ष में** और रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के **ख़िलाफ़** पड़ता है।

इसी प्रकार बालकन राज्यों का उदाहरण भी उनके ख़िलाफ़ पड़ता है, क्योंकि अब हर आदमी इस बात को देख सकता है कि बालकन-क्षेत्र में पूंजीवाद के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां भी उसी हद तक पैदा होती हैं जिस हद तक कि उस प्रायद्वीप में स्वतंत्र जातीय राज्य बनते हैं।

इसलिए, रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग कुछ भी कहें पर पूरी प्रगतिशील, सभ्य मानव-जाति का उदाहरण, बालकन-क्षेत्र का उदाहरण, तथा एशिया का उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि काउत्स्की ने जो बात कही है वह बिल्कुल सही है: जातीय राज्य पूंजीवाद का नियम तथा "मानदंड" है, मिला-जुला जातीय राज्य या तो पिछड़ेपन का द्योतक होता है, या अपवाद होता है। जातीय संबंधों के दृष्टिकोण से पूंजीवाद के विकास के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां निःसंदेह जातीय राज्य ही उपलब्ध कराता है। ज़ाहिर है, इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार का राज्य, जो पूंजीवादी संबंधों पर आधारित होता है, राष्ट्रों के शोषण तथा उत्पीड़न को दूर कर सकता है। इसका अर्थ केवल यह होता है कि मार्क्सवादी उन प्रबल **आर्थिक** तत्वों को कभी अपनी आंख से ओझल नहीं होने दे सकते जो जातीय राज्यों की स्थापना की चेष्टा को जन्म देते हैं। इसका अर्थ यह है कि मार्क्सवादियों के कार्यक्रम में "राष्ट्रों के आत्म-निर्णय" का अर्थ, ऐतिहासिक-आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिक आत्म-निर्णय, राज्यीय स्वतंत्रता, जातीय राज्य के निर्माण के अतिरिक्त और कुछ नहीं **हो सकता**।

इस बात पर हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे कि "जातीय राज्य" की पूंजीवादी-जनवादी मांग का समर्थन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से, अर्थात् सर्वहारा वर्ग के वर्गीय दृष्टिकोण से, किन शर्तों पर किया जाना चाहिये। इस समय हम अपने आपको "आत्म-निर्णय" की **अवधारणा** की परिभाषा तक ही सीमित रखेंगे, और केवल इतना अवश्य बतायेंगे कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग **जानती हैं** कि इस अवधारणा का अर्थ क्या है ("जातीय राज्य"), जबकि उनके अवसरवादी हिमायती, लीबमैन, सेम्कोव्स्की तथा युरकेविच जैसे लोग तो **यह भी नहीं जानते!**

२. प्रश्न का इतिहास की दृष्टि से ठोस रूप में प्रतिपादन

किसी सामाजिक समस्या की छानबीन करने के मामले में मार्क्सवादी सिद्धांत का यह स्पष्ट तक़ाज़ा है कि उस समस्या की छानबीन **निश्चित** ऐतिहासिक सीमाओं के भीतर रखकर की जानी चाहिये, और यदि उस समस्या का संबंध किसी देश विशेष से हो (जैसे किसी देश का जातीय कार्यक्रम) तो उन विशिष्ट गुणों की ओर उचित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिये जो उसी ऐतिहासिक युग की सीमाओं में उस देश को दूसरे देशों से अलग करती हैं।

जिस प्रश्न पर हम विचार कर रहे हैं उसके प्रसंग में मार्क्सवाद के इस स्पष्ट तक़ाज़े का क्या अर्थ है?

सबसे पहले तो इसका अर्थ यह है कि पूंजीवाद के उन दो कालों के बीच सख़्ती से अंतर किया जाना चाहिये जो जातीय आंदोलन के एतबार से एक-दूसरे से बुनियादी तौर पर अलग हैं। एक तरफ़ तो सामंतवाद तथा निरंकुशता के ढहने का, पूंजीवादी-जनवादी समाज तथा राज्य के निर्माण का काल है, जिसमें जातीय आंदोलन पहली बार जन-आंदोलनों का रूप धारण करते हैं और अख़बारों के ज़रिये, प्रतिनिधि संस्थाओं में भाग लेने के ज़रिये तथा अन्य माध्यमों से जनसंख्या के **सभी** वर्गों को किसी न किसी ढंग से राजनीति में खींच लाते हैं। दूसरी तरफ़, हम निश्चित रूप से स्थापित पूंजीवादी राज्यों का काल देखते हैं जिनमें दीर्घकाल से स्थापित सांविधानिक शासन-व्यवस्था होती है और जिनमें सर्वहारा वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच वैमनस्य बहुत बढ़ चुका होता है—जिस काल को हम पूंजीवाद के ढहने की पूर्व-वेला कह सकते हैं।

पहले काल की लाक्षणिक विशेषताएं ये हैं कि जातीय आंदोलन खड़े होते हैं और किसान, जो जनसंख्या का सबसे बहुसंख्यक तथा सबसे "शिथिल" भाग होते हैं, आम तौर पर राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए और विशेष रूप से जातीय अधिकारों के लिए संघर्ष के सिलसिले में इन आंदोलनों में खिंचकर आते हैं। दूसरे काल की लाक्षणिक विशेषताएं ये हैं कि उसमें पूंजीवादी-जनवादी जन-आंदोलनों का सर्वथा अभाव रहता है और यह कि विकसित पूंजीवाद उन राष्ट्रों को, जो वाणिज्यिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में पूरी तरह खिंचकर आ चुके हैं, एक-दूसरे के और निकट लाने और उन्हें आपस में

अधिकाधिक घुलने-मिलने पर बाध्य करने के साथ ही अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकताबद्ध पूंजी और मज़दूर वर्ग के अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन के आपसी वैमनस्य को सामने ले आता है।

यह तो सच है कि इन कालों के बीच उन्हें अलग करनेवाली कोई दीवार नहीं खड़ी है, वे अनेक संक्रमणकालीन बंधनों से परस्पर सम्बद्ध हैं और विभिन्न देश अपने जातीय विकास की तीव्रता, अपनी जातीय रचना तथा अपनी जनसंख्या के वितरण आदि की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किसी देश के मार्क्सवादियों के लिए इन सभी आम ऐतिहासिक तथा ठोस राज्यीय परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना अपना जातीय कार्यक्रम तैयार करने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

और इसी बात में हमें रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के तर्कों की सबसे कमज़ोर कड़ी दिखायी देती है। असाधारण उत्साह के साथ वह हमारे कार्यक्रम की ९वीं धारा के विरुद्ध "कठोर" शब्दों से अपने लेख की सज-धज बढ़ाती हैं और घोषणा करती हैं कि वह बहुत स्थूल है, वह एक "नीरस तथा खोखली बात" है, "एक अधिभूतवादी फ़िकरा" है, और इसी तरह की न जाने कितनी बातें कहती हैं। यह आशा करना स्वाभाविक ही है कि एक ऐसी लेखिका जो अधिभूतवाद को (मार्क्सवादी अर्थ में, अर्थात् द्वंद्ववाद-विरोधी मत को) तथा खोखली अमूर्त बातों की इतने शानदार तरीक़े से निंदा करती है वह हमारे सामने इस बात का एक आदर्श प्रस्तुत करेगी कि समस्या का ठोस ऐतिहासिक विश्लेषण किस प्रकार किया जाना चाहिये। हम एक निश्चित काल में – बीसवीं शताब्दी के आरंभ में – एक निश्चित देश के – रूस के – मार्क्सवादियों के जातीय कार्यक्रम पर विचार कर रहे हैं। लेकिन क्या रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग यह प्रश्न उठाती हैं कि रूस **किस ऐतिहासिक** काल से होकर गुज़र रहा है, कि उस काल **विशेष** में उस देश **विशेष** के जातियों के प्रश्न तथा जातीय आंदोलनों की **ठोस** विशेषताएं **क्या** हैं?

नहीं! वह इसके बारे में कुछ भी नहीं कहती हैं! उनकी रचना में आप इस बात के विश्लेषण की एक झलक भी नहीं पायेंगे कि **रूस** में वर्तमान ऐतिहासिक काल में जातियों का प्रश्न किस रूप में हमारे सामने आता है, इस प्रसंग विशेष में **रूस** की ख़ास विशेषताएं क्या हैं!

हमें बताया जाता है कि बालकन-क्षेत्र में जातियों का प्रश्न आयरलैंड के जातियों के प्रश्न से भिन्न है, कि मार्क्स ने १८४८ की ठोस परिस्थितियों में पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के जातीय आंदोलनों का मूल्यांकन इस ढंग से किया था (मार्क्स की रचनाओं से एक पृष्ठ का उद्धरण); कि एंगेल्स ने आस्ट्रिया के विरुद्ध स्विट्ज़रलैंड के छोटे-छोटे वन्य राज्यों के संघर्ष तथा मोर्गार्टेन के युद्ध का, जो १३१५ में हुआ, मूल्यांकन इस प्रकार किया है (एंगेल्स की रचनाओं से उद्धरणों का एक पृष्ठ और काउत्स्की की प्रसंगानुकूल टिप्पणियां); कि लासाल ने जर्मनी के सोलहवीं शताब्दी के किसान-युद्ध को प्रतिक्रियावादी ठहराया था, आदि।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये टिप्पणियां तथा उद्धरण अपनी नवीनता के कारण उल्लेखनीय हैं, परंतु बहरहाल पाठकों के लिए इस बात को बार-बार याद करना बहुत रोचक है कि मार्क्स, एंगेल्स तथा लासाल अलग-अलग देशों में ठोस ऐतिहासिक समस्याओं का विश्लेषण किस ढंग से करते थे। और मार्क्स तथा एंगेल्स के इन शिक्षाप्रद उद्धरणों को पढ़ने से पता लगता है कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने अपने आपको कितनी हास्यास्पद स्थिति में डाल लिया है। बड़े ज़ोरदार शब्दों में तथा क्रोध के साथ वह विभिन्न देशों में, विभिन्न कालों में जातियों के प्रश्न के ठोस ऐतिहासिक विश्लेषण की आवश्यकता का उपदेश देती हैं, परंतु वह इस बात को तै करने की **रत्ती भर भी** कोशिश नहीं करतीं कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ में **रूस** पूंजीवाद के विकास की **किस** ऐतिहासिक मंज़िल से गुज़र रहा है या यह कि इस देश में जातियों के प्रश्न की क्या **ख़ास विशेषताएं** हैं। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग इस बात के दृष्टांत देती हैं कि किस प्रकार **दूसरे** लोगों ने इस प्रश्न पर मार्क्सवादी ढंग से विचार किया है, मानो वह जान-बूझकर इस बात पर ज़ोर दे रही हों कि किस प्रकार बहुधा आदमी की अच्छी नीयत भी उसके लिए नरक का रास्ता साफ़ कर देती है, किस प्रकार बहुधा सदुपदेश केवल उस उपदेश पर स्वयं चलने की इच्छा न रखने या उसपर चलने की क्षमता न रखने को छुपाने के लिए एक आड़ होते हैं।

यह उनकी एक अत्यंत शिक्षाप्रद तुलना है। पोलैंड की स्वतंत्रता की मांग का विरोध करते हुए, रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग अपनी १८९८ की रचना का हवाला देती हैं जिसमें उन्होंने सिद्ध किया था कि "पोलैंड का औद्योगिक विकास" बड़ी

तीव्र गति से हो रहा था और वह अपने कारखानों का तैयार माल रूस में बेचता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे आत्म-निर्णय के **अधिकार** के बारे में कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता ; इससे केवल उस पुराने पोलैंड का लोप सिद्ध होता है जिसपर बड़े-बड़े जागीरदार छाये हुए थे, इत्यादि। परंतु रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग हमेशा चुपके से इस निष्कर्ष पर पहुंच जाती हैं कि जिन बातों पर रूस तथा पोलैंड की एकता आधारित है उनमें इस समय आधुनिक पूंजीवादी संबंधों के शुद्धतः आर्थिक तत्वों की प्रधानता है।

इसके बाद हमारी रोज़ा स्वायत्त सत्ता के प्रश्न पर आ जाती हैं और यद्यपि उनके लेख का शीर्षक सामान्य रूप में 'जातियों का प्रश्न तथा स्वायत्त सत्ता' है पर वह यह सिद्ध करने लगती हैं कि पोलैंड के राज्य को स्वायत्त सत्ता का अधिकार है, **जो किसी दूसरे को नहीं है** (देखिये 'प्रोस्वेश्चेनिये', १९१३, अंक १२*)। पोलैंड के स्वायत्त सत्ता के अधिकार का समर्थन करने के लिए, स्पष्टतः रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग रूस की राज्य-प्रणाली को उसकी आर्थिक तथा राजनीतिक तथा सामाजिक विशिष्टताओं और उसके दैनिक जीवन से जांचती हैं—ये ऐसी प्रवृत्तियां हैं जिन्हें कुल मिलाकर देखने पर "एशियाई निरंकुशता" की अवधारणा उत्पन्न होती है (*«Przegląd»*, अंक १२, पृष्ठ १३७)।

यह बात तो आम तौर पर सभी लोग जानते हैं कि उस प्रकार की राज्य-प्रणाली में उस दशा में बहुत अधिक स्थायित्व होता है जबकि अर्थ-व्यवस्था में पूंजीवाद से पहले की पूर्णतः पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है और बिकाऊ माल के उत्पादन तथा वर्ग-भेद का विकास प्रायः नहीं के बराबर होता है। परंतु यदि किसी ऐसे देश में जहां की राज्य-प्रणाली बहुत स्पष्ट रूप से पूंजीवाद से **पहले** के ढंग की है, कोई ऐसा प्रदेश हो जिसकी जातीय सीमाएं निश्चित हों और वहां पूंजीवाद का विकास बड़ी **तीव्र गति से** हो रहा हो, तो वह पूंजीवाद जितनी ही अधिक तीव्र गति से बढ़ेगा उतना ही उस प्रदेश तथा पूंजीवाद से **पहले** की राज्य-प्रणाली का विग्रह भी बढ़ेगा, और उतनी ही अधिक

---

*देखिये लेनिन का 'जातीय प्रश्न सम्बन्धी आलोचनात्मक टिप्पणियां' शीर्षक लेख।—सं०

इस बात की संभावना होगी कि वह अधिक प्रगतिशील प्रदेश पूरे देश से अलग हो जाये – जिसके साथ वह "आधुनिक पूंजीवादी" बंधनों से नहीं बल्कि "एशियाई निरंकुशता" के बंधनों से बंधा हुआ है।

इस प्रकार पूंजीवादी पोलैंड के प्रसंग में रूस की सरकार की सामाजिक रचना के सवाल के बारे में भी रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की दलीलें दोषपूर्ण हैं, और जहां तक रूस में जातीय आंदोलनों की ठोस, ऐतिहासिक विशेषताओं का सवाल है – तो उसे तो वह उठाती भी नहीं।

और अब हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये।

३. रूस में जातियों के प्रश्न की ठोस विशेषताएं और रूस का पूंजीवादी-जनवादी पुनर्गठन

> ..."'राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार' के सिद्धांत की नमनीयता के बावजूद, जो केवल एक खोखली बात है और जो कि स्पष्टतः केवल रूस में बसनेवाले राष्ट्रों पर ही नहीं बल्कि इसी हद तक जर्मनी तथा आस्ट्रिया, स्विट्ज़रलैंड तथा स्वीडेन, अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में बसनेवाले राष्ट्रों पर भी लागू होता है, हमें आजकल की समाजवादी पार्टियों में से किसी के भी कार्यक्रम में इसका उल्लेख नहीं मिलता"... (*«Przegląd»*, अंक ६, पृष्ठ ४८३)।

मार्क्सवादी कार्यक्रम की ९वीं धारा के विरुद्ध अपने जेहाद के आरंभ में रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने ये शब्द लिखे हैं। हमारे ऊपर कार्यक्रम की इस धारा की अवधारणा को "केवल एक खोखली बात" के रूप में थोपने की कोशिश में रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग स्वयं इस ग़लती का शिकार हो गयी हैं और बड़ी दिलचस्प ढिठाई के साथ यह भी कहती हैं कि यह सिद्धान्त रूस, जर्मनी, आदि पर "स्पष्टतः उसी हद तक लागू होता" है।

हम उत्तर देते हैं, स्पष्टतः रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने अपने लेख को स्कूली बच्चों के अभ्यास के लिए तर्कशास्त्र की ग़लतियों का एक संग्रह बनाने का फ़ैसला

किया। कारण कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का यह प्रचंड प्रहार सरासर बकवास है और इस प्रश्न के इतिहास की दृष्टि से ठोस रूप में प्रतिपादन का बहुत ही विकृत रूप है।

यदि मार्क्सवादी कार्यक्रम का अर्थ बचकाने ढंग से नहीं बल्कि मार्क्सवादी ढंग से लगाया जाये तो यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि उसका संबंध पूंजीवादी-जनवादी जातीय आंदोलनों से है। यदि ऐसी बात है, और निःसंदेह ऐसी ही बात है, तो यह "स्पष्ट" है कि यह कार्यक्रम "स्थूल रूप से", "एक खोखली बात के रूप में" इत्यादि, इत्यादि, जिन उदाहरणों का हवाला देता है वे **सभी** पूंजीवादी-जनवादी जातीय आंदोलनों के हैं। और यदि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने इस बात पर तनिक भी ध्यान दिया होता तो यह निष्कर्ष उनके लिए भी कुछ कम स्पष्ट न होता कि हमारे कार्यक्रम में **केवल** ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया गया है जहां इस प्रकार के आंदोलन का सचमुच अस्तित्व है।

यदि उन्होंने इन स्पष्ट बातों पर विचार किया होता तो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की समझ में यह बात बड़ी आसानी से आ गयी होती कि वह क्या बकवास कर रही हैं। **हमारे ऊपर** एक "खोखली बात" कहने का आरोप लगाते हुए वह **हमारे खिलाफ़** इस दलील को इस्तेमाल करती हैं कि उन देशों के कार्यक्रमों में, जहां कोई पूंजीवादी-जनवादी जातीय आंदोलन **नहीं** हैं, राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। कमाल की दलील है!

विभिन्न देशों के राजनीतिक तथा आर्थिक विकास की और साथ ही उनके मार्क्सवादी कार्यक्रमों की तुलना मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्व रखती है, क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि सभी आधुनिक राज्यों का स्वरूप एक जैसा पूंजीवादी है और वे विकास के एक ही नियम के आधीन हैं। परंतु इस प्रकार की तुलना समझदारी के साथ की जानी चाहिये। इसके लिए बुनियादी शर्त यह है कि इस प्रश्न का स्पष्टीकरण किया जाये कि जिन देशों की **तुलना की** जा रही है क्या उनके विकास के ऐतिहासिक कालों की **तुलना की** भी **जा सकती है** या नहीं। उदाहरण के लिए, निरे नादान लोग ही (जैसे 'रूस्सकाया मीस्ल'[101] में राजकुमार ये० त्रुबेत्सकोइ) रूसी मार्क्सवादियों के कृषि-संबंधी कार्यक्रम की तुलना पश्चिमी यूरोप के कृषि-संबंधी कार्यक्रमों के साथ कर सकते हैं क्योंकि हमारे कार्यक्रम में **पूंजीवादी-जनवादी**

कृषि-सुधार से संबंधित प्रश्न का उत्तर दिया गया है, जबकि पश्चिमी देशों में इस प्रकार का प्रश्न है ही नहीं।

यही बात जातियों के प्रश्न के बारे में भी सच है। अधिकांश पश्चिमी देशों में यह सवाल बहुत पहले तै हो चुका है। पश्चिमी यूरोप के कार्यक्रमों में ऐसे प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ना, जिनका अस्तित्व ही नहीं है, हास्यास्पद बात है। यहां पर रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का ध्यान सबसे महत्त्वपूर्ण बात की ओर से हट गया है, अर्थात् उन देशों का अंतर जहां पूंजीवादी-जनवादी सुधार बहुत समय पहले पूरे हो चुके हैं और जहां यह काम अभी तक पूरा नहीं हुआ है।

यह अंतर इस समस्या की असली बात है। इस अंतर की पूरी तरह अवहेलना करने के कारण रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का अत्यधिक लम्बा लेख खोखली, निरर्थक तथा नीरस बातों का संग्रह बनकर रह गया है।

पश्चिमी यूरोप के उस भाग में जो महाद्वीप पर है, पूंजीवादी-जनवादी क्रांतियों का युग एक काफ़ी निश्चित काल तक सीमित है, लगभग १७८९ से १८७१ तक। यही जातीय आंदोलनों का और जातीय राज्यों के निर्माण का काल था। जब यह काल समाप्त हुआ उस समय पश्चिमी यूरोप ऐसे पूंजीवादी राज्यों की एक सुस्थापित व्यवस्था में परिवर्तित हो चुका था, जिनके बारे में यह एक आम नियम था कि वे समरूप जातीय राज्य थे। इसलिए आजकल के पश्चिमी यूरोपीय समाजवादियों के कार्यक्रमों में आत्म-निर्णय के अधिकार की बात ढूंढ़ना मार्क्सवाद के क-ख-ग के बारे में अपनी अज्ञानता का परिचय देना है।

पूर्वी यूरोप में तथा एशिया में पूंजीवादी-जनवादी क्रांतियों का युग १९०५ में जाकर आरंभ हुआ। रूस, ईरान, तुर्की तथा चीन की क्रांतियां, बालकन-क्षेत्र के युद्ध – यह है **हमारे** युग में हमारे "प्राच्य देशों" की विश्वव्यापी महत्त्व रखनेवाली घटनाओं का क्रम। और अंधा ही होगा जो घटनाओं के इस क्रम में जातीय रूप से स्वतंत्र तथा जातियों की दृष्टि से समरूप राज्यों के निर्माण के लिए प्रयत्नशील पूंजीवादी-जनवादी जातीय आंदोलनों की एक **पूरी शृंखला** का उदय न देखे। चूंकि रूस और उसके पड़ोसी देश इस काल से होकर गुज़र रहे हैं, इसलिए, और केवल इसी लिए, हमें अपने कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के बारे में एक धारा रखने की ज़रूरत है।

परंतु आइये हम रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के लेख के उस उद्धरण को ज़रा और आगे देखें। वह लिखती हैं:

..."विशेष रूप से एक ऐसी पार्टी के कार्यक्रम में, जो एक ऐसे राज्य में काम कर रही है जिसमें बहुत-सी जातियां मौजूद हैं और जिसके लिए जातियों का प्रश्न अव्वल दर्जे के महत्त्व का प्रश्न है – यानी आस्ट्रिया की सामाजिक-जनवादी पार्टी के कार्यक्रम में – राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का सिद्धांत नहीं है" (उपरोक्त)।

इस प्रकार विशेष रूप से आस्ट्रिया का उदाहरण देकर पाठकों से अपनी बात मनवाने का प्रयत्न किया गया है। आइये, हम ठोस ऐतिहासिक तथ्यों की रोशनी में इस उदाहरण को जांचें और देखें कि वह कितना तर्कसंगत है।

पहली बात यह कि हम पूंजीवादी-जनवादी क्रांति के पूरा होने का बुनियादी सवाल उठाते हैं। आस्ट्रिया में यह क्रांति १८४८ में आरंभ हुई और १८६७ में पूरी हुई। तबसे, लगभग पचास वर्ष से वहां जिस चीज़ का प्रभुत्व रहा है वह कुल मिलाकर एक सुस्थापित पूंजीवादी संविधान है जिसके आधार पर मज़दूरों की एक क़ानूनी पार्टी क़ानूनी ढंग से काम कर रही है।

इसलिए आस्ट्रिया के विकास की अंतर्निहित परिस्थितियों में (अर्थात् आस्ट्रिया में आम तौर पर, और उसके अलग-अलग राष्ट्रों के बीच ख़ास तौर पर, पूंजीवाद के विकास के दृष्टिकोण से) कोई ऐसे तत्व **नहीं** हैं जिनकी वजह से ऐसी छलांग मारना संभव हो, जिसका एक परिणाम जातीय रूप से स्वतंत्र राज्यों का निर्माण हो। अपनी तुलना द्वारा यह मानकर कि इस मामले में रूस की स्थिति भी बिल्कुल वैसी ही है, रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग केवल यही नहीं करतीं कि वह एक ग़लत, इतिहास के विरुद्ध बात को मानी हुई बात समझ बैठती हैं बल्कि वह अनायास ही फिसलकर विसर्जनवाद में जा फंसती हैं।

दूसरे, जिस प्रश्न पर हम विचार कर रहे हैं उसकी दृष्टि से आस्ट्रिया की जातियों तथा रूस की जातियों के सर्वथा भिन्न पारस्परिक संबंध बहुत महत्त्व रखते हैं। केवल यही बात नहीं है कि आस्ट्रिया बहुत समय तक एक ऐसा राज्य रहा जिसमें जर्मन लोगों की प्रधानता रही, बल्कि यह बात भी थी कि आस्ट्रियाई जर्मन पूरे जर्मन राष्ट्र के नेतृत्व का दावा करते थे। शायद रोज़ा

लुक्ज़ेमबुर्ग (जिन्हें देखने में तो पिटी-पिटाई, खोखली और अमूत बातों से बहुत चिढ़ है ...) यह याद करने की कृपा करेंगी कि १८६६ के युद्ध में इस "दावे" की पराजय हुई। आस्ट्रिया में जिस जर्मन राष्ट्र की प्रधानता थी उसे उस स्वतंत्र जर्मन राज्य से **टाट बाहर** कर दिया गया जिसका निर्माण अंतिम रूप से १८७१ में सम्पन्न हुआ। दूसरी ओर हंगरीवालों की एक स्वतंत्र जातीय राज्य बनाने की कोशिश बहुत पहले १८४६ में कृषि-दासों की रूसी सेना के हमलों की वजह से निष्फल हो चुकी थी।

इस प्रकार एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गयी: हंगरीवालों की तरफ़ से, और फिर चेकों की तरफ़ से, आस्ट्रिया से अलग होने की नहीं बल्कि, इसके विपरीत, उसकी अखंडता को बनाये रखने की कोशिश की गयी, केवल जातीय स्वतंत्रता को बनाये रखने के उद्देश्य से, जिसके लिए इस बात का ख़तरा था कि अधिक खूंख़ार तथा शक्तिशाली पड़ोसी उसे बिल्कुल ही कुचल देते! इस विचित्र परिस्थिति के कारण आस्ट्रिया ने एक द्विकेंद्रीय (दोहरे) राज्य का रूप धारण कर लिया और इस समय वह एक त्रिकेंद्रीय (तेहरे) राज्य (जर्मन, हंगरीवाले तथा स्लाव) में रूपांतरित हो रहा है।

क्या रूस में इस प्रकार की कोई बात है? क्या हमारे देश में **बदतर** जातीय उत्पीड़न के ख़तरे से बचने के लिए "ग़ैर-रूसियों" की तरफ़ से वृहत्तर रूसियों के साथ एकता स्थापित करने की कोई कोशिश है?

यदि कोई केवल यह प्रश्न पूछ ले तो उसकी समझ में आ जायेगा कि राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के मामले में रूस तथा आस्ट्रिया की तुलना करना बेसिर-पैर की, खोखली तथा जिहालत की बात है।

जातियों के प्रश्न के बारे में रूस की विशिष्ट परिस्थितियां उन परिस्थितियों की बिल्कुल उल्टी हैं जो हम आस्ट्रिया में पाते हैं। रूस एक ऐसा राज्य है जिसमें केवल एक ही जातीय केंद्र है – वृहत्तर रूस। वृहत्तर रूसी एक विशाल इलाक़े में बसे हुए हैं जिसका क्रम कहीं भी टूटा नहीं है और उनकी संख्या ७,००,००,००० के लगभग है। इस जातीय राज्य की विशेषताएं ये हैं कि, पहली बात तो यह कि "ग़ैर-रूसी" (जिनका कुल मिलाकर पूरी जनसंख्या में बहुमत है – ५७ प्रतिशत) सीमांत प्रदेशों में रहते हैं; दूसरे, इन ग़ैर-रूसियों का उत्पीड़न पड़ोसी राज्यों की तुलना में (और केवल यूरोपीय राज्यों की तुलना

में ही नहीं) कहीं अधिक है; तीसरे, सीमांत प्रदेशों में बसनेवाली उत्पीड़ित जातियों में कई उदाहरण तो ऐसे भी मिलते हैं कि इन्हीं जातियों के जो लोग सीमा के उस पार रहते हैं उन्हें ज़्यादा जातीय स्वतंत्रता प्राप्त है (राज्य की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमाओं पर फ़िनलैंडवासियों, स्वीडेनवासियों, पोलैंडवासियों, उक्रइनवासियों तथा रूमानियाइयों का उल्लेख कर देना ही काफ़ी है); चौथे, मध्यवर्ती प्रदेश की अपेक्षा सीमांत प्रदेशों में जहां "ग़ैर-रूसी" बसे हुए हैं, पूंजीवाद का विकास तथा संस्कृति का आम स्तर बहुधा अधिक उन्नत है। अंतिम बात यह कि पड़ोस के एशियाई राज्य ही हैं जिनमें हम उभरती हुई पूंजीवादी क्रांतियां तथा ज़ातीय आंदोलन देखते हैं, जो कुछ हद तक रूस की सीमाओं के भीतर भी इन जातियों पर प्रभाव डालते हैं।

इस प्रकार, रूस में जातियों के प्रश्न की ठोस, ऐतिहासिक विशेषताएं ही हैं जिनके कारण वर्तमान काल में राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करना हमारे देश में एक विशेष महत्त्व का सवाल बन जाता है।

और हां, शुद्धतः तथ्यों के पहलू से भी, रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का यह कहना कि आस्ट्रिया के सामाजिक-जनवादियों के कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को नहीं माना गया है, ग़लत है। यदि हम ब्रून कांग्रेस[102] के कार्य-विवरण को खोलकर देख भर लें, जिस कांग्रेस में जातियों सम्बन्धी कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, तो हम उसमें पूरे उक्रइनी (रूथेनियाई) प्रतिनिधि-मंडल की ओर से रूथेनियाई सामाजिक-जनवादी गान्केविच (कार्यवाही का पृष्ठ ८५) और पोलैंड के पूरे प्रतिनिधि-मंडल की ओर से पोलैंड के सामाजिक-जनवादी रेगेर (पृष्ठ १०८) के इस आशय के वक्तव्य देखेंगे कि उपरोक्त दोनों राष्ट्रों के आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों की एक आकांक्षा जातीय एकता तथा अपनी जनताओं की स्वतंत्रता तथा आज़ादी हासिल करना है। इसलिए यद्यपि आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवाद ने प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को अपने कार्यक्रम में शामिल नहीं किया है, फिर भी उसने पार्टी के कुछ **हिस्सों** को जातीय स्वतंत्रता की मांग उठाने की इजाज़त दे दी है। ज़ाहिर है कि वास्तव में इसका मतलब राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करना है! इस प्रकार रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का आस्ट्रिया का हवाला देना **हर** एतबार से स्वयं रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के **ख़िलाफ़** पड़ता है।

४. जातियों के प्रश्न में "व्यावहारिकता"

अवसरवादियों ने रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के इस तर्क को विशेष रूप से पकड़ लिया है कि हमारे कार्यक्रम की ९वीं धारा में कोई "व्यावहारिक" बात नहीं है। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग अपनी इस दलील से इतनी ख़ुश हैं कि उनके लेख के कुछ हिस्सों में तो इस "नारे" को एक ही पृष्ठ पर आठ-आठ बार दोहराया गया है।

वह लिखती हैं: ९वीं धारा "सर्वहारा वर्ग की प्रतिदिन की नीति के बारे में कोई व्यावहारिक अगुआई नहीं करती, वह जातीय समस्याओं का कोई व्यावहारिक हल नहीं बताती"।

आइये, हम इस दलील को जांचें, जिसे अन्यत्र इस ढंग से भी प्रतिपादित किया गया है कि ९वीं धारा या तो बिल्कुल निरर्थक है या फिर हम उसके कारण इतना बंध जाते हैं कि हम हर जातीय आकांक्षा का समर्थन करें।

जातियों के प्रश्न में "व्यावहारिकता" की मांग का क्या अर्थ है?

या तो सभी जातीय आकांक्षाओं का समर्थन किया जाये, या हर राष्ट्र के सिलसिले में उसके अलग हो जाने के प्रश्न का उत्तर "हां" या "नहीं" में दिया जाये; या यह कि जातीय मांगें आम तौर पर तात्कालिक रूप से "व्यावहारिक" हैं।

आइये, हम "व्यावहारिकता" की मांग के इन तीनों संभव अर्थों को जांचें।

पूंजीपति वर्ग, जो स्वाभाविक रूप से हर जातीय आंदोलन के आरंभ में अगुआ (नेता) के रूप में सामने आता है, सभी जातीय आकांक्षाओं के समर्थन को व्यावहारिक ठहराता है। परंतु जातियों के प्रश्न में सर्वहारा वर्ग की नीति (अन्य प्रश्नों की तरह ही) पूंजीपति वर्ग का समर्थन एक निश्चित दिशा में ही करती है, वह पूंजीपति वर्ग की नीति के साथ पूरी तरह मेल कभी नहीं खाती। मज़दूर वर्ग पूंजीपति वर्ग का समर्थन केवल जातीय शांति प्राप्त करने के लिए (जिस काम को पूंजीपति वर्ग पूरी तरह कभी नहीं सम्पन्न कर सकता और जो केवल **पूर्ण** जनवाद के साथ ही पूरा हो सकता है), समान अधिकार प्राप्त करने के लिए और वर्ग-संघर्ष के लिए श्रेष्ठतम परिस्थितियां उत्पन्न करने के लिए करता हैं। इसलिए, पूंजीपति वर्ग की **व्यावहारिकता के खिलाफ़** ही तो सर्वहारागण जातियों के प्रश्न के बारे में अपनी **सैद्धांतिक** नीति प्रस्तुत करते

हैं, वे हमेशा पूंजीपति वर्ग का समर्थन **कुछ शर्तों पर ही** करते हैं। जातीय मामलों में पूंजीपति वर्ग हमेशा या तो **स्वयं** अपने राष्ट्र के लिए विशेषाधिकार या उसके लिए असाधारण सुविधाएं चाहता है; और इसे "व्यावहारिक" होना कहा जाता है। सर्वहारा वर्ग समस्त विशेषाधिकारों के, समस्त असाधारणता के खिलाफ़ है। जो लोग यह मांग करते हैं कि उसे "व्यावहारिक" होना चाहिये वे पूंजीपति वर्ग की दुम में लगे हुए हैं, वे अवसरवाद में फंस रहे हैं।

हर राष्ट्र के सिलसिले में उसके अलग हो जाने के प्रश्न का उत्तर "हां" या "नहीं" में देने की मांग बहुत "व्यावहारिक" प्रतीत होती है। वास्तव में यह बिल्कुल बेतुकी मांग है, सिद्धांत की दृष्टि से यह अधिभूतवादी है और व्यवहार में यह सर्वहारा वर्ग को पूंजीपति वर्ग की नीतिं के अधीन कर देने की ओर ले जाती है। पूंजीपति वर्ग अपनी जातीय मांगों को हमेशा सबसे आगे रखता है। वह उन्हें बिना किसी लाग-लपेट के सामने रखता है। परंतु सर्वहारा वर्ग के लिए ये मांगें वर्ग-संघर्ष के हितों के अधीन होती हैं। सिद्धांततः पहले से यह बात दावे के साथ कहना असंभव होता है कि किसी राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र से अलग हो जाने से या उसके बराबर अधिकार प्राप्त कर लेने से पूंजीवादी-जनवादी क्रांति पूरी हो जायेगी या नहीं, **दोनों ही सूरतों में**, सर्वहारा वर्ग के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि वह अपने वर्ग के विकास को सुनिश्चित बनाये। पूंजीपति वर्ग के लिए यह महत्त्वपूर्ण होता है कि वह "अपने" राष्ट्र के उद्देश्यों को इस विकास के उद्देश्यों से आगे बढ़ाकर इसकी राह में बाधा डाले। यही कारण है कि सर्वहारा वर्ग किसी राष्ट्र को कोई आश्वासन दिये बिना, किसी दूसरे राष्ट्र के **हितों की बलि देकर कुछ** देने की हामी भरे बिना, एक प्रकार से, अपने आपको आत्म-निर्णय के **अधिकार** को स्वीकार करने की नकारात्मक मांग तक ही सीमित रखता है।

संभव है कि यह बात "व्यावहारिक" न हो पर वास्तव में यह सभी संभव हलों में से सबसे अधिक जनवादी हल प्राप्त करने की सबसे अच्छी गारंटी है। सर्वहारा वर्ग को **केवल** इन आश्वासनों की ज़रूरत होती है, जबकि हर राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग **स्वयं अपने** हितों के लिए आश्वासन चाहता है, उसे इससे कोई मतलब नहीं होता कि अन्य राष्ट्रों की स्थिति क्या है (या इससे उन्हें संभवतः क्या असुविधाएं हो सकती हैं)।

पूंजीपति वर्ग को सबसे अधिक दिलचस्पी उस मांग विशेष के "व्यावहारिक होने" में होती है–यही कारण है कि उसकी नीति सदैव सर्वहारा वर्ग के हितों की बलि देकर दूसरे राष्ट्रों के पूंजीपति वर्ग के साथ समझौता कर लेने की होती है। परंतु सर्वहारा वर्ग के लिए पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध अपने वर्ग को शक्तिशाली बनाना और जन-साधारण को सुसंगत जनवाद तथा समाजवाद की भावना की शिक्षा देना महत्त्वपूर्ण बात होती है।

संभव है कि यह बात अवसरवादियों के लिए "व्यावहारिक" न हो, परंतु यह एकमात्र सच्ची गारंटी है, इस बात की गारंटी कि सामंतवादी ज़मींदारों तथा **राष्ट्रवादी** पूंजीपति वर्ग के बावजूद अधिकतम जातीय समता तथा शांति हो।

जातियों के प्रश्न के संबंध में सर्वहारागण का सारा काम हर राष्ट्र के **राष्ट्रवादी** पूंजीपति वर्ग के दृष्टिकोण से "अव्यावहारिक" होता है क्योंकि हर प्रकार के राष्ट्रवाद के विरोधी होने के नाते सर्वहारागण "अमूर्त" समता की मांग करते हैं, वे यह मांग करते हैं कि सिद्धांततः कोई भी विशेषाधिकार नहीं होंगे, वे कितने ही छोटे क्यों न हों। इस बात को न समझ सकने के कारण रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने व्यावहारिकता की अपनी नासमझी की प्रशंसा द्वारा अवसरवादियों के लिए, और विशेष रूप से वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद को अवसरवादी रिआयतें देने के लिए, पूरा रास्ता खोल दिया।

वृहत्तर रूसी क्यों? क्योंकि रूस में वृहत्तर रूसी एक उत्पीड़क राष्ट्र हैं और यहां स्वाभाविक है कि जातियों के प्रश्न के सिलसिले में अवसरवाद उत्पीड़क राष्ट्रों में उत्पीड़ित राष्ट्रों की अपेक्षा भिन्न रूप में व्यक्त हो।

उत्पीड़ित राष्ट्रों का पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग का आवाहन करेगा कि वह उसकी आकांक्षाओं का बिना किसी शर्त के समर्थन करे क्योंकि उसकी मांगें "व्यावहारिक" हैं। सबसे अधिक व्यावहारिक कार्यविधि यह है कि सभी राष्ट्रों को अलग हो जाने का **अधिकार** होने के पक्ष में "हां" कहने की अपेक्षा **किसी एक** राष्ट्र विशेष के अलग हो जाने के पक्ष में साफ़ "हां" कर दी जाये!

सर्वहारा वर्ग इस प्रकार की व्यावहारिकता के ख़िलाफ़ है। जातियों की बराबरी तथा जातीय राज्य को स्थापित करने के उनके समान अधिकारों को स्वीकार करते हुए भी वह सभी राष्ट्रों के सर्वहारागण की मित्रता को सबसे

मूल्यवान समझता है, उसे सबसे ऊंचा स्थान देता है और हर जातीय मांग का, हर जातीय संबंध-विच्छेद का मूल्यांकन मज़दूरों के वर्ग-संघर्ष के **दृष्टिकोण से** करता है। व्यावहारिकता का यह आवाहन पूंजीवादी आकांक्षाओं को बिना सोचे-समझे मान लेने के आवाहन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

हमसे कहा जाता है: अलग हो जाने के अधिकार का समर्थन करके आप उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीवादी राष्ट्रवाद का समर्थन करते हैं। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग यही बात कहती हैं और इसी को अवसरवादी सेम्कोव्स्की प्रतिध्वनित करते हैं, जिनके बारे में लगे-हाथों यह बात बता दी जाये कि विसर्जनवादी अख़बार में इस प्रश्न पर अवसरवादी विचारों के वह एकमात्र प्रतिनिधि हैं!

हम इसका उत्तर यह देते हैं: नहीं, इस प्रश्न का "व्यावहारिक" हल पूंजीपति वर्ग के लिए ही तो महत्त्व रखता है। मज़दूरों के लिए महत्त्वपूर्ण बात दोनों धाराओं के **सिद्धांतों** के बीच अंतर करना है। **चूंकि** उत्पीड़ित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग उत्पीड़क राष्ट्र के पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ता है, **इसलिए** हम हमेशा, हर सूरत में, और किसी की भी अपेक्षा अधिक दृढ़ता के साथ उसके **पक्ष में** हैं, क्योंकि हम उत्पीड़न के सबसे कट्टर और सबसे पक्के दुश्मन हैं। परंतु चूंकि उत्पीड़ित राष्ट्र का पूंजीपति वर्ग **स्वयं अपने** पूंजीवादी राष्ट्रवाद के लिए लड़ता है इसलिए हम उसके ख़िलाफ़ हैं। हम उत्पीड़क राष्ट्र के विशेषाधिकारों तथा उसकी हिंसा के ख़िलाफ़ लड़ते हैं और उत्पीड़ित राष्ट्र द्वारा विशेषाधिकार प्राप्त करने की कोशिशों को किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं समझते।

यदि हम अपने प्रचार में अलग हो जाने के **अधिकार** का नारा नहीं देंगे और उसका समर्थन नहीं करेंगे तो हम केवल पूंजीपति वर्ग के ही हाथों में **नहीं** बल्कि सामंती ज़मींदारों तथा **उत्पीड़क** राष्ट्र की निरंकुशता के भी हाथों में खेलेंगे। काउत्स्की ने बहुत पहले ही रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के ख़िलाफ़ यह तर्क प्रस्तुत किया था और यह तर्क अकाट्य है। इस भय से कि वह कहीं पोलैंड के राष्ट्रवादी पूंजीपति वर्ग की "सहायता" न कर दे, जब रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग **रूसी** मार्क्सवादियों के कार्यक्रम में सम्मिलित अलग हो जाने के **अधिकार** को अस्वीकार करती हैं, तो वह **वास्तव में** वृहत्तर रूसी यमदूत सभावालों की **सहायता** करती हैं। वह वास्तव में वृहत्तर रूसियों के विशेषाधिकारों को (और

विशेषाधिकारों से भी बदतर चीज़ को) अनिवार्य मान लेने की अवसरवादी प्रवृत्ति की सहायता करती हैं।

पोलैंड में राष्ट्रवाद के विरुद्ध संघर्ष की धारा में बहकर रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग वृहत्तर रूसियों के राष्ट्रवाद को भूल गयी हैं, हालांकि इस समय **यही** सबसे अधिक ख़तरनाक है, यह वह राष्ट्रवाद है जो पूंजीवादी कम और सामंतवादी ज़्यादा है, और यही जनवाद तथा सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की राह में मुख्य बाधा है। उत्पीड़ित राष्ट्र के **हर** पूंजीवादी राष्ट्रवाद में एक आम जनवादी तत्व होता है जो उत्पीड़न के **ख़िलाफ़** निर्देशित होता है और हम इसी तत्व का **बिना कोई शर्त लगाये** समर्थन करते हैं, पर साथ ही हम जातीय असाधारणता की दिशा में प्रवृत्ति **से** बड़ी सख़्ती के साथ उसका अंतर बताते हैं और साथ ही हम पोलैंड के पूंजीपति वर्ग की यहूदियों का उत्पीड़न करने की प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ लड़ते हैं, आदि, आदि।

यह बात पूंजीपति वर्ग और कूपमंडूकों के दृष्टिकोण से "अव्यावहारिक" है, परंतु जातियों के प्रश्न के बारे में यह एकमात्र ऐसी नीति है जो व्यावहारिक है, जो सिद्धांतों पर आधारित है और जो सचमुच जनवाद, आज़ादी और सर्वहारा एकता को बढ़ावा देती है।

सबके लिए अलग हो जाने के अधिकार को मानना; अलग हो जाने के हर ठोस प्रश्न का मूल्यांकन सारी असमानता, सारे विशेषाधिकारों, सारी असाधारणता को दूर करने के दृष्टिकोण से करना।

आइये, हम एक उत्पीड़क राष्ट्र की स्थिति को लें। यदि कोई जनता दूसरी जनताओं का उत्पीड़न करती है तो क्या वह स्वतंत्र हो सकती है? वह नहीं हो सकती। वृहत्तर रूसी जनसंख्या* की स्वतंत्रता के हितों का तक़ाज़ा है कि

---

*यह शब्द पेरिस में ल० व्ल० नामक एक सज्जन को अमार्क्सवादी लगता है। यह ल० व्ल० साहब बड़े दिलचस्प ढंग से «superklug» (अति चतुर) हैं। ऐसा लगता है कि यह "अति चतुर" ल० व्ल० साहब इसी विषय पर एक निबंध लिखने का इरादा रखते हैं कि हमारे अनिवार्य न्यूनतम कार्यक्रम में से (वर्ग-संघर्ष को ध्यान में रखते हुए!) "जनसंख्या", "जनता" आदि शब्द निकाल दिये जायें।

इस प्रकार के उत्पीड़न के ख़िलाफ़ संघर्ष किया जाये। उत्पीड़ित राष्ट्रों के आंदोलनों के दमन के लम्बे, युगों पुराने इतिहास और "उच्च" वर्गों की ओर से इस दमन के पक्ष में बाक़ायदा प्रचार ने स्वयं वृहत्तर रूसी जनता की स्वतंत्रता के ध्येय की राह में पूर्वाग्रहों आदि के रूप में बहुत बड़ी-बड़ी बाधाएं खड़ी कर दी हैं।

वृहत्तर रूसी यमदूत सभावाले जान-बूझकर इन पूर्वाग्रहों को पनपाते हैं और हवा देते हैं। वृहत्तर रूसी पूंजीपति वर्ग या तो उन्हें बर्दाश्त करता है या उनकी इच्छा को पूरा करता है। वृहत्तर रूसी सर्वहारा वर्ग जब तक बाक़ायदा इन पूर्वाग्रहों के ख़िलाफ़ लड़ेगा नहीं तब तक वह **स्वयं अपने** उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकता, अपनी स्वतंत्रता के लिए रास्ता नहीं साफ़ कर सकता।

रूस में इस समय तक एक स्वतंत्र जातीय राज्य का निर्माण करने का विशेषाधिकार अकेले वृहत्तर रूसी राष्ट्र को प्राप्त हुआ है। हम, वृहत्तर रूसी सर्वहारागण, किसी भी विशेषाधिकार का समर्थन नहीं करते और हम इस विशेषाधिकार के भी पक्ष में नहीं हैं। अपनी लड़ाई में हम उस राज्य को, जो इस समय विद्यमान हो, अपना आधार मानते हैं; हम उस राज्य विशेष के सभी राष्ट्रों के मज़दूरों की एकता स्थापित करते हैं, हम जातीय विकास के किसी एक मार्ग विशेष को निश्चय के साथ सही नहीं बता सकते, हम अपने वर्ग-लक्ष्य की ओर **सभी** संभव मार्गों से आगे बढ़ रहे हैं।

परंतु जब तक हम हर प्रकार के राष्ट्रवाद के विरुद्ध न लड़ें, जब तक हम सभी राष्ट्रों की बराबरी की हिमायत न करें तब तक हम उस लक्ष्य की ओर आगे नहीं बढ़ सकते। उदाहरण के लिए, यह सवाल कि उक्रइन आगे चलकर एक स्वतंत्र राज्य बनेगा कि नहीं ऐसी हज़ारों बातों से तै होगा जिनके बारे में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। फ़िज़ूल की "**अटकलबाज़ी**" की कोशिश किये बग़ैर हम दृढ़तापूर्वक केवल उस बात को सही मानते हैं जिसमें कोई संदेह नहीं हो सकता: उक्रइन का इस प्रकार का राज्य बनाने का अधिकार। हम इस अधिकार का सम्मान करते हैं; हम उक्रइनवासियों के मुक़ाबले में वृहत्तर रूसियों के किन्हीं विशेषाधिकारों के समर्थक नहीं हैं, हम इस अधिकार को मानने की भावना के अनुसार, किसी भी राष्ट्र के **राज्य-संबंधी** विशेषाधिकारों को अस्वीकार करने की भावना के अनुसार, जनता को **शिक्षा देते हैं।**

उन छलांगों के दौरान में जो सभी देश पूंजीवादी क्रांतियों के काल में भरते हैं, जातीय राज्य के अधिकार को लेकर टक्करें तथा संघर्ष संभव हैं तथा हो भी सकते हैं। हम सर्वहारागण पहले से ही यह घोषणा करते हैं कि हम वृहत्तर रूसियों के विशेषाधिकारों के **ख़िलाफ़** हैं, और यही बात हमारे आंदोलन तथा प्रचार के पूरे काम का पथ-प्रदर्शन करती है।

"व्यावहारिकता" के चक्कर में रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग वृहत्तर रूसी सर्वहारा वर्ग और अन्य राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग दोनों ही के **मुख्य** व्यावहारिक काम को नहीं देखतीं: सभी राज्यीय तथा जातीय विशेषाधिकारों के विरुद्ध, और सभी राष्ट्रों के अपना जातीय राज्य बनाने के अधिकार, समान अधिकार के पक्ष में, रोज़मर्रा का आंदोलन तथा प्रचार का काम। यह काम (इस समय) जातियों के प्रश्न के सिलसिले में हमारा मुख्य काम है, क्योंकि केवल इसी तरीक़े से हम जनवाद के तथा बराबरी के आधार पर सभी राष्ट्रों के समस्त सर्वहारागण की समान मैत्री के हितों की रक्षा कर सकते हैं।

संभव है कि यह प्रचार वृहत्तर रूसी उत्पीड़कों के दृष्टिकोण से और उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीपति वर्ग के दृष्टिकोण से भी "अव्यावहारिक" हो (दोनों ही **साफ़** "हां" या "नहीं" में उत्तर चाहते हैं और सामाजिक-जनवादियों पर "गोलमोल" बातें करने का आरोप लगाते हैं)। वास्तव में यह प्रचार ही है, और केवल यही प्रचार है, जो जनता की सचमुच जनवादी, सचमुच समाजवादी शिक्षा को सुनिश्चित बनाता है। केवल ऐसा प्रचार ही इस बात की सर्वाधिक संभावना को सुनिश्चित बनाता है कि यदि रूस एक मिले-जुले जातीय राज्य रहे तो उसमें विभिन्न जातियों के बीच शांति स्थापित रहे और यदि उसके अलग-अलग जातीय राज्यों में बंट जाने का सवाल पैदा हो तो यह विभाजन सर्वाधिक शांतिपूर्ण ढंग से (और सर्वहारा वर्ग-संघर्ष के लिए निरापद) सम्पन्न हो।

इस बात को और अधिक ठोस रूप से समझाने के लिए, जो जातियों के प्रश्न के बारे में एकमात्र सर्वहारा नीति है, हम "जातियों के आत्म-निर्णय" के प्रति वृहत्तर रूसी उदारवाद के रवैये पर और स्वीडेन से नार्वे के अलग हो जाने के दृष्टांत पर विचार करेंगे।

५. जातियों के प्रश्न के बारे में उदारवादी पूंजीपति वर्ग तथा समाजवादी अवसरवादियों के विचार

हम देख चुके हैं कि रूसी मार्क्सवादियों के कार्यक्रम के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का एक "तुरुप का पत्ता" उनकी निम्नलिखित दलील है: आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करना उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीवादी राष्ट्रवाद का समर्थन करने के बराबर है। वह कहती हैं, दूसरी ओर यदि हम इस अधिकार का अर्थ यह लगायें कि यह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध किसी भी प्रकार की हिंसा के ख़िलाफ़ लड़ा जाये तो कार्यक्रम में इसके बारे में अलग एक धारा रखने की कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि सामाजिक-जनवादी आम तौर पर हर प्रकार के जातीय उत्पीड़न तथा असमानता के विरुद्ध हैं।

जैसा कि काउत्स्की ने अबसे लगभग बीस वर्ष पहले अकाट्य रूप से सिद्ध कर दिया था, पहली दलील तो स्वयं अपने राष्ट्रवाद के लिए दूसरों को दोष देने की मिसाल है, क्योंकि उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवाद से रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का डरना **वास्तव में** वृहत्तर रूसियों के यमदूत सभावाले राष्ट्रवाद के हाथों में खेलना है! उनकी दूसरी दलील वस्तुतः इस प्रश्न से भीरुतावश कतरा जाना है: क्या जातीय समानता को स्वीकार करने में अलग हो जाने के अधिकार को स्वीकार करना भी शामिल है या नहीं? रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग इस बात को स्वीकार करती हैं कि यदि यह बात उसमें शामिल है तो हमारे कार्यक्रम की ९वीं धारा सिद्धांततः सही है। यदि वह शामिल नहीं है तो वह जातीय समानता को नहीं मानती। इस मामले में तोड़ने-मरोड़ने और कतराने से काम नहीं चलने का!

परंतु उपरोक्त दलीलों को और ऐसी ही अन्य सभी दलीलों को परखने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि इस प्रश्न की ओर समाज के **विभिन्न वर्गों** के रवैये का अध्ययन किया जाये। मार्क्सवादी के लिए यह परीक्षण अनिवार्य है। हमें उस बात से आरंभ करना चाहिये जो वस्तुगत है; हमें इस बात के सिलसिले में वर्गों के पारस्परिक संबंधों को जांचना चाहिये। ऐसा न करने के कारण रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग अधिभूतवाद, अमूर्त, खोखली तथा स्थूल बातें कहने

ग्रादि के उन्हीं ग्रपराधों की दोषी हैं जिनका ग्रारोप वह बड़े ग़रूर के साथ ग्रपने विरोधियों पर लगाती हैं।

हम **रूस के** मार्क्सवादियों के, ग्रर्थात् रूस में बसनेवाली सभी जातियों के मार्क्सवादियों के, कार्यक्रम पर बहस कर रहे हैं। क्या यह ज़रूरी नहीं है कि हम रूस के **शासक** वर्गों की स्थिति को जांचें?

"नौकरशाही" (हम इस शब्द के लिए माफ़ी चाहते हैं जो पूर्णतः सही नहीं है) ग्रौर हमारे संयुक्त ग्रभिजात वर्ग[103] की क़िस्म के सामंती ज़मींदारों की स्थिति से लोग भली भांति परिचित हैं। वे साफ़-साफ़ जातियों की समानता तथा ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकार दोनों ही को ग्रस्वीकार करते हैं। वे कृषि-दासता के ज़माने के इस पुराने नारे से चिपके हुए हैं: एकतंत्र, ग्रार्थोडाक्स धर्म, जाति—ग्रंत वाला शब्द केवल वृहत्तर रूसी जाति पर लागू होता था। उक्रइनियों को भी "ग़ैर-रूसी" घोषित कर दिया गया है ग्रौर उनकी भाषा तक का दमन किया जा रहा है।

ग्राइये, हम रूसी पूंजीपति वर्ग पर एक नज़र डालें, जिसे "तीसरी जून वाली"[104] विधान तथा प्रशासन व्यवस्था के ग्रंतर्गत सरकार में भाग लेने के लिए—बहुत थोड़ा-सा ही भाग सही फिर भी कुछ भाग तो था ही—"बुलाया गया" था। इस तथ्य पर ग्रधिक विस्तार के साथ कुछ कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि इस मामले में ग्रक्तूबरवादी वास्तव में दक्षिणपंथियों का ग्रनुसरण कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश, कुछ मार्क्सवादी वृहत्तर रूसी उदारवादी पूंजीपति वर्ग, प्रगतिवादियों[105] तथा कैडेटों (सांविधानिक जनवादियों) की स्थिति की ग्रोर ग्रपेक्षतः बहुत ही कम ध्यान देते हैं। फिर भी, जो भी इस स्थिति का ग्रध्ययन तथा उसपर विचार नहीं करता वह राष्ट्रों के ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकार के प्रश्न पर विचार करते समय ग्रनिवार्य रूप से ग्रमूर्त स्थापनाग्रों तथा ऐसे कथनों में भटक जायेगा जिनकी पुष्टि तथ्यों द्वारा नहीं की जा सकती।

"ग्ररुचिकर" प्रश्नों के सीधे-सीधे उत्तर देने से कुटिलतापूर्वक कतरा जाने की कला में सिद्धहस्त होते हुए भी सांविधानिक-जनवादी पार्टी के मुख्य मुखपत्र 'रेच'[106] को पिछले वर्ष 'प्राव्दा'[107] के साथ ग्रपनी बहस के दौरान में कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातें स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ा। सारा झगड़ा ग्रखिल-उक्रइनी विद्यार्थी कांग्रेस को लेकर ग्रारंभ हुग्रा जो १९१३ की गर्मियों में ल्वोव में हुई

थी। ख़ास तौर पर तैनात किये गये "उक्रइनी विशेषज्ञ" अर्थात् 'रेच' के उक्रइनी संवाददाता श्री मोगिल्यान्स्की ने एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने दोन्त्सोव नामक एक राष्ट्रवादी सामाजिक-जनवादी द्वारा प्रस्तुत किये गये तथा उपरोक्त कांग्रेस द्वारा अनुमोदित इस विचार पर कि उक्रइन को अलग हो जाना चाहिये, बहुत चुनी हुई संज्ञाओं ("अनर्गल प्रलाप", "साहसवाद", आदि) की बौछार की।

'राबोचाया प्राव्दा' ने किसी भी प्रकार श्री दोन्त्सोव के साथ तादात्म्य स्थापित किये बिना और साफ़-साफ़ यह घोषणा करके कि वह एक राष्ट्रवादी सामाजिक-जनवादी हैं और बहुत से उक्रइनी मार्क्सवादी उनसे सहमत नहीं हैं, यह कहा कि 'रेच' का लहजा, बल्कि कहना चाहिये वह तरीक़ा जिस से **उसने सिद्धांत रूप में इस प्रश्न का प्रतिपादन किया**, अनुचित था और एक वृहत्तर रूसी जनवादी के लिए, या जनवादी कहलाने की इच्छा रखनेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए, अशोभनीय था।* यदि 'रेच' चाहता है तो वह भले ही दोन्त्सोव जैसे लोगों से नाता तोड़ ले, परंतु **सिद्धांत** की दृष्टि से, जनवाद का एक वृहत्तर रूसी मुखपत्र, जिसका कि 'रेच' को दावा है, अलग हो जाने की **स्वतंत्रता**, अलग हो जाने के **अधिकार** की ओर से आंखें नहीं मूंद सकता।

इसके कुछ महीने बाद जब श्री मोगिल्यान्स्की को ल्वोव से प्रकाशित होनेवाले 'श्ल्याख़ी'[108] नामक उक्रइनी अख़बार से श्री दोन्त्सोव के उत्तर का पता चला—हम यह भी बता दें कि इस उत्तर के दौरान में दोन्त्सोव ने कहा था कि "'रेच' में जो अंधराष्ट्रवादी प्रहार किये गये थे उनकी केवल रूसी सामाजिक-जनवादी अख़बारों में उचित ढंग से भर्त्सना की गयी है" (कलंकित किया गया है?)—तो उन्होंने 'रेच' के ३३१वें अंक में एक "सफ़ाई" लिखी। उनकी "सफ़ाई" में उनका वही वक्तव्य था, जिसे वह तीन बार दोहरा चुके थे कि "श्री दोन्त्सोव के नुस्खों की आलोचना का" "राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को अस्वीकार करने से कोई संबंध नहीं है।"

श्री मोगिल्यान्स्की ने लिखा, "यह कहना पड़ेगा कि 'राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार' भी कोई ऐसा मंत्र नहीं है" (वाह वाह!

---

*देखिये व्ला० इ० लेनिन का 'उक्रइनी प्रश्न के बारे में सांविधानिक-जनवादियों का मत' शीर्षक लेख।—सं०

क्या बात कही है!!) "जिसकी आलोचना नहीं की जानी चाहिये: राष्ट्र के जीवन की अस्वास्थ्यकर परिस्थितियां राष्ट्रों के आत्म-निर्णय में अस्वास्थ्यकर प्रवृत्तियों को जन्म दे सकती हैं और यदि इन्हें सबके सामने खोलकर रख दिया जाये तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को अस्वीकार किया जा रहा है।"

जैसा कि आप देखते हैं इस उदारवादी की "मंत्र" वाली बात रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की बात से पूरी तरह मेल खाती है। यह स्पष्ट था कि श्री मोगिल्यान्स्की इस प्रश्न का सीधा-सीधा उत्तर देने से कतराना चाहते थे कि वह राजनीतिक आत्म-निर्णय के, अर्थात् अलग हो जाने के, अधिकार को मानते हैं या नहीं?

'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' (११ दिसम्बर, १९१३ का अंक ४) ने भी श्री मोगिल्यान्स्की से और सांविधानिक-जनवादी **पार्टी** से **सीधे-सीधे** यही प्रश्न पूछा था।*

इस पर 'रेच' ने (अंक ३४०) इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बिना किसी के हस्ताक्षर के, अर्थात् एक अधिकृत सम्पादकीय वक्तव्य प्रकाशित किया। इस उत्तर को निम्नलिखित तीन बातों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

१) सांविधानिक-जनवादी पार्टी के कार्यक्रम की ११वीं धारा में खुले तौर पर, बिल्कुल निश्चित रूप से तथा स्पष्ट शब्दों में राष्ट्रों के "स्वतंत्र **सांस्कृतिक** आत्म-निर्णय के अधिकार" की बात कही गयी है।

२) 'रेच' इस बात को ज़ोर देकर कहता है कि 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' आत्म-निर्णय को और अलगाव की प्रवृत्ति को, कुछ विशेष राष्ट्रों के अलग हो जाने को "बहुत बुरी तरह एक में मिला देता है"।

३) **"वास्तव में, सांविधानिक-जनवादी कभी भी इस बात पर वचनबद्ध नहीं हुए हैं कि वे रूसी राज्य से 'राष्ट्रों के अलग हो जाने' के अधिकार का समर्थन करेंगे।"** (देखिये २० दिसम्बर, १९१३ के 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा'

---

* देखिये व्ला० इ० लेनिन का "सांविधानिक-जनवादी और 'राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार'" शीर्षक लेख।—सं०

के १२वें अंक में 'राष्ट्रवादी-उदारवाद तथा राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार' शीर्षक लेख।)

आइये, सबसे पहले हम 'रेच' में प्रकाशित वक्तव्य की दूसरी बात पर विचार करें। इस बात से सेम्कोव्स्की, लीबमैन, युरकेविच जैसे सज्जनों तथा अन्य अवसरवादियों के लिए यह बात कितनी स्पष्ट हो जाती है कि "आत्म-निर्णय" शब्द की तथाकथित "अस्पष्टता" या "अनिश्चितता" के बारे में उन्होंने जो शोर-गुल मचाया है, वह **वास्तव में**, अर्थात् वास्तविक वर्ग-संबंधों तथा रूस के वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से, उदारवादी-राजतंत्रवादी पूंजीपति वर्ग के कथनों की **पुनरावृत्ति मात्र** है।

'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' ने 'रेच' में काम करनेवाले जागृत विचारों वाले "सांविधानिक-जनवादी" सज्जनों से निम्नलिखित **तीन** प्रश्न पूछे: १) क्या वे इस बात से इंकार करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय जनवाद के पूरे इतिहास के दौरान में, विशेषत: उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से, राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का अर्थ राजनीतिक आत्म-निर्णय, स्वतंत्र जातीय राज्य बनाने का अधिकार ही लगाया गया है? २) क्या वे इस बात से इंकार करते हैं कि १८९६ में लंदन में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस में जो प्रख्यात प्रस्ताव स्वीकार किया गया था उसका भी यही अर्थ है? और ३) क्या वे इस बात से इंकार करते हैं कि अबसे बहुत पहले १९०२ में जब प्लेखानोव ने आत्म-निर्णय के बारे में लिखा था तो उनका अभिप्राय राजनीतिक आत्म-निर्णय से ही था? जब 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' ने ये तीन प्रश्न पूछे तो **कैडेट सज्जन चुप हो गये!!**

उन्होंने उत्तर में एक शब्द भी नहीं कहा क्योंकि उनके पास कहने को कुछ था ही नहीं। उन्हें चुप रहकर यह स्वीकार करना पड़ा कि 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' का कहना बिल्कुल सही है।

उदारवादियों का यह हो-हल्ला कि "आत्म-निर्णय" शब्द बिल्कुल अस्पष्ट है और यह कि सामाजिक-जनवादी उसे अलगाव के साथ "बहुत बुरी तरह उलझा देते हैं," इस मसले को **उलझा देने**, एक सार्वत्रिक रूप से स्वीकृत जनवादी सिद्धांत को मानने से कतराने की कोशिशों के अलावा और कुछ नहीं है। यदि सेम्कोव्स्की, लीबमैन तथा युरकेविच जैसे लोग इतने जाहिल न होते तो उन्हें मजदूरों से **उदारवादियों** की तरह बात करने में शर्म आती।

लेकिन आगे बढ़िये। 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' ने 'रेच' को यह मानने पर मजबूर कर दिया कि सांविधानिक-जनवादियों के कार्यक्रम में "सांस्कृतिक" आत्म-निर्णय का अर्थ वस्तुतः **राजनीतिक** आत्म-निर्णय का **परित्याग है।**

"वास्तव में, सांविधानिक-जनवादी कभी भी इस बात पर वचनबद्ध नहीं हुए हैं कि वे रूसी राज्य से 'राष्ट्रों के अलग हो जाने' के अधिकार का समर्थन करेंगे"—'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' ने हमारे कैडेटों की "वफ़ादारी" के एक उदाहरण के रूप में 'रेच' के इन शब्दों की ओर 'नोवोये व्रेम्या'[109] तथा 'ज़ेमश्चिना'[110] का ध्यान अकारण ही आकर्षित नहीं कराया था। "घृणित यहूदियों" का उल्लेख करने और कैडेटों का लक्ष्य बनाकर तरह-तरह की व्यंगा-त्मक बातें कहने का अवसर न चूकते हुए 'नोवोये व्रेम्या' ने फिर भी अपने १३५६३वें अंक में लिखा:

> "जो चीज़ सामाजिक-जनवादियों के लिए राजनीतिक बुद्धिमत्ता का एक स्वयंसिद्ध सत्य है" (अर्थात् राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के, अलग हो जानें के अधिकार को मानना), "उसे लेकर आज कैडेट क्षेत्रों में भी मतभेद उत्पन्न होने लगे हैं।"

यह घोषणा करके कि वे "कभी इस बात पर वचनबद्ध नहीं हुए हैं कि वे रूसी राज्य से राष्ट्रों के अलग हो जाने के अधिकार का समर्थन करेंगे," कैडेटों ने सिद्धांततः ठीक वही रुख़ अपनाया है जो 'नोवोये व्रेम्या' का है। यही बात तो कैडेट **राष्ट्रवादी-उदारवाद** की, पुरिश्केविच जैसों के साथ उनकी नातेदारी की, और सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूप से पुरिश्केविच जैसों पर उनकी राजनीतिक निर्भरता की, एक बुनियादी बात है। 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' ने लिखा: "कैडेट महानुभावों ने इतिहास का अध्ययन किया है और वे इस बात को भली भांति जानते हैं कि पुरिश्केविच जैसों के 'पकड़ने तथा रोकने'[111] के पुरातन अधिकार के उपयोग की परिणति बहुधा, यदि नरमी से कहा जाये तो, 'राजनीतिक विरोधियों को, विशेष रूप से यहूदियों को लूटने-मारने के ढग की' जैसी हरकतों में हुई है।" यद्यपि कैडेट पुरिश्केविच जैसों की सर्वशक्तिमत्ता के सामंती स्रोत तथा स्वरूप से पूरी तरह परिचित हैं, फिर भी

वे इसी वर्ग के बनाये हुए संबंधों तथा सीमाओं **के आधार पर** अपना रुख़ निर्धारित करते हैं। इस बात को भली भांति जानते हुए भी कि इस वर्ग के बनाये हुए अथवा उसके द्वारा निर्धारित संबंधों तथा सीमाओं में कितनी ही बातें ऐसी हैं जो ग़ैर-यूरोपीय, यूरोप-विरोधी (हम तो 'एशियाई' शब्द का प्रयोग करते यदि वह शब्द जापानियों तथा चीनियों के लिए इतना अनुचित रूप से अपमानजनक न प्रतीत होता), कैडेट महानुभाव उन्हें वह सीमा मान लेते हैं जिसके आगे जाने का वे साहस नहीं कर सकते।

इस प्रकार वे अपने आपको पुरिश्केविच जैसों के अनुकूल बना रहे हैं, उनके सामने गिड़गिड़ा रहे हैं, इस बात से डर रहे हैं कि वे कहीं उन्हें ख़तरे में न डाल दें, वे जनता के आंदोलन से, जनवाद से उनकी रक्षा कर रहे हैं। जैसा कि 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' ने लिखा: "वास्तव में इसका अर्थ यह है कि वे अपने आपको सामंती प्रभुओं के हितों के और हावी राष्ट्र के बदतरीन राष्ट्रवादी पूर्वाग्रहों के अनुकूल ढाल रहे हैं, बजाय इसके कि वे बाक़ायदा इन पूर्वाग्रहों के ख़िलाफ़ लड़ें।"

उन लोगों की हैसियत से जो इतिहास से परिचित हैं और जनवादी होने का दावा करते हैं, कैडेट यह बात भी ज़ोर देकर कहने की कोशिश नहीं करते कि जो जनवादी आंदोलन आज पूर्वी यूरोप तथा एशिया की विशिष्टता है और जो दोनों ही को सभ्य पूंजीवादी देशों के नमूने पर बदलने की कोशिश कर रहा है, उस आंदोलन को चाहिये कि वह सामंती युग द्वारा निर्धारित सीमाओं को न छेड़े, वह युग जो कि पुरिश्केविच जैसों की सर्वशक्तिमत्ता और पूंजीपति वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग के व्यापक हिस्सों को अधिकारों से वंचित करने का युग था।

यह बात कि 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा' और 'रेच' की बहस में जो प्रश्न उठाया गया था वह केवल एक साहित्यिक प्रश्न न था बल्कि एक ऐसा प्रश्न था जिसका संबंध एक तत्कालीन वास्तविक राजनीतिक समस्या से था, और बातों के अतिरिक्त सांविधानिक-जनवादी पार्टी के पिछले सम्मेलन से सिद्ध हो गयी, जो कि २३ से २५ मार्च, १९१४ तक हुआ था। 'रेच' में (२६ मार्च, १९१४ का अंक ८३) इस सम्मेलन की जो अधिकृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी उसमें हम पढ़ते हैं:

"जातियों के प्रश्नों पर भी ख़ास तौर पर गरमागरम बहस हुई। कीयेव के प्रतिनिधियों ने, जिन्हें न० व० नेक्रासोव तथा अ० म० कोल्यूबाकिन का समर्थन प्राप्त था, यह बताया कि जातियों का प्रश्न एक ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न बनता जा रहा है जिसपर अब तक की अपेक्षा अधिक दृढ़तापूर्वक विचार करना पड़ेगा। परंतु" (यह "परंतु" भी श्चेद्रिन के "लेकिन" की तरह है–"कान माथे से ऊंचे कभी नहीं बढ़ पाते, कभी नहीं!") "फ़० फ़० कोकोश्किन ने बताया कि कार्यक्रम और पिछले राजनीतिक अनुभव दोनों ही का यह तक़ाज़ा है कि 'राष्ट्रों के राजनीतिक आत्म-निर्णय' के 'नमनीय सूत्रों' को बड़ी सावधानी से हाथ लगाया जाये।"

कैडेट सम्मेलन में तर्क का जो यह अत्यंत उल्लेखनीय ढर्रा अपनाया गया उसपर सभी मार्क्सवादियों तथा सभी जनवादियों को गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिये। (हम यहां पर प्रसंगवश यह भी कह दें कि 'कीयेवस्काया मीस्ल'[112] ने, जिसे स्पष्टतः सारी बातों की अच्छी तरह जानकारी है और जो निःसंदेह श्री कोकोश्किन के विचारों को सही-सही पेश करता है, इसके अतिरिक्त यह भी लिखा कि उन्होंने, ज़ाहिर है अपने विरोधियों को चेतावनी देने के लिए, राज्य के "विघटन" के ख़तरे पर विशेष रूप से ज़ोर दिया।)

'रेच' में जो रिपोर्ट छपी है वह बहुत ही मंझी हुई कूटनीतिक निपुणता के साथ इस तरह तैयार की गयी है कि परदा यथासंभव कम से कम उठे और यथासंभव ज़्यादा से ज़्यादा बातें छुपी रहें। फिर भी, मोटे-मोटे तौर पर, कैडेट सम्मेलन में जो कुछ हुआ वह स्पष्ट है। उदारवादी-पूंजीवादी प्रतिनिधियों ने, जो उक्रइन की परिस्थिति से परिचित थे, और "वामपक्षी" कैडेटों ने राष्ट्रों के **राजनीतिक** आत्म-निर्णय **का ही** प्रश्न उठाया। वरना श्री कोकोश्किन के लिए यह अनुरोध करने का कोई कारण ही न होता कि इस "सूत्र" को बड़ी "सावधानी से हाथ लगाया जाये"।

कैडेट कार्यक्रम में, जो स्वाभाविक रूप से कैडेट सम्मेलन में उपस्थित प्रतिनिधियों को मालूम था, राजनीतिक **नहीं** बल्कि "सांस्कृतिक" आत्म-निर्णय है। मतलब कि श्री कोकोश्किन उक्रइनी प्रतिनिधियों के, वामपक्षी कैडेटों के विरुद्ध राजनीतिक आत्म-निर्णय **के मुक़ाबले में** "सांस्कृतिक" आत्म-निर्णय की **रक्षा कर रहे थे।** यह बात बिल्कुल साफ़ है कि "राजनीतिक" आत्म-निर्णय का

विरोध करके, "राज्य के विघटन" के ख़तरे को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करके, "राजनीतिक आत्म-निर्णय" के सूत्र को "**नमनीय**" सूत्र कहकर (बिल्कुल रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की तरह!), श्री कोकोश्किन सांविधानिक-जनवादी पार्टी के अधिक "वामपक्षी" अथवा अधिक जनवादी तत्वों के ख़िलाफ़ और उक्रइनी पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद-उदारवाद की रक्षा कर रहे थे।

जैसा कि 'रेच' की रिपोर्ट के उस छोटे-से विश्वासघातक शब्द "परंतु" से ज़ाहिर है, कैडेट सम्मेलन में श्री कोकोश्किन की विजय हुई। कैडेटों के बीच वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद-उदारवाद की विजय हुई है। क्या इस विजय से रूस के मार्क्सवादियों में उन नासमझ लोगों की शंकाएं दूर नहीं हो जायेंगी जो कैडेटों की तरह ही "राष्ट्रों के राजनीतिक आत्म-निर्णय के नमनीय सूत्रों" से डरने लगे हैं?

'परन्तु' आइये, हम कोकोश्किन के विचार-क्रम के सार-तत्व को जांचें। "पिछले राजनीतिक अनुभव" का (अर्थात्, ज़ाहिर है, १६०५ के अनुभव का, जब वृहत्तर रूसी पूंजीपति वर्ग अपने राष्ट्रीय विशेषाधिकारों के बारे में भयभीत हो उठा था और उसने अपने भय से कैडेट पार्टी को भी भयभीत कर दिया था) हवाला देकर और "राज्य के विघटन" के ख़तरे को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करके श्री कोकोश्किन ने यह ज़ाहिर कर दिया कि वह इस बात को भली भांति जानते हैं कि राजनीतिक आत्म-निर्णय का अर्थ अलग हो जाने और एक स्वतंत्र जातीय राज्य बना लेने के अधिकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। सवाल यह है: आम तौर पर जनवाद की रोशनी में और ख़ास तौर पर सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष की रोशनी में श्री कोकोश्किन की आशंकाओं का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाये?

श्री कोकोश्किन हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि अलग हो जाने के अधिकार को स्वीकार कर लेने से "राज्य के विघटन" का ख़तरा बढ़ जायेगा। यह मिम्रेत्सोव नामक पुलिस कांस्टेबिल का दृष्टिकोण है जिसका नारा था: "पकड़ो और रोको"। आम तौर पर पूरे जनवाद के दृष्टिकोण से वास्तविकता इसकी बिल्कुल उल्टी है। अलग हो जाने के अधिकार को मान लेने से "राज्य के विघटन" का ख़तरा **कम हो जाता है।**

श्री कोकोश्किन बिल्कुल राष्ट्रवादियों की तरह तर्क करते हैं। अपनी

पिछली कांग्रेस में उन्होंने उक्रइनी "माज़ेपावादियों" पर बहुत बुरी तरह हमला किया था। श्री सावेंको तथा उनके साथियों ने कहा कि उक्रइनी ग्रांदोलन से उक्रइन तथा रूस के पारस्परिक संबंध कमज़ोर होने का ख़तरा पैदा होता है, क्योंकि अपने उक्रइन-प्रेम द्वारा आस्ट्रिया उक्रइन के साथ अपने संबंध मज़बूत बना रहा है!! यह बात फिर भी समझ में नहीं आयी कि रूस उक्रइन के साथ अपने संबंध "दृढ़ बनाने" की कोशिश **उन्हीं उपायों से** क्यों नहीं कर सकता, जिनको इस्तेमाल करने का आरोप सावेंको जैसे महानुभाव आस्ट्रिया पर लगाते हैं अर्थात् उक्रइनियों को अपनी भाषा इस्तेमाल करने की स्वतंत्रता, आत्म-शासन, तथा एक स्वायत्त अधिकार रखनेवाली संसद आदि देकर?

सावेंको जैसे लोगों तथा कोकोश्किन जैसे लोगों की दलीलें बिल्कुल एक जैसी हैं और वे शुद्धतः तर्क के दृष्टिकोण से समान रूप से हास्यास्पद तथा बेतुकी हैं। क्या यह बात स्पष्ट नहीं है कि उक्रइनी जाति को किसी देश में जितनी अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होगी उस देश के साथ उसके संबंध भी उतने ही दृढ़तर होंगे? आप यह सोचते होंगे कि जनवाद की सभी मूल स्थापनाओं का पूरी तरह परित्याग किये बिना इस स्वतःस्पष्ट सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता। और क्या किसी जाति के लिए अलग हो जाने की स्वतंत्रता से बढ़कर, एक स्वतंत्र जातीय राज्य बना लेने की स्वतंत्रता से बढ़कर भी कोई स्वतंत्रता हो सकती है?

इस सवाल को स्पष्ट करने के लिए, जिसे उदारवादियों ने (और उन लोगों ने जो अपने भोलेपन में उनके शब्दों को दोहराते हैं) इतना उलझा दिया है, हम एक सीधी-सादी मिसाल देंगे। तलाक़ के सवाल को ले लीजिये। अपने लेख में रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग लिखती हैं कि केंद्रीकृत जनवादी राज्य को अपने विभिन्न अंगों को स्वायत्त अधिकार तो दे देने चाहिये पर क़ानून बनाने की सबसे महत्वपूर्ण शाखाओं को, जिसमें तलाक़ का क़ानून भी शामिल है, केंद्रीय संसद के अधिकार-क्षेत्र में रखना चाहिये। यह चिन्ता बिल्कुल समझ में आती है कि तलाक़ की स्वतंत्रता देने की शक्ति जनवादी राज्य की केंद्रीय सत्ता के पास होनी चाहिये। प्रतिक्रियावादी तलाक़ की स्वतंत्रता के ख़िलाफ़ हैं; वे कहते हैं कि इसे "बड़ी सावधानी से हाथ लगाना चाहिये" और ऊंचे स्वर में घोषणा करते हैं कि इसका अर्थ "परिवार का विघटन" है। परंतु

जनवादियों का विश्वास है कि प्रतिक्रियावादी मक्कार हैं, कि वे वास्तव में पुलिस और नौकरशाही की सर्वशक्तिमत्ता की, पुरुषों के विशेषाधिकारों की और स्त्रियों के बदतरीन क़िस्म के उत्पीड़न की रक्षा करते हैं। उनका विश्वास है कि वास्तव में तलाक़ की स्वतंत्रता से पारिवारिक बंधनों का "विघटन" नहीं होगा बल्कि इसके विपरीत वे एक जनवादी आधार पर अधिक दृढ़ होंगे, जो कि सभ्य समाज में एकमात्र संभव तथा टिकाऊ आधार है।

आत्म-निर्णय की स्वतंत्रता के, अर्थात् अलग हो जाने की स्वतंत्रता के समर्थकों पर अलगाव की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने का आरोप लगाना उतनी ही बड़ी मूर्खता और मक्कारी है जितनी कि तलाक़ की स्वतंत्रता के समर्थकों पर पारिवारिक बंधनों को नष्ट करने को प्रोत्साहन देने का आरोप लगाना। जिस प्रकार पूंजीवादी समाज में विशेषाधिकार तथा भ्रष्टाचार के समर्थक, जिन दो बातों पर पूंजीवादी विवाह का आधार है, तलाक़ की स्वतंत्रता का विरोध करते हैं ठीक उसी प्रकार पूंजीवादी राज्य में आत्म-निर्णय के अधिकार को, अर्थात् राष्ट्रों के अलग हो जाने के अधिकार को, न मानने का अर्थ केवल प्रभुत्वपूर्ण राष्ट्र के विशेषाधिकारों की, और जनवादी तरीक़ों को हानि पहुंचाकर प्रशासन के पुलिस के तरीक़ों की रक्षा करना होता है।

इसमें संदेह नहीं कि पूंजीवादी समाज में पाये जानेवाले समस्त संबंधों से उत्पन्न होनेवाले राजनीतिक भ्रष्टाचार के फलस्वरूप कभी-कभी संसद के सदस्य तथा पत्रकार इस या उस राष्ट्र के अलग हो जाने के बारे में हल्की-फुल्की और बेसिर-पैर की बकवास करने लगते हैं। परंतु केवल प्रतिक्रियावादी ही इस प्रकार की बकवास से भयभीत हो सकते हैं (या भयभीत होने का ढोंग कर सकते हैं)। जो लोग जनवादी सिद्धांतों पर दृढ़ हैं, अर्थात् वे लोग जो इस बात पर आग्रह करते हैं कि राज्य से संबंधित प्रश्न जन-साधारण द्वारा तै किये जाने चाहिये, वे इस बात को भली भांति जानते हैं कि राजनीतिज्ञ जो बकवास करते रहते हैं और जनता जो फ़ैसला करती है उन दोनों के बीच बहुत अंतर है। जन-साधारण अपने प्रतिदिन के अनुभव से भौगोलिक तथा आर्थिक संबंधों के महत्व को तथा एक बड़ी मंडी और एक बड़े राज्य के फ़ायदों को भली भांति जानते हैं। इसलिए वे अलग हो जाने का क़दम तभी उठायेंगे जब जातीय उत्पीड़न तथा जातियों के परस्पर झगड़ों के कारण जीवन बिल्कुल असह्य हो उठे और

कोई भी आर्थिक आदान-प्रदान सुगमतापूर्वक न चल सके। ऐसी दशा में अलग हो जाने से ही पूंजीवादी विकास तथा वर्ग-संघर्ष की स्वतंत्रता के हितों की सेवा सबसे अच्छे ढंग से हो सकती है।

इस प्रकार, हम श्री कोकोश्किन की दलीलों को जिस दृष्टिकोण से भी देखें वे बेतुकेपन का शाहकार और जनवाद के सिद्धांतों को मुंह चिढ़ाना मालूम होती हैं। परंतु इन दलीलों में भी तर्क का, वृहत्तर रूसी पूंजीपति वर्ग के वर्ग-हितों के तर्क का, एक लेश है। सांविधानिक-जनवादी पार्टी के अधिकांश सदस्यों की तरह श्री कोकोश्किन भी इस पूंजीपति वर्ग के थैलीशाहों के संरक्षक हैं। वह उनके विशेषाधिकारों की आम तौर पर, और उनके **राज्य-संबंधी** विशेषाधिकारों की ख़ास तौर पर, रक्षा करते हैं। वे उनकी रक्षा पुरिश्केविच के साथ मिलकर, उसके कंधे से कंधा मिलाकर करते हैं, अंतर केवल यह है कि पुरिश्केविच सामंती लाठी पर ज़्यादा भरोसा करते हैं और कोकोश्किन तथा उनकी मंडली इस बात को समझती है कि यह लाठी १९०५ में बुरी तरह फट गयी थी और वे जनता को धोखा देने के पूंजीवादी तरीक़ों पर ज़्यादा भरोसा करते हैं, जैसे कूपमंडूकों और किसानों को "राज्य के विघटन" के हौए से डराना और "जन-स्वतंत्रता" को इतिहास द्वारा स्थापित सिद्धांतों के साथ मिला देने की सुखद बातों से उन्हें भ्रम में रखना, आदि।

राष्ट्रों के राजनीतिक आत्म-निर्णय के सिद्धांत के प्रति उदारवादियों का जो विरोध है उसका वर्ग की दृष्टि से एक, और केवल एक ही असली अर्थ हो सकता है: राष्ट्रवादी उदारवाद, वृहत्तर रूसी पूंजीपति वर्ग के राज्य-संबंधी विशेषाधिकारों की रक्षा। और रूस में मार्क्सवादियों के बीच जो अवसरवादी हैं, जिन्होंने आज, तीसरी जून वाली शासन-व्यवस्था के अंतर्गत, राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के विरुद्ध मोर्चा जमा लिया है – विसर्जनवादी सेम्कोव्स्की, बुंदवादी लीबमैन, उक्रइनी निम्न-पूंजीपति युरकेविच – वे **वास्तव में** राष्ट्रवादी-उदारवादियों की दुम में लगे हुए हैं, वे राष्ट्रवादी-उदारवादी विचारों से मज़दूर वर्ग को भ्रष्ट कर रहे हैं।

मज़दूर वर्ग तथा पूंजीवाद के विरुद्ध उसके संघर्ष के हितों का यह तक़ाज़ा है कि सभी राष्ट्रों के मज़दूरों के बीच पूर्ण सहयोग तथा घनिष्ठतम एकता हो; उनका तक़ाज़ा है कि हर जाति के पूंजीपति वर्ग की राष्ट्रवादी नीति को

निष्फल बनाया जाये। इसलिए यदि सामाजिक-जनवादियों ने राष्ट्रों के ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकार का, ग्रर्थात् एक उत्पीड़ित राष्ट्र के ग्रलग हो जाने के ग्रधिकार का, परित्याग कर दिया ग्रौर यदि वे उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीपति वर्ग की सभी जातीय मांगों का समर्थन करने लगे तो वे भी सर्वहारा नीति से उतना ही ग्रलग हट जायेंगे ग्रौर मज़दूरों को उतनी ही बड़ी हद तक पूंजीपति वर्ग की नीति के ग्रधीन कर देंगे। मज़दूरी पर काम करनेवाले के लिए इस बात से कोई ग्रंतर नहीं पड़ता कि उसका शोषण ग़ैर-रूसी पूंजीपति वर्ग के हाथों न होकर मुख्यतः वृहत्तर रूसी पूंजीपति वर्ग के हाथों होता है, या यहूदी पूंजीपति वर्ग के हाथों न होकर पोलैंड के पूंजीपति वर्ग के हाथों होता है, इत्यादि। मज़दूरी पर काम करनेवाला वह मज़दूर जो ग्रपने वर्ग-हितों को समझने लगा है, वह वृहत्तर रूसी पूंजीपतियों के राज्य-संबंधी विशेषाधिकारों के प्रति उतना ही उदासीन है जितना कि पोलैंड या उक्रइन के पूंजीपतियों के इन वादों के प्रति कि जब उन्हें राज्य-संबंधी विशेषाधिकार मिल जायेंगे तो वे इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लायेंगे। पूंजीवाद का विकास हो रहा है ग्रौर उसका विकास संयुक्त बहुजातीय राज्यों तथा स्वतंत्र जातीय राज्यों दोनों ही में किसी न किसी रूप में होता रहेगा।

हर हालत में मज़दूरी पर काम करनेवाला शोषण का शिकार रहेगा। ग्रौर शोषण के ख़िलाफ़ सफलतापूर्वक संघर्ष चलाने के लिए यह ग्रावश्यक है कि सर्वहारा वर्ग राष्ट्रवाद से मुक्त हो, विभिन्न राष्ट्रों के पूंजीपति वर्गों के बीच श्रेष्ठता के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसमें वह, एक प्रकार से, बिल्कुल निष्पक्ष हो। यदि किसी एक राष्ट्र का सर्वहारा वर्ग "ग्रपने" जातीय पूंजीपति वर्ग के विशेषाधिकारों का लेशमात्र भी समर्थन करता है तो इसके फलस्वरूप ग्रनिवार्य रूप से दूसरे राष्ट्र के सर्वहारा वर्ग में ग्रविश्वास उत्पन्न होगा, इससे मज़दूरों की ग्रंतर्राष्ट्रीय वर्ग-एकता कमज़ोर होगी ग्रौर वे बंट जायेंगे, जिसपर पूंजीपति वर्ग बग़लें बजायेगा। ग्रात्म-निर्णय या ग्रलग हो जाने के ग्रधिकार का किसी भी प्रकार विरोध करने का ग्रर्थ ग्रनिवार्य रूप से व्यवहार में प्रभुत्वपूर्ण राष्ट्र के विशेषाधिकारों का समर्थन करना होता है।

यदि हम स्वीडेन से नार्वे के ग्रलग हो जाने की ठोस मिसाल को लें तो इस बात की ग्रौर भी ज्वलंत रूप में पुष्टि हो जायेगी।

६. नार्वे का स्वीडन से अलग होना

रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने ठीक इसी उदाहरण का हवाला दिया है और वह इसपर निम्नलिखित ढंग से बहस करती हैं:

"संघातमक संबंधों के इतिहास की नवीनतम घटना, नार्वे का स्वीडेन से अलग हो जाना – जिसे उस समय पोलैंड के सामाजिक-देशभक्त अख़बारों ने (देखिये क्रैको का 'नाप्शूद'[113]) तुरंत झपट लिया था और उसे अलग राज्य बनाने की आकांक्षाओं की प्रबलता तथा उनके प्रगतिशील स्वरूप के एक उत्साहजनक उदाहरण के रूप में पेश किया था – एक ऐसी घटना थी जिसने इस बात का एक ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत किया कि संघवाद और उसका अभिन्न अंग, अलग हो जाना, किसी भी प्रकार प्रगतिशीलता या जनवाद के द्योतक नहीं हैं। नार्वे की तथाकथित "क्रांति" के बाद, जिसका नतीजा यह हुआ कि स्वीडेन के बादशाह को तख़्त से उतार दिया गया और नार्वे छोड़ने पर मजबूर कर दिया गया, नार्वेवालों ने बड़ी शांति के साथ एक दूसरा बादशाह चुन लिया और एक राष्ट्रव्यापी मतदान द्वारा एक जनतंत्र स्थापित करने के सुझाव को बाज़ाब्ता तौर पर ठुकरा दिया। जिस चीज़ को हर जातीय आंदोलन तथा स्वतंत्रता से मिलती-जुलती हर चीज़ के सतही प्रशंसकों ने एक "क्रांति" कहा था वह केवल किसान तथा निम्न-पूंजीवादी विशिष्टवाद की अभिव्यक्ति मात्र थी, वह इस इच्छा की अभिव्यक्ति थी कि वे जो पैसा देते हैं उसके बदले में स्वीडेन के अभिजात वर्ग द्वारा उनपर लादा गया राजा न होकर उनका "अपना" राजा हो, और इसलिए यह एक ऐसा आंदोलन था जिसका क्रांति से कोई भी संबंध नहीं था। इसके साथ ही स्वीडेन तथा नार्वे के संघ के भंग होने से यह बात एक बार फिर स्पष्ट हो गयी कि इस उदाहरण में भी संघ, जो उस समय तक अस्तित्व में था, किस हद तक शुद्धतः राजवंशों के हितों की अभिव्यक्ति मात्र था, और इसलिए वह केवल राजतंत्रवाद तथा प्रतिक्रिया का एक रूप था।" ('प्रज़ेग्लाद')

रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग को इस बात के विषय में जो कुछ कहना है वह शब्दशः यही है!! यह मानना पड़ेगा कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने अपने विचारों की

निरर्थकता जितने स्पष्ट रूप में इस उदाहरण में प्रकट की है उससे अधिक स्पष्ट रूप में उसे व्यक्त करना उनके लिए कठिन था।

सवाल यह था, और अब भी है, कि एक मिले-जुले जातीय राज्य में क्या सामाजिक-जनवादियों को एक ऐसे कार्यक्रम की ज़रूरत है जो आत्म-निर्णय के या अलग हो जाने के अधिकार को मानता हो।]

स्वयं रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने नार्वे की जिस मिसाल का हवाला दिया है उससे हमें इस सिलसिले में क्या पता चलता है?

हमारी लेखिका बहुत पहलू बदलती हैं और बल खाती हैं, अपनी सूझ-बूझ का पूरा ज़ोर लगाती हैं और 'नाप्शूद' पर अपना ग़ुस्सा उतारती हैं पर वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं देतीं!! रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग दुनिया भर की बातों का ज़िक्र करती हैं ताकि उन्हें उस असली बात के बारे में जिसपर बहस है, **एक शब्द भी न कहना** पड़े!!

इसमें संदेह नहीं कि अपने पैसे के बदले में स्वयं अपना राजा रखने की इच्छा प्रकट करके और एक राष्ट्रव्यापी मतदान द्वारा जनतंत्र स्थापित करने के सुझाव को रद्द करके नार्वे के निम्न-पूंजीपति वर्ग ने बहुत ही बुरी कूपमंडूकों जैसी प्रवृत्ति का परिचय दिया। इसमें भी संदेह नहीं कि इस बात को न देखकर 'नाप्शूद' ने उतनी ही बुरी तथा उतनी ही कूपमंडूकों जैसी प्रवृत्ति का परिचय दिया।

परंतु इन सब बातों का इस समस्या से क्या संबंध है??

जिस सवाल पर बहस हो रही थी वह था राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार और यह कि इस अधिकार की ओर समाजवादी सर्वहारा वर्ग को क्या रवैया अपनाना चाहिये! फिर आख़िर इस प्रश्न के चारों ओर चक्कर काटने के बजाय रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग इस प्रश्न का सीधे-सीधे जवाब क्यों नहीं देतीं?

कहावत है कि चूहे की नज़रों में बिल्ली से ज़्यादा ताक़तवर कोई दूसरा जानवर नहीं होता। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की नज़रों में ज़ाहिर है 'फ़्राकि' से ज़्यादा ताकतवर कोई जानवर नहीं है। तथाकथित क्रांतिकारी गुट, 'पोलिश समाजवादी पार्टी' को आम बोलचाल में लोग 'फ़्राकि' कहते हैं और क्रैको का अख़बार 'नाप्शूद' इस "गुट" के विचारों का समर्थन करता है। इस गुट के राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ उनकी लड़ाई ने रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग को इतना अंधा कर दिया है कि उन्हें 'नाप्शूद' के अलावा और कुछ दिखायी ही नहीं देता।

अगर 'नाप्शूद' "हां" कहता है तो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग इसे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझती हैं कि वह फ़ौरन "नहीं" कह दें, वह एक क्षण के लिए भी यह नहीं सोचतीं कि ऐसा करने से वह यह नहीं सिद्ध करतीं कि वह 'नाप्शूद' से स्वतंत्र हैं, बल्कि उल्टे ही वह यह सिद्ध करती हैं कि वह हास्यास्पद हद तक 'फ़ाकि' पर निर्भर हैं, कि वह चीज़ों को उससे अधिक गहरे तथा व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख सकतीं जैसी कि वे क्रैको के टीले से दिखायी देती हैं। 'नाप्शूद' तो टुच्चा अख़बार है ही, और वह किसी भी एतबार से मार्क्सवादी नहीं है, परंतु एक बार जब हमने नार्वे का उदाहरण चुन लिया है तो इस बात को उस उदाहरण का उचित ढंग से विश्लेषण करने की राह में बाधा नहीं बनना चाहिये।

इस उदाहरण का मार्क्सवादी ढंग से विश्लेषण करने के लिए हमें अत्यंत भयानक 'फ़ाकि' के दोषों पर नहीं बल्कि सबसे पहले नार्वे के स्वीडेन से अलग हो जाने की ठोस ऐतिहासिक विशेषताओं पर विचार करना चाहिये और दूसरे इस बात पर कि इस संबंध-विच्छेद के सिलसिले में दोनों देशों के **सर्वहारा वर्ग** के सामने क्या काम थे।

नार्वे तथा स्वीडेन के बीच जो भौगोलिक, आर्थिक तथा भाषा के संबंध हैं वे किसी भी प्रकार उनसे कम मजबूत नहीं हैं जो कई ग़ैर-वृहत्तर रूसी स्लाव राष्ट्रों तथा वृहत्तर रूसियों के बीच हैं। परंतु नार्वे तथा स्वीडेन की एकता स्वैच्छिक नहीं थी, इसलिए रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने जो "संघ" का उल्लेख किया है वह बिल्कुल बेतुका है, और उन्होंने इसका सहारा केवल इसलिए लिया कि उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहें। नेपोलियन के युद्धों के दौरान में राजाओं ने नार्वे नार्वेवासियों की इच्छा के विरुद्ध स्वीडेन को **दे दिया था**, और नार्वे को अपने अधीन करने के लिए स्वीडेनवालों को वहां अपनी सेनाएं ले जानी पड़ी थीं।

नार्वे को जो असाधारण रूप से व्यापक स्वायत्त अधिकार मिले हुए थे उनके बावजूद (उसकी अपनी अलग संसद थी, आदि), संघ बनने के बाद कई दशाब्दियों तक नार्वे तथा स्वीडेन के बीच लगातार झगड़ा चलता रहा और नार्वेवासियों ने स्वीडेन के अभिजात वर्ग का जूआ अपने कंधों से उतार फेंकने के लिए अपना पूरा ज़ोर लगा दिया। आख़िरकार अगस्त १६०५ में सफलता प्राप्त हुई: नार्वे की संसद ने यह फ़ैसला किया कि स्वीडेन का राजा अब नार्वे का राजा नहीं रह गया और उसके बाद नार्वेवासियों के बीच जो मतदान हुआ

उसमें उन्होंने विशाल बहुमत से (पक्ष में लगभग २,००,००० और विरोध में कुछ सौ) यह फ़ैसला किया कि स्वीडेन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया जाये। थोड़े समय तक कुछ निश्चय न कर सकने की स्थिति में रहने के बाद स्वीडेनवालों ने लाचार होकर संबंध-विच्छेद की वास्तविकता को स्वीकार कर लिया।

यह उदाहरण हमें बताता है कि आधुनिक आर्थिक तथा राजनीतिक संबंधों के अंतर्गत किन आधारों पर राष्ट्र अलग हो सकते हैं, और वास्तव में हो भी जाते हैं, और यह कि राजनीतिक स्वतंत्रता तथा जनवाद की परिस्थितियों में कभी-कभी यह संबंध-विच्छेद क्या **रूप** धारण करता है।

कोई भी सामाजिक-जनवादी, अगर वह इस बात को स्वीकार करने का साहस नहीं करेगा कि उसे राजनीतिक स्वतंत्रता और जनवाद में कोई दिलचस्पी नहीं है (और उस दशा में स्वाभाविक रूप से वह सामाजिक-जनवादी नहीं रह जायेगा), इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि यह उदाहरण इस बात का एक **व्यावहारिक** उदाहरण है कि वर्ग-चेतन मजदूरों का यह परम **कर्त्तव्य** है कि वे उन झगड़ों को, जो राष्ट्रों के अलग हो जाने के सिलसिले में पैदा हो सकते हैं, "रूसी ढंग" से नहीं बल्कि **केवल उस ढंग से** तै करने के लिए जिस ढंग से वे १९०५ में नार्वे तथा स्वीडेन के बीच तै किये गये थे, सुव्यवस्थित ढंग से प्रचार करें तथा उसके लिए ज़मीन तैयार करें। कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करने की मांग द्वारा यही बात व्यक्त की गयी है। परंतु नार्वे के कूपमंडूकों तथा क्रैको के 'नाप्शूद' की कूपमंडूकों जैसी प्रवृत्ति पर ज़बर्दस्त प्रहार करके रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने एक ऐसी हक़ीक़त से कतराने की कोशिश की जो उनके सिद्धान्त के लिए अरुचिकर थी, क्योंकि वह इस बात को भली भांति समझती थीं कि यह ऐतिहासिक तथ्य उनकी इन बातों का **पूरी तरह खंडन करता है** कि राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार एक "कोरी कल्पना" है, कि यह अधिकार "सोने के बर्तनों में खाने" के अधिकार के समान है आदि आदि। इस प्रकार की बातें केवल इस निश्चिंततापूर्ण तथा अवसरवादी आस्था को व्यक्त करती हैं कि पूर्वी यूरोप की जातियों में इस समय शक्तियों का जो संयोजन है उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

आइये, आगे बढ़ें। अन्य सभी प्रश्नों की तरह राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के प्रश्न में भी हमें सबसे पहले और सबसे बढ़कर उस राष्ट्र विशेष के सर्वहारा

वर्ग के आत्म-निर्णय में दिलचस्पी है। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग शरमाकर इस प्रश्न से भी दामन बचा गयीं, क्योंकि वह इस बात को समझती थीं कि नार्वे के उदाहरण के आधार पर, जिस उदाहरण को उन्होंने स्वयं चुना था, इसका विश्लेषण उनके "सिद्धान्त" के लिए विनाशकारी होगा।

संबंध-विच्छेद को लेकर जो झगड़ा हुआ उसमें नार्वे तथा स्वीडेन के सर्वहारा वर्ग ने क्या रुख़ अपनाया, और वास्तव में उसे क्या रुख़ अपनाना चाहिये था? नार्वे के अलग हो जाने **के बाद** यह स्वाभाविक ही था कि नार्वे के वर्ग-चेतन मज़दूर जनतंत्र के पक्ष में वोट देते* और यदि कुछ समाजवादियों ने इसके विपरीत अपना वोट दिया तो यह केवल इस बात का द्योतक है कि यूरोप के समाजवादी आंदोलन में कभी-कभी कितना मूर्खतापूर्ण और कूपमंडूकों जैसा अवसरवाद देखने में आता है। इस बात के बारे में दो रायें नहीं हो सकतीं और हम इस बात का उल्लेख केवल इसलिए कर रहे हैं कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग **विषय से हटकर** बातें करके इस मसले पर परदा डालने की कोशिश कर रही हैं। हमें मालूम नहीं कि नार्वे के समाजवादी कार्यक्रम में नार्वे के सामाजिक-जनवादियों के लिए संबंध-विच्छेद के प्रश्न पर एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाना अनिवार्य ठहराया गया था या नहीं। हम इस बात को माने लेते हैं कि इस प्रकार की कोई बात अनिवार्य नहीं ठहरायी गयी थी, कि नार्वे के समाजवादियों ने इस सवाल के बारे में कुछ तै नहीं किया था कि नार्वे की स्वायत्त सत्ता में किस हद तक स्वतंत्र रूप से वर्ग-संघर्ष चलाने के लिए काफ़ी मौक़ा है, या स्वीडेन के अभिजात वर्ग के साथ निरंतर टकराव तथा संघर्ष किस हद तक आर्थिक जीवन की स्वतंत्रता में बाधक होते हैं। परंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस अभिजात वर्ग का विरोध करना और नार्वे के किसान जनवाद (उसकी तमाम कूपमंडूकों जैसी कमज़ोरियों के होते हुए भी) का समर्थन करना नार्वे के सर्वहारा वर्ग का कर्त्तव्य था।

---

* चूंकि नार्वेवालों के राष्ट्र का बहुमत राजतंत्र के पक्ष में था और सर्वहारा वर्ग जनतंत्र के पक्ष में था, इसलिए मोटे-मोटे तौर पर नार्वे के सर्वहारा वर्ग के सामने दो ही रास्ते थे: या तो क्रांति, यदि परिस्थिति उसके लिए परिपक्व होती, या बहुमत की इच्छा के आगे आत्म-समर्पण और दीर्घकाल तक आन्दोलन तथा प्रचार का काम।

ग्रौर स्वीडेन का सर्वहारा वर्ग? यह बात सभी लोग जानते हैं कि स्वीडेन के पादरियों की शह पाकर स्वीडेन के ज़मींदार नार्वे के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने का नारा दे रहे थे। ग्रौर चूंकि स्वीडेन के मुक़ाबले में नार्वे बहुत कमज़ोर था, चूंकि वह स्वीडेन का एक ग्राक्रमण झेल चुका था ग्रौर चूंकि स्वीडेन के ग्रभिजात वर्ग का ग्रपने देश में बहुत ग्रसर था, इसलिए युद्ध छेड़ने के इस नारे के कारण बहुत गंभीर संकट पैदा हो गया था। हम यक़ीन के साथ कह सकते हैं कि स्वीडेन के कोकोश्किन जैसे लोगों ने "राष्ट्रों के राजनीतिक ग्रात्म-निर्णय के नमनीय सूत्रों" को "बड़ी सावधानी से हाथ लगाने" का ग्रनुरोध करके, "राज्य के विघटन" के ख़तरे के ग्रत्यंत भयावह चित्र खींचकर ग्रौर उन्हें यह विश्वास दिलाकर कि "जन-स्वातंत्र्य" ग्रौर स्वीडेन के ग्रभिजात वर्ग के सिद्धांतों के बीच कोई विरोध नहीं है, स्वीडेनवासियों के विचारों को दूषित करने की कोशिश में काफ़ी समय ख़र्च किया होगा ग्रौर काफ़ी मेहनत की होगी। इस बात में तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि यदि स्वीडेन के सामाजिक-जनवादी ग्रपनी पूरी शक्ति लगाकर ज़मींदार तथा "कोकोश्किन" विचारधारा तथा नीति को निष्फल बनाने के लिए न लड़े होते, ग्रौर यदि उन्होंने ग्राम तौर पर सभी राष्ट्रों की बराबरी की **ही नहीं** (जिसका समर्थन कोकोश्किन जैसे लोग भी करते हैं) बल्कि राष्ट्रों के ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकार की भी, नार्वे के ग्रलग हो जाने के ग्रधिकार की भी, मांग न की होती तो उन्होंने समाजवाद के लक्ष्य ग्रौर जनवाद के लक्ष्य के साथ विश्वासघात किया होता।

नार्वे तथा स्वीडेन के मज़दूरों की घनिष्ठ मित्रता को, उनकी पूर्णतः भ्रातृत्वपूर्ण वर्ग-एकता को, इस बात से **फ़ायदा पहुंचा** कि स्वीडेन के मज़दूरों ने नार्वेवासियों के ग्रलग हो जाने के ग्रधिकार को स्वीकार किया। क्योंकि इससे नार्वे के मज़दूरों को यह यक़ीन हो गया कि स्वीडेन के मज़दूरों में स्वीडेन के राष्ट्रवाद का ज़हर नहीं फैला है, कि वे स्वीडेन के पूंजीपति वर्ग तथा ग्रभिजात वर्ग के विशेषाधिकारों के मुक़ाबले में नार्वे के सर्वहारागण के साथ बंधुता को ग्रधिक महत्त्व देते हैं। यूरोप के राजाग्रों तथा स्वीडेन के ग्रभिजात वर्ग ने नार्वे पर जो संबंध ज़बर्दस्ती लाद दिये थे उनके नष्ट हो जाने से नार्वे तथा स्वीडेन के मज़दूरों के संबंध ग्रौर भी मज़बूत हो गये। स्वीडेन के मज़दूरों ने सिद्ध कर दिया कि पूंजीवादी नीति के **समस्त** उतार-चढ़ावों के बावजूद – पूंजीवादी संबंधों

के कारण यह बिल्कुल संभव था कि नार्वेवासियों को एक बार फिर ज़बर्दस्ती स्वीडेनवासियों के अधीन कर दिया जाता – वे स्वीडेन तथा नार्वे दोनों ही के पूंजीपति वर्गों के ख़िलाफ़ लड़ाई में दोनों राष्ट्रों के मज़दूरों की पूर्ण समानता तथा वर्ग-एकता को बनाये रख सकेंगे तथा उसकी रक्षा कर सकेंगे।

और हां, इससे यह भी पता चलता है कि 'फ़्राकि वाले' कभी-कभी रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के साथ हमारे मतभेदों को पोलैंड के सामाजिक-जनवाद के ख़िलाफ़ "इस्तेमाल" करने की जो कोशिशें करते हैं वे कैसी निराधार, और यहां तक कि अविवेकपूर्ण भी होती हैं। 'फ़्राकि वाले' सर्वहारा और समाजवादी नहीं बल्कि एक निम्न-पूंजीवादी राष्ट्रवादी पार्टी हैं, कुछ-कुछ पोलैंड के सामाजिक-क्रांतिकारियों की तरह। रूसी सामाजिक-जनवादियों और इस पार्टी के बीच एकता होने का सवाल न तो कभी रहा है और न कभी हो सकता था। दूसरी तरफ़, रूसी सामाजिक-जनवादियों में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे उन घनिष्ठ संबंधों पर तथा उस एकता पर "पछतावा" हुआ हो जो पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों के साथ स्थापित की गयी है। पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों ने पोलैंड में, एक ऐसे देश में जिसकी नस-नस में राष्ट्रवादी आकांक्षाएं तथा तीव्र भावनाएं समायी हुई हैं, पहली सचमुच मार्क्सवादी, सचमुच सर्वहारा पार्टी का निर्माण करके महान ऐतिहासिक सेवा की है। परंतु पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों की यह सेवा महान इसलिए नहीं है कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने रूसी मार्क्सवादियों के कार्यक्रम की ६वीं धारा के बारे में दुनिया भर की बकवास की है, बल्कि वह इस दु:खद बात के बावजूद महान है।

ज़ाहिर है "आत्म-निर्णय के अधिकार" का प्रश्न पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों के लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि रूसियों के लिए है। यह बात बिल्कुल समझ में आती है कि पोलैंड के राष्ट्रवाद के कारण अंधे निम्न-पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ने के अपने जोश में (जो शायद कभी-कभी ज़रूरत से कुछ ज़्यादा ही होता है) पोलैंड के सामाजिक-जनवादी "हद से गुज़र जाते हैं"। किसी रूसी मार्क्सवादी ने पोलैंड के अलग हो जाने का विरोध करने के कारण पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों को दोष देने की बात कभी सोची भी नहीं। ये सामाजिक-जनवादी केवल तभी ग़लती करते हैं जब रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की तरह वे **रूसी** मार्क्सवादियों के कार्यक्रम में आत्म-निर्णय के

अधिकार को स्वीकार करने की बात शामिल करने की आवश्यकता से इंकार करने की कोशिश करते हैं।

यह बात लगभग बिल्कुल वैसी ही है जैसे कोई उन संबंधों को, जो क्रैको के मानदंड से नापने पर समझ में आते हैं, रूस में बसनेवाले सभी राष्ट्रों पर, जिनमें वृहत्तर रूसी भी शामिल हैं, लागू करने की कोशिश करे। इसका मतलब है "सिर से पैर तक पोलिश राष्ट्रवादी" होना और रूसी या अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी न होना।

कारण यह कि अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के स्वीकार किये जाने के पक्ष में है। हम अब आगे चलकर इसी बात पर विचार करेंगे।

७. लंदन की १८९६ की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रस्ताव

प्रस्ताव इस प्रकार है:

"यह कांग्रेस घोषणा करती है कि वह सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय (Selbstbestimmungsrecht) के पूर्ण अधिकार का समर्थन करती है और हर उस देश के मज़दूरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करती है जो इस समय सैनिक, जातीय अथवा अन्य प्रकार की निरंकुशता के जूए के नीचे दबे हुए हैं; कांग्रेस इन सभी देशों के मज़दूरों का आवाहन करती है कि वे समस्त संसार के वर्ग-चेतन (Klassenbewusste=वे जो अपने वर्ग के हितों को समझते हैं) मज़दूरों की पांतों में शामिल हो जायें और अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद को परास्त करने के लिए और अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उनके कंधे से कंधा मिलाकर लड़ें।"*

---

* जर्मन भाषा में लंदन कांग्रेस की सरकारी रिपोर्ट देखिये: «*Verhandlungen und Beschlüsse des internationalen sozialistischen Arbeiter-und gewerkschafts-Kongresses zu London, vom 27. Juli bis 1. August 1896*», Berlin, 1897, S. 18 ('२७ जुलाई से १ अगस्त, १८९६ तक लंदन में हुई समाजवादी मज़दूर पार्टियों तथा ट्रेड-यूनियनों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्यवाही तथा निर्णय', बर्लिन, १८९७, पृष्ठ १८।–सं०।) रूसी भाषा में एक पुस्तिका प्रकाशित की गयी है जिसमें अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेसों के फ़ैसले दिये गये हैं, इस पुस्तिका में "आत्म-निर्णय" शब्द का अनुवाद ग़लत ढंग से "स्वायत्त सत्ता" किया गया है।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, हमारे अवसरवादियों को, सेम्कोव्स्की, लीबमैन तथा युरकेविच जैसे महानुभावों को, इस प्रस्ताव का पता तक नहीं है। परंतु रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग को इसका पता है और वह इसे पूरे का पूरा उद्धृत करती हैं, जिसमें वही "आत्म-निर्णय" का शब्द है जो कि हमारे कार्यक्रम में है।

रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग अपने "मूल" सिद्धांत की राह में आनेवाली इस अड़चन को कैसे दूर करती हैं?

अरे, यह तो बिल्कुल आसान बात है... पूरा ज़ोर प्रस्ताव के दूसरे भाग में है... उसके घोषणात्मक स्वरूप का... हवाला तो केवल ग़लतफ़हमी के कारण ही कोई देगा!!

हमारी लेखिका की लाचारी और उलझन सचमुच आश्चर्यजनक है। आम तौर पर केवल अवसरवादी ही इस तरह की दलीलें देते हैं कि कार्यक्रम की सुसंगत जनवादी तथा समाजवादी बातें केवल घोषणाएं हैं, और वे बड़ी कायरता से इन बातों पर बहस करने से कतराते हैं। स्पष्टतः यह बात अकारण नहीं है कि इस बार रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग सेम्कोव्स्की, लीबमैन तथा युरकेविच जैसे महानुभावों की निंदनीय संगत में पड़ गयीं। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग खुलकर यह बात कहने का साहस नहीं करतीं कि वह उपरोक्त प्रस्ताव को सही समझती हैं या ग़लत। वह तरह-तरह से पहलू बदलकर तथा बल खाकर बच निकलने की इस तरह कोशिश करती हैं मानो उन्हें यह यक़ीन हो कि पाठक एकाग्रता की कमी के कारण या पूरी जानकारी न होने के कारण प्रस्ताव के दूसरे भाग को पढ़ना आरंभ करने के समय तक प्रस्ताव के पहले भाग को भूल जायेंगे, या फिर उन्हें ऐसे पाठकों का आसरा है जिन्होंने उस बहस के बारे में सुना तक नहीं है जो लंदन की कांग्रेस से **पहले** समाजवादी अख़बारों में हुई थी।

परंतु यदि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग यह समझती हैं कि वह आलोचनात्मक दृष्टि से उसका विश्लेषण करने का कष्ट उठाये बिना ही सिद्धांत के इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न के बारे में इंटरनेशनल के प्रस्ताव को रूस के वर्ग-चेतन मज़दूरों की आंखों के सामने इतनी आसानी से पैरों तले रौंद डालेंगी, तो यह उनकी बहुत बड़ी भूल है।

लंदन कांग्रेस से पहले जो बहस हुई थी उसमें रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के दृष्टिकोण को मुख्यतः जर्मन मार्क्सवादियों के मुखपत्र *«Die Neue Zeit»* के स्तंभों

में प्रस्तुत किया गया था, **और इस दृष्टिकोण को इंटरनेशनल ने लगभग पूरी तरह अस्वीकार कर दिया था!** यह है इस बात का असली निचोड़, जिसे रूसी पाठकों को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिये।

बहस की दिशा पोलैंड की स्वतंत्रता के प्रश्न की ओर मुड़ गयी। तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये :

१) 'फ़ाकि' का दृष्टिकोण, जिसकी ओर से हेक्कर बोले थे। वे चाहते थे कि इंटरनेशनल **अपने** कार्यक्रम में पोलैंड की स्वतंत्रता की मांग को भी शामिल कर ले। यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। इंटरनेशनल में इस दृष्टिकोण की हार हुई।

२) रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का दृष्टिकोण, अर्थात् यह कि पोलैंड के समाजवादियों को पोलैंड की स्वतंत्रता की मांग नहीं उठानी चाहिये। इस दृष्टिकोण में राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की घोषणा की पहले से ही कोई गुंजाइश नहीं रहने दी गयी थी। इंटरनेशनल में इस दृष्टिकोण की भी पराजय हुई।

३) वह दृष्टिकोण जिसे उस समय क० काउत्स्की ने रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का विरोध करते हुए और यह सिद्ध करते हुए कि उनका पदार्थवाद अत्यंत "एकतरफ़ा" है, अत्यंत विशद रूप में प्रतिपादित किया था। इस दृष्टिकोण के अनुसार इंटरनेशनल उस समय पोलैंड की स्वतंत्रता को अपने कार्यक्रम की एक धारा नहीं बना सकता था; परंतु पोलैंड के समाजवादियों को—काउत्स्की ने कहा—इस बात का पूरा अधिकार है कि वे इस प्रकार की मांग पेश करें। समाजवादियों के दृष्टिकोण से ऐसी दशा में जब जातीय उत्पीड़न मौजूद हो जातीय स्वतंत्रता के कामों की उपेक्षा करना सरासर ग़लती है।

इंटरनेशनल के प्रस्ताव में इस दृष्टिकोण के सबसे आवश्यक, सबसे मूलभूत सुझावों को दोहराया गया है: एक तरफ़ तो सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के पूर्ण अधिकार को बिल्कुल सीधे-सीधे तथा बिना किसी शर्त के स्वीकार करना; दूसरी तरफ़, मज़दूरों से इतने ही असंदिग्ध शब्दों में अपने वर्ग-संघर्ष में **अंतर्राष्ट्रीय** एकता स्थापित करने की अपील।

हम समझते हैं कि यह प्रस्ताव बिल्कुल सही है, और पूर्वी यूरोप तथा एशिया के देशों के लिए बीसवीं शताब्दी के आरंभ में यही ऐसा प्रस्ताव है, एक

अभिन्न इकाई के रूप में उसके दोनों भागों को लेते हुए, जो जातियों के प्रश्न के संबंध में सर्वहारा वर्ग की नीति का एकमात्र सही पथ-प्रदर्शन करता है।

आइये, हम उपरोक्त तीनों दृष्टिकोणों पर कुछ अधिक विस्तार के साथ विचार करें।

यह विदित है कि कार्ल मार्क्स तथा फ़्रेडरिक एंगेल्स का यह मत था कि पूरे पश्चिमी यूरोपीय जनवाद का और उससे भी ज़्यादा सामाजिक-जनवाद का परम कर्तव्य है कि वह पोलैंड की स्वतंत्रता की मांग का सक्रिय रूप से समर्थन करे। उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें तथा सातवें दशक के लिए, आस्ट्रिया तथा जर्मनी में पूंजीवादी क्रांतियों के काल के लिए, और रूस में "किसान सुधार"[114] के काल के लिए यह दृष्टिकोण बिल्कुल सही था और यही एक ऐसा दृष्टिकोण था जो सुसंगत रूप से जनवादी तथा सर्वहारा वर्गीय था। जब तक रूस में, और अधिकांश स्लाव देशों में, आम जनता सोयी हुई थी, जब तक इन देशों में कोई भी स्वतंत्र, जनव्यापी, जनवादी आंदोलन **नहीं थे**, तब तक पोलैंड के **अभिजात वर्ग के** स्वतंत्रता के आंदोलन का केवल पूरे रूसी, केवल पूरे स्लाव, जनवाद के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि पूरे यूरोपीय जनवाद के दृष्टिकोण से अत्यधिक तथा सर्वोपरि महत्त्व रहा।*

---

*यदि १८६३ में पोलैंड के अभिजात वर्गीय विद्रोही की स्थिति की तुलना अखिल-रूसी जनवादी-क्रांतिकारी चेर्निशेव्स्की की स्थिति के साथ, जो (मार्क्स की तरह ही) इस बात को जानते थे कि पोलैंड के आंदोलन के महत्त्व का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाना चाहिये, और उक्रइनी कूपमंडूक द्रागोमानोव की स्थिति के साथ की जाये, जो बहुत बाद में हुए थे और जो किसान के दृष्टिकोण को व्यक्त करते थे, उस किसान के दृष्टिकोण को जो इतना अज्ञानी, इतना सोया हुआ और अपने गोबर के ढेर से इतनी बुरी तरह चिपका हुआ था कि पोलैंड के पानों (सामंतों) के प्रति अपनी न्यायोचित घृणा के कारण वह अखिल-रूसी जनवाद के लिए उनके संघर्ष के महत्त्व को नहीं समझ पाता था, तो यह एक अत्यंत रोचक ऐतिहासिक शोध-कार्य होगा। (देखिये द्रागोमानोव, 'ऐतिहासिक पोलैंड तथा वृहत्तर रूसी जनवाद')। द्रागोमानोव उन प्रेमपूर्ण चुम्बनों के लिए सर्वथा उपयुक्त पात्र थे जिनकी बौछार बाद में श्री प० ब० स्त्रूवे ने उनपर की, जो कि उस समय तक राष्ट्रवादी-उदारवादी बन चुके थे।

परंतु मार्क्स का यह दृष्टिकोण उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें, छठे और सातवें दशकों या तीसरी चौथाई के लिए तो पूरी तरह सही था पर वह बीसवीं शताब्दी में सही नहीं रह गया है। अधिकांश स्लाव देशों में, यहां तक कि रूस में भी जो एक सबसे पिछड़ा हुआ स्लाव देश है, स्वतंत्र जनवादी आंदोलन, यहां तक कि एक स्वतंत्र सर्वहारा आंदोलन भी, आरंभ हो गये हैं। अभिजात वर्गीय पोलैंड का लोप हो गया है और उसका स्थान एक पूंजीवादी पोलैंड ने ले लिया है। ऐसी परिस्थितियों में पोलैंड का अपना **असाधारण** क्रांतिकारी महत्त्व खो देना अनिवार्य ही था।

एक **दूसरे ही युग** में मार्क्स का जो दृष्टिकोण था, १८९६ में उसे हमेशा के लिए एक "ब्रह्मवाक्य" बना देने की पी० पी० एस० (पोलैंड की समाजवादी पार्टी, आजकल की 'फ़ाकि') की कोशिश मार्क्सवाद के **वास्तविक अर्थ** के विरुद्ध मार्क्सवाद के **शब्दों को अक्षरशः** इस्तेमाल करने की कोशिश थी। इसलिए जब पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों ने पोलैंड के निम्न-पूंजीपति वर्ग के घोर राष्ट्रवाद का विरोध किया और यह बताया कि जातियों का प्रश्न पोलैंड के मज़दूरों के लिए गौण महत्त्व का प्रश्न है, जब उन्होंने पोलैंड में पहली बार एक शुद्धतः सर्वहारा पार्टी की स्थापना की और इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत की उद्घोषणा की कि अपने वर्ग-संघर्ष में पोलैंड तथा रूस के मज़दूरों को घनिष्ठतम एकता क़ायम रखनी चाहिये, तो उन्होंने बिल्कुल ठीक ही किया।

परंतु क्या इसका अर्थ यह था कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ में इंटरनेशनल राष्ट्रों के राजनीतिक आत्म-निर्णय के सिद्धांत को, या अलग हो जाने के अधिकार को, पूर्वी यूरोप के लिए और एशिया के लिए अनावश्यक समझ सकती थी? यह बेतुकेपन की हद होती और (सिद्धांत की दृष्टि से) यह बात यह मान लेने के बराबर होती कि तुर्की, रूसी और चीनी राज्यों का पूंजीवादी-जनवादी पुनर्गठन पूरा हो गया है, (व्यवहार में) यह बात निरंकुशता के प्रति अवसरवादी रुख अपनाने के बराबर होती।

नहीं। पूर्वी यूरोप तथा एशिया में उभरती हुई पूंजीवादी-जनवादी क्रांतियों के ज़माने में, जातीय आंदोलनों के जागृत होने तथा तेज़ होने के काल में, स्वतंत्र सर्वहारा पार्टियों के निर्माण के काल में, जाति सबंधी नीति के सिलसिले

में इन पार्टियों के दो काम होने चाहिये: सभी राष्ट्रों के लिए ग्रात्म-निर्णय के ग्रधिकार को स्वीकार करना, क्योंकि पूंजीवादी-जनवादी पुनर्गठन ग्रभी तक पूरा नहीं हुग्रा है, क्योंकि मज़दूर वर्ग का जनवाद उदारवादी ढंग से या कोकोश्किन के ढग से नहीं बल्कि दृढ़तापूर्वक, गंभीरतापूर्वक ग्रौर ईमानदारी के साथ, सभी राष्ट्रों के बराबर ग्रधिकारों के लिए लड़ रहा है, ग्रौर किसी भी राज्य विशेष में, उसके इतिहास के तमाम उतार-चढ़ावों के दौरान में, भले ही पूंजीपति वर्ग ने किसी एक राज्य की सीमाग्रों को किसी प्रकार बदल दिया हो, वर्ग-संघर्ष में उस राज्य के सभी राष्ट्रों के सर्वहारागण की घनिष्ठतम तथा ग्रटूट एकता को बनाये रखना।

इंटरनेशनल के १८९६ के प्रस्ताव में सर्वहारा वर्ग के इन्हीं दो कामों को प्रतिपादित किया गया है। ग्रौर १९१३ की गर्मियों में रूसी मार्क्सवादियों के सम्मेलन[115] में जो प्रस्ताव स्वीकार किया गया था उसका सार-तत्व, उसका ग्राधारभूत सिद्धांत, भी यही था। कुछ लोगों का दावा है कि उन्हें इस बात में एक "ग्रंतर्विरोध" दिखायी देता है कि एक ग्रोर तो, इस प्रस्ताव की चौथी धारा से तो, जिसमें ग्रात्म-निर्णय का, ग्रलग हो जाने का ग्रधिकार माना गया है, यह प्रतीत होता है कि राष्ट्रवाद को ग्रधिकतम छूट "दे दी गयी है" (वास्तव में **सभी** राष्ट्रों के ग्रात्म-निर्णय के **ग्रधिकार** को मानने का ग्रर्थ होता है ग्रधिकतम **जनवाद** ग्रौर न्यूनतम राष्ट्रवाद), ग्रौर दूसरी तरफ़ ५वीं धारा में मज़दूरों को हर जाति के पूंजीपति वर्ग के राष्ट्रवादी नारों के ख़िलाफ़ चेतावनी दी गयी है ग्रौर इस बात की मांग की गयी है कि ग्रंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकताबद्ध सर्वहारा संगठनों में सभी राष्ट्रों के मज़दूरों की एकता स्थापित की जाये तथा उन्हें एक में मिला दिया जाये। परंतु यह "ग्रंतर्विरोध" केवल ग्रत्यंत छिछले दिमाग़ वाले लोगों को दिखायी देता है जो, मिसाल के लिए, इस बात को नहीं समझ पाते कि जब स्वीडेन के मज़दूरों ने नार्वे की ग्रलग हो जाने तथा एक स्वाधीन राज्य बना लेने की स्वतंत्रता का सक्रिय रूप से समर्थन किया तो उससे स्वीडेन तथा नार्वे के सर्वहारा वर्ग की एकता तथा वर्ग-मैत्री को किस तरह **फ़ायदा पहुंचा।**

८. कल्पनावादी कार्ल मार्क्स और व्यावहारिक रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग

यह घोषणा करते हुए कि पोलैंड की स्वतंत्रता एक "कोरी कल्पना" है और इसी बात को अनगिनत बार दोहराते हुए रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग व्यंगपूर्वक कहती हैं : आयरलैंड की स्वतंत्रता की मांग क्यों न उठाइये ?

ज़ाहिर है, "व्यावहारिक" रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग को आयरलैंड की स्वतंत्रता के बारे में कार्ल मार्क्स के रवैये का पता नहीं है। इस बात पर कुछ विस्तार से विचार करना उपयोगी होगा, ताकि यह पता लग जाये कि जातीय स्वतंत्रता की एक **ठोस** मांग का विश्लेषण अवसरवादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि सच्चे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किस प्रकार किया गया था।

मार्क्स का यह दस्तूर था कि अपने जान-पहचान के समाजवादियों की समझदारी और उनके विश्वासों की दृढ़ता को परखने के लिए वह, जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, उनके "दांतों को ग़ौर से देखते थे"[116]। लोपातिन से परिचित होने के बाद, मार्क्स ने ५ जुलाई, १८७० को एंगेल्स को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने इस नौजवान रूसी समाजवादी की बहुत प्रशंसा करते हुए उसके बारे में अपनी राय लिखी पर साथ ही यह भी लिख दिया कि :

... "**पोलैंड** उसकी कमज़ोरी है। इस सवाल पर वह बिल्कुल वैसे ही बात करता है जैसे कोई अंग्रेज़ – समझ लीजिये, पुराने ढर्रे का कोई अंग्रेज़ चार्टिस्ट – आयरलैंड के बारे में करता है।"

मार्क्स एक उत्पीड़क राष्ट्र के समाजवादी से उत्पीड़ित राष्ट्र के प्रति उसके रवैये के बारे में सवाल करते हैं और फ़ौरन उस दोष को प्रकट कर देते हैं जो सभी प्रभुत्वशाली राष्ट्रों (अंग्रेज़ और रूसी) के समाजवादियों में **समान रूप से** पाया जाता है : दलित राष्ट्रों के प्रति अपने समाजवादी कर्त्तव्यों को न समझना और "बड़ी ताक़त" के पूंजीपति वर्ग से प्राप्त पूर्वाग्रहों को प्रतिध्वनित करना।

आयरलैंड के विषय में मार्क्स की सकारात्मक घोषणाओं पर विचार करने से पहले हम यह बता दें कि आम तौर पर जातियों के प्रश्न की तरफ़ मार्क्स और एंगेल्स का रवैया बहुत ही आलोचनात्मक था, और वे इतिहास की दृष्टि

से इस प्रश्न के सापेक्ष महत्त्व को समझते थे। मिसाल के लिए, एंगेल्स ने २३ मई, १८५१ को मार्क्स को लिखा कि इतिहास के अध्ययन से वह पोलैंड के बारे में बहुत ही निराशाजनक निष्कर्षों पर पहुंचते जा रहे हैं, और यह कि पोलैंड का महत्त्व अस्थायी है – केवल उसी समय तक है जब तक रूस में कृषि क्रांति न हो जाये। इतिहास में पोलैंडवासियों की भूमिका "वीरतापूर्ण मूर्खता" की थी। "और हम इसका एक भी उदाहरण नहीं दे सकते जब पोलैंड ने, केवल रूस के प्रसंग में ही सही, सफलतापूर्वक प्रगति का प्रतिनिधित्व किया हो, या कोई भी ऐसी बात की हो जिसका ऐतिहासिक महत्त्व हो।" रूस में सभ्यता, शिक्षा, उद्योग तथा पूंजीपति वर्ग के उससे कहीं अधिक तत्व हैं जितने कि "अभिजात वर्गीय और सोये हुए पोलैंड" में हैं। "पीटर्सबर्ग, मास्को, ओदेस्सा की तुलना में वार्सा और क्रैको क्या हैं।" एंगेल्स को पोलैंड के अभिजात वर्ग की बग़ावत की सफलता में ज़रा भी यक़ीन नहीं था।

परंतु ये सब विचार भी, जो अनन्य प्रतिभा तथा अत्यंत गहरी दृष्टि का परिचय देते हैं बारह वर्ष बाद, जब रूस अभी तक सोया हुआ था और पोलैंड में उबाल आ रहा था, मार्क्स तथा एंगेल्स के लिए पोलैंड के आंदोलन की ओर अत्यंत गहरी तथा प्रबल सहानुभूति दिखाने की राह में किसी भी प्रकार बाधक नहीं हुए।

१८६४ में इंटरनेशनल की घोषणा का मसविदा तैयार करते समय मार्क्स ने एंगेल्स को लिखा (४ नवम्बर १८६४ को) कि माज़्ज़िनी के राष्ट्रवाद का विरोध करना उनके लिए ज़रूरी है और इसके आगे उन्होंने लिखा: "घोषणा में जहां तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति आयी है मैंने जातियों का उल्लेख न करके देशों का उल्लेख किया है और छोटे-छोटे राज्यों की नहीं बल्कि रूस की निंदा की है।" मार्क्स के दिमाग़ में इसके बारे में कोई शंका नहीं थी कि "श्रमिकों की समस्या" की तुलना में जातियों की समस्या गौण महत्त्व रखती है। परंतु उनके सिद्धांत और जातीय आंदोलन की उपेक्षा करने में उतना ही अंतर है जितना ज़मीन और आसमान में।

१८६६ आता है और मार्क्स एंगेल्स को पेरिस के "प्रूदों गुट" के बारे में लिखते हैं, जो "यह घोषणा करता है कि जातियां एक बेतुकी बात हैं और

बिस्मार्क तथा गरीबाल्डी पर हमला करता है। अंधराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ एक बहस के रूप में उनकी कार्यनीति उपयोगी तथा बोधगम्य है। पर प्रूदों पर विश्वास रखनेवाले (और हमारे भले मित्र लफ़ार्ग तथा लॉन्गे भी उन्हीं में से हैं) जब यह सोचने लगते हैं कि जब तक फ़्रांस के भद्र लोग दरिद्रता तथा अज्ञान का उन्मूलन न कर लें तब तक सारा यूरोप चुपचाप हाथ पर हाथ धरे बैठा रह सकता है, और उसे बैठा रहना चाहिये – तो उनकी हालत हास्यास्पद हो जाती है" (७ जून, १८६६ का पत्र)।

मार्क्स २० जून, १८६६ को लिखते हैं, "कल इंटरनेशनल की परिषद् में वर्तमान युद्ध के बारे में बहस हुई... जैसी कि आशा की जाती थी अंत में यह बहस आम तौर पर 'जाति' के प्रश्न पर और इस बात पर जा पहुंची कि हमें इस प्रश्न की तरफ़ क्या रवैया अपनाना चाहिये... 'तरुण फ़्रांस' के प्रतिनिधियों **(ग़ैर-मज़दूर)** ने यह घोषणा की कि सभी जातियां, और यहां तक कि राष्ट्र भी, बहुत पुराने पड़ चुके पूर्वाग्रह हैं। प्रूदों के रंग में रंगा हुआ स्टर्नरवाद... सारी दुनिया उस समय तक प्रतीक्षा करती रहे जब तक फ़्रांसीसी सामाजिक क्रांति के लिए तैयार न हो जायें... जब मैंने अपना भाषण इस बात से शुरू किया कि हमारे मित्र लफ़ार्ग, आदि, जो जातियों को तिलांजलि दे चुके थे हमारे सामने फ़्रांसीसी में बोले थे, अर्थात् एक ऐसी भाषा में जिसे दस में से नौ श्रोता नहीं समझते थे, तो इसपर अंग्रेज़ बहुत हंसे। मैंने इस ओर भी इशारा किया कि जातियों को स्वीकार न करने का अर्थ, बिल्कुल अनजाने ही, शायद वह यह समझते हैं कि वे आदर्श फ़्रांसीसी राष्ट्र में विलीन हो जायें।"

मार्क्स की इन सब आलोचनात्मक बातों से जो निष्कर्ष निकलता है वह स्पष्ट है: मज़दूर वर्ग जातियों के प्रश्न को हरगिज़ एक मन्त्र नहीं बना सकता, क्योंकि यह कोई जरूरी बात नहीं है कि पूंजीवाद का विकास **सभी** राष्ट्रों में स्वतंत्र जीवन की भावना जागृत कर दे। परंतु जनव्यापी जातीय आंदोलनों के आरंभ हो जाने के बाद उनकी तिरस्कार के साथ उपेक्षा करने और उनमें जो प्रगतिशील बातें हों उनका समर्थन करने से इंकार करने का अर्थ वस्तुतः यह है कि **राष्ट्रवादी** पूर्वाग्रहों को पूरा करना, अर्थात् "स्वयं अपने" राष्ट्र को "आदर्श

राष्ट्र" मानना (या, हम यह और कहेंगे कि ऐसा राष्ट्र मानना केवल जिसे ही राज्य बनाने का विशेषाधिकार प्राप्त है)।*

लेकिन, आइये, हम फिर आयरलैंड के प्रश्न पर वापस लौटें।

इस प्रश्न के बारे में मार्क्स के विचार उनके पत्रों के निम्नलिखित उद्धरणों में अत्यंत स्पष्टता के साथ व्यक्त किये गये हैं:

"मैंने फ़ेनियनवाद[118] के समर्थन में ब्रिटेन के मज़दूरों के इस प्रदर्शन को संभव बनाने के लिए अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश की... पहले मैं इंगलैंड से आयरलैंड के अलग होने को असंभव समझा करता था। मैं अब इसे अनिवार्य समझता हूं, यद्यपि यह संभव है कि अलग हो जाने के बाद उनका संघ बन जाये।" यह बात मार्क्स ने एंगेल्स को २ नवम्बर, १८६७ को लिखी थी।

उसी वर्ष ३० नवम्बर के अपने पत्र में उन्होंने यह भी लिखा:

"... हम **अंग्रेज़** मज़दूरों को क्या सलाह दें? मेरी राय में उन्हें संघ के Repeal (विघटन) को" (इंगलैंड के साथ आयरलैंड का संघ, अर्थात् इगलैंड से आयरलैंड के अलग हो जाने को) "सारांश यह कि १७८३ वाली मांग को जिसे केवल जनवादी रूप दे दिया गया है, जिसे वर्तमान स्थितियों के अनुकूल बनाया गया है, अपने कार्यक्रम की एक धारा बना लेनी चाहिये। यह आयरलैंड की मुक्ति का एकमात्र क़ानूनी और इसलिए एकमात्र संभव रूप है जो कि **इंगलैंड की** किसी पार्टी के कार्यक्रम में शामिल किया जा सकता है। अनुभव आगे चलकर बतायेगा कि इन दो देशों के बीच शुद्धतः वैयक्तिक संघ क़ायम रह सकता है या नहीं...

"... आयरलैंडवासियों को इन चीज़ों की ज़रूरत है:

"१) आत्म-शासन और इगलैंड से स्वतंत्रता;

"२) एक कृषि क्रांति"...

---

*एंगेल्स के नाम मार्क्स का ३ जून, १८६७ का पत्र भी देखिये: "... मुझे 'टाइम्स'[117] में पेरिस के पत्रों से यह जानकर सचमुच बहुत ख़ुशी हुई कि पेरिसवासियों ने रूस के ख़िलाफ़ और पोलैंड के पक्ष में अपने उद्गार प्रकट किये... श्री प्रूदों और उनका छोटा-सा मतवादी गुट कुछ फ़्रांसीसी जनता नहीं है।"

मार्क्स आयरलैंड के प्रश्न को बहुत महत्व देते थे और उन्होंने जर्मन मज़दूर संघ में इस विषय पर डेढ़-डेढ़ घंटे के व्याख्यान दिये (१७ दिसम्बर, १८६७ का पत्र)।

एंगेल्स ने २० नवम्बर, १८६८ के एक पत्र में "आयरलैंडवासियों के प्रति अंग्रेज़ मज़दूरों के बीच घृणा की भावना" का उल्लेख किया है और लगभग एक वर्ष बाद (२४ अक्तूबर, १८६९) इसी विषय पर चर्चा करते हुए वह लिखते हैं :

"आयरलैंड से रूस तक il n'y a qu'un pas (केवल एक क़दम का फ़ासला है) ... आयरलैंड का इतिहास हमें बताता है कि जब कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन कर लेता है तो यह बात अधीन बनानेवाले राष्ट्र के लिए कितनी विनाशकारी सिद्ध होती है। अंग्रेजों के सब घृणास्पद तत्वों की उत्पत्ति आयरलैंड से हुई। मुझ अभी क्रॉमवेल के काल का अध्ययन करना बाक़ी है, परंतु इतनी बात मुझे निश्चित प्रतीत होती है कि यदि आयरलैंड में सेना के बल पर शासन करने और वहां एक नये अभिजात वर्ग को जन्म देने की ज़रूरत न पड़ी होती तो इंगलैंड की परिस्थिति ने दूसरा ही रूप धारण किया होता।"

लगे हाथों हम एंगेल्स के नाम मार्क्स के १८ अगस्त, १८६९ के पत्र पर भी दृष्टि डाल लें :

"पोसेन में पोलैंड के मज़दूरों ने अपने बर्लिन के साथियों की सहायता से एक हड़ताल में विजय प्राप्त की। 'श्री पूंजी' के विरुद्ध यह संघर्ष – हड़ताल जैसे गौण रूप में भी – जातीय पूर्वाग्रहों को दूर करने का उससे अधिक गंभीर तरीक़ा है जो कि पूंजीवादी सज्जन अपनी शांति की उद्‌घोषणाओं द्वारा अपनाते हैं।"

इंटरनेशनल में मार्क्स ने आयरलैंड के प्रश्न पर जिस नीति का अनुसरण किया उसका पता निम्नलिखित बातों से लगाया जा सकता है :

मार्क्स १८ नवम्बर, १८६९ को एंगेल्स को लिखते हैं कि वह इंटरनेशनल की परिषद में आयरलैंडवालों की आम रिहाई की तरफ़ ब्रिटिश मंत्रालय के रवैये के सवाल पर सवा घंटे तक बोले और उन्होंने निम्नलिखित प्रस्ताव रखा :

"फ़ैसला किया जाता है,

"कि आयर्लैंड के बंदी देशभक्तों की रिहाई के लिए आयर्लैंडवालों की मांगों का श्री ग्लैड्स्टन ने जो उत्तर दिया है उसमें उन्होंने जान-बूझकर आयर्लैंडवासियों के पूरे राष्ट्र का अपमान किया है;

"कि उन्होंने राजनीतिक बंदियों की आम रिहाई पर ऐसी शर्तें लगायी हैं जो उन लोगों के लिए, जो कुशासन का शिकार हैं और उस जनता के लिए भी जिससे इन लोगों का संबंध है, समान रूप से अपमानजनक हैं;

"कि अपनी सरकारी स्थिति पर निर्भर होकर खुले-आम तथा बड़े जोश के साथ अमरीका के ग़ुलामों के मालिकों के विद्रोह की जयजयकार करने के बाद, वह अब आयर्लैंड की जनता को चुपचाप आज्ञापालन करने का उपदेश देने आये हैं;

"कि आयर्लैंडवालों की आम रिहाई के प्रश्न के सिलसिले में उनकी सारी कार्यवाही उस '**विजयाकांक्षी की नीति**' की सच्ची तथा असली उपज है, जिस नीति की ज़बर्दस्त निंदा करके श्री ग्लैड्स्टन ने अपने टोरी प्रतिद्वंद्वियों को उनके पद से हटाया था;

"कि आयर्लैंड की जनता जिस उत्साह, जिस दृढ़ता और जिस जोश के साथ अपना आम रिहाई का आंदोलन चला रही है, अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की जनरल कौंसिल उसकी प्रशंसा करती है;

"कि ये प्रस्ताव अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की सभी शाखाओं तथा यूरोप तथा अमरीका में उससे संबंधित श्रमिकों की सभी संस्थाओं के पास तक पहुंचा दिये जायें।"

१० दिसम्बर, १८६९ को मार्क्स लिखते हैं कि इंटरनेशनल की परिषद में वह आयर्लैंड के प्रश्न पर जो रिपोर्ट पढ़ेंगे वह निम्नलिखित रूपरेखा के आधार पर तैयार किया जायेगा:

..."आयर्लैंड के साथ 'अंतर्राष्ट्रीय' तथा 'मानवोचित' न्याय के बारे में जो सारी बातें कही जाती हैं उनसे बिल्कुल अलग—इन चीज़ों को तो इंटरनेशनल की कौंसिल में एक मानी हुई बात समझा जाना चाहिये—**यह बात सीधे-सीधे और पूरी तरह इंगलैंड के मज़दूर वर्ग के पक्ष में है कि वह आयर्लैंड के साथ अपना वर्तमान संबंध बिल्कुल ख़त्म कर दे।** और यह मेरा दृढ़

विश्वास है, और यह विश्वास ऐसे कारणों के आधार पर है जिनमें से कुछ कारण मैं इंगलैंड के मज़दूरों को नहीं बता सकता। बहुत समय तक मेरा यह विश्वास था कि जब इंगलैंड के मज़दूर वर्ग का उत्थान होगा तो आयरलैंड की शासन-व्यवस्था का तख़्ता उलटना संभव हो जायेगा। मैंने 'दि न्यू-यार्क ट्रिब्यून'[119] में" (एक अमरीकी अख़बार जिसमें मार्क्स के लेख बहुत समय तक छपते रहे) "हमेशा इस दृष्टिकोण को व्यक्त किया। अधिक गहरा अध्ययन करने से मेरा विश्वास बिल्कुल इसका उल्टा हो गया है। इंगलैंड का मज़दूर वर्ग जब तक आयरलैंड से अपना पीछा नहीं छुड़ा लेगा तब तक वह **कुछ भी नहीं कर सकता...** इंगलैंड में अंग्रेज़ों के प्रतिक्रियावाद का स्रोत आयरलैंड को ग़ुलाम बनाने में है।" (शब्दों पर ज़ोर मार्क्स ने दिया है)।

आयरलैंड के प्रश्न पर मार्क्स की नीति अब पाठकों के लिए बिल्कुल स्पष्ट हो गयी होगी।

"कल्पनावादी" मार्क्स इतने "अव्यावहारिक" थे कि उन्होंने आयरलैंड के अलग हो जाने का समर्थन किया, जो बात आज पचास वर्ष बाद भी पूरी नहीं हो पायी है।

मार्क्स की नीति को किस चीज़ ने जन्म दिया और क्या वह एक भूल नहीं थी?

पहले मार्क्स यह सोचते थे कि आयरलैंड उत्पीड़ित राष्ट्र के जातीय आंदोलन द्वारा नहीं बल्कि उत्पीड़क राष्ट्र के मज़दूर वर्ग के आंदोलन द्वारा स्वतंत्र होगा। मार्क्स ने जातीय आंदोलनों को परम महत्व नहीं दिया, क्योंकि वह जानते थे कि मज़दूर वर्ग की विजय ही समस्त जातियों को मुक्त करा सकती है। उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीवादी स्वतंत्रता आंदोलनों और उत्पीड़क राष्ट्र के सर्वहारा वर्ग के मुक्ति आंदोलन के सभी संभव पारस्परिक संबंधों का पहले से अनुमान लगाना असंभव है (यही समस्या है जिसके कारण आज रूस में जातियों का प्रश्न इतना कठिन हो गया है)।

परंतु, हुआ यह कि इंगलैंड का मज़दूर वर्ग काफ़ी दीर्घकाल के लिए उदारवादियों के असर में पड़ गया, वह उदारवादियों का दुमछल्ला बन गया और एक उदारवादी श्रम नीति अपनाकर उसने अपने आपको निकम्मा बना लिया। आयरलैंड में पूंजीवादी स्वतंत्रता आंदोलन मज़बूत होता गया और उसने

क्रांतिकारी रूप धारण कर लिया। मार्क्स ने अपने मत पर फिर विचार किया और उसे ठीक कर लिया। "जब कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन कर लेता है तो यह बात अधीन करनेवाले राष्ट्र **के** लिए कितनी विनाशकारी सिद्ध होती है।" इंगलैंड का मज़दूर वर्ग उस समय तक कभी स्वतंत्र नहीं होगा जब तक आयरलैंड की गरदन पर से इंगलैंड का जूआ न उतर जाये। आयरलैंड को गुलाम बनाने के कारण इंगलैंड में प्रतिक्रियावादी शक्तियां मज़बूत होती हैं तथा पनपती हैं (उसी प्रकार जैसे रूस में अनेक राष्ट्रों को गुलाम बना लेने के कारण प्रतिक्रियावादी शक्तियां पनपती हैं)।

और मार्क्स इंटरनेशनल में "आयरिश राष्ट्र", "आयरलैंड की जनता" के प्रति सहानुभूति का प्रस्ताव रखकर (चतुर ल० व्ल० शायद मार्क्स को इस बात के लिए लताड़ते कि वह वर्ग-संघर्ष को भूल गये) इंगलैंड से आयरलैंड के **अलग हो जाने** का समर्थन करते हैं, "यद्यपि यह संभव है कि अलग होने के बाद उनका संघ बन जाये"।

मार्क्स के इस निष्कर्ष के लिए क्या सैद्धांतिक आधार थे? इंगलैंड में पूंजीवादी क्रांति बहुत पहले पूरी हो चुकी थी। परंतु आयरलैंड में वह अभी तक पूरी नहीं हुई थी, वह अब जाकर पचास वर्ष बीतने के बाद, अंग्रेज़ उदारवादियों के सुधारों द्वारा पूरी की जा रही है। यदि इंगलैंड में पूंजीवाद का तख़्ता उतनी जल्दी उलट दिया गया होता जितनी कि मार्क्स को पहले आशा थी, तो आयरलैंड में पूंजीवादी-जनवादी तथा आम जातीय आंदोलन के लिए कोई गुंजाइश ही बाक़ी नहीं रह जाती। परंतु चूंकि इस प्रकार का आंदोलन खड़ा हो गया था इसलिए मार्क्स ने अंग्रेज़ मज़दूरों को उसका समर्थन करने, उसे एक क्रांतिकारी प्रोत्साहन देने और स्वयं **अपनी** स्वतंत्रता के हितों में उसे पूर्णता तक पहुंचाने की सलाह दी।

ज़ाहिर है कि उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में आयरलैंड तथा इंगलैंड के आर्थिक संबंध पोलैंड, उक्रइन आदि के साथ रूस के वर्तमान संबंधों से भी अधिक घनिष्ठ थे। यह बात बिल्कुल स्पष्ट थी कि आयरलैंड का अलग होना (भौगोलिक परिस्थितियों और इंगलैंड की विपुल औपनिवेशिक शक्ति के कारण ही सही) "अव्यावहारिक" तथा "असंभव" था। यद्यपि मार्क्स सिद्धांततः संघवाद के शत्रु थे पर इस उदाहरण में उन्होंने संघ की भी गुंजाइश छोड़ दी

थी,* उनकी **शर्त केवल यह थी** कि आयरलैंड की स्वतंत्रता सुधारवादी ढंग से नहीं बल्कि क्रांतिकारी ढंग से प्राप्त की जाये, आयरलैंड की आम जनता के ऐसे आंदोलन द्वारा प्राप्त की जाये जिसे इंगलैंड के मज़दूर वर्ग का समर्थन प्राप्त हो। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि इस ऐतिहासिक समस्या का केवल ऐसा ही हल पूरी तरह सर्वहारा वर्ग के हित में और तीव्र सामाजिक विकास के लिए अनुकूल हो सकता था।

परंतु ऐसा नहीं हुआ। आयरलैंड की जनता और इंगलैंड का सर्वहारा वर्ग दोनों ही कमज़ोर साबित हुए। अब जाकर इंगलैंड के उदारवादियों तथा आयरलैंड के पूंजीपति वर्ग के बीच घटिया क़िस्म की सौदेबाज़ी द्वारा आयरलैंड की समस्या को भूमि सुधारों (मुआवज़ा देकर) के ज़रिये, और स्वायत्त सत्ता (जो अभी तक लागू नहीं की गयी है) के ज़रिये **हल किया जा रहा है** (अल्सटर[120] का उदाहरण बताता है कि यह काम कितनी कठिनाई से हो रहा है)। तो फिर? क्या इससे यह नतीजा निकलता है कि मार्क्स और एंगेल्स 'कल्पनावादी' थे, कि वे "असंभव" जातीय मांगें पेश करते थे, कि उन्होंने अपने आपको आयरलैंड के निम्न-पूंजीवादी राष्ट्रवादियों के असर में आ जाने दिया (फ़ीनियन आंदोलन के निम्न-पूंजीवादी स्वरूप के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता), आदि?

---

*और हां, यह समझना कठिन नहीं है कि सामाजिक-जनवादी दृष्टिकोण से राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का मतलब **न तो** संघ होता है **और न** स्वायत्त सत्ता (हालांकि अगर मोटे-मोटे तौर पर देखा जाये तो दोनों ही "आत्म-निर्णय" की कोटि में आते हैं)। संघ बनाने का अधिकार, आम तौर पर, एक बेतुकी बात है क्योंकि संघ एक दो-तरफ़ा समझौता होता है। यह तो मानी हुई बात है कि मार्क्सवादी आम तौर पर संघवाद के समर्थन को अपने कार्यक्रम में स्थान नहीं दे सकते। जहां तक स्वायत्त सत्ता का सवाल है तो मार्क्सवादी स्वायत्त सत्ता "के अधिकार का" नहीं बल्कि एक ऐसे जनवादी राज्य के लिए, जिसमें कई जातियां रहती हों और जिसके विभिन्न भागों की भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियों में बहुत अंतर हो, आम, सार्वत्रिक सिद्धांत के रूप में **स्वयं** स्वायत्त सत्ता का समर्थन करते हैं। इसलिए "राष्ट्रों की स्वायत्त सत्ता के अधिकार" को मानना उतनी ही बेतुकी बात है जितनी कि "राष्ट्रों के संघ बनाने के अधिकार" को मानना।

नहीं, आयरलैंड के सवाल पर भी मार्क्स तथा एंगेल्स ने एक सुसंगत सर्वहारा नीति का अनुसरण किया, जिसने आम जनता में सचमुच जनवाद तथा समाजवाद की भावना का संचार किया। केवल ऐसी ही नीति आयरलैंड तथा इंगलैंड दोनों ही को आवश्यक सुधार लागू करने में पचास वर्ष के विलम्ब से बचा सकती थी, और उदारवादियों को प्रतिक्रियावादियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से इन सुधारों को विकृत करने से रोक सकती थी।

आयरलैंड के सवाल पर मार्क्स तथा एंगेल्स की नीति इस बात का एक बहुत अच्छा उदाहरण है कि उत्पीड़क राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग को जातीय आंदोलनों के प्रति क्या रवैया अपनाना चाहिये, और यह नीति वर्तमान काल के लिए भी बहुत **व्यावहारिक** महत्व रखती है। यह उदाहरण उस "दासोचित जल्दबाज़ी" के विरुद्ध एक चेतावनी है जिसका परिचय हर देश, वर्ण तथा भाषा के कूपमंडूक किसी एक राष्ट्र के ज़मींदारों तथा पूंजीपतियों की हिंसा तथा उनके विशेषाधिकारों द्वारा निर्धारित राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने के विचार को "कल्पनावादी" घोषित करके देते हैं।

यदि आयरलैंड तथा इंगलैंड के सर्वहारा वर्ग ने मार्क्स की नीति को स्वीकार न किया होता, और उन्होंने आयरलैंड के अलग हो जाने को अपना नारा न बनाया होता तो यह बदतरीन क़िस्म का अवसरवाद, जनवादियों तथा समाजवादियों की हैसियत से अपने कर्तव्यों की उपेक्षा और **इंगलैंड की** प्रतिक्रियावादी शक्तियों तथा **इंगलैंड के** पूंजीपति वर्ग के आगे हथियार डाल देना होता।

९. १९०३ का कार्यक्रम तथा उसका विसर्जन करनेवाले

१९०३ की कांग्रेस की कार्यवाही, जिस कांग्रेस में रूसी मार्क्सवादियों का कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, बड़ी मुश्किल से मिलती है, इसलिए आज मज़दूर वर्ग के आंदोलन में जो सक्रिय कार्यकर्त्ता हैं उनमें से अधिकांश कार्यक्रम की विभिन्न धाराओं के आधारभूत उद्देश्यों से अपरिचित हैं (इसलिए और भी कि इससे संबंधित समस्त साहित्य को क़ानूनी होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है ...)। इसलिए जिस समस्या पर हम विचार कर रहे हैं उस पर १९०३ की कांग्रेस में जो बहस हुई थी उसका विश्लेषण करना आवश्यक है।

सबसे पहले तो हम यह बता दें कि "राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार" के बारे में रूसी सामाजिक-जनवादी साहित्य कितना ही थोड़ा क्यों न हो पर उससे यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि इस अधिकार का मतलब हमेशा ही से अलग हो जाने का अधिकार समझा गया है। सेम्कोव्स्की, लीबमैन तथा युरकेविच जैसे महानुभाव जो इस बात में शंका करते हैं और घोषणा करते हैं कि ९वीं धारा 'अस्पष्ट' है, ऐसा केवल अपनी घोर जिहालत और लापरवाही के कारण ही करते हैं। अबसे बहुत पहले १९०२ में ही प्लेख़ानोव ने प्रस्तावित कार्यक्रम में उल्लिखित "आत्म-निर्णय के अधिकार" का समर्थन करते हुए 'ज़ार्या' में लिखा था कि यह मांग पूंजीवादी जनवादियों के लिए तो अनिवार्य नहीं है पर "सामाजिक-जनवादियों के लिए अनिवार्य" है। प्लेख़ानोव ने लिखा कि "यदि हम इस मांग को इस भय से उठाना भूल जायें या उठाने में संकोच करें कि इससे वृहत्तर रूसी राष्ट्र के हमारे देशवासियों के जातीय पूर्वाग्रहों को ठेस पहुंचेगी तो हमारे होंठों पर 'सारी दुनिया के मज़दूरो, एक हो!' का नारा एक सफ़ेद झूठ बनकर रह जायेगा।"[121]

जिस बात पर हम विचार कर रहे हैं उसके पक्ष में दी जानेवाली बुनियादी दलील की यह बहुत उचित व्याख्या है; इतनी उचित कि इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होता कि हमारे कार्यक्रम के वे आलोचक जो अपने "भाई-बंधुओं को भूल गये हैं" बड़ी भीरुता के साथ इससे कतराते रहे हैं। किसी भी उद्देश्य से इस बात का परित्याग करना **वृहत्तर रूसी** राष्ट्रवाद के साथ **वास्तव में** बहुत ही "शर्मनाक" रिआयत करना है। परंतु जब यह **सभी** राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार का सवाल है तो फिर वृहत्तर रूसी ही क्यों? इसलिए कि इसका संबंध वृहत्तर रूसियों **से** अलग होने के साथ है। **सर्वहारागण की एकता** के हित में, उनकी वर्ग-एकता के हित में हमें राष्ट्रों **के अलग हो जाने** के अधिकार को मानना चाहिये – ऊपर जो शब्द उद्धृत किये गये हैं उनमें प्लेख़ानोव ने बारह वर्ष पहले इसी बात को स्वीकार किया था। यदि हमारे अवसरवादियों ने इस बात पर ग़ौर किया होता तो शायद उन्होंने आत्म-निर्णय के बारे में इतनी फ़िज़ूल बातें न की होतीं।

१९०३ की कांग्रेस में, जिसमें प्लेख़ानोव का पेश किया हुआ प्रस्तावित कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, मुख्य काम **कार्यक्रम-आयोग** में हुआ था।

दुर्भाग्यवश उसके कार्य-विवरण का कोई ब्यौरा नहीं रखा गया; इस प्रकार का ब्यौरा इस बात के सिलसिले में विशेष रूप से दिलचस्प होता क्योंकि **केवल** आयोग में ही पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों के प्रतिनिधियों वार्साव्स्की तथा हानेत्स्की ने अपने दृष्टिकोण के पक्ष में तर्क देने और "आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति" का विरोध करने की कोशिश की थी। यदि कोई पाठक उनकी दलीलों की तुलना (जिनका प्रतिपादन वार्साव्स्की के भाषण में और उनकी तथा हानेत्स्की की घोषणा में किया गया था, कांग्रेस के कार्य-विवरण के पृष्ठ १३४-१३६ और ३८८-३९०) उन दलीलों के साथ करने का कष्ट उठायेगा जो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने अपने पोलिश भाषा के उस लेख में दी थीं जिसका हम विश्लेषण कर चुके हैं, तो वह देखेगा कि वे बिल्कुल एक हैं।

दूसरी कांग्रेस के कार्यक्रम-आयोग में, जिसमें सबसे बढ़कर प्लेखानोव ने पोलैंड के मार्क्सवादियों की आलोचना की थी, इन दलीलों की तरफ़ क्या रुख़ अपनाया गया था? इन दलीलों का बड़ी बेरहमी से मज़ाक़ उड़ाया गया था! **रूस के** मार्क्सवादियों के सामने यह सुझाव रखने का बेतुकापन कि वे राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करने की बात निकाल दें, इतने स्पष्ट और सजीव रूप से ज़ाहिर हो गया कि पोलैंड के मार्क्सवादियों ने **कांग्रेस के पूरे अधिवेशन में अपनी दलीलों को दोहराने का भी साहस नहीं किया!!** उन्हें जब यह विश्वास हो गया कि वृहत्तर रूसियों और साथ ही यहूदी, जार्जियाई तथा आर्मीनियाई मार्क्सवादियों की इस सर्वोच्च सभा में उनकी दाल गलनेवाली नहीं है तो वे कांग्रेस से उठकर चले गये।

यह ऐतिहासिक घटना स्वाभाविक रूप से हर उस आदमी के लिए बहुत ज़्यादा महत्व रखती है जो **अपने** कार्यक्रम में गंभीरतापूर्वक दिलचस्पी रखता है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि कांग्रेस के कार्यक्रम-आयोग में पोलैंड के मार्क्सवादियों की दलीलों की करारी हार हुई और उन्होंने कांग्रेस के पूरे अधिवेशन के सामने अपने दृष्टिकोण का समर्थन करने की भी कोशिश नहीं की। यह बात अकारण नहीं थी कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने १९०८ में अपने लेख में इस बात के बारे में "विनम्रतावश" कुछ भी नहीं कहा; ज़ाहिर है कांग्रेस की याद करना उनके लिए बहुत अरुचिकर था! १९०३ में पोलैंड के समस्त मार्क्सवादियों की तरफ़ से वार्साव्स्की तथा हानेत्स्की ने कार्यक्रम की ९वीं धारा में "संशोधन"

करने का जो हास्यास्पद हद तक अनुपयुक्त सुझाव रखा था उसके बारे में भी वह बिल्कुल ख़ामोश रहीं; इस सुझाव को दुबारा पेश करने का साहस न तो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने किया है और न पोलैंड के दूसरे सामाजिक-जनवादियों ने (और वे इसका साहस करेंगे भी नहीं)।

यद्यपि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग ने १९०३ की कांग्रेस में अपनी हार को छुपाते हुए इन बातों के बारे में कुछ भी नहीं कहा, पर जो लोग अपनी पार्टी के इतिहास में दिलचस्पी रखते हैं वे इन तथ्यों की सच्चाई का पता लगायेंगे और उनके महत्व पर ग़ौर करेंगे।

१९०३ की कांग्रेस से उठकर जाते समय रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के मित्रों ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया था:

> ..."हम सुझाव रखते हैं कि प्रस्तावित कार्यक्रम की ७वीं धारा" (अब जो ९वीं धारा है) "बदलकर इस प्रकार कर दी जाये: **धारा ७। राज्य में सम्मिलित सभी राष्ट्रों के सांस्कृतिक विकास की पूर्ण स्वतंत्रता का आश्वासन देनेवाली संस्थाएं।**" (कार्य-विवरण का पृष्ठ ३९०।)

इस प्रकार, पोलैंड के मार्क्सवादियों ने उस समय जातियों के प्रश्न के बारे में ऐसे विचार प्रतिपादित किये जो इतने अस्पष्ट थे कि आत्म-निर्णय **के बजाय** उन्होंने वास्तव में एक दूसरे नाम से कुख्यात "सांस्कृतिक-जातीय स्वायत्त अधिकार" का सुझाव रखा!

यह बात अविश्वसनीय प्रतीत होती है पर दुर्भाग्य की बात है कि यह एक सत्य है। ख़ुद कांग्रेस में, हालांकि उसमें पांच बुंदवादी, जिनके पांच वोट थे, और तीन काकेशियाई भी हिस्सा ले रहे थे, जिनके छः वोट थे, इसमें कोस्त्रोव को शामिल नहीं किया गया है, जिन्हें परामर्शात्मक मताधिकार था, आत्म-निर्णय वाली धारा **निकाल देने** के पक्ष में **एक भी** वोट नहीं पड़ा। तीन वोट इस धारा में "सांस्कृतिक-जातीय स्वायत्त अधिकार" जोड़ देने के सुझाव के पक्ष में पड़े (गोल्डब्लाट की इस धारा के पक्ष में कि "ऐसी संस्थाओं की स्थापना की जाये जिनसे राष्ट्रों को सांस्कृतिक विकास की पूर्ण स्वतंत्रता की गारंटी हो जाये") और चार वोट लाइबर की धारा ("राष्ट्रों का अपने सांस्कृतिक विकास में स्वतंत्रता का अधिकार") के पक्ष में पड़े।

अब एक रूसी उदारवादी पार्टी, सांविधानिक-जनवादी पार्टी, मैदान में आ गयी है, और हम जानते हैं कि **उसके** कार्यक्रम में राष्ट्रों के राजनीतिक आत्म-निर्णय का स्थान "सांस्कृतिक आत्म-निर्णय" ने ले लिया है। इस प्रकार रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के पोलैंड के दोस्त पी० पी० एस० (पोलैंड की समाजवादी पार्टी—अनु०) के राष्ट्रवाद को **"निष्फल बनाने"** में इतने ज़्यादा सफल हुए कि उन्होंने मार्क्सवादी कार्यक्रम के स्थान पर एक **उदारवादी** कार्यक्रम अपनाने का प्रस्ताव रखा! और उसी सांस में उन्होंने हमारे कार्यक्रम पर अवसरवादी होने का आरोप लगाया; फिर इसमें आश्चर्य ही क्या कि दूसरी कांग्रेस के कार्यक्रम-आयोग में इस आरोप को सुनकर लोग बहुत हंसे।

दूसरी कांग्रेस के प्रतिनिधियों ने "आत्म-निर्णय" का क्या अर्थ समझा, जैसा कि हम देख चुके हैं इनमें से **एक भी** "राष्ट्रों के आत्म-निर्णय" के ख़िलाफ़ नहीं था?

इस प्रश्न का उत्तर कार्य-विवरण के निम्नलिखित तीन उद्धरणों में मिलता है:

"**मार्तिनोव** की राय यह है कि 'आत्म-निर्णय' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिये; इसका अर्थ प्रादेशिक आत्म-शासन नहीं बल्कि केवल अपने आपको एक अलग राजनीतिक सत्ता के रूप में स्थापित करने का हर राष्ट्र का अधिकार है" (पृष्ठ १७१)। मार्तिनोव उस कार्यक्रम-आयोग के एक सदस्य थे जिसमें रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के मित्रों की दलीलों का खंडन किया गया था तथा मज़ाक़ उड़ाया गया था। अपने विचारों की दृष्टि से उस समय मार्तिनोव "एक अर्थवादी", 'ईस्क्रा' के एक कट्टर विरोधी थे और यदि उन्होंने कोई ऐसा मत व्यक्त किया होता जिससे कार्यक्रम-आयोग के सदस्यों का बहुमत सहमत न होता, तो उसका अवश्य ही खंडन किया गया होता।

आयोग का काम समाप्त होने पर जब कांग्रेस में कार्यक्रम की ८वीं धारा (वर्तमान ९वीं धारा) पर बहस हुई तो सबसे पहले बुंदवादी गोल्डब्लाट ने भाषण दिया।

गोल्डब्लाट ने कहा:

"'आत्म-निर्णय के अधिकार' के ख़िलाफ़ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जब कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा हो तो उसका

18—1665

विरोध नहीं किया जाना चाहिये। जैसा कि प्लेख़ानोव ने कहा था, अगर पोलैंड रूस के साथ क़ानूनी ढंग का विवाह करने से इंकार करता है तो उसे रोकना नहीं चाहिये। मैं इन सीमाओं के भीतर इस राय से सहमत हूं" (पृष्ठ १७५-१७६)।

कांग्रेस की पूरी बैठक में प्लेख़ानोव ने इस विषय पर कोई भाषण नहीं दिया। कार्यक्रम-आयोग में, जहां बहुत ही सीधे-सादे तथा विस्तृत ढंग से "आत्म-निर्णय के अधिकार" का अर्थ अलग हो जाने का अधिकार समझाया गया था, प्लेख़ानोव ने जो कुछ कहा था उसका हवाला गोल्डब्लाट ने दिया। गोल्डब्लाट के बाद भाषण देते हुए लाइबर ने कहा:

"ज़ाहिर है कि अगर कोई जाति इस नतीजे पर पहुंचती है कि वह रूस की सीमाओं के भीतर नहीं रह सकती, तो पार्टी उसकी राह में कोई बाधा नहीं डालेगी" (पृष्ठ १७६)।

पाठक देखेंगे कि पार्टी की दूसरी कांग्रेस में, जिसमें यह कार्यक्रम स्वीकार किया गया था, इस बात के बारे में कोई दो रायें नहीं थीं कि आत्म-निर्णय का अर्थ "केवल" अलग हो जाने का अधिकार होता है। बुंदवादियों तक ने उस समय इस सत्य को हृदयंगम कर लिया था और अपने इस शर्मनाक ज़माने में ही जो अनवरत प्रतिक्रांति तथा हर प्रकार के "गड़े मुर्दे उखाड़ने" का ज़माना है, हमें ऐसे लोग मिलते हैं जो अपनी जिहालत में यह घोषणा करने की हिम्मत करते हैं कि कार्यक्रम "अस्पष्ट" है। परंतु इन बेचारे "अधूरे सामाजिक-जनवादियों" पर समय नष्ट करने से पहले आइये पहले हम इस बात पर विचार कर लें कि कार्यक्रम की ओर पोलैंडवासियों का क्या रवैया था।

वे दूसरी कांग्रेस (१९०३) में आये थे तो यह घोषणा करते हुए कि एकता आवश्यक तथा अपरिहार्य है। परंतु कार्यक्रम-आयोग में अपनी "हार" के बाद वे कांग्रेस से उठकर चले गये, और उन्होंने जो **आख़िरी बात** कही वह कांग्रेस के कार्य-विवरण में प्रकाशित उनका वह लिखित वक्तव्य था जिसमें आत्म-निर्णय **के स्थान पर** सांस्कृतिक-जातीय स्वायत्त अधिकार की बात **रखने** का सुझाव पेश किया गया था।

१६०६ में पोलैंड के मार्क्सवादी पार्टी में शामिल हुए, और न तो पार्टी में शामिल होते वक़्त और न उसके बाद ही (न १६०७ की कांग्रेस में[122], न १६०७ और १६०८ के सम्मेलनों में[123], न १६१० के पूर्णाधिवेशन में[124]) ऐसा हुआ कि उन्होंने रूसी कार्यक्रम की ६वीं धारा में संशोधन करने का **एक बार भी कोई** सुझाव **रखा हो।**

यह एक सच बात है।

और जो भी शब्द इस्तेमाल किये जायें या जो भी आश्वासन दिये जायें उन सबके बावजूद इस बात से निश्चित रूप से यही सिद्ध होता है कि रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के मित्र यह मानते थे कि दूसरी कांग्रेस के कार्यक्रम-आयोग में जो बहस हुई उससे और कांग्रेस में जो फ़ैसला लिया गया उससे भी इस सवाल को तै कर दिया गया है; कि उन्होंने चुपचाप अपनी ग़लती को माना और १६०३ में कांग्रेस से उठकर चले जाने के बाद वे १६०६ में फिर पार्टी में शामिल हो गये और इस बीच में उन्होंने एक बार भी **पार्टी** के ज़रिये कार्यक्रम की ६वीं धारा में संशोधन करने का सवाल उठाने की कोशिश नहीं की।

रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का लेख उनके नाम से १६०८ में प्रकाशित हुआ – ज़ाहिर है, यह बात तो कभी किसी के दिमाग़ में भी नहीं आयी कि पार्टी के लेखकों को उसके कार्यक्रम की आलोचना करने का अधिकार न हो – और इस लेख के लिखे जाने **के समय से** पोलैंड के मार्क्सवादियों की **एक भी** अधिकृत तौर पर मौजूद संस्था ने ६वीं धारा को बदलने का सवाल नहीं उठाया है।

इसलिए त्रोत्स्की 'बोर्बा'[125] के सम्पादकों की तरफ़ से उस पत्रिका के दूसरे अंक में (मार्च १६१४ में) निम्नलिखित बात लिखकर रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के कुछ प्रशंसकों की बड़े भोंडे ढंग से सेवा कर रहे हैं:

> "... पोलैंड के मार्क्सवादी समझते हैं कि 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार' राजनीतिक सार से सर्वथा रिक्त है और उसे कार्यक्रम में से निकाल दिया जाना चाहिये" (पृष्ठ २५)।

कृपालु त्रोत्स्की एक शत्रु से भी ज़्यादा ख़तरनाक हैं! "पोलैंड के मार्क्स-वादियों" को आम तौर पर रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग द्वारा लिखे गये हर लेख का

समर्थन करनेवालों की श्रेणी में रखने के लिए त्रोत्स्की "निजी बातचीत" (अर्थात् कोरी गप-शप, जिसपर त्रोत्स्की हमेशा ज़िंदा रहते हैं) के अलावा और **कोई भी** प्रमाण **नहीं** दे सके। त्रोत्स्की ने "पोलैंड के मार्क्सवादियों" को इस रूप में पेश किया कि वे ऐसे लोग हैं जिनका कोई ईमान तथा अंतःकरण नहीं है, वे स्वयं अपने विचार तथा पार्टी के कार्यक्रम का भी सम्मान नहीं कर सकते। कितने कृपालु हैं त्रोत्स्की!

जब १९०३ में पोलैंड के मार्क्सवादियों के प्रतिनिधि आत्म-निर्णय के अधिकार **के कारण** दूसरी कांग्रेस से उठकर चले गये थे, **उस समय** त्रोत्स्की यह कह सकते थे कि वे इस अधिकार को निस्सार समझते थे और यह समझते थे कि इसे कार्यक्रम में से निकाल दिया जाये।

परंतु इसके बाद पोलैंड के मार्क्सवादी उस पार्टी में **शामिल हो गये** जिसका कार्यक्रम इस प्रकार का था और उन्होंने एक बार भी उसमें संशोधन करने का प्रस्ताव नहीं रखा है।*

त्रोत्स्की ने इन बातों को अपनी पत्रिका के पाठकों से छुपाया क्यों? केवल इसलिए कि विसर्जनवाद के पोलैंड तथा रूस के विरोधियों के बीच मतभेद पैदा कर देने और कार्यक्रम के सवाल पर रूसी मज़दूरों को धोखा देने के बारे में जुआ खेलना उनके लिए लाभदायक है।

आज तक मार्क्सवाद के किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न पर त्रोत्स्की का कोई दृढ़ मत नहीं रहा है। वह हमेशा किसी न किसी तरक़ीब से किसी न किसी मतभेद "की दरार में रेंगकर पहुंच जाने" में और एक पक्ष को छोड़कर दूसरे

---

*हमें सूचना दी गयी है कि १९१३ में रूसी मार्क्सवादियों के ग्रीष्म सम्मेलन में पोलैंड के मार्क्सवादियों को **केवल** परामर्शात्मक मताधिकार था और उन्होंने आत्म-निर्णय के (अलग हो जाने के) अधिकार पर वोट दिया ही नहीं था, उन्होंने आम तौर पर इस अधिकार के संबंध में अपने विरोध की घोषणा की थी। ज़ाहिर है कि उन्हें ऐसा करने का और अब तक की तरह ही पोलैंड में उसके अलग होने के ख़िलाफ़ आंदोलन चलाने का, पूरा अधिकार था। लेकिन त्रोत्स्की जो बात कह रहे हैं वह यह नहीं है; क्योंकि पोलैंड के मार्क्सवादियों ने "कार्यक्रम में से" ९वीं धारा "निकाल देने" की मांग नहीं की थी।

में जा मिलने में कामयाब हो जाते हैं। इस समय उनका बुंदवादियों तथा विसर्जनवादियों का साथ है। और जहां तक पार्टी का संबंध है ये सज्जन कोई तकल्लुफ़ नहीं बरतते।

सुनिये, बुंदवादी लीबमैन क्या कहते हैं।

> यह सज्जन लिखते हैं, "अबसे पंद्रह बरस पहले जब रूसी सामाजिक-जनवादियों ने अपने कार्यक्रम में हर जाति के 'आत्म-निर्णय' के अधिकार के बारे में एक धारा रखी थी, तो हर आदमी (!!) के मन में यह सवाल उठा था: इस फ़ैशनेबुल (!!) शब्द का वास्तव में क्या अर्थ है? पर कोई जवाब न मिला (!!)। यह शब्द कुहरे में ढका रह गया (!!)। वास्तव में उस समय इस कुहरे को दूर करना कठिन था। उस समय कहा गया था कि अभी इस बात की ठोस रूप से व्याख्या करने का समय नहीं आया है। इसे अभी इसी प्रकार कुहरे में (!!) ढका रहने दो और ज़िंदगी ख़ुद बता देगी कि इस बात में क्या सार भरा जाये।"

पार्टी कार्यक्रम का इस तरह "बिना पतलून वाले लड़के"[126] के ढंग से मज़ाक़ उड़ाना कितना शानदार है न?

और यह मज़ाक़ क्यों उड़ाया जा रहा है?

केवल इसलिए कि वह बिल्कुल जाहिल हैं, उन्होंने कभी कुछ नहीं सीखा है, उन्होंने पार्टी के इतिहास के बारे में कुछ पढ़ा भी नहीं है, बल्कि वह तो न जाने कैसे विसर्जनवादी वातावरण में फंस गये जहां पार्टी और पार्टी की भावना के बारे में लापरवाही बरतना ही "असल चीज़" समझा जाता है।

पोम्यालोव्स्की के उपन्यास में, धार्मिक स्कूल का एक विद्यार्थी इस बात की डींग मारता है कि "उसने बंद-गोभी के अचार के पीपे में थूक दिया"[127]। बुंदवादी सज्जन इससे भी दो जूते आगे हैं। वे लीबमैन जैसे लोगों को इसलिए खड़ा करते हैं कि वे सरे-आम ख़ुद अपने पीपे में थूकें। लीबमैन जैसे सज्जनों को इस बात की क्या परवाह कि एक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में एक फ़ैसला किया गया था, कि स्वयं उनकी पार्टी की कांग्रेस में स्वयं उनके बुंद के दो प्रतिनिधियों ने यह साबित किया कि वे "आत्म-निर्णय" का अर्थ बिल्कुल समझते थे (और

वे 'ईस्क्रा' के कितने "कठोर" आलोचक तथा पक्के दुश्मन थे!) और बल्कि उससे सहमत भी थे। और क्या उस हालत मे पार्टी का विसर्जन कर देना अधिक आसान नहीं होगा यदि "पार्टी के लेखक" (हंसिये नहीं!) पार्टी के इतिहास तथा कार्यक्रम पर धार्मिक स्कूल के विद्यार्थियों के ढंग से विचार करें।

'द्ज़िवन'[128] के श्री युरकेविच एक दूसरे 'बिना पतलून वाला लड़का' हैं। ज़ाहिर है कि श्री युरकेविच ने दूसरी कांग्रेस की कार्यवाही देखी है क्योंकि वह प्लेख़ानोव के शब्दों का हवाला उस रूप में देते हैं जिस रूप में गोल्डब्लाट ने उन्हें दोहराया था, और यह सिद्ध करते हैं कि उन्हें यह बात मालूम है कि आत्म-निर्णय का अर्थ केवल अलग होने का अधिकार ही हो सकता है। परंतु इसके बावजूद वह रूसी मार्क्सवादियों पर यह आरोप लगाकर कि वे रूस की "राज्यीय अखंडता" के पक्ष में हैं उक्रइनी निम्न-पूंजीपति वर्ग में उन्हें बदनाम करने से बाज़ नहीं रहते। (अंक ७-८, १९१३, पृष्ठ ८३ आदि)। इसमें शक नहीं कि उक्रइनी जनवादियों को वृहत्तर रूसी जनवादियों से दूर करने के लिए युरकेविच जैसे लोग इस लांछन से अच्छा कोई दूसरा उपाय नहीं ढूंढ सकते थे। और इस प्रकार की दूरी पैदा करना 'द्ज़िवन' के उन लेखकों के समूह की पूरी नीति से मेल खाता है, जो इस बात का प्रचार करते हैं कि उक्रइनी मज़दूरों को एक **अलग** जातीय संगठन में **अलग कर दिया जाये**!*

ज़ाहिर है, राष्ट्रवादी कूपमंडूकों के ऐसे दल के लिए, जो सर्वहारा वर्ग की पांतों में फूट डाल रहा हो—और 'द्ज़िवन' की वास्तविक भूमिका यही है—यह सर्वथा उचित ही है कि वह जातियों के प्रश्न के बारे में इतना उलझाव पैदा कर दे कि उसे सुलझाना असंभव हो जाये। यह तो बताने की ज़रूरत नहीं कि युरकेविच तथा लीबमैन जैसे लोग, जो "लगभग पार्टी के ही आदमी" कहे जाने पर "बेहद" बुरा मान जाते हैं, इस बात के बारे में एक शब्द,

---

* विशेष रूप से देखिये श्री लेवींस्की की पुस्तक 'गैलीशिया में उक्रइनी मज़दूर वर्ग के आंदोलन के विकास की रूपरेखा' की युरकेविच द्वारा लिखी गयी भूमिका, कीयेव १९१४।—सं०

एक भी शब्द, नहीं कहते कि आख़िर **वे** क्या चाहते हैं कि कार्यक्रम में अलग हो जाने के अधिकार की समस्या को कैसे हल किया जाये।

और यह हैं तीसरे और सबसे मुख्य 'बिना पतलून वाला लड़का', श्री सेम्कोव्स्की जो वृहत्तर रूसी पाठकों के सम्मुख एक विसर्जनवादी अख़बार के स्तंभों में कार्यक्रम की ९वीं धारा के ख़िलाफ़ "ज़हर उगलते हैं" और साथ ही यह भी घोषणा करते हैं कि वह इस बात को कार्यक्रम में से निकाल देने के "सुझाव का कुछ कारणों से अनुमोदन नहीं करते"!!

इस बात पर यक़ीन तो नहीं आता, पर यह है सच।

अगस्त १९१२ में विसर्जनवादियों के सम्मेलन में[129] अधिकृत तौर पर जातियों का प्रश्न उठाया गया। डेढ़ साल से श्री सेम्कोव्स्की के लिखे हुए एक लेख को छोड़कर ९वीं धारा के बारे में एक भी लेख नहीं छपा है। और इस लेख में लेखक महोदय कार्यक्रम को तो **अस्वीकार करते हैं** परंतु "**कुछ** कारणों से" (क्या यह कोई गुप्त रोग है?) उसमें संशोधन करने के सुझाव का "अनुमोदन नहीं करते"!! हम शर्त बदकर कह सकते हैं कि दुनिया में कहीं भी अवसरवाद की, और जो चीज़ अवसरवाद से भी बदतर है, पार्टी का परित्याग करने की, उसका विसर्जन करने की, ऐसी मिसालें ढूंढना कठिन होगा।

यह बताने के लिए कि सेम्कोव्स्की की दलीलें किस ढंग की हैं एक उदाहरण ही काफ़ी होगा :

> वह लिखते हैं, "यदि पोलैंड का सर्वहारा वर्ग पूरे रूसी सर्वहारा वर्ग के कंधे से कंधा मिलाकर, एक ही राज्य के ढांचे के भीतर रहकर, लड़ना चाहता है जबकि, इसके विपरीत, पोलैंड के समाज के प्रतिक्रियावादी वर्ग पोलैंड को रूस से अलग कर लेना चाहते हैं और एक मतदान में अलग हो जाने के पक्ष में बहुमत प्राप्त कर लेते हैं, तो ऐसी दशा में हम क्या करें? क्या हम रूसी सामाजिक-जनवादी केंद्रीय संसद में पोलैंड के अपने साथियों के साथ अलग हो जाने के **ख़िलाफ़** वोट दें, या – 'आत्म-निर्णय के अधिकार' का उल्लंघन न करने के लिए – अलग हो जाने के **पक्ष में** वोट दें?" ('नोवाया राबोचाया गाज़ेता'[130], अंक ७१)

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि श्री सेम्कोव्स्की इस बात को समझते तक नहीं कि बहस **किस बात के बारे में हो रही है**! यह बात उनके दिमाग़ में भी नहीं आयी कि अलग हो जाने के अधिकार के लिए पहले यह शर्त है कि यह सवाल केंद्रीय संसद द्वारा **नहीं** बल्कि **अलग होनेवाले** प्रदेश की संसद (विधान, सभा मतदान, आदि) द्वारा तै किया जाये।

इस प्रश्न पर बच्चों जैसी परेशानी – "हम क्या करें" अगर जनवाद के अधीन बहुमत प्रतिक्रिया के पक्ष में हो? – असली, वास्तविक, सजीव राजनीति के प्रश्न पर परदा डालने का काम करती है, जबकि पुरिश्केविच जैसे लोग **और** कोकोश्किन जैसे लोग **दोनों ही** अलग हो जाने के विचार तक को अपराधपूर्ण समझते हैं! शायद, **समस्त** रूस के सर्वहारागण को आज पुरिश्केविच तथा कोकोश्किन जैसे लोगों के विरुद्ध नहीं लड़ना चाहिये बल्कि उनको छोड़कर पोलैंड के प्रतिक्रियावादी वर्गों के ख़िलाफ़ लड़ना चाहिये!!

यह है वह बेसिर-पैर की बकवास जो विसर्जनवादियों के मुखपत्र में लिखी है, जिसके कि श्री ल० मार्तोव एक सैद्धांतिक नेता हैं, वही ल० मार्तोव जिन्होंने १९०३ में कार्यक्रम का मसविदा तैयार किया था और उसे स्वीकार कराया था, और जिन्होंने उसके बाद भी अलग हो जाने के अधिकार के पक्ष में लिखा है। ऐसा लगता है कि ल० मार्तोव अब इस नियम के अनुसार तर्क कर रहे हैं:

> वहां किसी चतुर आदमी की ज़रूरत नहीं;
> बेहतर है रेआद को भेज दो,
> फिर मैं देखूंगा क्या होता है।[131]

वह रेआद-सेम्कोव्स्की को भेजते हैं और इस बात का मौक़ा देते हैं कि हमारे कार्यक्रम को एक दैनिक पत्र में ऐसे नये पाठकों के सामने, जो उससे अपरिचित हैं, तोड़-मरोड़कर पेश किया जाये और उसमें अंतहीन उलझाव पैदा कर दिये जायें।

हां, विसर्जनवाद बहुत आगे बढ़ चुका है – बहुत-से प्रमुख भूतपूर्व सामाजिक-जनवादियों में पार्टी की भावना का नाम-निशान तक बाक़ी नहीं रह गया है।

ज़ाहिर है रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग को लीबमैन, युरकेविच तथा सेम्कोव्स्की जैसे

लोगों की कोटि में नहीं रखा जा सकता, परंतु यह बात कि ऐसे ही लोग उनकी ग़लती को ले उड़े हैं उस अवसरवाद को विशेष स्पष्टता के साथ प्रकट कर देती है जिसका कि वह शिकार हो गयी हैं।

१०. निष्कर्ष

आइये, हम देखें कि इन सब बातों का निचोड़ क्या निकलता है।

आम तौर पर मार्क्सवाद के सिद्धांत के दृष्टिकोण से आत्म-निर्णय के अधिकार के प्रश्न में कोई कठिनाई नहीं है। लंदन के १८९६ वाले प्रस्ताव से, या इस बात से कि आत्म-निर्णय का अर्थ केवल अलग हो जाने का अधिकार है, या इस बात से कि स्वतंत्र जातीय राज्य बनाना सभी पूंजीवादी-जनवादी क्रांतियों की प्रवृत्ति है, किसी को भी गंभीर मतभेद नहीं हो सकता।

कुछ हद तक कठिनाई केवल इस कारण पैदा होती है कि रूस में उत्पीड़ित तथा उत्पीड़क दोनों ही राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग कंधे से कंधा मिलाकर लड़ रहे हैं और उन्हें लड़ना चाहिये। काम यह है कि समाजवाद के लिए सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष की एकता को बनाये रखा जाये, और पूंजीवादी तथा यमदूत सभावालों के समस्त राष्ट्रवादी प्रभावों का विरोध किया जाये। उत्पीड़ित राष्ट्रों में एक स्वतंत्र पार्टी के रूप में सर्वहारा वर्ग का अलग संगठन होने के फलस्वरूप कभी-कभी उस राष्ट्र विशेष के राष्ट्रवाद के विरुद्ध इतना घोर संघर्ष होता है कि भावी लक्ष्य विकृत हो जाता है और लोग उत्पीड़क राष्ट्र के राष्ट्रवाद को भूल जाते हैं।

परंतु भावी लक्ष्य बहुत समय तक विकृत नहीं रह सकता। विभिन्न राष्ट्रों के सर्वहारागण के संयुक्त संघर्ष के अनुभव ने इस बात को अत्यंत स्पष्ट रूप में सिद्ध कर दिया है कि हमें राजनीतिक प्रश्नों का प्रतिपादन "क्रैको" के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि अखिल-रूसी दृष्टिकोण से करना चाहिये। और अखिल-रूसी राजनीति में पुरिश्केविच तथा कोकोश्किन जैसे लोगों का बोलबाला है। उनके विचार छाये हुए हैं, "अलग होने की प्रवृत्ति रखने" के अपराध में, अलग होने की बात **सोचने** के अपराध में, ग़ैर-रूसियों को सताने का दूमा में, स्कूलों में, गिरजाघरों में, सिपाहियों की बैरकों में, तथा सैकड़ों-हज़ारों अख़बारों

में प्रचार किया जाता है। राष्ट्रवाद का यही वृहत्तर रूसी विष ग्रखिल-रूसी राजनीति के वातावरण को दूषित कर रहा है। यह एक ऐसे राष्ट्र की बदनसीबी है जो दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन करके पूरे रूस में प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ मज़बूत कर रहा है। १८४६ तथा १८६३ की स्मृतियां एक जीती-जागती राजनीतिक परम्परा बन गयी हैं, जो कि, अगर कोई बड़े-बड़े तूफ़ान सारे देश को अपनी लपेट में ले लें तो बात और है, कई दशाब्दियों तक हर जनवादी और **विशेष रूप से** हर सामाजिक-जनवादी आंदोलन की राह में बाधा डालने का ख़तरा उत्पन्न कर रही है।

इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि कभी-कभी उत्पीड़ित राष्ट्रों के कुछ मार्क्सवादियों का दृष्टिकोण (जिनकी "बदनसीबी" कभी-कभी यह होती है कि जन-साधारण को "अपनी" जातीय स्वतंत्रता के विचार के आगे कुछ दिखाई नहीं देता) कितना ही स्वाभाविक क्यों न प्रतीत होता हो, पर **वास्तव में** रूस में वर्ग-शक्तियों का वास्तविक सयोजन ऐसा है जिसके कारण आत्म-निर्णय के अधिकार का समर्थन करने से इंकार करने का अर्थ बदतरीन क़िस्म का अवसरवाद, सर्वहारा वर्ग को कोकोश्किन जैसे लोगों के विचारों से दूषित करना होता है। और सारतः ये विचार पुरिश्केविच जैसे लोगों के विचार तथा उनकी नीति' हैं।

इसलिए यद्यपि पहले तो रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के दृष्टिकोण को विशिष्टतः पोलिश, "क्रैको वाली" विचारों की संकीर्णता* कहकर माफ़ किया जा सकता

---

*इस बात को समझना कठिन नहीं है कि यदि **समस्त रूस के** मार्क्सवादी, और सबसे पहले और सबसे बढ़कर वृहत्तर रूसी राष्ट्रों के अलग हो जाने के **अधिकार** को स्वीकार करते हैं तो इसका मतलब किसी भी प्रकार यह नहीं होता कि किसी **उत्पीड़ित** राष्ट्र विशेष के मार्क्सवादियों को अलग हो जाने के ख़िलाफ़ **आंदोलन चलाने** का अधिकार नहीं रह जाता, बिल्कुल वैसे ही जैसे तलाक़ के अधिकार को स्वीकार करने का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि किसी ख़ास उदाहरण में तलाक़ के ख़िलाफ़ आंदोलन न चलाया जाये। इसलिए हम समझते हैं कि पोलैंड ये ऐसे मार्क्सवादियों की संख्या अनिवार्य रूप से बढ़ती जायेगी जो उस "अंतर्विरोध" पर हंसेंगे जिसका कोई अस्तित्व नहीं है और जिसे सेम्कोव्स्की तथा त्रोत्स्की इस समय "खड़ा कर रहे हैं"।

था पर इस समय, जबकि राष्ट्रवाद और सबसे बढ़कर देश की सरकार का वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद, हर जगह शक्तिशाली हुआ है, जब नीति का निर्धारण **इसी** वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद के हाथों हो रहा है, इस प्रकार की विचारों की संकीर्णता अक्षम्य हो जाती है। वास्तव में **सभी** राष्ट्रों के अवसरवादी जो "तूफ़ानों" और "छलांगों" के विचार से घबराते हैं, जिनका यह विश्वास है कि पूंजीवादी-जनवादी क्रांति पूरी हो चुकी है, और जो कोकोश्किन जैसे लोगों के उदारवाद के लिए लालायित रहते हैं, झपटकर इस बात को अपना लेते हैं।

किसी भी दूसरे राष्ट्रवाद की तरह वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद भी इस परिस्थिति के अनुसार कई मंज़िलों से होकर गुज़रता है कि उस समय उस पूंजीवादी देश में कौन से वर्ग सर्वोपरि हैं। १९०५ तक हम लगभग केवल राष्ट्रवादी प्रतिक्रियावादियों से ही परिचित थे। क्रांति के बाद हमारे देश में **राष्ट्रवादी-उदारवादी** पैदा हुए।

हमारे देश में अक्तूबरवादियों और कैडेटों (कोकोश्किन) दोनों ही ने, अर्थात् पूरे वर्तमान पूंजीपति वर्ग ने, यही रवैया अपना रखा है।

और आगे चलकर **अनिवार्य रूप से** वृहत्तर रूसी राष्ट्रवादी-जनवादी पैदा होंगे। श्री पेशेख़ोनोव जो "लोकवादी-समाजवादी" पार्टी के संस्थापकों में से हैं, किसान के राष्ट्रवादी पूर्वाग्रहों के संबंध में सतर्कता बरतने का अनुरोध करके ('रूस्स्कोये बोगात्सत्वो'[132] के अगस्त १९०६ के अंक में) इस दृष्टिकोण को व्यक्त कर चुके हैं। दूसरे लोग बोल्शेविकों को कितना ही बदनाम करें और यह ऐलान करें कि हम किसान को "आदर्श मानते" हैं, हमने किसान की समझदारी और किसान के पूर्वाग्रहों में, जनवाद के लिए किसान की चेष्टाओं तथा पुरिश्केविच के प्रति उसके विरोध और पादरियों तथा ज़मींदारों के साथ मेलजोल पैदा करने की उसकी चेष्टाओं में हमेशा अंतर किया है और हमेशा करेंगे।

इस समय भी, और शायद आनेवाले काफ़ी दीर्घ काल तक के लिए, सर्वहारा जनवाद को वृहत्तर रूसी किसानों के राष्ट्रवाद को ध्यान में रखना पड़ेगा (उसके साथ रिआयतें करने के अर्थ में नहीं बल्कि उसके ख़िलाफ़ लड़ने

के अर्थ में)।* उत्पीड़ित राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की भावना जागृत होने से, जो १९०५ के बाद बहुत ही तीव्र हो गयी थी (उदाहरण के लिए पहली दूमा में "स्वायत्तवादियों-संघवादियों" के दल को, उक्रइनी आंदोलन के या मुस्लिम आंदोलन के विकास को और ऐसी ही अन्य बातों को याद कीजिये), शहरों तथा देहातों में वृहत्तर रूसी निम्न-पूंजीपति वर्ग के बीच राष्ट्रवाद की भावना अनिवार्य रूप से और गहरी होगी। रूस का जनवादीकरण जितनी मंद गति से होगा, जातीय उत्पीड़न और विभिन्न राष्ट्रों के पूंजीपति वर्ग के बीच झगड़े उतना ही गहरा, पाशविक तथा कटु रूप धारण करेंगे। इसके साथ ही रूस के पुरिश्केविच जैसे लोगों का विशेष रूप से प्रतिक्रियावादी स्वरूप विभिन्न उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच, जो कभी-कभी निकटवर्ती राज्यों में अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं, "अलगाव की" प्रवृत्तियों को जन्म देगा (तथा इन प्रवृत्तियों को मज़बूत करेगा)।

इस परिस्थिति के कारण रूस के सर्वहारा वर्ग के सामने एक दोहरा या

---

*इस बात का पता लगाना बहुत दिलचस्प होगा कि पोलैंड के राष्ट्रवाद में, उदाहरण के लिए, अभिजात-वर्गीय राष्ट्रवाद से पूंजीवादी राष्ट्रवाद में और फिर किसान राष्ट्रवाद में परिवर्तन होने की प्रक्रिया के दौरान में, क्या-क्या परिवर्तन होते हैं। लुडविग बेर्नहार्ड ने अपनी पुस्तक *«Das polnische Gemeinwesen im preussischen Staat»* ('प्रशा के राज्य में पोलैंडवालों की बिरादरी'; इसका रूसी में अनुवाद हो चुका है) में किसी जर्मन कोकोश्किन के विचारों का अनुमोदन करते हुए एक अत्यंत सारगर्भित घटना का वर्णन किया है: जाति के लिए, धर्म के लिए, "पोलैंड की" ज़मीन के लिए संघर्ष में **पोलैंड के** किसानों की विभिन्न सहकारी संस्थाओं तथा अन्य संगठनों की एक घनिष्ठ मैत्री के रूप में जर्मनी में पोलैंडवासियों द्वारा एक प्रकार के "किसान जनतंत्र" का निर्माण। जर्मनी के उत्पीड़न ने पहले अभिजात वर्ग की, फिर पूंजीपति वर्ग की और अंत में किसान जनता की राष्ट्रवादी भावनाओं को जागृत करके (विशेष रूप से उसके बाद से जबसे १८७३ में जर्मनों ने स्कूलों में पोलिश भाषा के विरुद्ध मुहिम शुरू की) पोलैंडवासियों को एकबद्ध कर दिया है, उन्हें सबसे अलग कर दिया है। रूस में भी परिस्थितियां इसी दिशा में जा रही हैं और यह बात केवल पोलैंड के सिलसिले में ही नहीं हो रही है।

बल्कि कहना चाहिये, दो-तरफ़ा काम है: हर राष्ट्रवाद के और विशेष रूप से वृहत्तर रूसी राष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ लड़ना, सभी राष्ट्रों के अधिकारों की पूर्ण समानता को केवल आम तौर पर ही नहीं बल्कि राज्य का पद प्राप्त करने के संबंध में उनके अधिकारों की समानता को, अर्थात् राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को, अलग होने के अधिकार को, स्वीकार करना। और इसके साथ ही सभी राष्ट्रों के राष्ट्रवाद के विरुद्ध, वह किसी भी रूप में क्यों न हो, सफलतापूर्वक संघर्ष करने के हित में ही सर्वहारा संघर्ष तथा सर्वहारा संगठनों की एकता की रक्षा करना, इन संगठनों को जातीय अलगाव की पूंजीवादी चेष्टाओं के बावजूद एक सुगठित अंतर्राष्ट्रीय संस्था में एकबद्ध करना।

सभी राष्ट्रों के अधिकारों में पूर्ण समानता; राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार, सभी राष्ट्रों के मज़दूरों को एकबद्ध करना—यही वह राष्ट्रीय कार्यक्रम है जिसकी शिक्षा मार्क्सवाद सारी दुनिया का अनुभव और ख़ुद रूस का अनुभव मज़दूरों को देता है।

यह लेख छपाई के लिए टाइप में बिठाया जा चुका था तब मुझे 'नाशा राबोचाया गाज़ेता'[133] का तीसरा अंक मिला जिसमें श्री व्ल० कोस्सोव्स्की ने सभी राष्ट्रों के लिए आत्म-निर्णय के अधिकार को स्वीकार करने के बारे में लिखा है:

> "जैसा कि बहस से स्पष्ट है, इस बात का, जिसे पार्टी की पहली कांग्रेस (१८९८) के प्रस्ताव से ज्यों का त्यों ले लिया गया था, जिस कांग्रेस ने इस बात को अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेसों के निर्णयों से लिया था, १९०३ की कांग्रेस में भी वही अर्थ लगाया गया जो समाजवादी इंटरनेशनल ने लगाया था, यानी राजनीतिक आत्म-निर्णय, अर्थात् राजनीतिक स्वाधीनता की दिशा में राष्ट्रों का आत्म-निर्णय। इस प्रकार राष्ट्रीय आत्म-निर्णय वाली धारा का, जिसमें अपने इलाक़े को अलग कर लेने का अधिकार निहित है, इस सवाल पर कोई असर नहीं पड़ता कि किसी राज्य-संगठन विशेष **के अंदर** उन जातियों के लिए, जो वर्तमान राज्य से अलग हो नहीं सकतीं या अलग होने की कोई इच्छा नहीं रखतीं, जातीय संबंधों का नियमन किस ढंग से किया जाये।"

इससे यह स्पष्ट है कि श्री व्ल० कोस्सोव्स्की ने १९०३ की दूसरी कांग्रेस की कार्यवाही देखी है और वह आत्म-निर्णय शब्द का असली (और एकमात्र) अर्थ पूरी तरह समझते हैं। इसकी तुलना इस बात से कीजिये कि बुंद के अख़बार 'ज़ाइट' के सम्पादकों ने कार्यक्रम का मज़ाक़ उड़ाने के लिए और यह घोषणा करने के लिए कि वह अस्पष्ट है श्री लीबमैन को खड़ा किया!! इन बुंदवादियों की "पार्टी" नैतिकता भी अजीब है... "अल्लाह ही जानता है" कि कोस्सोव्स्की यह घोषणा क्यों करते हैं कि कांग्रेस ने आत्म-निर्णय का सिद्धांत **ज्यों का त्यों** ले लिया। कुछ लोग "एतराज़ करना चाहते हैं", पर वे यह नहीं जानते कि एतराज़ कैसे, क्यों और किस लिए करें।

लेखन-काल फ़रवरी–मई १९१४
'प्रोस्वेश्चेनिये',
अप्रैल–जून १९१४ के अंक ४, ५ तथा
६ में प्रकाशित
हस्ताक्षर: **व० इल्यीन**

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड २०, पृष्ठ ३६५–४२४

युद्ध और रूसी सामाजिक-जनवाद

यूरोपीय युद्ध, जिसके लिए सभी देशों की सरकारें तथा पूंजीवादी पार्टियां कई दशकों से तैयारी करती आ रही हैं, छिड़ गया है। शस्त्रास्त्रों में वृद्धि की, उन्नत देशों में पूंजीवादी विकास की नवीनतम साम्राज्यवादी अवस्था के युग में मंडियों के लिए संघर्ष के अत्यधिक उग्र रूप धारण कर लेने की और पूर्वी यूरोप के सबसे पिछड़े हुए राजतंत्रों के वंशगत हितों की परिणति अनिवार्य रूप से इस युद्ध में होनेवाली थी, और हुई। विदेशी राष्ट्रों की भूमि पर कब्ज़ा करना तथा उन्हें पराधीन बनाना, प्रतियोगिता करनेवाले राष्ट्र को तबाह करना तथा उसकी सम्पदा को लूटना, श्रमिक जनता का ध्यान रूस, जर्मनी, इंगलैंड तथा अन्य देशों के आंतरिक राजनीतिक संकटों की ओर से हटाना, मज़दूरों की एकता को भंग करना तथा उनके विचारों में राष्ट्रवाद का विष घोलना तथा सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलन को कमज़ोर करने के उद्देश्य से उसके हरावल दस्ते का नाम-निशान मिटा देना—यही वर्तमान युद्ध का एकमात्र असली मतलब, उसका सार-तत्व तथा उसका महत्व है।

युद्ध के इस वास्तविक अर्थ का रहस्योद्घाटन करने और युद्ध के समर्थन में शासक वर्गों, ज़मींदारों तथा पूंजीपति वर्ग द्वारा फैलायी जानेवाली झूठी बातों, उनके कुतर्कों तथा उनकी "देशभक्तिपूर्ण" लफ़्फ़ाज़ी का निर्ममता के साथ भंडाफोड़ करने का कर्त्तव्य मुख्यत: सामाजिक-जनवाद के कंधों पर है।

युद्धरत राष्ट्रों के एक दल का मुखिया जर्मनी का पूंजीपति वर्ग है। इस बात पर बार-बार ज़ोर देकर वह मज़दूर वर्ग तथा श्रमिक जनता को बेवक़ूफ़ बना रहा है कि वह यह लड़ाई पितृभूमि, स्वतंत्रता तथा सभ्यता की रक्षा के लिए, ज़ारशाही द्वारा उत्पीड़ित जातियों की मुक्ति के लिए, प्रतिक्रियावादी ज़ारशाही

को नष्ट करने के लिए चला रहा है। परंतु सच तो यह है कि यही पूंजीपति वर्ग, जो प्रशा के जंकरों[134] के आगे, जिनका मुखिया विल्हेल्म द्वितीय है, गिड़गिड़ाकर नाक रगड़ता है, हमेशा ज़ारशाही का अत्यंत वफ़ादार मित्र और रूस के मज़दूरों तथा किसानों के क्रांतिकारी आंदोलन का शत्रु रहा है। वास्तव में, इस युद्ध का नतीजा कुछ भी निकले, यह पूंजीपति वर्ग जंकरों के साथ मिलकर रूस में क्रांति के ख़िलाफ़ ज़ारशाही राजतंत्र का समर्थन करने में कोई कोशिश उठा न रखेगा।

वास्तव में, जर्मन पूंजीपति वर्ग ने सर्बिया को अपने अधीन करने और दक्षिणी स्लाव जातियों की जातीय क्रांति का गला घोंट देने के उद्देश्य से एक लूटमार की मुहिम शुरू कर दी है, और इसके साथ ही उसने अपने सैन्यबल का अधिकांश भाग बेल्जियम तथा फ़्रांस के अपेक्षतः अधिक स्वतंत्र देशों के ख़िलाफ़ झोंक दिया है ताकि वह अपने अधिक धनी प्रतियोगियों को लूट सके। यद्यपि जर्मन पूंजीपति वर्ग यह झूठा प्रचार कर रहा है कि वह प्रतिरक्षा का युद्ध लड़ रहा है पर वास्तव में उसने ऐसा समय चुना जो उसके ख़्याल से युद्ध के लिए सबसे सुविधाजनक था; उसने सैनिक प्रविधि में अपने नवीनतम सुधारों का लाभ उठाया और रूस तथा फ़्रांस को उन हथियारों को तैयार करने का मौक़ा ही नहीं दिया जिनकी योजनाएं बनायी जा चुकी थीं और जिनको बनाने का फ़ैसला किया जा चुका था।

युद्धरत राष्ट्रों के दूसरे दल का नेतृत्व ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के हाथों में है, जो बार-बार इस बात पर ज़ोर देकर मज़दूर वर्ग तथा श्रमिक जनता को बेवक़ूफ़ बना रहा है कि वह अपने देशों की रक्षा के लिए, जर्मनी के सैन्यवाद तथा निरंकुशता के विरुद्ध स्वतंत्रता तथा सभ्यता के लिए युद्ध कर रहा है। परंतु सच तो यह है कि यह पूंजीपति वर्ग यूरोप के सबसे प्रतिक्रियावादी तथा सबसे बर्बर राजतंत्र की, रूसी ज़ारशाही की, सेनाओं को भाड़े पर रखने तथा उन्हें जर्मनी पर आक्रमण करने के लिए तैयार करने के लिए बहुत समय से अरबों रुपये ख़र्च करता रहा है।

वास्तव में ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग के संघर्ष का उद्देश्य जर्मन उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा करना तथा एक ऐसे प्रतियोगी राष्ट्र को तबाह करना है जिसकी विशिष्टता यह है कि उसका आर्थिक विकास अधिक तेज़ी से

हो रहा है। और इस उदात्त लक्ष्य को पूरा करने की कोशिश में "उन्नत", "जनवादी" राष्ट्र पाशविक ज़ारशाही शासन को पोलैंड तथा उक्रइन आदि के गले का फंदा और कस देने और रूस में क्रांति को और पूरी तरह कुचल देने में सहायता दे रहे हैं।

युद्धरत देशों के इन दो दलों में से कोई भी लूटमार करने अत्याचार करने तथा युद्ध की असीम पाशविकताओं में दूसरे से पीछे नहीं है; परंतु सर्वहारा वर्ग को बेवक़ूफ़ बनाने के लिए और उसका ध्यान उस एकमात्र सच्चे आज़ादी के युद्ध की ओर से, यानी "स्वयं अपने" देश तथा "विदेशों" दोनों ही के पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध गृहयुद्ध की ओर से, हटाने के लिए, इस उदात्त लक्ष्य को बढ़ावा देने के लिए हर देश का पूंजीपति वर्ग देशभक्ति की झूठी बातों की सहायता से "स्वयं अपने" राष्ट्रीय युद्ध के महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने की कोशिश कर रहा है और वह बार-बार ज़ोर देकर कहता है कि वह शत्रु को परास्त करने की कोशिश लूटमार की ख़ातिर या शत्रु के इलाक़ों पर क़ब्ज़ा करने के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपनी जनता को छोड़कर, अन्य सभी जनताओं को "मुक्त कराने" के उद्देश्य से कर रहा है।

परंतु सभी देशों की सरकारें तथा पूंजीपति वर्ग मज़दूरों में फूट डालने तथा उन्हें आपस में भिड़ा देने की कोशिशें जितने ज़ोर-शोर के साथ करते हैं, और वे इस उदात्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए मार्शल-ला तथा फ़ौजी सेंसरशिप को जितनी सख़्ती से लागू करते हैं (जिन्हें इस समय भी, युद्ध के दौरान में भी, विदेशी शत्रु की अपेक्षा "देश के भीतर के" शत्रु के ख़िलाफ़ ज़्यादा सख़्ती से लागू किया जाता है), वर्ग-चेतन सर्वहारा वर्ग का यह कर्त्तव्य उतना ही ज़्यादा तात्कालिक हो जाता है कि वह अपनी वर्ग-एकता को, अपनी अंतर्राष्ट्रीयता को और अपनी समाजवादी विचारधाराओं को सभी देशों के "देशभक्तिपूर्ण" पूंजीवादी गुटों के अंधराष्ट्रवाद की विभीषिका से सुरक्षित रखे। इस कर्त्तव्य को त्याग देने का अर्थ यह होगा कि वर्ग-चेतन मज़दूरों ने, समाजवादी आकांक्षाओं की बात तो जाने दीजिये, अपनी समस्त मुक्ति की तथा जनवादी आकांक्षाओं को त्याग दिया है।

हमें बड़े क्षोभ के साथ कहना पड़ता है कि मुख्य यूरोपीय देशों की समाजवादी पार्टियों ने इस कर्त्तव्य को नहीं निभाया है, और इन पार्टियों के—

विशेष रूप से जर्मन पार्टी के—नेताओं का आचरण समाजवाद के लक्ष्य के साथ सरासर विश्वासघात करने के बराबर है। विश्व के इतिहास की इस सर्वोपरि महत्व की घड़ी में वर्तमान, दूसरी (१८८९-१९१४) समाजवादी इंटरनेशनल के अधिकांश नेता समाजवाद के स्थान पर राष्ट्रवाद को लाने की कोशिश कर रहे हैं। उनके आचरण के कारण इन देशों की मज़दूरों की पार्टियों ने सरकारों के अपराधपूर्ण आचरण का विरोध नहीं किया बल्कि मज़दूर वर्ग का आवाहन किया कि वह अपनी नीति को साम्राज्यवादी सरकारों की नीति **जैसा बना दे**। युद्ध-संबंधी ऋणों के पक्ष में वोट देकर, "स्वयं अपने" देशों के पूंजीपति वर्ग के अंधराष्ट्रवादी ("देशभक्तिपूर्ण") नारों का अनुमोदन करके, युद्ध को उचित ठहराकर तथा उसका समर्थन करके, युद्धरत देशों के पूंजीवादी मंत्रिमंडलों में शामिल होकर, तथा इसी तरह की अन्य बातों द्वारा इंटरनेशनल के नेताओं ने समाजवाद के साथ विश्वासघात किया है। आजकल के यूरोप के सबसे अधिक प्रभावशाली समाजवादी नेताओं के, सबसे अधिक प्रभावशाली समाजवादी अख़बारों के विचार समाजवादी विचार नहीं बल्कि अंधराष्ट्रवादी-पूंजीवादी तथा उदारवादी विचार हैं। इस प्रकार समाजवाद को कलंकित करने की ज़िम्मेदारी मुख्यत: जर्मन सामाजिक-जनवादियों पर है, जो दूसरी इंटरनेशनल की सबसे मज़बूत तथा सबसे प्रभावशाली पार्टी थ। परंतु हम फ़्रांसीसी समाजवादियों की हरकत को भी न्यायोचित नहीं ठहरा सकते, जिन्होंने उसी पूंजीपति वर्ग की सरकार में मंत्रि-पद स्वीकार किये जिसने अपने देश के साथ विश्वासघात किया था और कम्यून को कुचल देने के लिए बिस्मार्क के साथ गंठजोड़ कर लिया था।

जर्मनी तथा आस्ट्रिया के सामाजिक-जनवादी यह दलील देकर युद्ध के अपने समर्थन को उचित ठहराने की कोशिश करते हैं कि इस प्रकार वे रूसी ज़ारशाही के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं। हम, रूसी सामाजिक-जनवादी घोषणा करते हैं कि हम युद्ध के समर्थन को उचित ठहराने की ऐसी कोशिश को कोरा कुतर्क समझते हैं। पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में ज़ारशाही के विरुद्ध क्रांतिकारी आंदोलन ने एक बार फिर बहुत विशाल रूप धारण कर लिया है। इस आंदोलन का नेतृत्व हमेशा से रूसी मज़दूर वर्ग ने किया है। पिछले कुछ वर्षों में जो राजनीतिक हड़तालें हुईं जिनमें दसियों लाख मज़दूरों ने हिस्सा लिया उनका

नारा था: ज़ारशाही का तख़्ता उलटना और एक जनवादी जनतंत्र की स्थापना। युद्ध छिड़ने से फ़ौरन पहले फ़्रांसीसी जनतंत्र के राष्ट्रपति प्वाइंकारे जब निकोलाई द्वितीय से मिलने गये थे उस समय उन्हें पीटर्सबर्ग की सड़कों पर रूसी मज़दूरों के हाथों के बनाये हुए बैरीकेड देखने का मौक़ा मिला था। मानव-जाति को ज़ारशाही राजतंत्र के कलंक से मुक्त कराने के लिए रूसी सर्वहारा वर्ग ने कोई भी कुरबानी करने में संकोच नहीं किया है। परंतु हमें यह कहना पड़ता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में यदि कोई चीज़ ज़ारशाही के पतन में विलम्ब कर सकती है, यदि कोई चीज रूस के पूरे जनवाद के विरुद्ध उसके संघर्ष में ज़ारशाही की सहायता कर सकती है तो वह वर्तमान युद्ध है, जिसने ब्रिटिश, फ़्रांसीसी तथा रूसी पूंजीपति वर्ग की पूंजी को ज़ारशाही के प्रतिक्रियावादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसकी सेवा में लगा दिया है। और यदि कोई चीज़ ज़ारशाही के विरुद्ध रूसी मज़दूर वर्ग के क्रांतिकारी संघर्ष में बाधक हो सकती है तो वह जर्मन तथा आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी नेताओं का रवैया है, जिसे रूस के अंधराष्ट्रवादी अख़बार हमारे सामने निरंतर एक मिसाल के रूप में पेश करते हैं।

यदि हम इस बात को मान भी लें कि जर्मन सामाजिक-जनवाद इतना कमज़ोर था कि उसे कोई भी क्रांतिकारी क़दम न उठाने पर मजबूर होना पड़ा, तब भी उसे अंधराष्ट्रवाद के पक्ष में जाकर नहीं मिल जाना चाहिये था, उसे ऐसे क़दम नहीं उठाने चाहिये थे जिनके कारण इटली के समाजवादियों को सर्वथा उचित ही यह घोषणा करने पर मजबूर होना पड़ा कि जर्मन सामाजिक-जनवादियों के नेता सर्वहारा इंटरनेशनल के झंडे का अपमान कर रहे हैं।

हमारी पार्टी, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी ने इस युद्ध के संबंध में बहुत क़ुरबानियां की हैं और उसे अभी और क़ुरबानियां करनी पड़ेंगी। हमारे मज़दूरों के सारे क़ानूनी अख़बार बंद कर दिये गये हैं। मज़दूरों की अधिकांश यूनियनों पर पाबंदी लगा दी गयी है और बहुत बड़ी संख्या में हमारे साथियों को गिरफ़्तार किया गया है तथा निर्वासित कर दिया गया है। परंतु संसद में हमारे प्रतिनिधियों ने – राज्यीय दूमा में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के दल ने – इसे अपना अपरिहार्य समाजवादी कर्त्तव्य समझा कि वे युद्ध-संबंधी ऋणों के पक्ष में वोट न दें और अपने विरोध को और भी ज़ोरदार ढंग से व्यक्त करने के लिए वे दूमा से बाहर भी निकल आयें, उन्होंने यूरोपीय

सरकारों की नीति को साम्राज्यवादी नीति घोषित करना अपना कर्त्तव्य समझा। और इस बात के बावजूद कि ज़ार की सरकार का उत्पीड़न दस गुना बढ़ गया है, रूस के सामाजिक-जनवादी मज़दूरों ने युद्ध के विरुद्ध अपने प्रथम ग़ैर-क़ानूनी घोषणापत्र प्रकाशित करना शुरू भी कर दिया है और इस प्रकार वे जनवाद के प्रति तथा इंटरनेशनल के प्रति अपना कर्त्तव्य निभा रहे हैं।

जबकि जर्मन सामाजिक-जनवादियों के अल्पमत तथा निष्पक्ष देशों के श्रेष्ठतम सामाजिक-जनवादियों के रूप में क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के प्रतिनिधियों को दूसरी इंटरनेशनल के इस प्रकार ढह जाने पर लज्जा की एक तीव्र भावना का आभास है; जबकि इंगलैंड तथा फ़्रांस दोनों ही में सामाजिक-जनवादी पार्टियों के बहुमत के अंधराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ समाजवादियों द्वारा आवाज़ उठायी जा रही है; जबकि अवसरवादी, जिनका प्रतिनिधित्व, उदाहरण के लिए, 'समाजवादी मासिक' *(«Sozialistische Monatshefte»)*[135] नामक जर्मन पत्रिका करती है, जिसका रुख़ बहुत समय से राष्ट्रवादी-उदारवादी रहा है, न्यायोचित रूप से यूरोपीय समाजवाद पर अपनी विजय की ख़ुशियां मना रहे हैं – ऐसी दशा में सर्वहारा वर्ग को सबसे अधिक नुक़सान उन लोगों के कारण हो रहा है जो अवसरवाद तथा क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के बीच ढुलमुल रहते हैं (जैसे जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी का "मध्यपक्ष"), उन लोगों के कारण जो दूसरी इंटरनेशनल के ढह जाने की बात को दबा देने या उसे कूटनीतिक शब्दों की आड़ में छुपा देने की कोशिश करते हैं।

इसके विपरीत, इस ध्वंस को ईमानदारी के साथ स्वीकार कर लेना चाहिये और उसके कारणों को समझना चाहिये ताकि सभी देशों के मज़दूरों की एक नयी तथा अधिक स्थायी समाजवादी एकता का निर्माण किया जा सके।

अवसरवादियों ने स्टुटगार्ट[136], कोपेनहेगेन[137] तथा बैसेल[138] की कांग्रेसों के निर्णयों पर पानी फेर दिया है, जिनमें सभी देशों के समाजवादियों के लिए हर परिस्थिति में अंधराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ लड़ना लाज़िमी ठहराया गया था, जिनमें समाजवादियों के लिए यह लाज़िमी ठहराया गया था कि वे गृहयुद्ध तथा सामाजिक क्रांति के लिए प्रचंड प्रचार द्वारा पूंजीपति वर्ग तथा पूंजीवादी सरकारों द्वारा छेड़े जानेवाले हर युद्ध का मुक़ाबला करें। दूसरी इंटरनेशनल का ढहना अवसरवाद का ढहना है जो एक ऐसे (तथाकथित "शांतिपूर्ण") ऐतिहासिक

युग की विशिष्टताओं में से पैदा हुआ था जो अब बीत चुका है और इधर पिछले कुछ वर्षों से यही अवसरवाद इंटरनेशनल पर छाया रहा है। समाजवादी क्रांति को ठुकराकर और उसकी जगह पूंजीवादी सुधारवाद को देकर; वर्ग-संघर्ष का परित्याग करके, जो कुछ मौक़ों पर अनिवार्य रूप से गृहयुद्ध में परिवर्तित हो जाता है, और वर्ग-सहयोग का उपदेश देकर; देशभक्ति तथा पितृभूमि की रक्षा की आड़ में पूंजीवादी अंधराष्ट्रवाद का उपदेश देकर और समाजवाद के मूलभूत सत्य की उपेक्षा करके या उसका परित्याग करके, जिसे बहुत समय पहले 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में व्यक्त किया गया था, अर्थात् यह सत्य कि मज़दूरों का कोई देश नहीं होता; सैन्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में सभी देशों के पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध सभी देशों के सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी युद्ध की आवश्यकता को स्वीकार करने के बजाय अपने आपको केवल एक भावुकतापूर्ण कूपमंडूक दृष्टिकोण तक सीमित रखकर; पूंजीवादी संसद-पद्धति तथा पूंजीवाद के अंतर्गत क़ानूनी रूप से काम करने की स्वतंत्रता का फ़ायदा उठाने को, जो कि आवश्यक है, एक मंत्र की तरह पकड़कर और इस बात को भुलाकर कि संकट के काल में संगठन तथा प्रचार के ग़ैर-क़ानूनी रूप अनिवार्य हो जाते हैं—इन सब बातों के द्वारा अवसरवादी बहुत दिनों से इस ध्वंस के लिए ज़मीन तैयार करते आये हैं। वर्तमान संकट में अंधराष्ट्रवाद के नारों का समर्थन करके अवसरवाद के उस स्वाभाविक "पूरक" ने—जो उतना ही पूंजीवादी और सर्वहारा, अर्थात् मार्क्सवादी, दृष्टिकोण का उतना ही कट्टर विरोधी है—अर्थात् अराजकतावादी-सिंडीकेटवादी धारा ने, कम लज्जाजनक निश्चिंतता का परिचय नहीं दिया है।

दृढ़संकल्प होकर अवसरवाद से नाता तोड़े बिना और जन-साधारण को उसके दिवालियेपन की अनिवार्यता समझाये बिना इस समय समाजवाद के कामों को पूरा करना असंभव है, मज़दूरों की सच्ची अंतर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करना असंभव है।

स्वयं अपने देश के अंधराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ लड़ना हर देश के सामाजिक-जनवादियों का मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये। रूस में पूंजीवादी उदारवादी ("सांविधानिक-जनवादी") पूरी तरह और नरोदनिक—समाजवादी-क्रांतिकारियों तथा "दक्षिणपंथी" सामाजिक-जनवादियों तक—आंशिक रूप से इस अंधराष्ट्रवाद

के शिकार हैं। (विशेष रूप से, उदाहरण के लिए, ए० स्मिर्नोव, प० मास्लोव तथा ग० प्लेख़ानोव के उन अंधराष्ट्रवादी कथनों की भर्त्सना करना आवश्यक है जिनको पूंजीवादी "देशभक्त" अख़बार ले उड़े हैं और जिनका उन्होंने व्यापक रूप से उपयोग किया है।)

वर्तमान परिस्थितियों में अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से इस बात का पता लगाना असंभव है कि युद्धरत राष्ट्रों के दो दलों में से किस दल की हार समाजवाद के लिए कम हानिकारक होगी। परंतु हम रूसी सामाजिक-जनवादियों के लिए इस बात में ज़रा भी संदेह नहीं हो सकता कि रूस की सभी जातियों के मज़दूर वर्ग तथा श्रमिक जनता के दृष्टिकोण से ज़ारशाही राजतंत्र की पराजय कम हानिकारक होगी, जो तमाम सरकारों में सबसे प्रतिक्रियावादी और सबसे बर्बर है, जो सबसे अधिक राष्ट्रों का और यूरोप तथा एशिया की जनसंख्या के सबसे बड़े जन-समूह का उत्पीड़न कर रही है।

यूरोप के सामाजिक-जनवादियों का तात्कालिक राजनीतिक नारा यूरोप के एक जनतांत्रिक संयुक्त राज्य का निर्माण होना चाहिये, परंतु पूंजीपति वर्ग के प्रतिकूल, जो सर्वहारा वर्ग को अंधराष्ट्रवाद की आम धारा में खींच लाने के लिए किसी भी चीज़ का "वादा करने" को तैयार है, सामाजिक-जनवादी यह समझायेंगे कि जब तक जर्मनी, आस्ट्रिया तथा रूस के राजतंत्रों का तख़्ता क्रांतिकारी ढंग से नहीं उलटा जाता तब तक यह नारा बिल्कुल झूठा और निरर्थक है।

रूस में, इस बात को देखते हुए कि यह देश सबसे पिछड़ा हुआ है और वहां पूंजीवादी क्रांति अभी पूरी नहीं हुई है, सामाजिक-जनवादियों का काम अब तक की ही तरह यह है कि वे सुसंगत जनवादी सुधार के लिए आवश्यक तीन मूलभूत शर्तों को पूरा करें, यानी एक जनवादी जनतंत्र की स्थापना हो (जिस में सभी राष्ट्रों के बीच पूर्ण समानता हो और उन्हें आत्म-निर्णय का अधिकार हो), बड़ी-बड़ी जागीरें ज़ब्त की जायें और दिन में ८ घंटे काम लिया जाये। परंतु सभी उन्नत देशों में युद्ध ने समाजवादी क्रांति के नारे को तात्कालिक लक्ष्य बना दिया है, और सर्वहारा वर्ग के कंधों पर युद्ध का बोझ जितना ही बढ़ता जाता है और बड़े पैमाने के पूंजीवाद की विशाल प्राविधिक प्रगति के बीच वर्तमान "देशभक्तिपूर्ण" बर्बरता की विभीषिका के बाद यूरोप

के पुनरुत्थान में उसे जितना ही अधिक सक्रिय रूप से भाग लेना पड़ता है, यह नारा उतना ही तात्कालिक महत्व धारण करता जाता है। इस बात के कारण कि पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग का गला बिल्कुल घोंट देने के लिए युद्धकालीन क़ानूनों का सहारा ले रहा है, सर्वहारा वर्ग के लिए यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि वह आंदोलन तथा संगठन के ग़ैर-क़ानूनी रूपों की रचना करे। अवसरवादियों को अपने विचारों के साथ ग़द्दारी करके क़ानूनी संगठनों का "संरक्षण" करने दीजिये, क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी समाजवाद के लिए लड़ने के ऐसे ग़ैर-क़ानूनी रूपों की रचना करने के लिए, जो संकट के युग के लिए उपयुक्त हों, और अपने-अपने देशों के अंधराष्ट्रवादी पूंजीपति वर्ग के साथ नहीं बल्कि सभी देशों के मज़दूरों की एकता स्थापित करने के लिए मज़दूर वर्ग के संगठनात्मक प्रशिक्षण तथा उसके संबंधों का सदुपयोग करेंगे। सर्वहारा इंटरनेशनल नष्ट नहीं हुई है और वह नष्ट होगी भी नहीं। समस्त बाधाओं के बावजूद आम मज़दूर एक नयी इंटरनेशनल को जन्म देंगे। अवसरवादियों की वर्तमान विजय बहुत थोड़े समय के लिए ही है। युद्ध के कारण जितनी अधिक क़ुरबानियां देनी पड़ेंगी, उतनी ही ज़्यादा हद तक आम मज़दूरों के लिए यह बात स्पष्ट होती जायेगी कि अवसरवादियों ने मज़दूरों के ध्येय के साथ विश्वासघात किया है और यह कि हथियारों का रुख़ हर देश की सरकार तथा पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ मोड़ दिया जाना चाहिये।

वर्तमान साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदल देना एकमात्र सही सर्वहारा नारा है, कम्यून के अनुभव में इसी का संकेत मिला था और बैसेल के प्रस्ताव (१९१२) में इसी की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी, और अत्यधिक विकसित पूंजीवादी देशों के बीच साम्राज्यवादी युद्ध की सभी परिस्थितियों का तर्कसंगत निष्कर्ष भी यही नारा है। किसी समय विशेष पर यह रूपांतरण कितना ही कठिन क्यों न प्रतीत होता हो, परंतु युद्ध के एक वास्तविकता बन जाने के बाद समाजवादी इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए सुव्यवस्थित, निरंतर तथा अडिग रूप से तैयारी करने के काम से कभी हाथ नहीं खींचेंगे।

केवल इसी प्रकार सर्वहारा वर्ग अंधराष्ट्रवादी पूंजीपति वर्ग पर अपनी निर्भरता से छुटकारा पा सकता है, और किसी न किसी रूप में ज़्यादा या कम

तेज़ी के साथ, जनताओं की सच्ची स्वतंत्रता की ओर, समाजवाद की ओर निर्णायक कदम उठा सकता है।

सभी देशों के पूंजीपति वर्ग के अंधराष्ट्रवाद तथा देशभक्ति के विरुद्ध मज़दूरों का अंतर्राष्ट्रीय भाईचारा चिरजीवी हो!

अवसरवाद से मुक्त सर्वहारा इंटरनेशनल चिरजीवी हो!

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति

लेखन-काल २८ सितम्बर (११ अक्तूबर) १९१४ से पहले

'सोत्सिअल-देमोक्रात' के अंक ३३, १ नवम्बर, १९१४ में प्रकाशित किया गया

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २१, पृष्ठ ९–१८

वृहत्तर रूसियों का राष्ट्रीय गर्व

जाति के बारे में, पितृभूमि के बारे में कितनी चर्चा, कितनी बहस और कितना शोर-गुल हो रहा है! इंगलैंड के उदारवादी तथा उग्रवादी मंत्रिगण, फ़्रांस में "उन्नत" पत्रकारों का एक पूरा समुदाय (जो प्रतिक्रियावादी पत्रकारों से पूरी तरह सहमत सिद्ध होते हैं), रूस में अनेक सरकारी, कैडेट तथा प्रगतिवादी लेखक (जिनमें कई नरोदनिक तथा "मार्क्सवादी" भी शामिल हैं) – ये सब लोग हज़ारों स्वरों से अपने "देश" की आज़ादी तथा स्वतंत्रता का, जातीय स्वतंत्रता के सिद्धांत के गौरव का गुणगान करते हैं। इसमें यह पता लगाना कठिन हो गया है कि जल्लाद निकोलाई रोमानोव का, या हबशियों को या भारतवासियों को यातनाएं देनेवालों का भाड़े का ढिंढोरची कहां पर ख़तम होता है और कहां से वह साधारण कूपमंडूक शुरू होता है जो अपनी मूर्खता या ढीलेपन के कारण "धारा के साथ" बह रहा है। और यह बात कोई महत्त्व भी नहीं रखती। हम एक बहुत व्यापक तथा बहुत गहरी विचारधारा देखते हैं, जिसकी जड़ें बहुत मजबूती के साथ बड़ी ताक़तों वाले राष्ट्रों के ज़मींदार तथा पूंजीपति महानुभावों के हितों के साथ सम्बद्ध हैं। उस प्रचार पर, जो इन वर्गों के लिए हितकर होता है, हर साल करोड़ों की रक़म ख़र्च की जाती है: यह कोई छोटा चक्कर नहीं है, मेनशिकोव से लेकर, जो अंधराष्ट्रवाद में दृढ़ विश्वास रखते हैं, प्लेख़ानोव, मास्लोव, रुबानोविच, स्मिर्नोव, क्रोपोत्किन तथा बूर्त्सेव जैसे उन लोगों तक जो अपनी अवसरवादिता या ढीलेपन के कारण अंधराष्ट्रवादी हैं, सभी लोग इसमें अपना-अपना योग देते हैं।

आइये, हम वृहत्तर रूसी सामाजिक-जनवादी भी इस विचारधारा की तरफ़ अपना रवैया निर्धारित करने की कोशिश करें। यूरोप के सुदूर पूर्व तथा एशिया के काफ़ी बड़े भाग की एक बड़ी ताक़त के प्रतिनिधि होने के नाते हमें यह शोभा नहीं देता कि हम जातियों के प्रश्न के महत्व को – विशेष रूप से एक ऐसे देश में जिसे "जातियों का कारागार" ठीक ही कहा गया है – ऐसे समय पर भुला दें जबकि यूरोप के सुदूर पूर्व तथा एशिया में ही पूंजीवाद अनेक "नयी" बड़ी तथा छोटी जातियों में जीवन तथा चेतना का संचार कर रहा है; ऐसे समय पर जबकि ज़ारशाही राजतंत्र ने अनेक जातीय प्रश्नों को संयुक्त अभिजात वर्ग परिषद के, और गुचकोव तथा क्रेस्तोवनिकोव, दोल्गोरूकोव, कुटलर तथा रोदीचेव जैसे लोगों के, हितों के अनुसार "तै करने" के उद्देश्य से लाखों वृहत्तर रूसियों तथा "ग़ैर-रूसियों" को हथियारबंद कर दिया है।

क्या हम वृहत्तर रूसी, वर्ग-चेतन सर्वहारागण, राष्ट्रीय गर्व की भावना से अपरिचित हैं? कदापि नहीं! हम अपनी भाषा और अपने देश से प्रेम करते हैं, हम **उसकी** श्रमिक जनता को (अर्थात् **उसकी** आबादी के नव्वे प्रतिशत भाग को) जनवादियों तथा समाज़वादियों के सचेतन जीवन के स्तर तक ऊंचा उठाने के लिए औरों से ज़्यादा काम कर रहे हैं। ज़ारशाही जल्लाद, बड़े-बड़े सामंत और पूंजीपति हमारे शानदार देश को जिस अत्याचार, उत्पीड़न तथा अपमान का शिकार बना रहे हैं उसे देखकर तथा उसे अनुभव करके हमें औरों से ज़्यादा तकलीफ़ होती है। हमें इस बात पर गर्व है कि इन अत्याचारों ने हमारे अंदर, वृहत्तर रूसियों के अंदर, विरोध की भावना जागृत कर दी है, हमें गर्व है कि **इन्हीं के** बीच से रदीश्चेव जैसे लोग, दिसम्बरवादी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक के क्रांतिकारी-राज़्नोचीन्त्सी पैदा हुए, हमें गर्व है कि १९०५ में वृहत्तर रूसी मज़दूर वर्ग ने एक शक्तिशाली क्रांतिकारी जन-पार्टी का निर्माण किया, हमें गर्व है कि उसी समय वृहत्तर रूसी किसान भी जनवादी बनने लगा और उसने पादरियों तथा ज़मींदारों का तख़्ता उलटना आरंभ कर दिया।

हमें याद है कि अबसे पचास वर्ष पहले वृहत्तर रूसी जनवादी चेर्निशेव्स्की ने अपना जीवन क्रांति के ध्येय के लिए अर्पित करते हुए कहा था: "एक बदनसीब राष्ट्र, गुलामों का राष्ट्र, ऊपर से नीचे तक – सब गुलाम।"[139] वृहत्तर रूसी गुलाम (ज़ारशाही राजतंत्र के गुलाम), जो गुलाम होने का दावा करते हैं वे भी और

जो दावा नहीं करते वे भी, इन शब्दों को याद करना पसंद नहीं करते। फिर भी, हमारी राय में, ये शब्द हमारे देश के प्रति सच्चे प्रेम के शब्द थे, ऐसा प्रेम जिसमें वृहत्तर रूसी जन-साधारण के बीच क्रांतिकारी भावना के अभाव के कारण एक वेदना का भाव मिल गया था। उस समय यह भावना बिल्कुल थी ही नहीं। अब भी यह भावना बहुत थोड़ी है, पर है। हमारे हृदय जातीय गर्व की भावना से परिपूर्ण हैं क्योंकि वृहत्तर रूसी राष्ट्र ने एक क्रांतिकारी वर्ग को **भी** जन्म दिया है, उसने यह **भी** सिद्ध कर दिया है कि वह मानव-जाति को केवल यहूदियों के नरमेध, फांसियों की क़तारों, जेलख़ानों, भयंकर अकालों और पादरियों, ज़ारों, ज़मींदारों तथा पूंजीपतियों की दिन-रात जी-हुज़ूरी करने के उदाहरण ही नहीं बल्कि स्वतंत्रता के लिए तथा समाजवाद के लिए संघर्ष करने के महान उदाहरण भी प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है।

हमारे हृदय जातीय गर्व की भावना से परिपूर्ण हैं, और इसी कारण हम **विशेष रूप से अपने** पिछले दासों जैसे जीवन से (जब हंगरी, पोलैंड, फ़ारस तथा चीन की स्वतंत्रता को कुचल देने के लिए अभिजात वर्गीय ज़मींदार किसानों को युद्ध में झोंक देते थे), और अपने दासों जैसे वर्तमान जीवन से घृणा करते हैं, जबकि यही ज़मींदार पूंजीपतियों की सहायता से पोलैंड तथा उक्रइन का गला घोंट देने के लिए, फ़ारस तथा चीन के जनवादी आंदोलन को कुचल देने के लिए, और रोमानोव, बोब्रिंस्की तथा पुरिश्केविच जैसे उन लोगों के गिरोह को, जो हमारे वृहत्तर रूसी जातीय गर्व को कलंकित कर रहे हैं, मज़बूत करने के लिए हमें युद्ध की ओर खींचे लिये जा रहे हैं। यदि कोई मनुष्य जन्म से दास हो तो इसमें उसका कोई दोष नहीं, परंतु यदि कोई दास ऐसा हो जो न केवल स्वतंत्रता की चेष्टा से घृणा करता हो बल्कि अपनी दासता को उचित ठहराता हो और उसपर मुलम्मा चढ़ाने की कोशिश करता हो (उदाहरण के लिए पोलैंड, उक्रइन, आदि का गला घोंट देने को वृहत्तर रूसियों की "पितृभूमि की रक्षा" कहता हो) – ऐसा दास नीच तथा ओछा है, जिसके प्रति क्रोध, तिरस्कार तथा घृणा जागृत होना उचित ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के सुसंगत जनवाद के महानतम प्रतिनिधियों ने, मार्क्स तथा एंगेल्स ने, जो क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के शिक्षक बने, कहा था, "यदि कोई जाति दूसरी जातियों का उत्पीड़न करती है तो वह स्वतंत्र नहीं हो सकती"।[140]

ग्रौर जातीय गर्व की भावना से परिपूर्ण हम वृहत्तर रूसी मज़दूर हर क़ीमत पर एक ग्राज़ाद तथा स्वतंत्र, जनवादी , जनतांत्रिक, गर्वीला वृहत्तर रूस चाहते हैं जो ग्रपने पड़ोसियों के साथ ग्रपने संबंधों को विशेषाधिकार के सामंती सिद्धांत पर नहीं जो कि एक महान राष्ट्र के लिए ग्रपमानजनक बात है, बल्कि समता के मानवोचित सिद्धांत पर ग्राधारित करेगा। ठीक इसी लिए कि हम ऐसी बात चाहते हैं हम यह कहते हैं: बीसवीं शताब्दी में, यूरोप में (सुदूर पूर्वी यूरोप में भी) स्वयं **ग्रपनी** पितृभूमि के राजतंत्र, ज़मींदारों तथा पूंजीपतियों के ख़िलाफ़, ग्रर्थात् ग्रपने देश के **बदतरीन** शत्रुग्रों के ख़िलाफ़, हर क्रांतिकारी साधन से लड़ने के ग्रलावा किसी दूसरे ढंग से "पितृभूमि की रक्षा" करना ग्रसंभव है, कि वृहत्तर रूसी उस समय तक "ग्रपनी पितृभूमि की रक्षा" नहीं कर सकते जब तक वे हर युद्ध में ज़ारशाही की पराजय की इच्छा न करें, क्योंकि वृहत्तर रूस की नब्बे प्रतिशत ग्राबादी के लिए यही बात सबसे कम बुरी होगी; क्योंकि ज़ारशाही इस नब्बे प्रतिशत ग्राबादी का ग्रार्थिक तथा राजनीतिक रूप से उत्पीड़न ही नहीं कर रही है बल्कि वह उन्हें दूसरी जातियों का उत्पीड़न करना सिखाकर, मक्कारी तथा तथाकथित देशभक्ति की बातों की सहायता से ग्रपने कलंक को छुपाना सिखाकर उनके मनोबल को नष्ट कर रही है, उन्हें पतित कर रही है, उनको ग्रपमानित कर रही है तथा उन्हें भ्रष्ट कर रही है।

हो सकता है कि हमसे कहा जाये कि ज़ारशाही के ग्रलावा, ग्रौर उसकी छत्रछाया में, एक दूसरी ऐतिहासिक शक्ति उभरी है तथा मज़बूत हुई है, वह शक्ति है वृहत्तर रूसी पूंजीवाद, जो विस्तृत क्षेत्रों को ग्रार्थिक दृष्टि से केंद्रीकृत तथा एकबद्ध करके प्रगतिशील काम कर रहा है। परंतु इस ग्रापत्ति से समाजवादी-ग्रंधराष्ट्रवादियों का ग्रपराध क्षमा नहीं होता बल्कि उल्टे यह ग्रारोप उनपर ग्रौर भी दृढ़ रूप से लगता है; हमें इन लोगों को ज़ारशाही-पुरिश्केविच समाजवादी कहना चाहिये (उसी प्रकार जैसे मार्क्स लासालवादियों[141] को शाही-प्रशाई समाजवादी कहते थे)। हम इस बात को माने लेते हैं कि इतिहास इस प्रश्न का फ़ैसला वृहत्तर रूसी महादेशीय पूंजीवाद के पक्ष में ग्रौर सैकड़ों छोटी-छोटी जातियों के ख़िलाफ़ करेगा। यह बात ग्रसंभव नहीं है क्योंकि पूंजी का पूरा इतिहास हिंसा तथा लूट, रक्तपात तथा कीचड़ उछालने का इतिहास है। हम हर क़ीमत पर छोटी-छोटी जातियों को ज्यों का त्यों बनाये रखने के पक्ष में नहीं हैं, **यदि**

और सब परिस्थितियां समान हों तो हम केंद्रीकरण के बिल्कुल पक्ष में हैं और संघीय संबंधों के कूपमंडूक आदर्श के विरोधी हैं। परंतु जिस बात को हमने थोड़ी देर के लिए मान लिया है उस उदाहरण में भी, सबसे पहली बात तो यह कि यह हमारा काम नहीं है, यह (समाजवादियों की बात तो जाने दीजिये) जनवादियों का काम नहीं है कि हम उक्रइन आदि का गला घोंटने में रोमानोव-बोब्रिंस्की-पुरिश्केविच की सहायता करें। बिस्मार्क ने अपने, बड़े-बड़े जागीरदारों के, ढंग से एक प्रगतिशील काम किया था, परंतु वह भी सचमुच कमाल का "मार्क्सवादी" होगा जो इस आधार पर बिस्मार्क को समाजवादी समर्थन प्रदान करने को उचित ठहराये! इतना ही नहीं, बिस्मार्क ने उन बिखरे हुए जर्मनों को एकबद्ध करके, जिनका उत्पीड़न दूसरे राष्ट्र कर रहे थे, आर्थिक विकास में सुविधा पहुंचायी। परंतु वृहत्तर रूस की आर्थिक समृद्धि तथा उसके तीव्र विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश को उस हिंसा से मुक्त किया जाये जो वृहत्तर रूसी दूसरी जातियों के साथ बरतते हैं—लगभग बिस्मार्क जैसे ठेठ रूसियों के हमारे प्रशंसक इस अंतर को भूल जाते हैं।

दूसरी बात यह कि यदि इतिहास का फ़ैसला वृहत्तर रूसी महादेशीय पूंजीवाद के पक्ष में भी हुआ तो उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पूंजीवाद जिस कम्युनिस्ट क्रांति को जन्म देगा उसकी मुख्य प्रेरक शक्ति के रूप में वृहत्तर रूसी सर्वहारा वर्ग की **समाजवादी** भूमिका और भी बढ़ जायेगी। और सर्वहारा क्रांति के लिए इस बात की आवश्यकता है कि मज़दूरों को **पूर्णतम** जातीय समानता तथा भ्रातृत्व की भावना के अनुसार दीर्घकाल तक शिक्षा दी जाये। इसलिए वृहत्तर रूसी सर्वहारा वर्ग के ही हितों के दृष्टिकोण से जन-साधारण की इस दीर्घकालीन शिक्षा की आवश्यकता है ताकि वे अत्यंत दृढ़तापूर्वक, डटकर, साहस के साथ तथा क्रांतिकारी ढंग से पूर्ण समानता तथा वृहत्तर रूसियों द्वारा उत्पीड़ित सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के लिए लड़ सकें। वृहत्तर रूसियों के राष्ट्रीय गर्व के हित (दासों वाले अर्थ में नहीं) और वृहत्तर रूसी (और अन्य सभी) सर्वहारागण के **समाजवादी** हित बिल्कुल एक ही हैं। हम मार्क्स को हमेशा अपना आदर्श मानेंगे, जो कई दशाब्दियों तक इंगलैंड में रहने के कारण आधे अंग्रेज़ हो गये थे और इंगलैंड के मज़दूरों के समाजवादी आंदोलन के हित में आयरलैंड की आज़ादी तथा जातीय स्वतंत्रता की मांग करते थे।

वह बादवाली बात जिसे हमने थोड़ी देर को मान लिया है, उसमें भी हमारे देसी समाजवादी-अंधराष्ट्रवादी, प्लेख़ानोव, आदि, आदि, केवल अपने देश के प्रति ही, स्वतंत्र तथा जनवादी वृहत्तर रूस के प्रति ही, ग़द्दार साबित नहीं होंगे, बल्कि वे रूस की समस्त जातियों की सर्वहारा बिरादरी के प्रति भी, अर्थात् समाजवाद के लक्ष्य के प्रति भी, ग़द्दार साबित होंगे।

'सोत्सिअल-देमोक्रात', अंक ३५,
१२ दिसम्बर, १९१४

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड २१, पृष्ठ ८४–८८

यूरोप के संयुक्त राज्य का नारा

'सोत्सिअल-देमोक्रात'[142] के ४०वें अंक में हमने यह ख़बर छापी थी कि हमारी पार्टी के विदेश-स्थित हिस्सों के सम्मेलन[143] में "यूरोप के संयुक्त राज्य" के नारे का प्रश्न उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया गया जब तक अख़बारों में इस प्रश्न के **आर्थिक** पहलू पर विचार न कर लिया जाये।

हमारे सम्मेलन में इस प्रश्न पर जो बहस हुई उसने एकतरफ़ा राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया। शायद इसका कारण आंशिक रूप से यह था कि केंद्रीय समिति के घोषणापत्र में इस नारे का प्रतिपादन सीधे-सीधे एक राजनीतिक नारे के रूप में किया गया था (उसमें कहा गया है "तात्कालिक **राजनीतिक** नारा..."), उसमें केवल यूरोप के जनतांत्रिक संयुक्त राज्य का नारा ही नहीं दिया गया था बल्कि साफ़-साफ़ शब्दों में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि जब तक "जर्मनी, आस्ट्रिया तथा रूस के राजतंत्रों का तख़्ता क्रांतिकारी ढंग से न उलट दिया जाये" तब तक यह नारा निरर्थक और झूठा है।

प्रश्न के इस ढंग से प्रस्तुत किये जाने पर इस विशेष नारे के **केवल** राज-नीतिक मूल्यांकन के दृष्टिकोण से आपत्ति करना – उदाहरण के लिए यह आपत्ति कि यह नारा समाजवादी क्रांति के नारे पर परदा डाल देता है या उसे कमज़ोर बना देता है – बिल्कुल ग़लत होगा। सचमुच जनवादी दिशा में होनेवाले राजनीतिक परिवर्तन, और उनसे भी ज़्यादा राजनीतिक क्रांतियां, समाजवादी क्रांति के नारे पर कभी भी, और किसी भी हालत में, न तो परदा डाल सकती हैं न उसको कमज़ोर बना सकती हैं। इसके विपरीत वे हमेशा उसे निकटतर लाती हैं, उसके आधार को अधिक व्यापक बनाती हैं, निम्न-पूंजीपति वर्ग तथा अर्द्ध-सर्वहारा जन-

साधारण के नये हिस्सों को समाजवादी संघर्ष की ओर लाती हैं। दूसरी ओर, समाजवादी क्रांति के दौरान में राजनीतिक क्रांतियां अनिवार्य होती हैं; समाजवादी क्रांति को किसी एक अकेली क्रिया के रूप में नहीं बल्कि विप्लवकारी राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल के, उग्रतम वर्ग-संघर्ष, गृहयुद्ध, क्रांतियों तथा प्रतिक्रांतियों के युग के रूप में देखना चाहिये।

परंतु यूरोप के जनतांत्रिक संयुक्त राज्य का नारा, जिसके साथ ही यूरोप के तीन सबसे प्रतिक्रियावादी राजतंत्रों का, जिनमें रूसी राजतंत्र सबसे प्रमुख है, क्रांतिकारी ढंग से तख़्ता उलटने का सवाल भी जोड़ देना चाहिये, एक राजनीतिक नारे के रूप में बिल्कुल अखंडनीय है, परंतु फिर भी उसके आर्थिक तात्पर्य तथा महत्व का अत्यंत महत्वपूर्ण सवाल रह जाता है। साम्राज्यवाद की आर्थिक परिस्थितियों के दृष्टिकोण से—अर्थात् पूंजी के निर्यात तथा इस बात के दृष्टिकोण से कि दुनिया को "उन्नत" तथा "सभ्य" औपनिवेशिक ताक़तों ने आपस में बांट लिया है—यूरोप का संयुक्त राज्य, पूंजीवाद के आधीन, या तो असंभव है या प्रतिक्रियावादी।

पूंजी अंतर्राष्ट्रीय तथा इजारेदार हो गयी है। दुनिया का बंटवारा इनी-गिनी बड़ी ताक़तों के बीच हो गया है—अर्थात् उन ताक़तों के बीच जो बड़े पैमाने पर जातियों को लूटने-मारने तथा उनका उत्पीड़न करने में सफल हुई हैं। यूरोप की चार बड़ी ताक़तों के, इंगलैंड, फ़्रांस, रूस तथा जर्मनी के, कब्ज़े में, जिनकी आबादी २५,००,००,००० से ३०,००,००,००० तक और क्षेत्रफल लगभग ७०,००,००० वर्ग किलोमीटर है, जो उपनिवेश हैं उनकी आबादी **लगभग आधा अरब** (४९,४५,००,०००) और क्षेत्रफल ६,४६,००,००० वर्ग किलोमीटर है, अर्थात् पूरी पृथ्वी के क्षेत्रफल (आर्कटिक प्रदेश को छोड़कर १३,३०,००,००० वर्ग किलोमीटर) का लगभग आधा। इसमें तीन एशियाई राज्यों को—चीन, तुर्की तथा फ़ारस—और जोड़ दीजिये; इस समय जापान, रूस, इंगलैंड तथा फ़्रांस के लुटेरे, जिन्होंने "मुक्ति" का युद्ध छेड़ रखा है, इन तीनों राज्यों के टुकड़े-टुकड़े किये दे रहे हैं। एशिया के इन तीन राज्यों में, जिन्हें अर्द्ध-उपनिवेश कहा जा सकता है (वास्तव में वे अब नव्वे प्रतिशत हद तक उपनिवेश हैं), ३६,००,००,००० लोग रहते हैं और उनका क्षेत्रफल १,४५,००,००० वर्ग किलोमीटर है (पूरे यूरोप के क्षेत्रफल के लगभग ड्योढ़े के बराबर)।

इसके अलावा, इंगलैंड, फ़्रांस तथा जर्मनी ने विदेशों में कम से कम ७० अरब रूबल की पूंजी लगा रखी है। इस मोटी रक़म से "न्यायोचित" मुनाफ़ा कमाने का काम – प्रतिवर्ष ३ अरब रूबल से अधिक का मुनाफ़ा होता है – करोड़पतियों की राष्ट्रीय समितियां करती हैं, जिन्हें सरकारें कहा जाता है, जो सेनाओं तथा नौ-सेनाओं से लैस हैं और जो "करोड़ महोदय" के बेटों तथा भाइयों को उपनिवेशों तथा अर्द्ध-उपनिवेशों में वाइसरायों, राजदूतों, उप-राजदूतों तथा तरह-तरह के पदाधिकारियों, पादरियों और इसी प्रकार की दूसरी जोंकों के रूप में भेजते हैं।

पूंजीवाद के उच्चतम विकास के युग में इनी-गिनी बड़ी ताक़तों के हाथों पृथ्वी की लगभग एक अरब आबादी की लूट इस ढंग से संगठित की जाती है। पूंजीवाद के अंतर्गत और कोई संगठन संभव ही नहीं है। क्या वे ताक़तें उपनिवेशों को, "प्रभाव-क्षेत्रों" को, पूंजी के निर्यात को त्याग दें? इस बात को संभव समझने का मतलब उस टुटपुंजिये पादरी के स्तर पर उतर आना है जो हर रविवार को अमीरों को ईसाई-मत के उच्च सिद्धांतों का उपदेश देता है और उन्हें परामर्श देता है कि वे हर साल यदि करोड़ों नहीं तो कमसे कम सैकड़ों रूबल ग़रीबों को दे दिया करें।

पूंजीवाद के अंतर्गत यूरोप के संयुक्त राज्य का मतलब है उपनिवेशों को आपस में बांट लेने का समझौता। परंतु पूंजीवाद के अंतर्गत बल-प्रयोग के अतिरिक्त बंटवारे का कोई और आधार, कोई और सिद्धांत संभव नहीं है। करोड़पति किसी भी पूंजीवादी देश की "राष्ट्रीय आय" में इसके अलावा किसी दूसरे आधार पर साझा नहीं कर सकता कि जिसने जितनी पूंजी लगायी हो उसे उसी अनुपात से हिस्सा मिले (थोड़ा-सा फ़ालतू बोनस और दे दिया जाये, ताकि जिसने सबसे ज्यादा पूंजी लगायी है उसे अपने हक़ से कुछ ज्यादा ही मिल जाये)। उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व और उत्पादन में अराजकता का ही नाम पूंजीवाद है। ऐसे आधार पर आय के "न्यायोचित" बंटवारे का उपदेश देना प्रूदोंवाद[144] है, मूर्खतापूर्ण कूपमंडूकता है। "बल के अनुपात" के अलावा और किसी तरीक़े से बंटवारा नहीं हो सकता। और बल आर्थिक विकास की प्रगति के साथ बदलता रहता है। १८७१ के बाद जर्मनी की ताक़त इंगलैंड तथा फ़्रांस के मुक़ाबले में तिगुनी या चौगुनी तेज़ी के साथ बढ़ी; जापान की ताक़त रूस के मुक़ाबले में कोई दस गुनी तेज़ी

के साथ बढ़ी। किसी भी पूंजीवादी राज्य की असली ताक़त को परखने का युद्ध के अलावा न तो कोई तरीक़ा है न हो सकता है। युद्ध निजी सम्पत्ति के सिद्धांतों का खंडन नहीं करता—बल्कि उल्टे वह इन सिद्धांतों का प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य परिणाम है। पूंजीवाद के अंतर्गत अलग-अलग कारोबारों, या अलग-अलग राज्यों का समान रूप से आर्थिक विकास असंभव है। थोड़े-थोड़े समय बाद जो संतुलन बिगड़ जाता है उसे ठीक करने के लिए पूंजीवाद के अंतर्गत, उद्योगों में संकटों और राजनीति के क्षेत्र में युद्धों के अलावा और कोई उपाय नहीं है।

पूंजीपतियों के बीच तथा विभिन्न ताक़तों के बीच **अस्थायी** समझौते तो संभव हैं। इस अर्थ में **यूरोप** के पूंजीपतियों के बीच एक समझौते के रूप में तो यूरोप का संयुक्त राज्य संभव है... परंतु किस उद्देश्य से? केवल मिलकर यूरोप में समाजवाद को कुचलने के लिए, मिलकर लूट के उपनिवेशों की जापान तथा अमरीका **के ख़िलाफ़** रक्षा करने के लिए, जो यह अनुभव करते हैं कि उपनिवेशों का जो वर्तमान बंटवारा है उसमें उनके साथ बेइंसाफ़ी हुई है, और जो पिछले पचास वर्षों में पिछड़े हुए राजतांत्रिक यूरोप के मुक़ाबले में, जो बुढ़ापे के कारण कमज़ोर पड़ने लगा है, बहुत ज़्यादा तेज़ी के साथ बढ़े हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के मुक़ाबले में पूरा यूरोप आर्थिक गतिरोध का द्योतक है। वर्तमान आर्थिक आधार पर, अर्थात् पूंजीवाद के अंतर्गत, यूरोप के संयुक्त राज्य का मतलब होगा अमरीका के और भी तीव्र विकास को धीमा करने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियों को संगठित करना। वह ज़माना हमेशा के लिए लद गया जब जनवाद तथा समाजवाद के लक्ष्य का संबंध केवल यूरोप के साथ था।

विश्व का (अकेले यूरोप का नहीं) संयुक्त राज्य राष्ट्रों के संघ तथा उनकी स्वतंत्रता का वह राज्यीय रूप है जिसका संबंध हम समाजवाद के साथ जोड़ते हैं—उस समय तक जब तक कि साम्यवाद की पूर्ण विजय के फलस्वरूप राज्य का, जिसमें जनवादी राज्य भी शामिल है, सर्वथा लोप न हो जाये। परंतु एक अलग नारे के रूप में विश्व के संयुक्त राज्य का नारा पहले तो इसलिए सही नहीं होगा कि वह समाजवाद में मिलकर एक हो जाता है; दूसरे इसलिए कि इसका यह ग़लत अर्थ भी लगाया जा सकता है कि अकेले एक देश में समाजवाद की विजय संभव नहीं है और इससे अन्य देशों के साथ इस प्रकार के देश के संबंधों के बारे में ग़लत धारणाएं उत्पन्न हो सकती हैं।

असमान आर्थिक तथा राजनीतिक विकास पूंजीवाद का एक अटल नियम है। इसलिए पहले समाजवाद की विजय कई पूंजीवादी देशों में, या अकेले एक पूंजीवादी देश में भी संभव है। उस देश का विजयी सर्वहारा वर्ग, उस देश के पूंजीपतियों से उनका सब कुछ छीनकर तथा स्वयं अपने समाजवादी उत्पादन को संगठित करके, बाक़ी दुनिया के **ख़िलाफ़**, पूंजीवादी दुनिया के ख़िलाफ़, डट जायेगा, अन्य देशों के उत्पीड़ित वर्गों को अपने ध्येय की ओर आकर्षित करेगा, उन देशों में पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करवायेगा, और आवश्यकता पड़ने पर शोषक वर्गों तथा उनके राज्यों के ख़िलाफ़ हथियार लेकर भी मैदान में आ जायेगा। जिस समाज में सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग का तख़्ता उलटकर विजय प्राप्त करेगा उस समाज का राजनीतिक स्वरूप एक जनवादी जनतंत्र का होगा, जो उस राष्ट्र, या उन राष्ट्रों के सर्वहाराओं की, शक्तियों को उन राज्यों के विरुद्ध संघर्ष में अधिकाधिक केंद्रीकृत करता जायेगा, जिन्होंने अभी तक समाजवाद का मार्ग नहीं अपनाया है। उत्पीड़ित वर्ग के, सर्वहारा वर्ग के, अधिनायकत्व के बिना वर्गों का उन्मूलन असंभव है। पिछड़े हुए राज्यों के ख़िलाफ़ समाजवादी जनतन्त्रों के न्यूनाधिक रूप में दीर्घकालीन तथा भीषण संघर्ष के बिना समाजवाद के अंतर्गत राष्ट्रों का स्वतंत्र संघ बनना असंभव है।

इन्हीं कारणों से और रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के विदेश-स्थित हिस्सों के सम्मेलन में, तथा सम्मेलन के बाद, बार-बार बहस होने के बाद केंद्रीय मुखपत्र के सम्पादक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यूरोप के संयुक्त राज्य का नारा ग़लत है।

'सोत्सिअल-देमोक्रात', अंक ४४,
२३ अगस्त १९१५

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड २१, पृष्ठ ३०८–३११

यूरोप के संयुक्त राज्य का नारा

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केन्द्रीय समिति के युद्ध सम्बन्धी घोषणापत्र पर 'सोत्सिग्रल-देमोक्रात' के सम्पादक-मण्डल का नोट

यूरोप के संयुक्त राज्य की जो मांग केन्द्रीय समिति के घोषणापत्र में पेश की गयी है, (जिस में, साथ ही, रूसी, ग्रास्ट्रियाई ग्रौर जर्मन राजतन्त्रों का तख़्ता उलटने का ग्राह्वान किया गया है) वह नारे की उस शान्तिवादी व्याख्या से भिन्न है जो काउत्स्की तथा ग्रन्य लोगों द्वारा दी गयी है।

हमारी पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र, 'सोत्सिग्रल-देमोक्रात' के ग्रंक ४४ में जो संपादकीय छपा था उसमें यह साबित किया गया था कि "यूरोप के संयुक्त राज्य" का नारा ग्रार्थिक दृष्टि से ग़लत है*। या तो यह ऐसी मांग है जो ग्रलग-ग्रलग देशों के बीच उपनिवेशों ग्रौर प्रभाव क्षेत्रों इत्यादि के बंटवारेवाली विश्व ग्रर्थ-व्यवस्था में नियोजित पद्धति की स्थापना की पूर्वकल्पना करती है। पूंजीवाद के ग्रधीन यह मांग कभी पूरी नहीं हो सकती। या फिर यह एक प्रतिक्रियावादी नारा है जिसका मतलब, उपनिवेशों का ज़्यादा कामयाबी से उत्पीड़न करने ग्रौर जापान ग्रौर ग्रमरीका को—जो ज़्यादा तेज़ी से पनप रहे हैं—ज़्यादा कामयाबी से लूटने के लिए महान यूरोपीय ताक़तों के बीच ग्रस्थायी गठजोड़ स्थापित करना है।

ग्रगस्त १६१५ के ग्रन्त में लिखा गया।
१६१५ में 'समाजवाद ग्रौर युद्ध' शीर्षक पुस्तिका में, जेनेवा में प्रकाशित किया गया।

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खण्ड २१, पृष्ठ ३१२

---

* देखिये इस खण्ड के पृष्ठ ३०३–३०७।—सं०

Н. ЛЕНИНЪ (ВЛ. ИЛЬИНЪ).

ИМПЕРІАЛИЗМЪ, КАКЪ НОВѢЙШІЙ ЭТАПЪ КАПИТАЛИЗМА.

(Популярный очеркъ).

СКЛАДЪ ИЗДАНІЯ:
Книжный складъ и магазинъ „Жизнь и Знаніе"
Петроградъ, Поварской пер., 2, кв. 9 и 10. Тел. 227—42.
1917 г.

लेनिन कृत 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था'
(१९१७) शीर्षक पुस्तक का मुखावरण
छोटे आकार में

साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था[145]

एक सरल सुबोध रूपरेखा

भूमिका

यह पुस्तक जो पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है, १९१६ के वसंत में ज़ूरिच में लिखी गयी थी। वहां पर जिन परिस्थितियों में काम करने के लिए मैं लाचार था उनमें फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी साहित्य की किसी क़दर कमी स्वाभाविक थी और रूसी साहित्य का तो बहुत ही अभाव था। फिर भी साम्राज्यवाद के संबंध में जे० ए० हाबसन की किताब का मैंने बहुत ध्यान से उपयोग किया। अंग्रेज़ी में इस विषय पर यही मुख्य किताब है। मेरी राय में यह किताब यों भी अत्यंत ध्यान से पढ़ने लायक़ है।

यह पुस्तक ज़ारशाही के सेंसर को ध्यान में रखते हुए लिखी गयी थी। इसलिए न केवल मुझे तथ्यों के बिल्कुल सैद्धान्तिक, और मुख्यतया आर्थिक विश्लेषण तक ही अपने आपको सीमित रखना पड़ा, बल्कि राजनीति के सम्बन्ध में जो कुछ आवश्यक बातें कहनी थीं, उन्हें भी बहुत ही सावधानी के साथ, इशारों के द्वारा, रूपक की भाषा में – ईसप की कहानियों की उस अभिशप्त भाषा में – लिखना पड़ा है, अपनी "क़ानूनी" चीज़ें लिखते समय जिसका सहारा लेने के लिए ज़ारशाही ने तमाम क्रान्तिकारियों को मजबूर कर दिया था।

आज़ादी के इन दिनों में पुस्तिका के इन वाक्यों को पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है जो सेंसर के कारण विकृत हो गये हैं, घुट गये हैं, मानो किसी लोहे के शिकंजे में वे कुचल दिये गये हैं। साम्राज्यवाद समाजवादी क्रांति की पूर्व-वेला है, सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद (बातें समाजवादी करना और काम अंधराष्ट्रवादी) समाजवाद के साथ गहरा विश्वासघात करना, पूंजीवादी वर्ग

से पूरी तरह मिल जाना है; मज़दूर आन्दोलन में यह फूट साम्राज्यवाद की वस्तुगत परिस्थितियों के साथ किस प्रकार जुड़ी हुई है, आदि प्रश्नों पर मुझे बहुत ही "दबी" हुई भाषा में बात कहनी पड़ी थी और जो पाठक इस विषय में दिलचस्पी रखते हैं उनसे मैं अनुरोध करूंगा कि वे १९१४-१७ में विदेशों में लिखे गये मेरे लेखों को नये संस्करण में पढ़ें जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। पृष्ठ ११९-१२० के एक उद्धरण की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाना ज़रूरी है।* पाठकों को यह बताने के लिए, और ऐसे रूप में जिसे सेंसर स्वीकार कर ले, कि दूसरे देशों को हड़प लेने के प्रश्न पर पूंजीवादी और उनमें जाकर मिल जानेवाले सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी (जिनका विरोध काउत्स्की इतने ढीले-ढाले ढंग से करते हैं) कितनी बेशर्मी से झूठ बोलते हैं; यह दिखलाने के लिए कि **अपने** पूंजीपतियों द्वारा दूसरे देशों को हड़प लेने की बात पर ये लोग कितनी निर्लज्जता से **पर्दा डालते हैं**, मुझे... जापान का उदाहरण लेना पड़ा था! सावधान पाठक आसानी से जापान के स्थान पर रूस समझ लेगा और कोरिया के स्थान पर वह फ़िनलैंड, पोलैंड, कूरलैंड, उक्रइन, ख़िवा, बुख़ारा, एस्तोनिया या ऐसे ही दूसरे किसी प्रदेश को समझ लेगा जहां वृहत्तर रूसी इतर जातियां रहती हैं।

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों को बुनियादी आर्थिक प्रश्न को, अर्थात् साम्राज्यवाद के मूल आर्थिक सार के प्रश्न को समझने में मदद देगी, क्योंकि जब तक इस प्रश्न का अध्ययन नहीं किया जाता तब तक वर्तमान युद्ध और वर्तमान राजनीति को समझना और उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करना भी असंभव होगा।

पेत्रोग्राद, लेखक
२६ अप्रैल, १९१७

---

*देखिये इस खंड के पृष्ठ ४४९-४५१।-सं०

फ़्रांसीसी और जर्मन संस्करणों की भूमिका

१

जैसा कि रूसी संस्करण की भूमिका में बताया गया था, यह पुस्तक १९१६ में ज़ारशाही के सेंसर को ध्यान में रखकर लिखी गयी थी। इस समय मैं पूरी पुस्तक का संशोधन नहीं कर सकता और न शायद यह ज़रूरी ही है, क्योंकि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य उस समय भी यही था और आज भी है, कि अकाट्य पूंजीवादी आंकड़ों के संक्षिप्त परिणामों और तमाम देशों के पूंजीवादी विद्वानों द्वारा ख़ुद मानी हुई बातों के आधार पर बीसवीं शताब्दी के शुरू में – पहले साम्राज्यवादी युद्ध की पूर्व-वेला में – विश्व पूंजीवादी व्यवस्था की **पूरी तस्वीर**, उसके तमाम अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के साथ पेश की जाये।

यह पुस्तिका, जो **ज़ारशाही सेंसर की दृष्टि से क़ानूनी थी**, इस दृष्टि से उन्नत पूंजीवादी देशों के अनेक कम्युनिस्टों के लिए कुछ हद तक लाभदायक भी सिद्ध होगी कि कम्युनिस्टों के लिए आज जो भी थोड़ी-बहुत क़ानूनी सुविधा बच रही है – जैसे कि हाल ही में कम्युनिस्टों की सामूहिक गिरफ़्तारियों के बाद वर्तमान अमरीका और फ़्रांस के अन्दर – उसका सामाजिक-शान्तिवादी विचारों और "विश्व जनवाद" की उम्मीदों के निपट खोखलेपन को समझाने के लिए इस्तेमाल करने की संभावना – और ज़रूरत – को वे इस पुस्तक के उदाहरण से समझेंगे। सेंसर की हुई इस किताब में जो कुछ जोड़ना अत्यंत आवश्यक है उसे मैं इस भूमिका में पेश करने की कोशिश करूंगा।

२

इस पुस्तक में सिद्ध किया गया है कि १९१४-१८ का महायुद्ध दोनों पक्षों की ओर से साम्राज्यवादी युद्ध (यानी दूसरे देशों को हड़पने का, लूटमार और डकैती का युद्ध) था। वह युद्ध दुनिया के बंटवारे के लिए, उपनिवेशों के

विभाजन और पुनर्विभाजन के लिए, वित्तीय पूंजी के "प्रभाव क्षेत्रों" आदि के लिए लड़ा गया था।

युद्ध के असली सामाजिक स्वरूप का, बल्कि असली वर्ग-स्वरूप का प्रमाण, स्वाभाविक है, युद्ध के कूटनीतिक इतिहास में नहीं बल्कि युद्ध में शामिल होनेवाले **तमाम** देशों के शासक **वर्गों** की **वस्तुगत** स्थिति के विश्लेषण में मिलता है। इस वस्तुगत स्थिति का चित्रण करने के लिए उदाहरणों या अलग-अलग तथ्यों को नहीं (सामाजिक जीवन की घटनाओं की अत्यधिक जटिलता के कारण उसमें से कितने ही उदाहरणों या अलग-अलग तथ्यों को चुनकर किसी भी बात को सिद्ध किया जा सकता है), बल्कि लड़नेवाले **तमाम** देशों के और **पूरी** दुनिया के आर्थिक जीवन के **आधार** से संबंधित **सम्पूर्ण** तथ्यों को लेना चाहिए।

१८७६ और १९१४ में **दुनिया के बंटवारे** का (छठे अध्याय में), १८९० और १९१३ में सारी दुनिया में **रेलों** के वितरण का (सातवें अध्याय में) वर्णन करने के लिए मैंने ऐसे ही संक्षिप्त अकाट्य तथ्यों को इस्तेमाल किया है। रेलें मूल पूंजीवादी उद्योगों—कोयला, लोहा और इस्पात—का योगफल हैं; योगफल और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीवादी-जनवादी सभ्यता के विकास के सबसे स्पष्ट सूचक हैं। पुस्तक के इससे पहले के अध्यायों में मैंने यह दिखाया है कि रेलें किस प्रकार बड़े पैमाने के उद्योगों से, इजारेदारियों, सिंडीकेटों, कार्टेलों, ट्रस्टों, बैंकों और वित्तीय अल्पतन्त्र से संबंधित हैं। रेलों का असमान वितरण, उनका असमान विकास—मानो विश्वव्यापी पैमाने पर आधुनिक इजारेदार पूंजीवाद का निचोड़ है। और यह निचोड़ इस बात को साबित करता है कि **ऐसी** आर्थिक व्यवस्था के अन्दर, **जब तक** उत्पादन के साधन निजी सम्पत्ति हैं, साम्राज्यवादी युद्धों का होना एकदम अनिवार्य है।

रेलों का बनाना एक सीधा-सादा, स्वाभाविक, जनवादी, सांस्कृतिक तथा सभ्य बनानेवाला काम जान पड़ता है; पूंजीवादी प्रोफ़ेसरों की राय में, जिन्हें पूंजीवादी गुलामी का तड़क-भड़क के साथ वर्णन करने के लिए पैसा दिया जाता है, और निम्न-पूंजीवादी कूपमंडूकों की राय में तो वह ऐसा ही है। किन्तु पूंजीवादी डोरों ने जो इन उद्योगों को हज़ारों विभिन्न गांठों के ज़रिये उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की आम व्यवस्था से बांधे हुए हैं, रेलों के बनाने के इस काम को (उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में) **एक अरब** लोगों

के उत्पीड़न का, अर्थात् पराधीन देशों में बसनेवाली पृथ्वी की आधी से ज़्यादा आबादी और "सभ्य" देशों में रहनेवाले पूंजी के मज़दूर-ग़ुलामों के उत्पीड़न का हथियार बना दिया है।

छोटे-छोटे मालिकों की मेहनत पर आधारित निजी सम्पत्ति, मुक्त प्रतियोगिता, जनवाद अर्थात् वे तमाम आकर्षक शब्द जिनके ज़रिये पूंजीपति और उनके अख़बार मज़दूरों और किसानों को धोखा देते हैं—बीते हुए ज़माने की बातें बन चुके हैं। पूंजीवाद आज विकसित होकर कुछ मुट्ठी-भर "आगे बढ़े हुए" देशों द्वारा औपनिवेशिक उत्पीड़न की और वित्तीय दृष्टि से दुनिया की आबादी के विशाल बहुमत का गला घोंटनेवाली विश्वव्यापी व्यवस्था का रूप धारण कर चुका है। और इस "लूट के माल" को दुनिया भर में लूटमार करनेवाले दो-तीन शक्तिशाली लुटेरे (अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, जापान), जो सिर से पैर तक हथियारों से लैस हैं, आपस में बांट लेते हैं और जो **अपने** लूट के माल के बंटवारे के लिए **अपनी** लड़ाई में सारी दुनिया को घसीट लेते हैं।

३

राजतंत्रवादी जर्मनी द्वारा लादी गयी ब्रेस्त-लितोव्स्क की शांति-संधि ने, और बाद में अमरीका तथा फ़्रांस के "जनवादी" गणतंत्रों और "स्वाधीन" इंगलैंड द्वारा लादी गयी और भी ज़्यादा पाशविक और घृणित वरसाई की संधि ने मानव-जाति का बहुत भारी उपकार किया है। इन संधियों ने साम्राज्यवाद के भाड़े के क़लम के कुलियों और प्रतिक्रियावादी कूपमंडूकों दोनों का पर्दाफ़ाश कर दिया है जो अपने-आपको कहते तो शान्तिवादी और समाजवादी थे पर जो "विलसनवाद" की प्रशंसा के गीत गाते थे और ज़ोर देकर कहते थे कि शान्ति और सुधार साम्राज्यवाद के अंतर्गत संभव हैं।

इस युद्ध में, जो सिर्फ़ यह तय करने के लिए लड़ा गया था कि लूट के माल का बड़ा हिस्सा अंग्रेज़ वित्तीय लुटेरों के गिरोह को मिले या जर्मन वित्तीय लुटेरों के गिरोह को, दसियों लाख लोग मारे गये और अपंग हुए और फिर इन दोनों "शान्ति-संधियों" से उन लाखों और करोड़ों लोगों की आंखें बहुत तेज़ी से खुल गयी हैं जो पददलित और पीड़ित हैं, जिन्हें पूंजीपति धोखा देते

रहते हैं और ठगते रहते हैं। इस तरह युद्ध के परिणामस्वरूप सब तरफ़ फैली बर्बादी के बीच एक विश्वव्यापी क्रांतिकारी संकट उत्पन्न हो रहा है। इस संकट को चाहे जितनी लम्बी और कठिन मंजिलों में से गुज़रना पड़े, उसका अंत सर्वहारा क्रांति की सफलता और विजय के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।

दूसरी इंटरनेशनल का बैसेल वाला घोषणापत्र जिसने १९१२ में आम तौर पर युद्ध के सम्बन्ध में नहीं (युद्ध तरह-तरह के होते हैं, क्रांतिकारी युद्ध भी होते हैं), बल्कि उसी युद्ध के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे जो १९१४ में छेड़ा गया था, दूसरी इंटरनेशनल के सूरमाओं के शर्मनाक दिवालियेपन और ग़द्दारी का एक स्मारक बन गया है।

इसलिए इस घोषणापत्र को मैं इस संस्करण[146] में क्रोड़पत्र के रूप में दे रहा हूं और पाठकों से मैं फिर कहता हूं कि वे नोट करें कि दूसरी इंटरनेशनल के सूरमा इस घोषणापत्र के कुछ ख़ास अंशों से किस भांति ठीक उसी तरह कतराने की कोशिश कर रहे हैं जिस तरह एक चोर उस जगह से कतराता है जहां पर उसने चोरी की हो! घोषणापत्र के ये अंश वही हैं जिनमें आनेवाले युद्ध और सर्वहारा क्रान्ति के सम्बंध को स्पष्ट, साफ़ और निश्चित बताया गया था।

४

इस पुस्तक में "काउत्स्कीवाद" की आलोचना की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जिसका प्रतिनिधित्व करनेवाले दूसरी इंटरनेशनल के "प्रमुखतम सिद्धान्तकार" और नेता (आस्ट्रिया में ओटो बावेर और उनकी मंडली, इंगलैंड में रैमज़े मैकडानल्ड इत्यादि, फ़्रांस में अलबर्ट टामस, इत्यादि-इत्यादि), अनेकों समाजवादी, सुधारवादी, शांतिवादी, पूंजीवादी-जनवादी और पादरी दुनिया के तमाम देशों में मौजूद हैं।

विचारधारा की यह प्रवृत्ति एक ओर तो दूसरी इंटरनेशनल के टूटने-फूटने और पतन का परिणाम है, और दूसरी ओर यह उस निम्न-पूंजीपति वर्ग की विचारधारा का अनिवार्य परिणाम है, जो अपने जीवन की तमाम परिस्थितियों के कारण पूंजीवादी और जनवादी पूर्वाग्रहों का शिकार बना रहता है।

काउत्स्की और उनके जैसे लोगों के विचार मार्क्सवाद के उन तमाम

क्रांतिकारी सिद्धांतों से मुकर जाना है, जिनका काउत्स्की ख़ुद दसियों वर्ष से समर्थन करते ग्राये हैं, ख़ास तौर से समाजवादी अवसरवाद (बर्न्सटीन, मिलेरां, हिन्दमैन, गोम्पर्स, आदि) के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष में। इसलिए यह कोई ग्राकस्मिक घटना नहीं है कि अब दुनिया भर के "काउत्स्कीवादी" व्यावहारिक राजनीति में कट्टर अवसरवादियों के साथ (दूसरी, या पीली इंटरनेशनल के द्वारा) और पूंजीवादी सरकारों के साथ (उन मिली-जुली पूंजीवादी सरकारों के द्वारा जिनमें समाजवादी शामिल होते हैं) मिल गये हैं।

दुनिया के बढ़ते हुए सर्वहारा क्रान्तिकारी आन्दोलन का आम तौर से, और कम्युनिस्ट आन्दोलन का ख़ास तौर से, यह तक़ाज़ा है कि "काउत्स्कीवाद" की सैद्धांतिक ग़ल्तियों का विश्लेषण किया जाये और उनका पर्दाफ़ाश किया जाये। इस चीज़ की इसलिए और भी ज़रूरत है कि सामान्यतया शांतिवाद और "जनवाद", जो मार्क्सवाद से ज़रा भी सम्बन्ध रखने का दावा नहीं करते लेकिन जो काउत्स्की और उनकी मंडली की तरह साम्राज्यवाद के अंतर्विरोधों की गहराई और उनसे अनिवार्य रूप से उत्पन्न होनेवाले क्रांतिकारी संकट पर परदा डालते हैं, आज भी सारी दुनिया में व्यापक रूप से प्रचलित हैं। सर्वहारा वर्ग की पार्टी का परम कर्त्तव्य है कि वह इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करे और छोटे-छोटे मालिकों को उन्हें ठगनेवाले पूंजीपति वर्ग के फंदे से निकालकर अपनी ओर ले आये, उन लाखों मेहनतकशों को अपनी ओर ले आये जो कमोबेश निम्न-पूंजीवादी अवस्था में रहते हैं।

५

"पूंजीवाद का परजीवी स्वभाव तथा उसका ह्रास" शीर्षक आठवें अध्याय के बारे में भी थोड़े से शब्द कहना ज़रूरी है। जैसा कि पुस्तक में बताया गया है, भूतपूर्व "मार्क्सवादी" और अब काउत्स्की के साथी हिल्फ़र्डिंग, जो कि "जर्मनी की स्वतंत्र सामाजिक-जनवादी पार्टी"[147] के अन्दर पूंजीवादी, सुधारवादी नीति के एक मुख्य प्रतिपादक हैं, इस प्रश्न पर **खुल्लमखुल्ला** शांतिवादी और सुधारवादी अंग्रेज़, हाबसन से भी एक क़दम पीछे चले गये हैं। यह बात अब बिल्कुल साफ़ है कि सारे मज़दूर आन्दोलन में अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर फूट पड़ चुकी है (दूसरी और तीसरी इंटरनेशनल)। यह भी स्पष्ट है कि

इस समय दोनों धाराओं के बीच सशस्त्र संघर्ष और गृह-युद्ध छिड़ा हुआ है: **रूस में** बोल्शेविकों के विरुद्ध कोल्चाक और देनीकिन को मेन्शेविकों और "समाजवादी-क्रांतिकारियों" की सहायता, जर्मनी में पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर शीदेमानवादियों, नोस्के आदि की स्पर्टाकसवादियों[148] के ख़िलाफ़ लड़ाई, तथा फ़िनलैंड, पोलैंड, हंगरी आदि में इसी तरह की चीज़ें। तो फिर ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वव्यापी महत्व रखनेवाली इस घटना का आर्थिक आधार क्या है?

इसका आधार पूंजीवाद का परजीवी स्वरूप और ह्रास ही है जो कि उसके विकास की चरम ऐतिहासिक अवस्था में, अर्थात् साम्राज्यवादी अवस्था में, उसकी विशेषता होती हैं। जैसा कि इस पुस्तक में सिद्ध किया गया है, पूंजीवाद ने अब **मुट्ठी-भर** (दुनिया की आबादी के दसवें हिस्से से भी कम; अधिक से अधिक "दरिया-दिली" और उदारता से हिसाब लगाया जाये तब भी आबादी के पांचवें हिस्से से कम) असाधारण रूप से धनी और शक्तिशाली राज्यों को चुन लिया है जो केवल "कूपन काटकर" सारी दुनिया को लूट रहे हैं। युद्ध से पहले की क़ीमतों और पूंजीवादी आंकड़ों के अनुसार पूंजी के निर्यात से हर साल आठ या दस अरब फ़्रांक की आमदनी होती थी। अब तो निस्संदेह यह आमदनी बहुत बढ़ गयी है।

यह स्पष्ट है कि ऐसे विराट **अतिरिक्त मुनाफ़े** में से (इसलिए कि यह मुनाफ़ा उस सब मुनाफ़े के ऊपर और उसके अलावा है जो पूंजीपति "अपने" देश के मज़दूरों का शोषण करके इकट्ठा करते हैं) मज़दूर नेताओं को और अमीर मज़दूरों के उच्च स्तर को **घूस देकर अपनी ओर कर लेना बिल्कुल संभव है।** "आगे बढ़े हुए" देशों के पूंजीवादी उन्हें घूस दे भी रहे हैं; वे उन्हें हज़ारों तरह के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, खुल्लमखुल्ला और छुपे-ढके तरीक़ों से घूस देते हैं।

पूंजीवादी रंग में रंगे हुए मज़दूरों का यह स्तर, "मज़दूर अमीरों" का यह दल ही, जो अपने रहन-सहन की दृष्टि से, अपनी कमाई की मात्रा की दृष्टि से और अपने दृष्टिकोण में बिल्कुल कूपमंडूक होता है, दूसरी इंटरनेशनल का मुख्य आधार और आज हमारे समय में **पूंजीपति वर्ग का सामाजिक** (सैनिक नहीं) **आधार** बना हुआ है। **मज़दूर वर्ग** के आन्दोलन **के भीतर** ये लोग ही

पूंजीपति वर्ग के असली **दलाल**, मज़दूरों में पूंजीपति वर्ग के गुर्गे और सुधारवाद और अंधराष्ट्रवाद के असली वाहक हैं। सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग के बीच गृह-युद्ध होने पर ये लोग अनिवार्य रूप से, और बड़ी तादाद में, पूंजीपति वर्ग का साथ देते हैं, "कम्यूनारों" के विरुद्ध वे "वरसाई वालों" के साथ खड़े होते हैं।

जब तक इस प्रक्रिया की आर्थिक जड़ें नहीं समझ ली जातीं, और जब तक उसका राजनीतिक और सामाजिक महत्व नहीं पहचान लिया जाता, तब तक कम्युनिस्ट आन्दोलन और आनेवाली सामाजिक क्रांति की असली समस्याओं को हल करने के काम में ज़रा भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

साम्राज्यवाद सर्वहारा वर्ग की सामाजिक क्रांति की पूर्व-वेला है। यह बात १९१७ के बाद से सारी दुनिया में साबित हो चुकी है।

६ जुलाई, १९२०

न० लेनिन

पिछले पंद्रह या बीस बरसों में, ख़ास तौर से स्पेनिश-अमरीकी युद्ध (१८९८), और अंग्रेज़-बोएर युद्ध (१८९९-१९०२) के बाद से वर्तमान युग का वर्णन करने के लिए दोनों गोलार्द्धों के आर्थिक और राजनीतिक साहित्य में "साम्राज्यवाद" शब्द को अधिकाधिक अपनाया गया है। १९०२ में, एक अंग्रेज़ अर्थशास्त्री, जे० ए० हाबसन की पुस्तक 'साम्राज्यवाद' लंदन और न्यूयार्क से प्रकाशित हुई थी। इस लेखक ने, जिसका दृष्टिकोण पूंजीवादी सामाजिक-सुधारवाद और शांतिवाद का है जो कि बुनियादी तौर पर भूतपूर्व मार्क्सवादी, का० काउत्स्की के मौजूदा विचारों से मिलता-जुलता है, साम्राज्यवाद की मुख्य आर्थिक और राजनीतिक विशेषताओं का बहुत अच्छा और विस्तृत वर्णन किया है। १९१० में वियना में आस्ट्रिया के मार्क्सवादी रुडोल्फ़ हिल्फ़र्डिंग की 'वित्तीय पूंजी' नामक पुस्तक (रूसी संस्करण: मास्को, १९१२) प्रकाशित हुई थी। बावजूद इसके कि उसमें लेखक ने द्रव्य के सिद्धांत के बारे में ग़लती की है और किसी हद तक मार्क्सवाद तथा अवसरवाद को मिलाने की प्रवृत्ति दिखलायी है, इस पुस्तक में "पूंजीवादी विकास की नवीनतम अवस्था" की, जो कि इस पुस्तक का उप-शीर्षक है, बहुत ही मूल्यवान सैद्धान्तिक व्याख्या मिलती है। वास्तव में पिछले कुछ वर्षों में साम्राज्यवाद के बारे में जो कुछ भी कहा गया है, ख़ास तौर से अनेकों पत्रिकाओं तथा अख़बारों के लेखों में, और प्रस्तावों में – उदाहरण के लिए, १९१२ की शरद ऋतु में होनेवाली चेमनित्ज़[149] और बैसेल की कांग्रेसों के प्रस्तावों में – वह इन विचारों से, यानी, उपरोक्त दो लेखकों द्वारा प्रस्तुत किये गये, बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि

उपरोक्त दो लेखकों द्वारा सार-रूप में प्रतिपादित विचारों से बहुत आगे नहीं जाता।

बाद में, हम संक्षेप में और जितनी सरलता से हो सकेगा साम्राज्यवाद की **मुख्य** आर्थिक विशेषताओं के आपसी संबंधों को दिखलाने की कोशिश करेंगे। इस प्रश्न के ग़ैर-आर्थिक पहलुओं पर हम विचार न कर सकेंगे, वे कितने ही विचारणीय क्यों न हों। हमने तमाम साहित्य-सम्बंधी उल्लेखों और दूसरी टिप्पणियों को इस पुस्तिका[150] के अंत में दे दिया है, क्योंकि शायद सभी पाठकों को उनमें दिलचस्पी न होगी।

१. उत्पादन का संकेंद्रण और इजारेदारियां

उद्योग-धंधों की ज़बरदस्त बढ़ती और उत्पादन के बड़े से बड़े कारबारों में संकेंद्रण की विलक्षण रूप से तेज़ प्रक्रिया पूंजीवाद की एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता है। उत्पादन की आधुनिक अंक-गणनाओं से हमें इस प्रक्रिया के बारे में बहुत पूरे और ठीक-ठीक तथ्य मिल जाते हैं।

उदाहरण के लिए, जर्मनी में हर १,००० औद्योगिक कारख़ानों में, बड़े कारख़ानों की संख्या, अर्थात् जिनमें ५० से अधिक मज़दूर काम करते हैं, १८८२ में तीन, १८९५ में छः और १९०७ में नौ थी। इसी भांति काम में लगे हुए हर सौ मज़दूरों के पीछे इस कोटि के कारख़ानों में क्रमशः २२, ३० और ३७ मज़दूर काम करते थे। किन्तु उत्पादन का संकेंद्रण मज़दूरों के संकेंद्रण से ज़्यादा तेज़ होता है, क्योंकि बड़े कारख़ानों में श्रम कहीं ज़्यादा उत्पादनशील होता है। यह बात भाप के इंजनों और बिजली के मोटरों के बारे में जो आंकड़े मिलते हैं उनसे साफ़ हो जाती है। यदि हम इस चीज को लें, जिसे जर्मनी में मोटे तौर पर उद्योग कहते हैं, अर्थात् जिसमें व्यापार, यातायात आदि शामिल हैं, तो हमें यह तस्वीर मिलती है: कुल ३२,६५,६२३ कारख़ानों में से बड़े पैमाने के कारख़ानों की संख्या ३०,५८८ यानी ०.९ फ़ीसदी है। इन कारख़ानों में, तमाम कारख़ानों में काम करनेवाले कुल १,४४,००,००० मज़दूरों में से ५७,००,००० यानी ३९.४ फ़ीसदी मज़दूर काम करते हैं; ये कारख़ाने कुल ८८,००,००० अश्वशक्ति भाप में से ६६,००,००० अश्वशक्ति, यानी

७५.३ फ़ीसदी भाप इस्तेमाल करते हैं; और कुल १५,००,००० किलोवाट बिजली में से १२,००,००० किलोवाट, यानी ७७.२ फ़ीसदी बिजली इस्तेमाल करते हैं।

कुल कारख़ानों का एक फ़ीसदी से भी कम हिस्सा भाप और बिजली की ताक़त का **तीन-चौथाई से भी अधिक भाग** इस्तेमाल करता है! उनतीस लाख सत्तर हज़ार छोटे कारख़ाने (जिनमें पांच मज़दूर तक काम करते हैं), जो कुल कारख़ानों की संख्या का ९१ फ़ीसदी हिस्सा हैं, भाप और बिजली की कुल शक्ति का केवल ७ फ़ीसदी भाग इस्तेमाल करते हैं! कुछ हज़ार बड़े पैमाने के कारख़ाने सब कुछ हैं, लाखों छोटे-छोटे कारख़ाने कुछ भी नहीं हैं।

१९०७ में जर्मनी में ५८६ ऐसे औद्योगिक कारख़ाने थे जिनमें से प्रत्येक में एक हज़ार से अधिक मज़दूर काम करते थे, अर्थात् उनमें उद्योगों में काम करनेवाले मज़दूरों की कुल संख्या का **दसवां** हिस्सा (१३,८०,०००) काम करता था और भाप और बिजली की कुल ताक़त का **क़रीब-क़रीब एक-तिहाई** (३२ फ़ीसदी) हिस्सा इन कारख़ानों में इस्तेमाल होता था।* जैसा कि हम आगे देखेंगे, द्रव्य पूंजी और बैंक इन मुट्ठी-भर सबसे बड़े कारख़ानों की ताक़त को और भी ज़बरदस्त बना देते हैं। यह बात उसके बिल्कुल शब्दशः अर्थ में कही जा रही है, मतलब यह कि लाखों छोटे-छोटे, मंझोले और यहां तक कि कुछ बड़े "मालिक" भी, वास्तव में कुछ सौ करोड़पति महाजनों के पूरी तरह से आधीन रहते हैं।

आधुनिक पूंजीवाद के दूसरे उन्नत देश संयुक्त राज्य अमरीका में, उत्पादन के संकेंद्रण की वृद्धि और भी ज़्यादा है। यहां के आंकड़ों में उद्योगों को उनके संकुचित रूप में लिया गया है और कारख़ानों का वर्गीकरण उनकी सालाना पैदावार के मूल्य के हिसाब से किया गया है। १९०४ में दस लाख डालर और उससे ज़्यादा सालाना पैदावार वाले बड़े-बड़े कारख़ानों की संख्या (कुल २,१६,१८० में से) १,९०० (अर्थात् ०.९ फ़ीसदी) थी। उनमें (कुल ५५,००,००० में से) १४,००,००० (यानी २५.६ फ़ीसदी) मज़दूर काम करते थे और उनकी पैदावार का मूल्य (कुल १४,८०,००,००,००० डालर में से) ५,६०,००,००,००० डालर

---

* आंकड़े *Annalen des deutschen Reichs*, 1911, Zahn से लिये गये हैं।

(यानी ३८ फ़ीसदी) था। पांच साल बाद, १९०९ में यही आंकड़े इस प्रकार थे: (कुल २,६८,४९१ में से) ३,०६० (यानी १.१ फ़ीसदी) कारख़ानों में (कुल ६६,००,००० मज़दूरों में से) २०,००,००० (यानी ३०.५ फ़ीसदी) मज़दूर काम पर लगे हुए थे और पैदावार का मूल्य (कुल २०,७०,००,००,००० डालर की पैदावार में से) ९,००,००,०००,०० डालर (यानी ४३.८ फ़ीसदी) था।*

देश के तमाम कारख़ानों की कुल पैदावार का क़रीब-क़रीब आधा **भाग** उन कारख़ानों के **सौवें हिस्से में** होता था! इन ३,००० विशालकाय कारख़ानों में उद्योगों की २५८ शाखाएं शामिल हैं। इससे यह बात देखी जा सकती है कि संकेंद्रण स्वयं, अपने विकास की एक मंज़िल में पहुंचकर सीधे इजारेदारी तक पहुंच जाता है, क्योंकि बीस-पच्चीस विशालकाय कारख़ाने आसानी से आपस में समझौता कर सकते है और दूसरी ओर, प्रतियोगिता की कठिनाइयां और इजारेदारी की तरफ़ झुकाव कारख़ानों की विशालता से ही उत्पन्न होते हैं। प्रतियोगिता का इस प्रकार इजारेदारी में बदल जाना आधुनिक पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण नहीं तो कम से कम एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना अवश्य है और हमें उसपर विस्तार से विचार करना चाहिए। किन्तु उसके पहले, एक संभव ग़लतफ़हमी को हमें दूर कर लेना चाहिए।

अमरीकी आंकड़े बतलाते हैं कि उद्योगों की २५० शाखाओं में ३,००० बड़े-बड़े कारख़ाने हैं, मानो उद्योगों की हर शाखा में विशालतम पैमाने के सिर्फ़ बारह कारख़ाने हैं।

पर बात ऐसी नहीं है। उद्योगों की हर शाखा में बड़े पैमाने के कारख़ाने नहीं हैं, और इसके अलावा, अपने विकास की चरम अवस्था में पूंजीवाद की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता, उत्पादन का तथाकथित **संयोजन**, अर्थात् उद्योगों की उन विभिन्न शाखाओं का एक ही कारख़ाने के अंदर आ जाना है, जिनका संबंध या तो कच्चे माल को तैयार करने की क्रमिक अवस्थाओं से होता है (जैसे कि खनिज लोहे को गलाकर कच्चा लोहा तैयार करना, कच्चे लोहे से इस्पात बनाना, और फिर शायद इस्पात की विभिन्न चीज़ें तैयार करना), या फिर जो एक दूसरे की सहायक होती हैं (जैसे बेकार जानेवाले कच्चे माल का या मुख्य चीज़ के

* *Statistical Abstract of the United States*, 1912, p. 202.

उत्पादन के दौरान में पैदा हो जानेवाली दूसरी छोटी-छोटी चीज़ों का उपयोग करने का उद्योग; पैकिंग का सामान तैयार करने का उद्योग, आदि)।

हिल्फ़र्डिंग लिखते हैं: "कारख़ाने के सम्मिलन से व्यापार के चढ़ाव-उतार बराबर हो जाते हैं और इसलिए सम्मिलित कारख़ाने के मुनाफ़े की दर अधिक स्थायी हो जाती है। दूसरे, सम्मिलित कारख़ानों की वजह से व्यापार की ज़रूरत ख़त्म हो जाती है। तीसरे, उसके कारण प्राविधिक उन्नति की गुंजाइश बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप उससे 'विशुद्ध' (अर्थात् अ-सम्मिलित) कारख़ानों से होनेवाले मुनाफ़े की अपेक्षा 'अतिरिक्त' मुनाफ़ा होता है। चौथे, गहरी मंदी के ज़माने में, जब तैयार माल के दामों में कच्चे माल के दामों की अपेक्षा ज़्यादा कमी होने लगती है, उस समय इस बात के कारण 'विशुद्ध' कारख़ानों की अपेक्षा सम्मिलित कारख़ानों की हालत ज़्यादा मज़बूत होती है, प्रतियोगिता के संघर्ष में वे मज़बूत होते हैं।"*

जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री, हेमैन ने जर्मनी के लोहे के उद्योग में "मिश्रित' अर्थात् सम्मिलित कारख़ानों के सम्बंध में एक विशेष पुस्तक लिखी है। वह कहते हैं: "कच्चे माल की महंगी दर और तैयार माल की सस्ती दर के चाकों के बीच कुचलकर विशुद्ध कारख़ाने नष्ट हो जाते हैं।" इस भांति हमें निम्नलिखित तस्वीर मिलती है: "एक तरफ़ तो बड़ी-बड़ी कोयले की कम्पनियां हैं जो लाखों टन कोयला हर साल पैदा करती हैं और जो अपने कोयला-सिंडीकेट में मज़बूती से संगठित हैं और दूसरी ओर, कोयले की खानों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध बड़े-बड़े इस्पात के कारख़ाने हैं जिनका अपना इस्पात का सिंडीकेट है। ये विशाल कारख़ाने, जो हर साल ४,००,००० टन इस्पात तैयार करते हैं, जिनमें विपुल परिमाण में कच्ची धातु तथा कोयले की खपत होती है और जो इस्पात की चीज़ें भी तैयार करते हैं, जिनमें १०,००० मज़दूर काम करते हैं, जो कम्पनी के ही क्वार्टरों में रहते हैं, कभी-कभी जिनके ख़ुद अपने बन्दरगाह और रेलवे लाइनें भी होती हैं, जर्मनी के लोहे और इस्पात उद्योग के ठेठ प्रतिनिधि हैं। और संकेंद्रण बढ़ता जा रहा है। अलग-अलग कारख़ाने दिनोंदिन बड़े होते जा रहे हैं। अधिकाधिक संख्या में कारख़ाने, वे चाहे किसी एक ही उद्योग से संबंधित हों या

---

*'वित्तीय पूंजी', रूसी संस्करण, पृष्ठ २८६-२८७।—सं०

कई अलग-अलग उद्योगों के हों, मिलकर विशालकाय कारख़ानों के रूप में संगठित हो रहे हैं, जिनके पीछे बर्लिन के आधे दर्जन बैंक हैं जो उनको निर्देशित करते हैं। जर्मनी के खनिज उद्योग में तो संकेंद्रण के बारे में कार्ल मार्क्स की शिक्षा निश्चित रूप से चरितार्थ हुई है; अलबत्ता यह बात एक ऐसे देश पर लागू होती है जहां चुंगियों और लाने ले जाने के महसूलों के द्वारा इस उद्योग की रक्षा की जाती है। जर्मनी का खनिज उद्योग अब उस परिपक्वता की अवस्था में पहुंच गया है जब कि उसे ज़ब्त कर लिया जाना चाहिए।"*

एक ईमानदार पूंजीवादी अर्थशास्त्री भी – यद्यपि ऐसे लोग अपवाद के तौर पर हैं – इसी नतीजे पर पहुंचने के लिए मजबूर हैं। यह बात ध्यान देने की है कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह जर्मनी को एक विशेष श्रेणी में रखता है क्योंकि वहां के उद्योग ऊंची चुंगियों द्वारा सुरक्षित हैं। किन्तु कारख़ानेदारों के इजारेदार संघों, कार्टेलों, और सिंडीकेटों इत्यादि के संकेंद्रण तथा निर्माण की रफ़्तार इस परिस्थिति के कारण तेज़ ही होती है। इस बात को ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है कि खुले व्यापार वाले इंगलैंड में संकेंद्रण इजारेदारी को **भी** जन्म देता है, यद्यपि कुछ बाद में और शायद दूसरे रूप में। प्रोफ़ेसर हेरमन लेवी ने 'इजारेदारियां, कार्टेल और ट्रस्ट' नामक अपनी विशेष खोजपूर्ण पुस्तक में जो ब्रिटेन के आर्थिक विकास सम्बंधी तथ्यों पर आधारित है, लिखा है:

"ग्रेट ब्रिटेन में कारख़ानों के बड़े आकार और उसके उच्च प्राविधिक स्तर में ही इजारेदारी की प्रवृत्ति छिपी है। इसका एक कारण यह भी है कि हर कारख़ाने में लगी पूंजी की मात्रा बहुत बड़ी है जिसकी वजह से नये कारख़ानों के लिए आवश्यक पूंजी की मात्रा बढ़ती जाती है और इसलिए उनको शुरू करना ज़्यादा कठिन हो जाता है। इसके अलावा (और यह बात हमें और ज़्यादा महत्वपूर्ण लगती है) संकेंद्रण की बुनियाद पर खड़े होनेवाले बड़े-बड़े कारख़ानों के मुक़ाबिले में टिकने के लिए हर नया कारख़ाना ज़रूरत से इतना ज़्यादा फ़ालतू माल पैदा करेगा कि उसे वह या तो मुनाफ़े के साथ केवल तब निकाल सकेगा जबकि उस

---

* Hans Gideon Heymann, «*Die gemischten Werke im deutschen Grosseisengewerbe*» (जर्मनी में लोहे के बड़े उद्योग में सम्मिलित कारख़ाने – अनु०), स्टुटगार्ट, १९०४ (पृष्ठ २५६, २७८)।

माल की मांग बहुत ज़्यादा बढ़ जाये, या फिर उस फ़ालतू माल की वजह से क़ीमतें इतनी कम हो जायेंगी कि उस नये कारख़ाने और दूसरे इजारेदारी संघों, दोनों को घाटा पहुंचेगा।" दूसरे देशों से भिन्न, जहां रक्षात्मक चुंगियों के कारण कार्टेल बनाने में आसानी होती है, इंगलैंड में कारख़ानेदारों की इजारेदारी गुटबन्दियां, कार्टेल और ट्रस्ट, अधिकतर तभी पैदा होते हैं जबकि प्रतियोगिता करनेवाले कारोबारों की संख्या केवल "कुछ दर्जन के लगभग" रह जाती है। "बड़े उद्योग के क्षेत्र में इजारेदारियों के बनने पर संकेंद्रण की क्रिया का क्या असर पड़ता है, यह चीज़ यहां पर आइने की तरह साफ़ नज़र आती है।"*

पचास वर्ष पहले जब मार्क्स 'पूंजी' लिख रहे थे, तब खुली प्रतियोगिता अधिकांश अर्थशास्त्रियों को एक "प्राकृतिक नियम" जान पड़ती थी। सरकारी विज्ञान ने चुप्पी साधन का षड्यंत्र करके मार्क्स के ग्रंथों की हत्या करने की कोशिश की, जिन्होंने पूंजीवाद का ऐतिहासिक और सैद्धांतिक विश्लेषण करके यह दिखलाया कि खुली प्रतियोगिता से उत्पादन का संकेंद्रण पैदा होता है जिससे आगे चलकर, विकास की एक ख़ास मंजिल में, इजारेदारियों का जन्म होता है। आज इजारेदारी एक वास्तविकता बन गयी है। अर्थशास्त्री अब लिख-लिखकर किताबों के पहाड़ खड़े कर रहे हैं जिनमें वे इजारेदारी के विभिन्न रूपों का वर्णन करते हैं, और साथ ही वे एक स्वर से यह भी घोषणा करते जाते हैं कि "मार्क्सवाद का खंडन हो गया"। पर वास्तविकता जैसा कि अंग्रेज़ी कहावत है, बड़ी हठीली चीज़ है, और हम चाहें या न चाहें, हमें उसपर ध्यान देना ही पड़ता है। तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि रक्षा के लिए लगायी गयी चुंगियों या खुले व्यापार जैसी चीज़ों की दृष्टि से विभिन्न पूंजीवादी देशों के आपसी भेदों के कारण इजारेदारियों के रूपों में या उनके प्रगट होने के समय में बहुत ही नगण्य फ़र्क़ पड़ता है; और यह कि उत्पादन के संकेंद्रण के परिणामस्वरूप इजारेदारियों का उदय होना पूंजीवाद के विकास की मौजूदा अवस्था का एक आम और बुनियादी नियम है।

यूरोप के बारे में यह काफ़ी हद तक ठीक-ठीक तय किया जा सकता है कि

---

* Hermann Levy, «*Monopole, Kartelle und Trusts*», Jena, 1909, SS. 286, 290, 298.

नये पूंजीवाद ने पुराने का स्थान **अंतिम रूप से** कब लिया: यह बीसवीं शताब्दी के शुरू में हुआ था। "इजारेदारियों के निर्माण" के इतिहास के एक नवीनतम संकलन में लिखा है:

"१८६० से पहले के ज़माने से पूंजीवादी इजारेदारी के इक्के-दुक्के उदाहरण दिये जा सकते हैं; उनमें इजारेदारियों के आज के प्रचलित रूपों के अंकुर देखे जा सकते हैं; पर वह सब निस्संदेह कार्टेलों के इतिहास से पहले की बात है। आधुनिक इजारेदारी का असली आरम्भ हद से हद उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में हुआ था। इजारेदारी के विकास का पहला महत्वपूण युग आठवें दशक में अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक मंदी के साथ शुरू हुआ था और लगभग अंतिम दशक के आरंभ तक चलता रहा था।" "अगर इस सवाल को हम यूरोपीय पैमाने पर देखें तो हमें पता चलेगा कि खुली प्रतियोगिता सातवें और आठवें दशक में ही चोटी पर पहुंची थी। इंगलैंड ने अपने पुराने ढंग के पूंजीवादी संगठन का निर्माण इसी समय में पूरा किया था। जर्मनी में इस संगठन का दस्तकारी और घरेलू उद्योगों के साथ तीव्र संघर्ष छिड़ गया था और वह अपने लिए अस्तित्व के स्वयं अपने रूपों की रचना करने लगा था।"

"महान क्रान्ति १८७३ के संकट से, या यों कहें कि उसके बाद आनेवाली मंदी के वक़्त से, शुरू हुई थी; और नवें दशक के आरंभ में उन नगण्य अल्पकालीन अवधियों को छोड़कर जब यह मंदी थोड़े समय के लिए दूर हो गयी और १८८९ के लगभग असाधारण रूप से प्रबल परन्तु बहुत ही थोड़े समय तक रहनेवाली तेज़ी के उस ज़माने को छोड़कर यह मंदी यूरोप के आर्थिक इतिहास में बाईस वर्ष तक छायी रही। १८८९-९० के थोड़े दिनों की तेज़ी के ज़माने में व्यापार की अनुकूल परिस्थितियों से फ़ायदा उठाने के लिए कार्टेल व्यवस्था का बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग किया गया था। लेकिन अदूरदर्शी नीति के कारण चीज़ों के दाम और भी तेज़ी के साथ और भी ऊंचे चढ़ गये जो यदि कार्टेल न होते तो न होता, और इस तबाही में क़रीब-क़रीब सभी कार्टेल शर्मनाक मौत मर गये। इसके बाद पांच साल तक व्यापार की हालत बुरी रही और क़ीमतें गिरी रहीं, पर अब उद्योग में एक नयी भावना व्याप्त थी, मंदी को अब एक अनिवार्य बात नहीं माना जाता था: अब लोग मंदी को केवल आगे आनेवाली तेज़ी के पहले का ठहराव मानने लगे थे।

"अब कार्टेल-आन्दोलन ने अपने दूसरे युग में पैर रखा: अब कार्टेल एक क्षणिक घटना होने की जगह आर्थिक जीवन का एक आधार बन गये। एक के बाद एक क्षेत्र में, ख़ास तौर से कच्चे माल के उद्योग में, उनका राज फैलने लगा। अंतिम दशक के आरंभ में कार्टेल-पद्धति ने कोक सिंडीकेट के रूप में, जिसको आदर्श मानकर बाद में कोयला सिंडीकेट बना, इतनी कार्टेल-टेकनीक प्राप्त कर ली थी कि उसमें और उन्नति करना कठिन था। १९वीं शताब्दी के अंत की भारी तेज़ी और १९००-०३ का संकट दोनों पहली बार—कम से कम खानों के और लोहे के उद्योगों में—एकदम कार्टेलों की छत्रछाया में आये। और यद्यपि उस समय यह बात अनोखी मालूम होती थी, पर अब तो साधारण जनता भी इस बात को मानकर चलती है कि आर्थिक जीवन के बड़े-बड़े क्षेत्र खुली प्रतियोगिता के क्षेत्र से बाहर कर लिये गये हैं।"*

इस भांति इजारेदारियों के इतिहास की मुख्य अवस्थाएं निम्नलिखित हैं: (१) १८६०-७०, खुली प्रतियोगिता की चरम अवस्था, उसके विकास का शिखर; इजारेदारियां अभी मुश्किल से ही दिखायी देती थीं, वे अभी अंकुर रूप में ही मौजूद थीं। (२) १८७३ के संकट के बाद, कार्टेलों का एक विस्तृत क्षेत्र में विकास, पर अभी वे अपवाद के रूप में ही हैं। अभी वे टिकाऊ नहीं बन पाये हैं। अभी उनका रूप अस्थायी ही है। (३) उन्नीसवीं शताब्दी के अंत की तेज़ी और १९००-०३ का संकट। कार्टेल समूचे आर्थिक जीवन का एक आधार बन गये हैं। पूंजीवाद साम्राज्यवाद में बदल गया है।

कार्टेल बिक्री की शर्तों, अदायगी की शर्तों, आदि के बारे में समझौता कर लेते हैं। वे मंडियों को आपस में बांट लेते हैं। वे यह तय कर लेते हैं कि कितना

---

* Th. Vogelstein, «*Grundriss der Sozialökonomik*», VI Abt., Tübingen, 1914 (सामाजिक अर्थशास्त्र की रूपरेखा—अनु०) में «*Die finanzielle Organisation der kapitalistischen Industrie und die Monopolbildungen*» (पूंजीवादी उद्योग का वित्तीय संगठन और इजारेदारियों का निर्माण—अनु०)। इसी लेखक की यह रचना भी देखिये: «*Organisationsformen der Eisenindustrie und Textilindustrie in England und Amerika*» (इंगलैंड तथा अमरीका के लोहे तथा कपड़े के उद्योग के संगठनात्मक रूप—अनु०), Bd. I Lpz., 1910.

माल पैदा किया जायेगा। वे क़ीमतें तय कर लेते हैं। वे मुनाफ़े को विभिन्न कारख़ानों आदि में बांट लेते हैं।

अंदाज़ा लगाया गया था कि १८९६ में जर्मनी में कार्टेलों की संख्या २५० और १९०५ में ३८५ थी, और इनमें क़रीब-क़रीब १२,००० कम्पनियां हिस्सा ले रही थीं।* पर यह आम तौर पर मान लिया गया है कि ये संख्याएं बहुत कम हैं। १९०७ में जर्मनी के उद्योगों के जिन आंकड़ों को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उनसे यह साफ़ है कि ये १२,००० बहुत बड़े-बड़े कारख़ाने भी निश्चित रूप से पूरे देश में ख़र्च होनेवाली भाप और बिजली की ताक़त के आधे से भी ज्यादा हिस्से का इस्तेमाल करते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ट्रस्टों की संख्या १९०० में १८५ और १९०७ में २५० थी। अमरीकी आंकड़ों में तमाम औद्योगिक कारख़ानों को उनके स्वामित्व के अनुसार व्यक्तिगत, प्राइवेट फ़र्मों या कार्पोरेशनों की तीन श्रेणियों में बांटा गया है। १९०४ में कार्पोरेशनों की संख्या कुल कम्पनियों की २३.६ फ़ीसदी, और १९०९ में २५.९ फ़ीसदी (अर्थात् देश के कुल कारख़ानों की कुल संख्या के चौथाई से भी अधिक) थी। १९०४ में उनमें काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या कुल मज़दूरों की ७०.६ फ़ीसदी और १९०९ में ७५.६ फ़ीसदी (अर्थात् तीन-चौथाई से भी अधिक) थी। उनकी पैदावार १९०४ और १९०९ में क्रमशः १०,९०,००,००,००० डालर, अर्थात् कुल पैदावार की ७३.७ फ़ीसदी, और १६,३०,००,००,००० डालर अर्थात् कुल पैदावार की ७९.० फ़ीसदी थी।

अक्सर कार्टेल और ट्रस्ट उद्योग की किसी शाखा की कुल पैदावार का दस में से सात या आठ से भी अधिक हिस्सा अपने हाथों में कर लेते हैं। १८९३ में जब राइन-वेस्टफ़ालियन कोयला सिंडीकेट बना तो उस क्षेत्र की कोयले की कुल

---

* Dr. Riesser, «*Die deutschen Grossbanken und ihre Konzentration im Zusammenhange mit der Entwicklung der Gesamtwirtschaft in Deutschland*» (जर्मनी के बड़े-बड़े बैंक और जर्मनी में आम अर्थतंत्र के विकास के संबंध में उनका संकेंद्रण – अनु०), 4. Aufl. 1912, S. 149; Robert Liefmann, «*Kartelle und Trusts und die Weiterbildung der volkswirtschaftlichen Organisation*» (कार्टेल तथा ट्रस्ट और आर्थिक संगठनों का और अधिक विकास – अनु०), 2. Aufl. 1910, S. 25.

पैदावार का ८६.७ फ़ीसदी हिस्सा उसके हाथों में था, और १९१० में उसका क़ब्ज़ा ९५.४ फ़ीसदी पैदावार पर हो गया था।* इस तरह की इजारेदारियों से मुनाफ़ा बेहद बढ़ जाता है और टेकनीक और उत्पादन की दृष्टि से विराट आकार के कारख़ानों का जन्म होता है। अमरीका की मशहूर स्टण्डैर्ड आयल कम्पनी १९०० में बनी थी। "उसकी अधिकृत पूंजी १५,००,००,००० डालर है। उसने १०,००,००,००० डालर के साधारण और १०,६०,००,००० डालर के विशेष स्टाक शेयर जारी किये थे। १९०० से १९०७ तक बाद वाले शेयरों पर हर वर्ष क्रमशः ४८, ४८, ४५, ४४, ३६, ४०, ४०, ४० फ़ीसदी, अर्थात् कुल ३६,७०,००,००० डालर का डिवीडेण्ड बांटा गया। १८८२ से १९०७ तक उसे कुल ८८,९०,००,००० डालर का साफ़ मुनाफ़ा हुआ था जिसमें से ६०,६०,००,००० डालर डिवीडेण्डों में बांट दिये गये और बाक़ी संरक्षित पूंजी के रूप में रख दिया गया।"** "१९०७ में यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कार्पोरेशन के विभिन्न कारख़ानों में २,१०,१८० मज़दूर और दूसरे कर्मचारी काम करते थे। खानों के उद्योग-धंधे में गेलसेनकिर्चेन खान कम्पनी (*Gelsenkirchener Bergwerksgesellschaft*) में, जो जर्मनी में सबसे बड़ी है, १९०८ में ४६,०४८ मज़दूर और दफ़्तर के कर्मचारी काम करते थे।*** १९०२ में यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कार्पोरेशन का इस्पात का उत्पादन ९०,००,००० टन तक पहुंच चुका था।**** १९०१ में उसकी पैदावार, अमरीका में इस्पात की कुल पैदावार की ६६.३ फ़ीसदी और १९०८ में ५६.१ फ़ीसदी

---

* Dr. Fritz Kestner, «*Der Organisationszwang. Eine Untersuchung über die Kämpfe zwischen Kartellen und Aussenseitern*» (अनिवार्य संगठन। कार्टेल तथा बाहरी लोगों के बीच संघर्ष की एक छानबीन। – अनु०), Berlin 1912, पृष्ठ ११।

** R. Liefmann, «*Beteiligungs-und Finanzierungsgesellschaften. Eine Studie über den modernen Kapitalismus und das Effectenwesen*» (होल्डिंग तथा फ़ाइनेंस कम्पनियां – आधुनिक पूंजीवाद तथा सिक्योरिटियों का एक अनुसंधान – अनु०), 1. Aufl. Jena 1909, पृष्ठ २१२।

*** उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ २१८।

**** Dr. S. Tschierschky, «*Kartell und Trust*» (कार्टेल और ट्रस्ट – अनु०), Göttingen, 1903, पृष्ठ १३।

थी।* खनिज धातुओं का उत्पादन इन्हीं वर्षों में क्रमशः ४३.६ फ़ीसदी और ४६.३ फ़ीसदी था।

ट्रस्टों के बारे में अमरीकी सरकार के आयोग की रिपोर्ट में लिखा है: "अपने प्रतियोगियों की तुलना में ट्रस्टों की श्रेष्ठता उनके कारखानों की विशालता और उत्तम प्राविधिक साधनों के कारण है। अपने जन्म से ही तम्बाकू ट्रस्ट ने शारीरिक श्रम के स्थान पर मशीनों के श्रम का बड़े पैमाने पर उपयोग करने की पूरी-पूरी कोशिश की है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उसने उन तमाम पेटेन्टों को ख़रीद लिया जिनका तम्बाकू के बनाने से तनिक भी सम्बंध था और इस काम के लिए उसने बहुत धन ख़र्च किया। इनमें से बहुत से पेटेन्ट शुरू में किसी काम के न साबित हुए और ट्रस्ट में काम करनेवाले इंजीनियरों को उन्हें सुधारना पड़ा। १६०६ के अंत में केवल पेटेन्टों को ख़रीदने के उद्देश्य से दो सहायक कम्पनियां खड़ी की गयीं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए ट्रस्ट ने अपने ढलाई के कारख़ाने, मशीनों और मरम्मत के कारख़ाने बनाये। ब्रुकलिन में ऐसे ही एक कारख़ाने में औसतन ३०० मज़दूर काम करते हैं; इस कारख़ाने में सिगरेटें, चुरुट, सुंघनी, पैकिंग के लिए पन्नी, तथा डिब्बे आदि बनाने से संबंधित आविष्कारों पर बराबर प्रयोग किये जाते हैं। यहीं पर आविष्कारों को पक्का भी किया जाता है।"** "दूसरे ट्रस्ट भी तथाकथित developing engineers (उन्नति करनेवाले इंजीनियरों) को नौकर रखते हैं, जिनका काम ही यह होता है कि वे उत्पादन के नये-नये उपायों को निकालें और प्राविधिक सुधारों की जांच करें। यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कार्पोरेशन उन मज़दूरों और इंजीनियरों को जो प्राविधिक कार्यक्षमता वाला या उत्पादन की लागत को कम करनेवाला आविष्कार करते हैं, बड़े-बड़े बोनस देता है।"***

---

* Th. Vogelstein, «*Organisationsformen*» (संगठन के रूप – अनु०), पृष्ठ २७५।

** *Report of the Commissioner of Corporations on the Tobacco Industry* (तम्बाकू के उद्योग पर कार्पोरेशनों के कमिश्नर की रिपोर्ट), Washington, 1909, पृष्ठ २६६, जिसका हवाला डा० पाल टाफ़ेल ने अपनी पुस्तक «*Die nordamerikanischen Trusts und ihre Wirkungen auf den Fortschritt der Technik*» (उत्तरी अमरीका के ट्रस्ट और प्राविधिक प्रगति पर उनका प्रभाव – अनु०), Stuttgart, 1913, पृष्ठ ४८ में दिया है।

*** डा० पाल टाफ़ेल, उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ ४६।

जर्मनी के बड़े पैमाने के उद्योगों में, उदाहरण के लिए, रसायन उद्योग में जो कि पिछली कुछ दशाब्दियों में इतना अधिक उन्नत हो गया है, प्राविधिक सुधारों को बढ़ावा देने का काम इसी तरह से संगठित किया जाता है। उत्पादन के संकेंद्रण की प्रक्रिया के कारण १६०८ तक जर्मनी में दो मुख्य "गुट" बन गये थे जो कि एक तरह से इजारेदारियां ही थीं। पहले वे दो जोड़ बड़ी फ़ैक्टरियों के बीच "दोहरे गठजोड़े" के रूप में थे; उनमें से हरेक के पास दो करोड़ से दो करोड़ दस लाख मार्क तक की पूंजी थी। इनमें से एक तरफ़ तो हौख़स्ट स्थित पुरानी माइस्टर फ़ैक्टरी और फ़्रैंकफ़ूर्ट आम मेन स्थित कैसेला फ़ैक्टरी थी, और दूसरी ओर, लुडविगशैफ़ेन स्थित सोडा और रंगों की फ़ैक्टरी तथा एल्बरफ़ेल्ड स्थित पुरानी बायर फ़ैक्टरी थी। १६०५ में इनमें से एक गुट ने, और फिर १६०८ में दूसरे ने, अलग-अलग एक और बड़ी फ़ैक्टरी से समझौता कर लिया। परिणाम यह हुआ कि दो "तिहरे गठजोड़े" हो गये, इनमें से हरेक की पूंजी चार से पांच करोड़ मार्क तक हो गयी। और ये "गठजोड़े" एक दूसरे के "निकट" आते जा रहे हैं, क़ीमतों के बारे में उनकी "मिलीभगत" रहने लगी है, आदि।*

प्रतियोगिता बदलकर इजारेदारी बन जाती है। परिणामस्वरूप उत्पादन के सामाजीकरण की दिशा में बड़ी भारी प्रगति होती है। विशेष रूप से प्राविधिक आविष्कारों और सुधारों की प्रक्रिया का सामाजीकरण हो जाता है।

यह चीज़ कारख़ाने वालों के बीच उस पुरानी खुली प्रतियोगिता से बिल्कुल भिन्न है जो इधर-उधर बिखरे हुए रहते थे और जिनका आपस में कोई सम्पर्क नहीं होता था और जो एक अनजाने बाज़ार के लिए माल तैयार करते थे। संकेंद्रण अब इस हद तक पहुंच गया है कि सारे देश के, या जैसा कि हम आगे देखेंगे, बहुत से देशों के, यहां तक कि सारी दुनिया के कच्चे माल के सभी स्रोतों का (जैसे लोहे के खनिज भंडारों का) मोटा-मोटा अनुमान लगाया जा सकता है। न केवल ऐसे तख़मीने बनाये जाते हैं, बल्कि इन ठिकानों पर बड़े-बड़े

---

* Riesser, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, तीसरा संस्करण, पृष्ठ ५४७ तथा उसके आगे के पृष्ठ। अख़बारों में (जून १६१६ के) रिपोर्ट निकली है कि एक नया दानव ट्रस्ट बना है जो जर्मनी के रसायन उद्योग को एकबद्ध किये जा रहा है।

इजारेदार संघ अपना क़ब्ज़ा भी जमा लेते हैं। बाज़ारों की क्षमता का भी एक मोटा तख़मीना बनाया जाता है और संघ समझौता करके उन्हें आपस में "बांट" लेते हैं। होशियार कारीगरों को अपने हाथ में कर लिया जाता है, अच्छे से अच्छे इंजीनियरों को नौकर रख लिया जाता है। यातायात के साधनों पर क़ब्ज़ा कर लिया जाता है: जैसे अमरीका में रेलों पर और यूरोप और अमरीका में जहाज़ी कम्पनियों पर। अपनी साम्राज्यवादी मंज़िल में पूंजीवाद उत्पादन के पूर्णतम सामाजीकरण के द्वार पर आ पहुंचता है; वह पूंजीपतियों को मानो उनकी मर्ज़ी के विरुद्ध और अनजाने ही एक नयी समाज-व्यवस्था में खींच लाता है, जो पूर्ण खुली प्रतियोगिता से पूरे सामाजीकरण के बीच की संक्रमणकालीन समाज-व्यवस्था होती है।

उत्पादन सामाजिक हो जाता है, पर उसका फ़ायदा कुछ व्यक्ति ही उठाते हैं। उत्पादन के सामाजिक साधन कुछ लोगों की ही निजी सम्पत्ति बने रहते हैं। ऊपरी तौर पर खुली प्रतियोगिता का साधारण ढांचा तो बना रहता है, पर बाक़ी जनता पर कुछ थोड़े-से इजारेदारों का जूआ सौ गुना भारी, और भी तकलीफ़देह और असह्य हो उठता है।

जर्मन अर्थशास्त्री, केस्टनर ने एक किताब ख़ास तौर पर "कार्टेलों और बाहरी लोगों के बीच संघर्ष" के विषय पर लिखी है। बाहरी लोगों से उनका मतलब कार्टेलों के बाहर वाले कारख़ानेदारों से है। उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम रखा है 'अनिवार्य संगठन', पर पूंजीवाद को उसके असली रूप में पेश करने के लिए उन्हें, ज़ाहिर है, इजारेदार संघों के आगे अनिवार्य आत्म-समर्पण के बारे में लिखना चाहिए था। कम से कम उस सूची पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेना शिक्षाप्रद है, जिसमें वे सब तरीक़े गिनाये गये हैं जिनका कि इजारेदार संघ "संगठन" के वर्तमान, नवीनतम तथा सभ्य संघर्ष में सहारा लेते हैं: (१) कच्चे माल की सप्लाई बंद कर देना (..."कार्टेल के अन्दर आने के लिए बाध्य करने का यह एक सबसे महत्वपूर्ण उपाय है"); (२) "समझौतों" के द्वारा मज़दूरों का मिलना बंद कर देना (अर्थात् पूंजीपतियों और ट्रेड-यूनियनों के बीच समझौते जिसके द्वारा ट्रेड-यूनियन अपने सदस्यों को केवल कार्टेल के कारख़ानों में ही काम करने की इजाज़त देते हैं); (३) माल की डिलीवरी को बंद कर देना; (४) व्यापार के रास्तों को रोक देना; (५) ख़रीदारों के साथ समझौते

48—I

जिनके कारण वे केवल कार्टेलों से ही व्यापार करने का वचन दे देते हैं; (६) व्यवस्थित रूप से क़ीमतें गिराना ("बाहरी" फ़र्मों को, यानी जो इजारेदारों की बात मानने से इनकार करें, तबाह कर देने के लिए कुछ दिनों तक माल को उसकी लागत से भी नीची दर पर बेचने में लाखों रुपये ख़र्च कर दिये जाते हैं। ऐसा कई बार हुआ है जब इसी उद्देश्य से बेन्ज़ीन की दर ४० मार्क से घटाकर २२ मार्क, यानी लगभग आधी, कर दी गयी थी!); (७) उधार देना बंद कर देना; (८) बहिष्कार करना।

अब यह छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों की, या प्राविधिक दृष्टि से बढ़े हुए और पिछड़े हुए कारख़ानों की प्रतियोगिता नहीं रह गयी। यहां हम देखते हैं कि जो कारख़ाने इजारेदारों की बात नहीं मानते, उनके जूए में अपना कंधा नहीं फंसाते, उनके इशारों पर नहीं नाचते, उन्हें इजारेदार गला घोंटकर मार डालना चाहते हैं। एक पूंजीवादी अर्थशास्त्री इस प्रक्रिया को किस भांति देखता है, यह इससे मालूम हो जाता है:

केस्टनर लिखते हैं: "विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में भी पुराने ढंग का व्यापारिक कामकाज बदलकर संगठनात्मक-सट्टेबाज़ी के कामकाज की तरफ़ बढ़ रहा है। सबसे ज़्यादा सफलता अब उस व्यापारी को नहीं मिलती जो अपने प्राविधिक और व्यावसायिक अनुभव के कारण ख़रीदार की आवश्यकता को सबसे अच्छी तरह समझ सकता हो और जो एक छिपी हुई मांग का पता लगा सकता हो और निहित मांग को सफलतापूर्वक "जगा" सकता हो। अब सफलता सट्टेबाज़ी की प्रतिभावाले (!) उस आदमी को मिलती है जो अलग-अलग कारख़ानों और बैंकों के बीच कुछ ख़ास संबंधों के संगठनात्मक विकास का, उनकी संभावनाओं का, पहले से ही अनुमान लगा सकता हो, या कम से कम उन्हें पहले से महसूस कर सकता हो..."

साधारण मानवी भाषा में इसका अर्थ यह है कि पूंजीवाद का विकास अब ऐसी मंज़िल में आ पहुंचा है जब कि यद्यपि "राज" माल के उत्पादन का ही रहता है और वही आर्थिक जीवन का आधार माना जाता है, किन्तु, वास्तव में उसकी जड़ें खोखली हो चुकी हैं और अधिकांश मुनाफ़ा रुपये-पैसे की जोड़-तोड़ करनेवाले फ़रेबी "उस्तादों" की जेब में पहुंचता है। इन धोखेबाज़ियों और जोड़-तोड़ की बुनियाद में ऐसा उत्पादन है जिसका सामाजीकरण हो गया है; किन्तु

मानवता की इस विशाल उन्नति से जिससे यह सामाजीकरण संभव हुआ है, फ़ायदा होता है... सट्टेबाज़ों को। इस बात पर हम बाद में विचार करेंगे कि किस प्रकार "इन्हीं कारणों से" पूंजीवादी साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावादी और निम्न-पूंजीवादी आलोचक "खुली", "शांतिपूर्ण" और "ईमानदार" प्रतियोगिता में **वापस** लौट जाने के सपने देखते हैं!

केस्टनर लिखते हैं: "कार्टेलों के बनने से क़ीमतों का दीर्घ काल के लिए बढ़ाया जाना अभी तक सिर्फ़ उत्पादन के सबसे महत्वपूर्ण साधनों के बारे में, विशेष करके कोयला, लोहा और पोटाशियम के बारे में ही, देखा गया है, लेकिन तैयार माल के सम्बन्ध में यह बात कभी नहीं देखी गयी है। इसी तरह, इस प्रकार क़ीमतों को बढ़ाने से मुनाफ़े में होनेवाली बढ़ती भी केवल उन्हीं उद्योगों तक सीमित रही है जो उत्पादन के साधनों को पैदा करते हैं। इस अवलोकन के साथ ही हम यह भी जोड़ दें कि उन उद्योगों को, जो कच्चे माल को (आधे तैयार माल को नहीं) तैयार करते हैं, कार्टेल बनने से तैयार माल के उद्योगों के हितों की बलि देकर अधिक मुनाफ़ों की शक्ल में लाभ ही नहीं पहुंचता है, बल्कि उन्होंने तैयार माल के उद्योगों के मुक़ाबले में एक **प्रभुत्वपूर्ण स्थान** भी प्राप्त कर लिया है, जो बात कि खुली प्रतियोगिता के ज़माने में नहीं थी।"*

जिन शब्दों पर हमने ज़ोर दिया है वे इस मामले के सार को प्रगट कर देते हैं जिसको पूंजीवादी अर्थशास्त्री इतना कम और इतनी अनिच्छा से मानते हैं, और जिससे अवसरवाद के आजकल के समर्थक, का० काउत्स्की की अगुवाई में, बचने की और पल्ला छुड़ाने की इतने ज़ोरों से कोशिश करते हैं। प्रभुता और उसके साथ-साथ चलनेवाली हिंसा – "पूंजीवादी विकास की नवीनतम अवस्था" के लाक्षणिक संबंध ऐसे ही हैं; सर्वशक्तिमान आर्थिक इजारेदारियों के बनने से अनिवार्य रूप में यही परिणाम हो सकता था और यही परिणाम हुआ भी है।

कार्टेलों द्वारा काम में लाये जानेवाले उपायों का एक उदाहरण हम और देंगे। कार्टेलों का उदय और इजारेदारियों का बनना वहां बेहद आसान होता है जहां कच्चे माल के सभी या मुख्य स्रोतों पर क़ब्ज़ा करना संभव हो। किन्तु यह

---

*केस्टनर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ २५४।

मान लेना ग़लत होगा कि जिन उद्योगों में कच्चे माल के स्रोतों को हथिया लेना असंभव होता है, उनके अन्दर इजारेदारियां पैदा ही नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, सीमेन्ट-उद्योग के लिए कच्चा माल सब जगह मिल सकता है। तो भी जर्मनी में यह उद्योग पूरी तरह कार्टेलों में जकड़ा हुआ है। सीमेन्ट बनानेवालों ने प्रादेशिक सिंडीकेट—जैसे दक्षिण जर्मनी का सिंडीकेट, राइन-वेस्टफ़ालिया का सिंडीकेट—आदि क़ायम कर लिये हैं। वे जो क़ीमतें तै करते हैं वे इजारेदारी क़ीमतें होती हैं: जैसे रेल के एक डिब्बे के लिए २३० से लगाकर २८० मार्क तक जबकि उसकी लागत सिर्फ़ १८० मार्क होती है। कारख़ाने १२ से १६ फ़ीसदी तक डिवीडेन्ड देते हैं और हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि आधुनिक सट्टेबाज़ी के "उस्ताद" अच्छी तरह जानते हैं कि डिवीडेन्ड के रूप में उन्हें जो कुछ मिलता है उसके अलावा और भी मोटा मुनाफ़ा किस तरह हथियाया जाता है। ऐसे मुनाफ़ेवाले उद्योग में प्रतियोगिता बंद करने के लिए इजारेदार तरह-तरह की तिकड़में भी करते हैं: वे अपने उद्योग की बुरी हालत के बारे में झूठी अफ़वाहें फैलाते हैं, अख़बारों में बिना किसी का नाम दिये हुए चेतावनियां निकाली जाती हैं, जैसे: "पूंजीपतियो, सीमेन्ट के उद्योग में अपनी पूंजी मत लगाओ!" अंत में, वे लोग "बाहरवालों" के (सिंडीकेट से बाहरवालों के) कारख़ानों को ख़रीद लेते हैं, और उन्हें ६०,००० – ८०,००० और यहां तक कि १,५०,००० मार्क तक "मुआवज़ा" दे देते हैं।* इजारेदारी हर जगह "छोटी-सी" रक़म देकर प्रतियोगियों को ख़रीद लेने से लेकर उनके ख़िलाफ़ बारूद का "इस्तेमाल" करने के अमरीकी तरीक़े तक किसी भी उपाय के बारे में कोई संकोच किये बिना हर जगह अपने लिए रास्ता साफ़ कर लेती है।

यह कथन कि कार्टेल संकटों को ख़त्म कर सकते हैं, उन पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों की फैलायी हुई मनगढ़ंत कहानी है जो हर क़ीमत पर पूंजीवाद को अच्छे रूप में दिखाने के लिए उत्सुक रहते हैं। इसके विपरीत, जब उद्योगों की **कुछ ख़ास** शाखाओं में इजारेदारी पैदा हो जाती है तो वह **समूचे** पूंजीवादी उत्पादन में छिपी हुई अराजकता को और भी बढ़ा देती है तथा गहरा कर देती है। कृषि

---

* L. Eschwege, «*Die Bank*» पत्रिका में «*Zement*» (सीमेंट), १९०९, खण्ड १, पृष्ठ ११५ तथा उसके आगे के पृष्ठ।

ग्रौर उद्योगों के विकास की विषमता जो पूरे पूंजीवाद की एक विशेषता है, बढ़ जाती है। कार्टेलों में सबसे ग्रधिक जकड़े हुए उद्योगों की, तथाकथित **भारी** उद्योगों की, विशेषकर लोहे ग्रौर कोयले की विशेष ग्रधिकारपूर्ण स्थिति उत्पादन के दूसरे क्षेत्रों में "व्यवस्थित संगठन को ग्रौर भी कम कर देती है" – जैसा कि जीडेल्स नाम लेखक ने, जिसने "उद्योगों के साथ जर्मनी के बड़े बैंकों के सम्बंध" पर एक श्रेष्ठतम ग्रंथ लिखा है, स्वीकार किया है।*

पूंजीवाद के एक ग्रत्यंत निर्लज्ज समर्थक लिएफ़मैन ने लिखा है: "कोई ग्रार्थिक व्यवस्था जितनी ही ग्रधिक विकसित होती है, उतनी ही ग्रधिक वह ख़तरे से भरे कारोबारों में या विदेशों में स्थित कारख़ानों में हाथ डालती है, ऐसे कारख़ाने जिनके विकसित होने में बहुत ज़्यादा समय लगता है, या फिर ग्रंत में वह ऐसे कारख़ानों में हाथ डालती है जिनका महत्व केवल स्थानीय होता है।"** ज़्यादा ख़तरे का संबंध, दीर्घ काल की दृष्टि से, पूंजी की ग्रपार वृद्धि के साथ है जो मानो छलककर विदेशों ग्रादि की ग्रोर प्रवाहित होने लगती है। साथ ही साथ, तेज़ी के साथ होनेवाली प्राविधिक प्रगति के कारण राष्ट्रीय ग्रर्थतंत्र के विभिन्न क्षेत्रों में विषमता के तत्व ग्रधिकाधिक गड़बड़ी बढ़ाने लगते हैं ग्रौर ग्रराजकता तथा संकट पैदा हो जाते हैं। लिएफ़मैन को यह मानने के लिए लाचार होना पड़ा है कि: "इस बात की पूरी संभावना है कि निकट भविष्य में ही मनुष्य-जाति को ग्रौर भी महत्वपूर्ण प्राविधिक क्रांतियां देखनी पड़ें, जिनका ग्रार्थिक व्यवस्था के संगठन पर भी प्रभाव पड़ेगा"... बिजली ग्रौर हवाई यातायात... "ग्राम तौर पर बुनियादी ग्रार्थिक परिवर्तनों के ऐसे युगों में सट्टेबाज़ी बड़े पैमाने पर होने लगती है।"***

---

* Jeidels, «*Das Verhältnis der deutschen Grossbanken zur Industrie mit besonderer Berücksichtigung der Eisenindustrie*» (उद्योगों के साथ जर्मनी के बड़े बैंकों के संबंध, विशेष रूप से लोहा उद्योग के प्रसंग में – ग्रनु०), Leipzig, 1905, पृष्ठ २७१।

** Liefmann, «*Beteiligungs-und Finanzierungsgesellschaften*», पृष्ठ ४३४।

*** उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ ४६५-४६६।

हर प्रकार के संकट – ज़्यादातर आर्थिक संकट ही, लेकिन केवल ये ही नहीं – उत्पादन के संकेंद्रण और इजारेदारी की प्रवृत्ति को बहुत काफ़ी बढ़ा देते हैं। इस संबंध में १६०० के संकट के महत्व के बारे में, जिस संकट से, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, आधुनिक इजारेदारियों के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ था, जीडेल्स के निम्नलिखित विचार अत्यंत शिक्षाप्रद हैं:

"बुनियादी उद्योगों में दानवाकार कारख़ानों के साथ-साथ, १६०० के संकट के समय, बहुत से कारख़ाने इस ढंग से भी संगठित थे जिसे आज अप्रचलित माना जायेगा, 'विशुद्ध'" (संघों के बाहरवाले) "कारख़ाने जो औद्योगिक तेज़ी की लहर के साथ उठे थे। क़ीमतों के गिरने और मांग के कम होने से इन 'विशुद्ध' कारख़ानों की हालत बड़ी डांवांडोल हो उठी थी, जब कि विशालकाय संघबद्ध कारख़ानों पर या तो इस संकट का बिल्कुल ही असर न पड़ा था, या फिर पड़ा भी था, तो बहुत ही थोड़ें समय के लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि १८७३ के संकट की तुलना में १६०० के संकट की वजह से उद्योगों का कहीं ज़्यादा संकेंद्रण हो गया: १८७३ के संकट के कारण भी सबसे अच्छी तरह से लैस कारख़ानों का एक प्रकार का चुनाव हो गया था, किन्तु उस समय प्राविधिक विकास का स्तर नीचा होने के कारण यह चुनाव उन कारख़ानों को इजारेदारी की हालत में न पहुंचा सका जो संकट को सफलतापूर्वक पार कर आये थे। ऐसी स्थायी इजारेदारी उसकी अत्यंत जटिल प्रविधि, उसके व्यापक संगठन तथा उसमें लगी हुई विपुल पूंजी के कारण बहुत बड़े पैमाने पर लोहे तथा इस्पात और बिजली के आधुनिक उद्योगों के विशालकाय कारख़ानों में और इससे कम पैमाने पर इंजीनियरिंग उद्योग, धातु-उद्योग की कुछ शाखाओं, और यातायात आदि में पायी जाती है।"*

इजारेदारी! "पूंजीवादी विकास की नवीनतम अवस्था" का यह चरम रूप है। किन्तु यदि हम बैंकों की भूमिका पर ध्यान न दें तो आधुनिक इजारेदारियों की असली ताक़त और उनके महत्व का हमें बहुत ही अपर्याप्त, अधूरा और हलका अन्दाज़ा ही हो सकेगा।

---

* Jeidels, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १०८।

२. बैंक और उनकी नयी भूमिका

बैंकों का मुख्य और मूल काम धन के भुगतान में बिचवानी करना है। ऐसा करते हुए वे निष्क्रिय द्रव्य पूंजी को सक्रिय पूंजी में बदल देते हैं, अर्थात् ऐसी पूंजी में जिससे मुनाफ़ा मिल सके, वे तरह-तरह का धन जमा करते हैं और उसे पूंजीपति वर्ग के हाथों में सौंप देते हैं।

जैसे-जैसे बैंकों का कारोबार विकसित होता है और बहुत थोड़े-से संस्थानों में संकेंद्रित हो जाता है, वैसे-वैसे बैंक छोटे-मोटे बिचवानों से बढ़कर शक्तिशाली इजारेदारियों का रूप धारण कर लेते हैं जिनके हाथ में उस देश के सभी पूंजीपतियों तथा छोटे मालिकों की लगभग समस्त द्रव्य पूंजी और उस देश के तथा कई देशों के उत्पादन के साधनों तथा कच्चे माल के स्रोतों का अधिकांश भाग होता है। अनेक छोटे-छोटे बिचवानों का मुट्ठी-भर इजारेदारों में परिवर्तित हो जाना पूंजीवाद के विकसित होकर पूंजीवादी साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेने की एक मूलभूत प्रक्रिया का द्योतक है; इसलिए हमें सबसे पहले बैंकों के कारोबार के संकेंद्रण पर विचार करना चाहिए।

१९०७-०८ में जर्मनी के उन ज्वाइंट-स्टाक बैंकों में, जिनमें से प्रत्येक के पास दस लाख मार्क से अधिक की पूंजी थी, जमा की गयी रक़म कुल मिलाकर ७,००,००,००,००० मार्क थी; १९१२-१३ में जमा की गयी यह रक़म बढ़कर ९,८०,००,००,००० मार्क हो गयी थी। पांच वर्ष में ४० प्रतिशत की वृद्धि; और २,८०,००,००,००० की इस वृद्धि में से २,७५,००,००,००० की वृद्धि ५७ ऐसे बैंकों में बंटी हुई थी जिनमें से प्रत्येक के पास १,००,००,००० मार्क की पूंजी थी। बड़े और छोटे बैंकों के बीच जमा की गयी रक़म का वितरण इस प्रकार था*:

---

* Alfred Lansburgh, «*Fünf Jahre deutsches Bankwesen*» (जर्मनी में बैंकों के कारोबार के पांच वर्ष – अनु०) «*Die Bank*» में, १९१३, अंक ८, पृष्ठ ७२८।

जमा की गयी कुल रक़म का प्रतिशत अनुपात

	बर्लिन के ९ बड़े बैंकों में	एक करोड़ मार्क से ज़्यादा की पूंजी वाले दूसरे ४८ बैंकों में	दस लाख से लेकर एक करोड़ मार्क तक की पूंजी वाले ११५ बैंकों में	(दस लाख से कम मार्क की पूंजीवाले) छोटे बैंकों में
१९०७-०८	४७	३२.५	१६.५	४
१९१२-१३	४९	३६	१२	३

बड़े बैंक छोटे बैंकों को कारोबार से बाहर निकाले दे रहे हैं, इन बड़े बैंकों में से केवल नौ ही के हाथ में कुल जमा की गयी रक़म का लगभग आधा भाग केंद्रित है। परन्तु हमने तफ़सील की बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों को छोड़ दिया है, उदाहरण के लिए यह बात कि कई छोटे-छोटे बैंक एक तरह से बड़े बैंकों की शाखा बनकर रह गये हैं, आदि। इसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ ने १९१३ के अंत में यह अनुमान लगाया था कि कुल मिलाकर जो लगभग १०,००,००,००,००० मार्क की रक़म बैंकों में जमा की गयी थी उसमें से ५,१०,००,००,००० मार्क बर्लिन के नौ बड़े बैंकों में जमा किये गये थे। केवल बैंकों में जमा की गयी रक़म को ही नहीं बल्कि बैंकों की कुल पूंजी को ध्यान में रखते हुए इस लेखक ने लिखा था: "१९०९ के अंत में बर्लिन के नौ बड़े बैंकों का, **उनसे सम्बद्ध बैंकों सहित**, ११,३०,००,००,००० मार्क पर, अर्थात् जर्मनी के बैंकों की कुल पूंजी के ८३ प्रतिशत भाग पर क़ब्ज़ा था। प्रशिया के राज्यीय रेलवे-प्रशासन के बराबर दर्जे पर "जर्मन बैंक" («Deutsche Bank»), **अपने सम्बद्ध बैंकों सहित**, जिसके क़ब्ज़े में लगभग ३,००,००,००,००० मार्क हैं, पुराने विश्व में पूंजी के सबसे विशाल और साथ ही सबसे विकेंद्रित संचय का प्रतिनिधित्व करता है।"*

---

* Schulze-Gaevernitz, «*Grundriss der Sozialökonomik*» में «*Die deutsche Kreditbank*» (सामाजिक अर्थशास्त्र की रूपरेखा में जर्मनी के ऋण बैंक – अनु०), Tübingen 1915, पृष्ठ १२ तथा १३७।

हमने "सम्बद्ध" बैंकों के हवाले पर ज़ोर इसलिए दिया है कि यह आधुनिक पूंजीवादी संकेंद्रण की एक सबसे महत्वपूर्ण लाक्षणिक विशेषता है। बड़े कारख़ाने, और विशेष रूप से बैंक, छोटे कारख़ानों को केवल पूरी तरह हड़प ही नहीं लेते हैं बल्कि उनकी पूंजी में "होल्डिंगें" हासिल करके, शेयर ख़रीदकर या शेयरों का विनिमय करके, ऋणों की एक श्रृंखला आदि, आदि उपायों द्वारा उन्हें "अपने में मिला लेते" हैं, उन्हें अपने अधीन कर लेते हैं और उन्हें "अपने" समूह या (यदि हम इस व्यवसाय की ठेठ शब्दावली का प्रयोग करें) अपने "कंसर्न" में ले आते हैं। प्रोफ़ेसर लिएफ़मैन ने लगभग ५०० पृष्ठ का एक बहुत मोटा "ग्रंथ" लिखा है जिसमें उन्होंने आधुनिक "होल्डिंग तथा फ़ाइनैन्स कम्पनियों" का वर्णन किया है;* पर दुर्भाग्यवश उस मूल सामग्री के साथ जिसे वह बहुधा पचा नहीं पाये हैं उन्होंने बहुत ही घटिया क़िस्म के अपने "सैद्धांतिक" विचार भी जोड़ दिये हैं। संकेंद्रण के सिलसिले में "होल्डिंग" की इस पद्धति का क्या परिणाम होता है इसका सबसे अच्छा विवरण जर्मनी के बड़े बैंकों के बारे में रीसेर की, जो स्वयं एक "बैंकवाले" हैं, पुस्तक में मिलता है। परन्तु उनकी तथ्य-सामग्री को जांचने से पहले हम "होल्डिंग" पद्धति का एक ठोस उदाहरण देंगे।

"जर्मन बैंक" "समूह", बैंक का बड़ा कारोबार करनेवाले समूहों में यदि सबसे बड़ा नहीं तो सबसे बड़े समूहों में से एक ज़रूर है। इस समूह के सभी बैंक जिन मुख्य सूत्रों द्वारा आपस में बंधे हुए हैं उनका पता लगाने के लिए पहली, दूसरी तथा तीसरी कोटि की "होल्डिंगों" के बीच अंतर करना, या जिस बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पहली, दूसरी तथा तीसरी कोटि की निर्भरता ("जर्मन बैंक" पर छोटे बैंकों की) में अंतर करना आवश्यक है। इससे हमें निम्नलिखित चित्र मिलता है**:

---

* R. Liefmann, «*Beteiligungs-und Finanzierungsgesellschaften. Eine Studie über den modernen Kapitalismus und das Effektenwesen*», 1, Aufl. Jena 1909, पृष्ठ २१२।

** Alfred Lansburgh, «*Die Bank*» में «*Das Beteiligungssystem im deutschen Bankwesen*» (जर्मनी के बैंक के कारोबार में होल्डिंग की पद्धति —अनु०), १९१०, १, पृष्ठ ५००।

	निर्भरता, पहली कोटि की	निर्भरता, दूसरी कोटि की	निर्भरता, तीसरी कोटि की
"जर्मन बैंक" की होल्डिंगें — स्थायी रूप से . .	१७ बैंकों में	जिनमें से ९ हैं ३४ में	जिनमें से ४ हैं ७ में
अनिश्चित काल के लिए . . .	५ बैंकों में	–	–
कभी-कभी . . .	८ बैंकों में	जिनमें से ५ हैं १४ में	जिनमें से २ हैं २ में
कुल योग	३० बैंकों में	जिनमें से १४ हैं ४८ में	जिनमें से ६ हैं ९ में

"कभी-कभी" वाले उन आठ बैंकों में जिनकी "जर्मन बैंक" पर निर्भरता "पहली कोटि" की है, तीन विदेशी बैंक हैं: एक आस्ट्रियाई (Wiener Bankverein) और दो रूसी (साइबेरियन कमर्शियल बैंक और वैदेशिक व्यापारार्थ रूसी बैंक)। कुल मिलाकर "जर्मन बैंक" के समूह में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, आंशिक रूप से या पूर्णतः, ८७ बैंक हैं; और कुल पूंजी का अनुमान – उसकी अपनी और उन दूसरे बैंकों की जिनपर उसका नियंत्रण है – २ और ३ अरब मार्क के बीच में लगाया जाता है।

यह बात स्पष्ट है कि जो बैंक ऐसे समूह का मुखिया हो और जो राज्य के लिए ऋण जुटाने जैसे असाधारण रूप से बड़े तथा लाभदायक कारोबार को चलाने के लिए अपने से कुछ ही छोटे लगभग आधे दर्जन दूसरे बैंकों के साथ समझौते करता हो, वह "बिचवान" की हैसियत से बहुत बढ़ गया है और वह मुट्ठी-भर इजारेदारों का संघ बन गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी में बैंक के कारोबार का संकेंद्रण किस तेज़ी के साथ बढ़ा इसका पता निम्नलिखित आंकड़ों से चलता है जिन्हें हम संक्षिप्त रूप में रीसेर की पुस्तक से उद्धृत कर रहे हैं।

बर्लिन के छः बड़े बक

वर्ष	जर्मनी में शाखाएं	जमा करने के बैंक और विनिमय के दफ़्तर	जर्मनी के ज्वाइंट-स्टाक बैंकों में स्थायी होल्डिंगें	कुल संस्थान
१८६५	१६	१४	१	४२
१६००	२१	४०	८	८०
१६११	१०४	२७६	६३	४५०

हम तीव्र गति से ऐसे माध्यमों का एक घना जाल बढ़ता हुआ देखते हैं जो सारे देश में फैला हुआ है, जो सारी पूंजी तथा सारी आय को केंद्रित किये ले रहा है, हज़ारों बिखरे हुए आर्थिक कारोबारों को एक ही राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थतंत्र में, और फिर एक विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र में बदले दे रहा है। पूर्वोक्त उद्धरण में शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ ने वर्तमान पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के व्याख्याकार की हैसियत से जिस "विकेंद्रीकरण" का उल्लेख किया है उसका अर्थ वास्तव में यह है कि पहले जो आर्थिक इकाइयां अपेक्षतः "स्वतंत्र" थीं, या कहना चाहिए, बिल्कुल स्थानीय थीं वे अधिकाधिक संख्या में एक ही केंद्र के आधीन आती जायें। वास्तव में यह **केंद्रीकरण** है, विशालकाय इजारेदारों की भूमिका, उनके महत्व तथा उनकी शक्ति को बढ़ाना है।

पुराने पूंजीवादी देशों में "बैंकों के कारोबार का यह जाल" और भी घना है। १६१० में ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड में बैंकों की शाखाओं की कुल संख्या ७,१५१ थी। चार बड़े बैंक ऐसे थे जिनमें से हर एक की ४०० से अधिक (४४७ से ६८६ तक) शाखाएं थीं; चार बैंक ऐसे थे जिनमें से हर एक की २०० से अधिक शाखाएं थीं और ग्यारह ऐसे थे जिनमें से हर एक की १०० से अधिक शाखाएं थीं।

फ़्रांस के **तीन** बहुत बड़े बैंकों ने, *Crédit Lyonnais, Comptoir Nati-*

onal और *Société Générale** ने, अपना कारोबार और अपनी शाखाओं का जाल इस प्रकार फैला रखा था** :

वर्ष	शाखाओं और दफ़्तरों की संख्या			पूंजी, लाख फ़्रांकों में	
	प्रांतों में	पेरिस में	कुल	अपनी पूंजी	उधार ली हुई पूंजी
१८७०	४७	१७	६४	२,०००	४,२७०
१८९०	१९२	६६	२५८	२,६५०	१२,४५०
१९०९	१,०३३	१९६	१,२२९	८,८७०	४३,६३०

एक बड़े आधुनिक बैंक के "संबंधों" को बताने के लिए रीसेर ने «*Disconto-Gesellschaft*» नामक बैंक से भेजे जानेवाले और वहां आनेवाले पत्रों की संख्या के बारे में निम्नलिखित आंकड़े दिये हैं; यह बैंक जर्मनी के और दुनिया के सबसे बड़े बैंकों में से एक है (१९१४ में इसकी पूंजी ३०,००,००,००० मार्क थी):

	पत्र आये	पत्र भेजे गये
१८५२	६,१३५	६,२९२
१८७०	८५,८००	८७,५१३
१९००	५,३३,१०२	६,२६,०४३

पेरिस के «*Crédit Lyonnais*» नामक बड़े बैंक में १८७५ में २८,५३५ लोगों के खाते खुले हुए थे, १९१२ में यह संख्या बढ़कर ६,३३,५३९ हो गयी।***

ये सीधे-सादे आंकड़े शायद लम्बी-चौड़ी व्याख्याओं की अपेक्षा ज्यादा अच्छे ढंग से यह प्रकट कर देते हैं कि पूंजी के संकेंद्रण तथा बैंकों के लेन-देन

---

* "लिओन का ऋण बैंक", "हिसाब का राष्ट्रीय दफ़्तर", "जेनरल सोसायटी" – अनु०।

** Eugen Kaufmann, «*Das französische Bankwesen*», Tübingen, 1911, पृष्ठ ३५६ तथा ३६२।

*** Jean Lescure, «*L'épargne en France*» (फ़्रांस में बचत – अनु०), Paris, 1914, पृष्ठ ५२।

में वृद्धि के कारण किस प्रकार बैंकों का महत्व बुनियादी तौर पर बदलता जा रहा है। बिखरे हुए अलग-अलग पूंजीपति एक ही सामूहिक पूंजीपति का रूप धारण कर लेते हैं। जब तक कोई बैंक कुछ पूंजीपतियों के चालू खातों का हिसाब रखता है तब तक वह एक प्रकार से एक शुद्धतः प्राविधिक तथा पूर्णतः सहायक कार्य करता है। परन्तु जब यह कारोबार बेहद बढ़ जाता है तब हम देखते हैं कि मुट्ठी-भर इजारेदार पूरे पूंजीवादी समाज के सारे कारोबार को, वाणिज्यिक भी और औद्योगिक भी, अपनी इच्छा के आधीन कर लेते हैं; क्योंकि अपने बैंक के कारोबार के फलस्वरूप स्थापित संबंधों, अपने चालू खातों और अन्य वित्तीय कारोबार के ज़रिये – उन्हें इस बात का मौक़ा मिलता है कि पहले तो वे विभिन्न पूंजीपतियों के बारे में **ठीक-ठीक पता लगा सकें** कि उनकी वित्तीय स्थिति क्या है, फिर उन्हें ऋण देना कम करके या बढ़ाकर, ऋण की सुविधा प्रदान करके या उसमें बाधा डालकर, उनपर **नियंत्रण रख सकें** और अंत में उनके भाग्य को **पूरी तरह अपने वश में कर लें**, उनकी आय निर्धारित करें, उन्हें पूंजी से वंचित कर दें, या उन्हें अपनी पूंजी बड़ी तेज़ी से तथा बेहद बढ़ा लेने दें, आदि।

हम अभी «*Disconto-Gesellschaft*» बैंक की ३०,००,००,००० मार्क की पूंजी का उल्लेख कर चुके हैं। इस बैंक की पूंजी में यह वृद्धि बर्लिन के दो सबसे बड़े बैंकों के बीच – «*Deutsche Bank*» (जर्मन बैंक) तथा «*Disconto*» के बीच – प्रमुख स्थान पाने के लिए होनेवाले संघर्ष की अनेक घटनाओं में से एक थी। १८७० में पहला वाला बैंक अभी नया-नया ही मैदान में आया था और उसकी पूंजी सिर्फ़ १,५०,००,००० मार्क की थी, जबकि दूसरे वाले की पूंजी ३,००,००,००० मार्क थी। १९०८ में पहले वाले की पूंजी २०,००,००,००० मार्क थी और दूसरे वाले की १७,००,००,०००। १९१४ में पहले वाले ने अपनी पूंजी बढ़ाकर २५,००,००,००० कर ली और दूसरे वाले ने एक और प्रथम कोटि के बैंक «*Schaaffhausenscher Bankverein*» के साथ मिलकर अपनी पूंजी बढ़ाकर ३०,००,००,००० मार्क कर ली। और ज़ाहिर है कि प्रमुखतम स्थान प्राप्त करने के इस संघर्ष के साथ ही इन दो बैंकों के बीच ज़्यादा टिकाऊ क़िस्म के "समझौते" भी ज़्यादा मौक़ों पर होते रहे। बैंकों के कारोबार के इस विकास से बैंकों के कारोबार के विशेषज्ञ, जो आर्थिक प्रश्नों को एक ऐसे दृष्टिकोण से देखते हैं, जो अत्यंत नरम

तथा सतर्क पूंजीवादी सुधारवाद की सीमाओं से रत्ती भर भी आगे नहीं जाता, जिन निष्कर्षों पर पहुंचने पर मजबूर हुए हैं वे निम्नलिखित हैं:

«Disconto-Gesellschaft» की पूंजी बढ़कर ३०,००,००,००० मार्क तक पहुंच जाने पर टीका करते हुए *«Die Bank»* नामक जर्मन पत्रिका ने लिखा: "दूसरे बैंक भी यही रास्ता अपनायेंगे और आज आर्थिक दृष्टि से जर्मनी पर जिन तीन सौ लोगों का शासन है उनकी संख्या धीरे-धीरे घटते-घटते पचास, पच्चीस या इससे भी कम रह जायेगी। यह आशा नहीं की जा सकती कि संकेंद्रण की दिशा में यह नवीनतम प्रगति बैंकों के कारोबार तक ही सीमित रहेगी। अलग-अलग बैंकों के बीच जो घनिष्ठ संबंध हैं उनका परिणाम स्वाभाविक रूप से यह होता है कि वे औद्योगिक सिंडीकेट, जिनपर इन बैंकों की कृपादृष्टि रहती है, एक-दूसरे के साथ आते जाते हैं... एक दिन अचानक हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि हमारी आंखों के सामने ट्रस्टों के अलावा और कुछ नहीं है और हमारे सामने इस बात की आवश्यकता आ खड़ी होगी कि हम इन निजी इजारेदारियों के स्थान पर राज्यीय इजारेदारियों की स्थापना करें। परन्तु हम अपने आपको इसके अलावा और किसी बात के लिए दोष नहीं दे सकते कि हमने घटनाओं को अपने रास्ते पर स्वच्छंद रूप से बढ़ने दिया, उनकी रफ़्तार स्टाकों में हेर-फेर करके कुछ तेज़ ज़रूर कर दी गयी थी।"*

यह पूंजीवादी पत्रकारिता की शक्तिहीनता का एक उदाहरण है, जो पूंजीवादी विज्ञान से केवल इस दृष्टि से भिन्न है कि पूंजीवादी विज्ञान कम ईमानदार है और वह समस्या के सार पर परदा डालने की कोशिश करता है, वह जंगल को पेड़ों की आड़ में छुपाने की कोशिश करता है। संकेंद्रण के परिणामों पर "आश्चर्य" प्रकट करना, पूंजीवादी जर्मनी की सरकार को, या पूंजीवादी "समाज" को ("अपने आपको") "दोष देना", और इस बात से कि स्टाकों तथा शेयरों के प्रचलन से कहीं संकेंद्रण की "रफ़्तार तेज़" न हो जाये उसी प्रकार डरना जैसे जर्मन "कार्टेल" विशेषज्ञ त्शिएर्शकी अमरीकी ट्रस्टों से डरता है और जर्मन कार्टेलों को इसलिए "ज़्यादा पसंद करते हैं" कि

---

* A. Lansburgh, *«Die Bank»* में *«Die Bank mit den 300 Millionen»*, 1914, 1, पृष्ठ ४२६।

उनसे "संभव है कि ट्रस्टों की तरह प्राविधिक तथा आर्थिक प्रगति की रफ़्तार अत्यधिक तेज़ न हो"*—यह शक्तिहीनता नहीं तो और क्या है?

लेकिन जो हक़ीक़त है वह हक़ीक़त है। जर्मनी में ट्रस्ट हैं ही नहीं, वहां तो "बस" कार्टेल हैं—परन्तु जर्मनी पर ज़्यादा से ज़्यादा तीन सौ बड़े-बड़े पूंजीवालों का **शासन** है, और इनकी संख्या घटती जा रही है। कुछ भी हो, सभी पूंजीवादी देशों में, उनके बैंकों के कारोबार के क़ानूनों में अंतर होने के बावजूद, बैंक पूंजी के संकेंद्रण तथा इजारेदारियों के निर्माण की प्रक्रिया को बहुत गहरा और तेज़ कर देते हैं।

मार्क्स ने 'पूंजी' में अब से पचास वर्ष पहले लिखा था कि बैंकों की पद्धति "सचमुच बही-खाते रखने की आम प्रणाली और उत्पादन के साधनों को सामाजिक पैमाने पर वितरित करने के रूप को प्रस्तुत करती है, परन्तु केवल रूप को ही"। (रूसी अनुवाद, खंड ३, भाग २, पृष्ठ १४४।) हमने बैंकों की पूंजी में वृद्धि, सबसे बड़े बैंकों की शाखाओं तथा कार्यालयों की संख्या में वृद्धि और उनमें खातों की संख्या में वृद्धि आदि के बारे में जो आंकड़े उद्धृत किये हैं उनसे **पूरे** पूंजीपति वर्ग की "बही-खाते रखने की इस आम प्रणाली" का एक ठोस चित्र हमारी आंखों के सामने आता है—और केवल पूंजीपति वर्ग की ही नहीं, क्योंकि बैंक, अस्थायी रूप से ही सही, तरह-तरह का पैसा जमा करते हैं—छोटे व्यापारियों का, दफ़्तरों के क्लर्कों का, और मज़दूर वर्ग के उच्च स्तर के बहुत ही अल्पसंख्यक लोगों का। "उत्पादन के साधनों का सब लोगों में वितरण" बाहर से देखने में आधुनिक बैंकों से **पैदा होता** है, जिनमें फ़्रांस के तीन से छः तक और जर्मनी के छः से आठ तक सबसे बड़े बैंक आते हैं और जिनके क़ब्ज़े में अरबों की पूंजी है। परन्तु **असलियत** में उत्पादन के साधन का वितरण "सब लोगों में" नहीं बल्कि निजी होता है, अर्थात् वह बड़ी पूंजी के, और मुख्यतः विशाल इजारेदार पूंजी के हितों के अनुकूल होता है, जो ऐसी परिस्थितियों में अपना कारोबार चलाती है जिसमें सर्वसाधारण अभाव का शिकार रहते हैं, जिसमें कृषि का पूरा विकास उद्योगों के विकास

---

* S. Tschierschky, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १२८।

से बेहद पीछे रहता है, और स्वयं उद्योगों में भी "भारी उद्योग" उद्योगों की अन्य सभी शाखाओं को अपने आगे नतमस्तक रखता है।

पूंजीवादी अर्थतंत्र के सामाजीकरण के मामले में बचत-बैंक और डाकख़ाने बैंकों से टक्कर लेने लगे हैं, वे ज़्यादा "विकेंद्रित" हैं अर्थात् उनका प्रभाव ज़्यादा जगहों में, ज़्यादा सुदूर स्थित स्थानों में और जनसंख्या के व्यापकतर क्षेत्रों में फैला हुआ है। बैंकों तथा बचत-बैंकों में जमा की गयी रक़म में तुलनात्मक वृद्धि की छानबीन करने के लिए नियुक्त किये गये एक अमरीकी कमीशन द्वारा एकत्रित आंकड़े इस प्रकार हैं*:

जमा की गयी रक़म (अरब मार्कों में)

	इंगलैंड		फ़्रांस		जर्मनी		
	बैंक	बचत-बैंक	बैंक	बचत-बैंक	बैंक	ऋण सोसायटियां	बचत-बैंक
१८८०	८.४	१.६	?	०.६	०.५	०.४	२.६
१८८८	१२.४	२.०	१.५	२.१	१.१	०.४	४.५
१९०८	२३.२	४.२	३.७	४.२	७.१	२.२	१३.९

चूंकि बचत-बैंक जमा की गयी रक़म पर ४ प्रतिशत और ४.२५ प्रतिशत व्याज देते हैं, इसलिए उन्हें अपनी पूंजी लगाने के लिए "लाभदायक" माध्यमों की खोज करनी पड़ती है, उन्हें हुंडियों और गिरवी आदि का काम करना पड़ता है। बैंकों तथा बचत-बैंकों का अंतर "धीरे-धीरे मिटता जाता है"। उदाहरण के लिए, बोहुम तथा एर्फ़ुर्ट के चैम्बर आफ़ कामर्स यह मांग करते हैं कि बचत-बैंकों के "शुद्धत:" बैंकों के कारोबार वाले कामों, जैसे हुंडियां भुनाने पर, हाथ डालने पर "रोक लगा दी जाये", वे मांग करते हैं कि डाकख़ानों के "बैंक के कारोबार" वाले कामों को सीमित कर दिया जाये।**

* National Monetary Commission के आंकड़े *«Die Bank»* में उद्धृत, १९१०, १, पृष्ठ १२००।

** उपरोक्त पुस्तक, १९१३, पृष्ठ ८११, १०२२; १९१४, पृष्ठ ७१३।

बड़े-बड़े बैंकपतियों को शायद इस बात का डर है कि राज्यीय इजारेदारी एक अप्रत्याशित दिशा से उनसे आगे निकल जायेगी। परंतु यह बताने की ज़रूरत नहीं कि यह भय, एक प्रकार से, एक ही दफ़्तर के दो विभागों के मैनेजरों की प्रतिद्वंद्विता की अभिव्यक्ति से अधिक और कुछ नहीं है; क्योंकि एक तरफ़ तो बचत-बैंकों के हाथों में जो अरबों की रक़म सौंपी जाती है उसपर अंततः वास्तव में **इन्हीं** बड़े-बड़े बैंकपतियों का क़ब्ज़ा रहता है, और दूसरी तरफ़, पूंजीवादी समाज में राज्यीय इजारेदारी उद्योगों की किसी एक या दूसरी शाखा में इन करोड़पतियों की आय को बढ़ाने तथा सुनिश्चित बनाने का एक साधन मात्र होती है, जिनका दिवाला निकलनेवाला होता है।

पुराने ढंग के पूंजीवाद का, जिसमें खुली प्रतियोगिता का बोलबाला था, नये पूंजीवाद में, जिसमें इजारेदारी का राज्य होता है, बदल जाना, और बातों के अतिरिक्त इस बात में व्यक्त होता है कि स्टाक एक्सचेंज का महत्व घट गया है। *«Die Bank»* नामक पत्रिका लिखती है: "स्टाक एक्सचेंज अब परिचालन का वैसा अनिवार्य माध्यम नहीं रह गये हैं जैसा कि वे पहले थे जबकि बैंकों में अधिकांश नये शेयरों को अपने ग्राहकों के हाथ बेचने की सामर्थ्य पैदा नहीं हो पायी थी।"*

"'हर बैंक एक स्टाक एक्सचेंज होता है' और जो बैंक जितना ही बड़ा होता है और उसके हाथों में बैंक का कारोबार जितनी सफलतापूर्वक संकेंद्रित होता है, उतनी ही अधिक हद तक यह आधुनिक परिभाषा उसपर चरितार्थ होती है।"** "जबकि पहले, उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में, स्टाक एक्सचेंजों ने अपनी जवानी के जोश में" (यह "छुपा हुआ" संकेत १८७३ में स्टाक एक्सचेंज के बैठ जाने, ग्रयून्दर हुल्लड़[151] आदि की ओर है) "जर्मनी के उद्योगीकरण के युग का श्रीगणेश किया था, आजकल बैंक और उद्योग 'अकेले ही' इस काम को कर लेते हैं। स्टाक एक्सचेंज पर हमारे बड़े बैंकों का प्रभुत्व पूर्णतः संगठित जर्मन औद्योगिक राज्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त

---

* *«Die Bank»*, १९१४, १, पृष्ठ ३१६।

** Dr. Oscar Stillich, *«Geld-und Bankwesen»*, Berlin, 1907, पृष्ठ १६९।

27—1

और कुछ नहीं है। अपने आप काम करनेवाले आर्थिक नियमों का क्षेत्र यदि इस प्रकार संकुचित हो जाता है, और यदि बैंकों द्वारा सचेत रूप से नियमन का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है तो संचालन करनेवाले कुछ इने-गिने लोगों का राष्ट्रीय आर्थिक उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है।" यह बात जर्मन प्रोफ़ेसर शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़* ने लिखी है, जो जर्मन साम्राज्यवाद के समर्थक हैं और जिन्हें सभी देशों के साम्राज्यवादी इस विषय का पंडित मानते हैं; और वह एक "छोटी-सी ब्यौरे की बात" को छिपाये रखने की कोशिश करते हैं, यानी इस बात को कि बैंकों द्वारा आर्थिक जीवन का "सचेत रूप से नियमन" इस बात में है कि मुट्ठी-भर "पूर्णतः संगठित" इजारेदार पब्लिक का ख़ून निचोड़ लेते हैं। पूंजीवादी प्रोफ़ेसर का काम यह नहीं होता कि वह सारी व्यवस्था के तमाम कलपुर्ज़ों को खोलकर सबके सामने रख दे या बैंक के इजारेदारों के सारे हथकंडों को सबके सामने ज़ाहिर कर दे, बल्कि उसका काम तो उन्हें आकर्षक रूप में पेश करना होता है।

इसी प्रकार रीसेर, जो और भी प्रामाणिक अर्थशास्त्री हैं और स्वयं "बैंकवाले" हैं, अकाट्य तथ्यों को उल्टा-सीधा समझा देने के लिए निरर्थक शब्दों से खेलते हैं: "...स्टाक एक्सचेंजों में से उनकी वह विशेषता बिल्कुल ग़ायब होती जा रही है जो पूरे राष्ट्रीय अर्थतंत्र के लिए, और विशेष रूप से प्रतिभूतियों (सिक्योरिटियों) के परिचालन के लिए, नितांत आवश्यक है—अर्थात् उनकी यह विशेषता कि वे उन आर्थिक हलचलों का, जो आकर उनमें केंद्रित होती हैं, एक अत्यंत नपा-तुला मापदंड ही नहीं होते बल्कि उन हलचलों का प्रायः बिल्कुल ही अपने आप काम करनेवाला नियामक-यंत्र भी होते हैं।"**

दूसरे शब्दों में पुराना पूंजीवाद, खुली प्रतियोगिता का पूंजीवाद, जिसके साथ उसके अनिवार्य नियामक-यंत्र के रूप में स्टाक एक्सचेंज होता था, लुप्त होता जा रहा है। उसका स्थान लेने के लिए एक नये पूंजीवाद का जन्म हो गया है, जिसमें एक संक्रमणकालीन वस्तु की विशेषताएं स्पष्ट हैं, खुली प्रतियोगिता

---

* Schulze-Gaevernitz, «*Crundriss der Sozialökonomik*» में «*Die deutsche Kreditbank*», Tübingen, 1915, पृष्ठ १०१।

** Reisser, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, चौथा संस्करण, पृष्ठ ६२६।

ग्रौर इजारेदारी का मेल। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है: नया पूंजीवाद **किस चीज़ की ग्रोर** "संक्रमित" हो रहा है? परन्तु पूंजीवादी विद्वान इस प्रश्न को उठाने से डरते हैं।

"तीस बरस पहले, एक-दूसरे से खुली प्रतियोगिता करके व्यापारी 'मज़दूरों' के शारीरिक श्रम को छोड़कर ग्रपने कारोबार से संबंधित नव्वे प्रतिशत ग्रार्थिक काम स्वयं कर लेते थे। इस समय नव्वे प्रतिशत दिमाग़ी काम **पदाधिकारी** करते हैं। बैंकों का कारोबार इस विकास में सबसे ग्रागे है।"* शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ की यह स्वीकारोक्ति हमारे सामने एक बार फिर यह सवाल खड़ा कर देती है: यह नया पूंजीवाद, साम्राज्यवाद की मंज़िल में पूंजीवाद, किस चीज़ की ग्रोर संक्रमित हो रहा है? ---

संकेंद्रण की प्रक्रिया के फलस्वरूप पूरे पूंजीवादी ग्रर्थतंत्र में सबसे ऊपर जो थोड़े-से इने-गिने बैंक रह गये हैं, उनमें स्वाभाविक रूप से इजारेदारी समझौतों की दिशा में, **बैंकों का एक ट्रस्ट** बनाने की दिशा में, बढ़ने की प्रवृत्ति ग्रधिकाधिक स्पष्ट रूप में दिखायी देती है। ग्रमरीका में नौ नहीं बल्कि **दो** बहुत बड़े बैंकों के हाथों में, राकफ़ेलर तथा मार्गन नामक ग्ररबपतियों के बैंकों के हाथों में, ग्यारह ग्ररब मार्क की पूंजी है।** जर्मनी में «*Disconto-Gesellschaft*» बैंक में «*Schaaffhausenscher Bankverein*» के विलय के बारे में, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, स्टाक एक्सचेंज के हितों को व्यक्त करनेवाले मुखपत्र «*Frankfurter Zeitung*» ने निम्नलिखित शब्दों में टीका की:

"बैंकों के संकेंद्रण ग्रांदोलन के कारण ऐसे संस्थानों का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा है जिनसे ऋण मिल सकता है, ग्रौर फलस्वरूप बैंकों के बहुत थोड़े से समूहों पर बड़े उद्योगों की निर्भरता बढ़ती जा रही है। उद्योगों तथा वित्तीय जगत के घनिष्ठ संबंधों को देखते हुए ऐसी ग्रौद्योगिक कम्पनियों की कामकाज की स्वतंत्रता, जिन्हें बैंक की पूंजी की ग्रावश्यकता पड़ती है, सीमित हो गयी है। इस कारण बड़े उद्योग इस बात को मिश्रित भावनाग्रों के साथ देखते हैं कि

---

* Schulze-Gaevernitz, «*Grundriss der Sozialökonomik*» में «*Die deutsche Kreditbank*», Tübingen, 1915, पृष्ठ १५१।

** «*Die Bank*», १९१२, १, पृष्ठ ४३५।

बैंक ज़्यादा से ज़्यादा बड़े पैमाने पर अपने ट्रस्ट बनाने की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। वास्तव में हम कई बार बैंक का कारोबार करनेवाली बड़ी-बड़ी कम्पनियों के बीच ऐसे समझौतों की शुरूआत देख चुके हैं जिनका उद्देश्य प्रतियोगिता की शुरूआत को सीमित करना होता है।"*

बार-बार यही कहना पड़ता है कि बैंक के कारोबार के विकास का अंतिम रूप इजारेदारी है।

जहां तक बैंकों और उद्योगों के घनिष्ठ संबंध का सवाल है, तो यही वह क्षेत्र है जिसमें बैंकों की नयी भूमिका शायद सबसे ज़्यादा स्पष्ट रूप में अनुभव की जाती है। जब कोई बैंक किसी कारख़ानेदार की हुंडी का भुगतान करता है, या उसका चालू खाता खोलता है आदि, तो अलग-अलग तो ये सारे काम किसी भी प्रकार उस व्यवसायी की स्वतंत्रता को कम नहीं करते और इसमें बैंक की भूमिका एक सीधे-सादे बिचवान के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। परन्तु जब इस प्रकार के लेन-देन संख्या में बहुत बढ़ जाते हैं और एक स्थायी व्यवहार का रूप धारण कर लेते हैं, जब बैंक अपने हाथों में विपुल पूंजी "एकत्रित" कर लेते हैं, जब किसी कारख़ाने के चालू खाते का हिसाब-किताब रखने से बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक दशा के बारे में ज़्यादा पूर्ण और ज़्यादा विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की स्थिति में हो जाता है – और होता भी यही है – तो इसका परिणाम यह होता है कि औद्योगिक पूंजीपति और भी पूरी तरह बैंक पर निर्भर हो जाता है।

इसके साथ ही बैंकों और बड़े-बड़े औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कारोबारों के बीच एक प्रकार का वैयक्तिक संबंध स्थापित हो जाता है, बैंक इन औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कारोबारों के और ये कारोबार इन बैंकों के निरीक्षण मंडलों (या संचालक मंडलों) में अपने अपने संचालक नियुक्त करके या एक-दूसरे के शेयर ख़रीदकर एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं। जर्मन अर्थशास्त्री जीडेल्स ने पूंजी तथा कारोबारों के संकेंद्रण के इस रूप के बारे में अत्यंत विस्तृत आंकड़े संकलित किये हैं। बर्लिन के छः सबसे बड़े बैंकों का प्रतिनिधित्व अपने संचालकों के ज़रिये ३४४ औद्योगिक कम्पनियों में था, और ४०७ दूसरी कम्पनियों में इन

---

*शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ द्वारा उद्धृत, उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ १५५।

बैंकों का प्रतिनिधित्व अपने बोर्ड के सदस्यों के ज़रिये था, यानी कुल मिलाकर **७५१** कम्पनियों में इनका प्रतिनिधित्व था। इसमें से **२८६** कम्पनियां ऐसी थीं जिनमें से हर एक के निरीक्षण मंडल में उनके दो-दो प्रतिनिधि थे, या फिर उनके प्रतिनिधि इन मंडलों के अध्यक्ष थे। हमें इस प्रकार की औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कम्पनियां उद्योगों की विविधतम शाखाओं में मिलती हैं: बीमा, यातायात, रेस्तोरां, थिएटर, कला उद्योग, आदि। दूसरी ओर इन छः बैंकों के निरीक्षण मंडलों में (१९१० में) इक्यावन सबसे बड़े उद्योगपति थे, जिनमें क्रुप्प के, शक्तिशाली जहाज़रानी कंपनी «*Hapag*» (हैम्बर्ग-अमेरिकन लाइन) इत्यादि के संचालक शामिल थे। १८९५ से १९१० तक इन छः बैंकों में से हर एक ने सैकड़ों औद्योगिक कम्पनियों के (जिनकी संख्या २८१ से बढ़कर ४१९ तक पहुंच गयी) शेयरों और बांडों के लेन-देन में हिस्सा लिया।*

बैंकों तथा उद्योगों के इस "वैयक्तिक संबंध" को सरकार के साथ इन दोनों के "वैयक्तिक संबंध" से पूर्णता मिलती है। जीडेल्स ने लिखा है कि "निरीक्षण मंडलों में स्थान बड़ी आज़ादी के साथ पदवीधारी लोगों को और उन भूतपूर्व सरकारी अफ़सरों को भी दिये जाते हैं जो सरकारी पदाधिकारियों के साथ संबंध स्थापित कराने में बहुत काफ़ी सुविधा (!!) प्रदान कर सकते हैं"... "आम तौर पर हर बड़े बैंक के निरीक्षण मंडल में संसद का कोई सदस्य या बर्लिन नगरपालिका का कोई सदस्य होता है।"

कहना चाहिए कि बड़ी-बड़ी पूंजीवादी इजारेदारियों का निर्माण इसलिए "स्वाभाविक" तथा "अलौकिक" सभी प्रकार के उपायों से पूरी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहा है। कुछ सौ वित्त-सम्राटों के बीच, जिनका आधुनिक पूंजीवादी समाज पर शासन है, श्रम का विभाजन सुव्यवस्थित ढंग से हो रहा है:

"कुछ बड़े-बड़े उद्योगपतियों के कार्य-क्षेत्र के इस प्रकार विस्तृत होते जाने" (बैंकों के बोर्डों में शामिल होने, आदि) "और बैंकों के प्रांतीय संचालकों के कार्य-क्षेत्र में किसी निश्चित औद्योगिक प्रदेश को दिला देने के साथ-साथ बड़े बैंकों के संचालकों में अलग-अलग क्षेत्रों के विशेषज्ञ बनने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। वास्तव में इस प्रकार की विशेषज्ञता प्राप्त करने की प्रवृत्ति की

---

* जीडेल्स, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक; रीसेर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक।

कल्पना उसी दशा में की जा सकती है जब बैंकों का कारोबार बहुत बड़े पैमाने पर चलाया जाये, और विशेष रूप से उस दशा में जब उद्योगों के साथ बैंकों के व्यापक संबंध हों। श्रम का यह विभाजन दो दिशाओं में होता है: एक तरफ़ तो उद्योग के साथ संबंध का पूरा क्षेत्र उसके विशेष काम के रूप में किसी एक संचालक के सिपुर्द कर दिया जाता है; दूसरी ओर हर संचालक कई अलग-अलग कारोबारों के, या उद्योग की किसी एक ही शाखा में कारोबारों के किसी एक समूह के, या समान हित रखनेवाले कारोबारों के निरीक्षण का काम अपने ज़िम्मे ले लेता है"... (पूंजीवाद अलग-अलग कारोबारों के संगठित **निरीक्षण** की मंज़िल में पहुंच चुका है)... "कोई जर्मनी के उद्योगों का, या केवल पश्चिमी जर्मनी के उद्योगों का विशेषज्ञ बन जाता है" (जर्मनी का पश्चिमी भाग सबसे अधिक उद्योगीकृत है), "कोई दूसरा विदेशी राज्यों तथा विदेशी उद्योगों के साथ संबंध रखने और उद्योगपतियों के बारे में जानकारी का विशेषज्ञ बन जाता है और कोई स्टाक एक्सचेंजों का विशेषज्ञ बन जाता है, आदि। इसके अलावा बैंकों के हर संचालक के सिपुर्द बहुधा कोई ख़ास इलाक़ा या उद्योग की कोई विशेष शाखा कर दी जाती है; कोई संचालक मुख्यत: बिजली कम्पनियों के निरीक्षण मंडलों में काम करता है, तो दूसरा रसायन, बियर या चुकंदर की शकर के कारख़ानों के निरीक्षण मंडलों में, और तीसरा कुछ फुटकर औद्योगिक कारख़ानों के निरीक्षण मंडलों में, पर इसके साथ ही इनमें से हर एक बीमा कम्पनियों के निरीक्षण मंडलों में भी काम करता है... सारांश यह कि इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि बड़े बैंकों के कामकाज के विस्तार तथा उसकी विविधता में वृद्धि के साथ ही उनके संचालकों के बीच श्रम का विभाजन भी बढ़ जाता है, जिसका उद्देश्य (और परिणाम), कहना चाहिए, यह होता है कि उन्हें शुद्धत: बैंक के कारोबार के स्तर से कुछ ऊंचा उठाकर ज़्यादा अच्छे विशेषज्ञ, उद्योगों की आम समस्याओं और उद्योगों की हर शाखा की विशेष समस्याओं के बारे में ज़्यादा अच्छी तरह फ़ैसला कर सकनेवाले बना दिया जाय और इस प्रकार उन्हें यह क्षमता प्रदान की जाये कि वे उस बैंक विशेष के औद्योगिक प्रभाव-क्षेत्र के भीतर ज़्यादा अच्छी तरह काम कर सकें। इस पद्धति को और अधिक बल प्रदान करने के लिए बैंक अपने निरीक्षण मंडलों में ऐसे लोगों को चुनने की कोशिश करते हैं जो

ग्रौद्योगिक समस्याग्रों के विशेषज्ञ हों, जैसे उद्योगपति, भूतपूर्व पदाधिकारी, विशेषतः ऐसे ग्रफ़सर जो पहले रेलवे या खानों के विभागों में काम कर चुके हों," ग्रादि।*

फ़ांस के बैंक के कारोबार में भी हम कुछ ही भिन्न रूप में यह पद्धति देखते हैं। उदाहरण के लिए, «*Crédit Lyonnais*» बैंक ने, जो फ़ांस के तीन सबसे बड़े बैंकों में से एक है, वित्तीय शोधकार्य सेवा (*service des études financières*) की स्थापना की है जिसमें पचास के ग्रधिक इंजीनियर, सांख्यिकीविद, ग्रर्थशास्त्री तथा वकील ग्रादि स्थायी रूप से नौकर हैं। इसपर उसे प्रति वर्ष छः-सात लाख फ़ांक ख़र्च करने पड़ते हैं। यह सेवा ग्राठ विभागों में बंटी हुई है: एक विभाग विशेष रूप से ग्रौद्योगिक संस्थानों से संबंधित जानकारी एकत्रित करने का काम करता है, दूसरा ग्राम ग्रांकड़ों का ग्रध्ययन करता है, तीसरा रेलों ग्रौर जहाज़ की कम्पनियों का विशेषज्ञ है, चौथा प्रतिभूतियों का, पांचवां वित्तीय रिपोर्टों का, ग्रौर इसी प्रकार ग्रन्य विभाग हैं।**

इसका परिणाम एक तरफ़ तो यह होता है कि बैंकों की तथा उद्योगों की पूंजी निरंतर बढ़ती हुई हद तक एक-दूसरे में मिलती जाती है, या जिसे न० इ० बुख़ारिन ने बहुत उचित शब्दों में यों कहा है कि वे एक-दूसरे में विलीन होती जाती हैं ग्रौर दूसरी तरफ़ बैंक बढ़कर सचमुच "सर्वव्यापी स्वरूप" वाली संस्थाग्रों का रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रश्न के बारे में हम जीडेल्स द्वारा प्रयुक्त शब्दों को ही उद्धृत करना ग्रावश्यक समझते हैं, जिन्होंने इस विषय का ग्रध्ययन सबसे ग्रच्छी तरह किया है:

"ग्रौद्योगिक संबंधों के कुल योग की छानबीन करने से उद्योगों की ग्रोर से काम करनेवाले वित्तीय संस्थानों का **सर्वव्यापी स्वरूप** प्रकट हो जाता है। दूसरी तरह के बैंकों से भिन्न ग्रौर इस विषय के साहित्य में कभी-कभी उठायी जानेवाली इस मांग के प्रतिकूल कि बैंकों को एक ही प्रकार के कारोबार में या उद्योगों की किसी एक शाखा की ग्रोर ही ग्रपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए ताकि

---

*जीडेल्स, उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ १५७।

** «*Die Bank*» में फ़ांसीसी बैंकों के विषय में यूजीन कौफ़मन का एक लेख, १९०९, २, पृष्ठ ८५१ तथा उसके ग्रागे के पृष्ठ।

उनके पैर जम जायें—बड़े बैंक इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि वे स्थानों तथा उद्योगों की शाखाओं की दृष्टि से औद्योगिक कारोबारों के साथ अपने संबंध यथासंभव अधिकतम वैविध्यपूर्ण बनायें और अलग-अलग कारख़ानों के ऐतिहासिक विकास के कारण विभिन्न स्थानों तथा उद्योगों की विभिन्न शाखाओं के बीच पूंजी के वितरण में जो असमानता उत्पन्न हो गयी है उसे वे दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।" "एक प्रवृत्ति तो है उद्योगों के साथ संबंधों को आम बना देने की; दूसरी प्रवृत्ति है उन्हें टिकाऊ तथा घनिष्ठ बनाने की। इन छः बड़े-बड़े बैंकों में ये दोनों ही प्रवृत्तियां पूरी तरह तो नहीं पर काफ़ी हद तक और बराबर परिमाण में पायी जाती हैं।"

अक्सर औद्योगिक तथा वाणिज्यिक क्षेत्र बैंकों की "आतंकवादी हरकतों" की शिकायत करते हैं। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस प्रकार की शिकायतें सुनने में आती हैं, क्योंकि बड़े बैंक "हुक्म चलाते" हैं, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। १९ नवम्बर, १९०१ को बर्लिन के तथाकथित "डी" बैंकों में से एक बड़े बैंक ने (चार सबसे बड़े बैंकों के नाम "डी" अक्षर से शुरू होते हैं) जर्मनी के केंद्रीय उत्तर-पश्चिम सीमेंट सिंडीकेट के संचालक-मंडल को इन शब्दों में एक पत्र लिखा: "आपने इस माह की १८ तारीख़ के एक अख़बार में जो नोटिस प्रकाशित की है उससे हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसके अनुसार हमें इस संभावना को ध्यान में रखना होगा कि आपके सिंडीकेट की अगली आम बैठक में, जो इस माह की ३० तारीख़ को होनेवाली है, शायद कुछ ऐसे क़दम उठाने का फ़ैसला किया जाये जिनके कारण संभवतः आपके कारोबार में ऐसे परिवर्तन हो जायें जो हमें स्वीकार्य नहीं हैं। हमें अत्यंत खेद है कि इन कारणों से हम आगे चलकर आपको वह ऋण देना बंद कर देने पर बाध्य हैं जो आपको अब तक दिया जाता रहा है... परन्तु यदि इस बैठक में ऐसे क़दम उठाने का फ़ैसला न किया जाये जो हमें अस्वीकार्य हैं, और हमें भविष्य के लिए इस विषय में उचित आश्वासन मिल जायें, तो हम आपके साथ नये ऋण की मंजूरी की बातचीत आरंभ करने के लिए बिल्कुल तैयार हैं।"*

---

* Dr. Oscar Stillich, «*Geld-und Bankwesen*», Berlin 1907, पृष्ठ १४८।

वास्तव में यह छोटी पूंजी की वही पुरानी शिकायत है कि बड़ी पूंजी उसे दबाती है, पर इस उदाहरण में तो एक पूरा सिंडीकेट "छोटी" पूंजी की श्रेणी में आ गया! छोटी और बड़ी पूंजी का पुराना संघर्ष विकास की एक नयी तथा अत्यधिक ऊंची मंज़िल पर दुबारा शुरू किया जा रहा है। यह बात समझ में आती है कि बड़े बैंकों के कारोबार, जिनकी क़ीमत कई-कई अरब हैं, ऐसे साधनों से प्राविधिक उन्नति की रफ़्तार को तेज़ कर सकते हैं जिनकी तुलना पिछले ज़माने के साधनों से करना असंभव है। उदाहरण के लिए बैंक प्राविधिक शोधकार्य की विशेष सोसायटियां स्थापित करते हैं और ज़ाहिर है कि केवल "मित्र" औद्योगिक कारख़ाने ही उनके काम से लाभ उठा सकते हैं। बिजली की रेलों की शोध संस्था, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शोध का केंद्रीय ब्यूरो, आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

स्वयं बड़े बैंकों के संचालक इस बात को देखने से नहीं चूक सकते कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र की नयी परिस्थितियों की रचना हो रही है; पर इन घटनाओं के आगे वे लाचार हैं।

जीडेल्स लिखते हैं: "जिस किसी ने भी पिछले कुछ वर्षों में बड़े बैंकों के संचालकों तथा निरीक्षण मंडल के सदस्यों के पदों पर आसीन लोगों में किये गये परिवर्तनों को ध्यान से देखा है उसने इस बात को अवश्य देखा होगा कि ताक़त धीरे-धीरे ऐसे लोगों के हाथों में पहुंचती जा रही है जो उद्योगों के आम विकास में बड़े बैंकों के सक्रिय हस्तक्षेप को आवश्यक और बढ़ते हुए महत्व का समझते हैं। इन नये लोगों तथा बैंकों के पुराने संचालकों के बीच इस विषय पर कारोबारी और बहुधा वैयक्तिक ढंग के मतभेद बढ़ते जा रहे हैं। सवाल यह है कि उद्योगों में इस हस्तक्षेप से बैंकों को ऋण देनेवाली संस्थाओं के रूप में हानि पहुंचेगी या नहीं, क्या एक ऐसे कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने के लिए, जिसका कि ऋण दिलाने में उनकी एक बिचवान की भूमिका के साथ कोई संबंध नहीं है और जो कार्रवाई बैंकों को एक ऐसे क्षेत्र में लिये जा रही है जहां उनके लिए पहले कभी की अपेक्षा औद्योगिक उतार-चढ़ावों की अंधी शक्तियों की लपेट में आ जाने का ख़तरा बहुत बढ़ जाता है, वे परखे हुए सिद्धांतों और एक निश्चित मुनाफ़े की बलि नहीं दे रहे हैं। पुराने बैंक संचालकों में से बहुतों की यही राय है, जबकि अधिकांश नौजवान लोग उद्योगों में सक्रिय हस्तक्षेप को उतनी ही बड़ी आवश्यकता समझते

हैं जितनी कि वह आवश्यकता थी जिसने आधुनिक बड़े उद्योगों के साथ-साथ बड़े-बड़े बैंकों और आधुनिक औद्योगिक बैंक-कार्य को जन्म दिया था। ये दोनों पक्ष केवल एक बात पर सहमत हैं: वह यह कि बड़े बैंकों की इन नयी गतिविधियों में न तो कोई दृढ़ सिद्धांत हैं न कोई ठोस लक्ष्य।"*

पुराने पूंजीवाद के दिन पूरे हुए। नया पूंजीवाद किसी चीज़ की ओर एक संक्रमण का द्योतक है। ज़ाहिर है कि इजारेदारी और खुली प्रतियोगिता का "मेल बिठाने" के उद्देश्य से "दृढ़ सिद्धांतों और किसी ठोस लक्ष्य" को ढूंढ़ना बिल्कुल बेकार है। "संगठित" पूंजीवाद के समर्थक, शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़, लिएफ़मैन तथा ऐसे ही दूसरे "सिद्धांतवेत्ता" उसकी ख़ूबियों का जो अधिकृत तौर पर गुणगान करते हैं उसके मुक़ाबले में व्यावहारिक लोगों की स्वीकारोक्ति में एक-दूसरे ही स्वर की गूंज है।

बड़े बैंकों की "नयी गतिविधियां" ठीक-ठीक किस काल में अंतिम रूप से स्थापित हुईं? जीडेल्स ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न का काफ़ी सही-सही उत्तर दिया है।

"बैंकों तथा औद्योगिक कारख़ानों के वे पारस्परिक संबंध जिनका सार नया है, जिनके रूप नये हैं और जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम भी नये हैं, अर्थात् जिनकी अभिव्यक्ति का माध्यम वे बड़े-बड़े बैंक हैं जो केंद्रित तथा विकेंद्रित दोनों ही आधारों पर संगठित हैं, – ये संबंध पिछली शताब्दी के अंतिम दशक से पहले लाक्षणिक आर्थिक घटना मुश्किल से ही बन पाये थे। एक एतबार से तो इन संबंधों के आरंभ होने की तारीख़ सन् १८९७ में निर्धारित की जा सकती है, जिस साल महत्वपूर्ण 'विलय' हुए थे और बैंकों की औद्योगिक नीति से मेल खाने के लिए विकेंद्रित संगठन का नया रूप पहली बार प्रचलित किया गया था। यह प्रारंभिक तिथि इसके भी बाद निर्धारित की जा सकती है क्योंकि १९०० का आर्थिक संकट ही था जिसने उद्योगों तथा बैंकों के कारोबार के संकेंद्रण की प्रक्रिया की रफ़्तार को अत्यधिक तेज़ कर दिया और उसे बहुत उग्र रूप प्रदान किया, उस प्रक्रिया को सुसंगठित बनाया, उद्योगों के साथ उनके संबंध को पहली बार बड़े बैंकों की वास्तविक इजारेदारी में परिवर्तित कर दिया और इस संबंध को अधिक घनिष्ठ तथा अधिक सक्रिय बना दिया।"**

---

* जीडेल्स, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १८३-१८४।

** उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ १८१।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी का आरंभ उस मोड़ का द्योतक है जहां से पुराना पूंजीवाद नये पूंजीवाद की दिशा में, आम तौर पर पूंजी का प्रभुत्व वित्तीय पूंजी के प्रभुत्व की दिशा में मुड़ गया।

३. वित्तीय पूंजी तथा वित्तीय अल्पतंत्र

हिल्फ़र्डिंग लिखते हैं, "उद्योगों में लगी हुई पूंजी में उस भाग का अनुपात निरंतर बढ़ता जाता है जिसपर उसका उपयोग करनेवाले उद्योगपतियों का स्वामित्व नहीं होता। वे केवल बैंकों के माध्यम से ही उसका उपयोग कर पाते हैं, जो कि उनके लिए पूंजी के मालिक होते हैं। दूसरी ओर बैंक को अपनी निधि का अधिकाधिक भाग उद्योगों में लगाना पड़ता है। इस प्रकार बैंकपति निरंतर बढ़ती हुई हद तक एक औद्योगिक पूंजीपति में परिवर्तित होता जाता है। बैंक की इस पूंजी को, अर्थात् उस पूंजी को जो द्रव्य के रूप में होती है, जो इस प्रकार वास्तव में औद्योगिक पूंजी में परिवर्तित हो जाती है, मैं 'वित्तीय पूंजी' कहता हूं।" "वित्तीय पूंजी वह पूंजी होती है जिसपर नियंत्रण बैंकों का रहता है और जिसे इस्तेमाल उद्योगपति करते हैं।"*

यह परिभाषा इस एतबार से अधूरी है कि इसमें एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है: उत्पादन तथा पूंजी के संकेंद्रण का इस हद तक बढ़ना जहां पहुंचकर इस संकेंद्रण की परिणति इजारेदारी में होती है, और हुई भी है। परन्तु अपनी पूरी पुस्तक में, विशेष रूप से जिस अध्याय से यह परिभाषा ली गयी है उससे पहलेवाले दो अध्यायों में, हिल्फ़र्डिंग ने **पूंजीवादी इजारेदारियों** की भूमिका पर ज़ोर दिया है।

उत्पादन का संकेंद्रण; उससे उत्पन्न होनेवाली इजारेदारियां; बैंकों का उद्योगों के साथ मिल जाना या उनका एक दूसरे में विलीन हो जाना – यह है वित्तीय पूंजी के उत्थान का इतिहास और यही इस शब्द का सार है।

अब हमें यह बताना है कि माल के उत्पादन तथा निजी सम्पत्ति की आम परिस्थितियों के अंतर्गत, किस प्रकार पूंजीवादी इजारेदारियों का "व्यापारिक

---

*रु० हिल्फ़र्डिंग, 'वित्तीय पूंजी', मास्को, १९१२, पृष्ठ ३३८-३३९।

कामकाज" अनिवार्य रूप से वित्तीय अल्पतंत्र के प्रभुत्व का रूप धारण कर लेता है। यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि पूंजीवादी जर्मन – और केवल जर्मन ही नहीं – विज्ञान के रीसेर, शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़, लिएफ़मैन आदि जैसे सारे के सारे प्रतिनिधि साम्राज्यवाद तथा वित्तीय पूंजी के समर्थक हैं। अल्पतंत्र के निर्माण में "कौनसे कल-पुर्ज़े किस तरह काम करते हैं", उसके तरीक़े क्या हैं, उसकी "निष्कलंक तथा पापपूर्ण" आय कितनी है, संसदों के साथ उसके संबंध क्या हैं, आदि, आदि बातों का रहस्योद्घाटन करने के बजाय वे उसपर परदा डालने तथा मुलम्मा चढ़ाने की कोशिश करते हैं। वे इन "उलझे हुए प्रश्नों से कतराने के लिए लम्बे-चौड़े तथा गोलमोल फ़िक़रों का इस्तेमाल करते हैं, बैंकों के संचालकों की "उत्तरदायित्व की भावना" को जागृत करते हैं, प्रशिया के अधिकारियों की "कर्त्तव्यपरायणता" की प्रशंसा करते हैं, इजारेदारियों के "निरीक्षण" तथा "नियमन" के लिए प्रस्तुत किये गये संसद के विधेयकों की सरासर हास्यास्पद छोटी-छोटी ब्योरे की बातों का गूढ़ अध्ययन करते हैं, और ऐसे सिद्धांतों के साथ खिलवाड़ करते हैं जिसका एक उदाहरण प्रोफ़ेसर लिएफ़मैन द्वारा निर्धारित निम्नलिखित वैज्ञानिक परिभाषा है: **"वाणिज्य एक ऐसा व्यवसाय है जिसका उद्देश्य है: माल एकत्रित करना, उसके भंडार भरना और उसे उपलब्ध बनाना"*** (मोटे अक्षरों का प्रयोग प्रोफ़ेसर साहब ने स्वयं किया है)... इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि वाणिज्य का अस्तित्व आदिम मनुष्य के ज़माने में भी था, जिसे विनिमय का तनिक भी ज्ञान नहीं था, और समाजवाद के अंतर्गत भी उसका अस्तित्व रहेगा!

परन्तु वित्तीय अल्पतंत्र के भयानक शासन से संबंधित भयानक तथ्य इतने ज्वलंत हैं कि सभी पूंजीवादी देशों में, अमरीका में, फ़्रांस तथा जर्मनी में, एक पूरा साहित्य ऐसा पैदा हो गया है जो **पूंजीवादी** दृष्टिकोण से लिखा गया है, पर जिसमें फिर भी इस अल्पतंत्र का काफ़ी सच्चा चित्र तथा उसकी आलोचना – जो स्वाभाविक रूप से निम्न-पूंजीवादी ढंग की है – मिलती है।

"होल्डिंग की पद्धति" को, जिसका उल्लेख संक्षेप में हम ऊपर कर चुके हैं, आधारशिला बनाया जाना चाहिए। जर्मन अर्थशास्त्री हेमैन ने, जो शायद

---

* R. Liefmann, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ ४७६।

इस विषय की ओर ध्यान आकर्षित करानेवाले पहले व्यक्ति थे, इसके सार का वर्णन इस प्रकार किया है:

"कारोबार का प्रधान, मुख्य कम्पनी" (शब्दश: "मां कम्पनी") "पर नियंत्रण रखता है; यह कम्पनी अधीन कम्पनियों" ("बेटी कम्पनियों") "पर शासन करती है और ये अधीन कम्पनियां दूसरी अधीन कम्पनियों" ("नाती-नातिन कम्पनियों") "पर अपना नियंत्रण रखती हैं, और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। इस प्रकार अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी पूंजी से ही उत्पादन के अत्यंत विस्तृत क्षेत्रों पर प्रभुत्व रखना संभव होता है। वास्तव में, यदि ५० प्रतिशत पूंजी का अपने हाथ में होना किसी कम्पनी को अपने नियंत्रण में रखने के लिए काफ़ी होता है तो कारोबार के प्रधान को दूसरी श्रेणी की अधीन कम्पनियों में अस्सी लाख की पूंजी पर नियंत्रण रखने के लिए केवल दस लाख की पूंजी की आवश्यकता होगी। और यदि इस 'गंठजोड़' को और बढ़ाया जाये तो दस लाख की पूंजी से एक करोड़ साठ लाख, तीन करोड़ बीस लाख और इसी प्रकार और अधिक पूंजी पर नियंत्रण रखना संभव है।"*

वास्तव में अनुभव यह बताता है कि किसी कम्पनी के कारोबार का निर्देशन करने के लिए उसके केवल ४० प्रतिशत शेयरों पर अपना स्वामित्व रखना काफ़ी होता है,** क्योंकि कुछ छोटे-छोटे बिखरे हुए शेयरहोल्डरों के लिए, व्यवहारत:, शेयरहोल्डरों की आम मीटिंगों आदि में आना असंभव होता है। शेयरों के स्वामित्व का "जनवादीकरण", जिससे पूंजीवादी कुतर्की और सामाजिक-जनवादी कहे जानेवाले अवसरवादी यह आशा करते हैं (या कहते हैं कि वे आशा करते हैं) कि उससे "पूंजी का जनवादीकरण" होगा, छोटे पैमाने के उत्पादन की भूमिका तथा उसके महत्व को बल मिलेगा, आदि, वह वास्तव में वित्तीय अल्पतंत्र की शक्ति को बढ़ाने के अनेक उपायों में से एक है। और हां, यही कारण है कि अधिक उन्नत, अर्थात् अधिक पुराने और अधिक "अनुभवी" पूंजीवादी देशों में क़ानून

---

* Hans Gideon Heymann, «*Die gemischten Werke im deutschen Grosseisengewerbe*», Stuttgart, 1904, पृष्ठ २६८-२६९।

** Liefmann, «*Beteiligungsgesellschaften*» आदि, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५८।

द्वारा छोटी रक़म के शेयर जारी करने की इजाज़त है। जर्मनी में क़ानून द्वारा एक हज़ार मार्क से कम रक़म के शेयर जारी करने की इजाज़त नहीं है, और जर्मन वित्तीय जगत के थैलीशाह बड़ी ईर्ष्या के साथ इंगलैंड को देखते हैं जहां एक पौंड (२० मार्क, लगभग १० रूबल) के शेयर जारी करने की इजाज़त है। सीमेन्स ने, जो जर्मनी का एक सबसे बड़ा उद्योगपति तथा "वित्त-सम्राट" है, ७ जून १६०० को राइख़स्टाग में कहा कि "एक पौंड का शेयर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आधार है।"* साम्राज्यवाद के बारे में इस व्यापारी की समझ उस कुख्यात लेखक की अपेक्षा ज़्यादा गहरी और ज़्यादा "मार्क्सीय" है जिसे रूसी मार्क्सवाद का एक संस्थापक[152] समझा जाता है और जिसका यह मत है कि साम्राज्यवाद एक राष्ट्र विशेष की एक बुरी आदत है...

पर "होल्डिंग की पद्धति" इजारेदारों की शक्ति को बेहद बढ़ाने का ही काम नहीं करती, वह उन्हें इस बात के भी योग्य बनाती है कि वे पब्लिक को धोखा देने के लिए बेखटके तरह-तरह की गंदी और चोट्टेपने की तिकड़में कर सकें, क्योंकि "मां कम्पनी" के संचालकों पर क़ानूनी तौर पर "बेटी कम्पनी" की कोई ज़िम्मेदारी नहीं होती, जिसे "स्वतंत्र" समझा जाता है और जिसके **माध्यम से** वे **कुछ भी** "उलट-फेर कर सकते हैं"। यहां हम मई १६१४ की *«Die Bank»* नामक समीक्षा-पत्रिका से लिया गया एक उदाहरण दे रहे हैं:

"कैसेल स्थित 'स्प्रिंग स्टील कम्पनी' कुछ वर्ष पहले जर्मनी का एक अत्यंत लाभप्रद कारोबार समझी जाती थी। बुरी व्यवस्था के कारण उसका डिवीडेंड १५ प्रतिशत से गिरते-गिरते कुछ भी नहीं रह गया। जैसा कि मालूम हुआ इस कम्पनी के बोर्ड ने शेयरहोल्डरों से परामर्श किये बिना ही अपनी एक 'बेटी कम्पनी' 'हासिया लिमिटेड' को, जिसके पास केवल कुछ लाख मार्क की मूल पूंजी थी, **साठ लाख मार्क** का ऋण दिया था। इस ऋण का उल्लेख, जो 'मां कम्पनी' की पूंजी के लगभग तिगुने के बराबर था, उसके देयादेय-फलक में कहीं नहीं किया गया। इस बात का उल्लेख न करना बिल्कुल क़ानूनी था और उसे पूरे दो वर्ष तक छिपाये रखा जा सकता था क्योंकि इससे कम्पनी-क़ानून का कोई उल्लंघन नहीं होता था। उसके निरीक्षण-मंडल का अध्यक्ष, जिसने उत्तरदायी प्रधान की हैसियत से इस झूठे देयादेय-फलक पर हस्ताक्षर किये थे,

---

* Schulze-Gaevernitz, *«Grdr. d. S.-Oek.»*, V. 2, पृष्ठ ११०।

उस समय कैसेल के चैम्बर ग्राफ़ कामर्स का ग्रध्यक्ष था ग्रौर ग्रभी तक है। शेयरहोल्डरों को इस 'हासिया लिमिटेड' को ऋण दिये जाने की बात का पता बहुत बाद में जाकर उस समय लगा जब यह सिद्ध हो चुका था कि यह एक भूल थी"... (लेखक को यह शब्द उद्धरण-चिन्हों के बीच में लिखना चाहिए था)... "ग्रौर 'स्प्रिंग स्टील' के शेयरों का भाव लगभग १०० प्रतिशत गिर चुका था, क्योंकि जो लोग इस बात को जानते थे वे ग्रपने शेयर निकाल रहे थे...

..."**देयादेय-फलक में हाथ की सफ़ाई दिखाने के इस लाक्षणिक उदाहरण से**, जो ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों में एक **ग्राम बात** है, यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके संचालक-मंडल निजी व्यापारियों की ग्रपेक्षा ज़्यादा बेधड़क होकर ख़तरनाक सौदों में हाथ डालने को क्यों तैयार रहते हैं। देयादेय-फलक तैयार करने के ग्राधुनिक तरीक़ों के कारण साधारण शेयरहोल्डरों से संदिग्ध सौदों को छुपाना ही संभव नहीं होता बल्कि इससे वे लोग, जिनका इन सौदों से सबसे गहरा संबंध होता है, समय रहते ग्रपने शेयर बेचकर ग्रसफल सट्टेबाज़ी के दुष्परिणामों से साफ़ बच भी जाते हैं जबकि निजी व्यापारी जो कुछ भी करता है उसमें वह ग्रपने ग्रापको जोखिम में डालता है...

"बहुतेरी ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों के देयादेय-फलक हमें मध्य युग की उन पाण्डुलिपियों की याद दिलाते हैं जिनमें ऊपर दिखायी देनेवाले लेख को मिटाने पर ही उनके नीचे एक दूसरा लेख दिखायी देता था जिससे उस ग्रभिलेख के वास्तविक ग्रर्थ का पता चलता था।" (ये पाण्डुलिपियां चर्मपत्र पर लिखे गये ऐसे ग्रभिलेख होते थे जिनमें मूल लेख को मिटाकर उसके ऊपर दूसरा लेख लिख दिया जाता था।)

"देयादेय-फलकों को ऐसा बना देने का कि कोई उनका मतलब ही न निकाल सके, सबसे सीधा-सादा ग्रौर, इसलिए, सबसे ग्राम तरीक़ा यह है कि 'बेटी कम्पनियां' क़ायम करके – या ऐसी कम्पनियों को क़ब्ज़े में करके – एक ही कारोबार को कई हिस्सों में बांट दिया जाये। विविध – क़ानूनी तथा ग़ैर-क़ानूनी – उद्देश्यों के लिए इस पद्धति की उपयोगिता इतनी स्पष्ट है कि बड़ी कम्पनियों में शायद ही कोई ऐसी होगी जो इस पद्धति को इस्तेमाल न करती हो।"*

---

* L. Eschwege, «*Die Bank*» में «*Tochtergesellschaften*» (बेटी कम्पनियां – ग्रनु०), १९१४, १, पृष्ठ ५४५।

इस तरीक़े का व्यापक रूप से प्रयोग करनेवाली एक विशाल इजारेदार कम्पनी के उदाहरण के रूप में लेखक प्रख्यात "जनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी" का उल्लेख करता है (जिसका उल्लेख हम आगे चलकर फिर करेंगे)। १९१२ में यह हिसाब लगाया गया था कि **१७५** से २०० तक दूसरी कम्पनियों में इस कम्पनी के हिस्से थे, ज़ाहिर है उसका उनपर प्रभुत्व था और इस प्रकार कुल मिलाकर लगभग **१५०,००,००,००० मार्क** की पूंजी पर उसका नियंत्रण था।*

नियंत्रण के सारे नियम, देयादेय-फलकों का प्रकाशन, एक निश्चित ढांचे के अनुसार देयादेय-फलकों का तैयार किया जाना, बही-खातों की खुली जांच आदि वे सारी बातें व्यर्थ सिद्ध होती हैं जिनके बारे में नेकनीयत प्रोफ़ेसर तथा अधिकारी – अर्थात् वे लोग जिनमें पूंजीवाद की रक्षा करने तथा उसे आकर्षक रूप देने की नेकनीयती कूट कूटकर भरी होती है – सर्वसाधारण के सम्मुख भाषण देते हैं। क्योंकि निजी सम्पत्ति पर कोई उंगली नहीं उठा सकता और किसी को भी शेयर ख़रीदने, बेचने, बदलने या गिरवी रखने आदि से रोका नहीं जा सकता।

बड़े-बड़े रूसी बैंकों में यह "होल्डिंग की पद्धति" किस हद तक विकसित हो चुकी है इसका अनुमान ई० अगाह्द द्वारा दिये गये आंकड़ों से लगाया जा सकता है, जो पंद्रह वर्ष तक रूसी-चीनी बैंक के एक पदाधिकारी थे और जिन्होंने मई १९१४ में एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम 'बड़े बैंक और विश्वव्यापी मंडी'** पूर्णतः उपयुक्त नहीं था। लेखक ने बड़े-बड़े रूसी बैंकों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया है: (क) वे बैंक जो "होल्डिंग पद्धति" के अंतर्गत आते हैं, और (ख) "स्वतंत्र" बैंक – परन्तु यहां बिना किसी आधार के "स्वतंत्रता" का अर्थ **विदेशी** बैंकों से स्वतंत्र होना लगाया गया है। लेखक ने पहली श्रेणी के बैंकों को तीन उप-श्रेणियों में विभाजित किया है: (१) जर्मन

---

* Kurt Heinig, «*Neue Zeit*» में «*Der Weg des Elektrotrusts*» (बिजली ट्रस्ट का मार्ग – अनु०), 1912, 30 Jahrg, 2, पृष्ठ ४८४।

** E. Agahd, «*Grossbanken und Weltmarkt. Die wirtschaftliche und politische Bedeutung der Grossbanken im Weltmarkt unter Berücksichtigung ihres Einflusses auf Russlands Volkswirtschaft und die deutsch-russischen Beziehungen*», Berlin 1914. (बड़े बैंक और विश्वव्यापी मंडी। विश्वव्यापी मंडी में बड़े बैंकों का आर्थिक तथा राजनीतिक महत्व, रूस के राष्ट्रीय अर्थतंत्र पर उनके प्रभाव तथा जर्मन-रूसी संबंधों के प्रसंग में। – अनु०)

होल्डिंग, (२) ब्रिटिश होल्डिंग, और (३) फ्रांसीसी होल्डिंग; यह विभाजन उन्होंने उल्लिखित देश विशेष के बड़े विदेशी बैंकों की "होल्डिंगों" तथा उनके प्रभुत्व को दृष्टिगत रखते हुए किया था। लेखक ने बैंकों की पूंजी को "उत्पादक ढंग से" लगी हुई पूंजी (औद्योगिक तथा वाणिज्यिक कारोबारों में) तथा "सट्टेबाज़ी के ढंग से" लगी हुई पूंजी में (स्टाक एक्सचेंज तथा वित्तीय कारोबार में) विभाजित किया है, उन्होंने अपने निम्न-पूंजीवादी-सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण यह मान लिया है कि पूंजीवाद के अंतर्गत पहले ढंग से लगायी गयी पूंजी को दूसरे ढंग से लगायी गयी पूंजी से अलग करना और दूसरे ढंग का उन्मूलन कर देना संभव है।

उन्होंने जो आंकड़े दिये हैं वे इस प्रकार हैं:

बैंकों के आदेय

(अक्तूबर-नवम्बर १९१३ की रिपोर्टों के अनुसार)

लाख रूबलों में

रूसी बैंकों के समूह	लगी हुई पूंजी		
	उत्पादक ढंग से	सट्टेबाज़ी के ढंग से	कुल
क १) चार बैंक: साइबेरियाई कमर्शियल बैंक, रूसी बैंक, इंटरनेशनल बैंक और डिस्काउन्ट बैंक	४,१३७	८,५९१	१२,७२८
क २) दो बैंक: कमर्शियल एंड इंडस्ट्रियल और रूसी-ब्रिटिश	२,३९३	१,६९१	४,०८४
क ३) पांच बैंक: रूसी-एशियाई, सेंट पीटर्स-बर्ग प्राइवेट, अज़ोव-दोन, यूनियन मास्को, रूसी-फ्रेंच कमर्शियल . . .	७,११८	६,६१२	१३,७३०
कुल (११ बैंक): क) =	१३,६४८	१६,८९४	३०,५४२

रूसी बैंकों के समूह	लगी हुई पूंजी		
	उत्पादक ढंग से	सट्टेबाज़ी के ढंग से	कुल
ख) आठ बैंक: मास्को व्यापारी, वोल्गा-कामा, जुंकर एंड कम्पनी, सेंट पीटर्सबर्ग कमर्शियल (भूतपूर्व वैवेलबर्ग), मास्को बैंक (भूतपूर्व रियाबुशीन्स्की), मास्को डिस्काउन्ट, मास्को कमर्शियल, मास्को प्राइवेट	५,०४२	३,९११	८,९५३
कुल (१९ बैंक):	१८,६९०	२०,८०५	३९,४९५

इन आंकड़ों के अनुसार बड़े बैंकों के पास "कार्यवाहक" पूंजी के रूप में लगभग चार अरब रूबल की जो रक़म थी, उसका **तीन-चौथाई से अधिक भाग**, अर्थात् तीन अरब से अधिक, ऐसे बैंकों के हाथों में था जो वास्तव में विदेशी बैंकों की केवल "बेटी कम्पनियां" थीं, और वह भी मुख्यत: पेरिस के बैंकों (वह प्रख्यात त्रिगुट: «*Union Parisienne*», «*Paris et Pays-Bas*» तथा «*Société Générale*») की और बर्लिन के बैंकों (विशेषत: «*Deutsche Bank*» और «*Disconto-Gesellschaft*») की। रूस के दो सबसे बड़े बैंकों ने, रूसी (वैदेशिक व्यापार का रूसी बैंक) और इंटरनेशनल (सेंट पीटर्सबर्ग इंटरनेशनल कमर्शियल बैंक) ने, "तीन-चौथाई जर्मन पूंजी के सहारे" १९०६ और १९१२ के बीच अपनी पूंजी ४,४०,००,००० रूबल से बढ़ाकर ९,८०,००,०००, रूबल और अपनी संरक्षित निधि १,५०,००,००० रूबल से बढ़ाकर ३,९०,००,००० रूबल कर ली। इनमें से पहला बैंक बर्लिन «*Deutsche Bank*» के "समूह" का अंग है और दूसरा बर्लिन «*Disconto-Gesellschaft*» का। हमारे सुयोग्य अगाह्द-महोदय इस बात पर बहुत नाराज़ हैं कि अधिकांश शेयर बर्लिन के बैंकों के हाथों में हैं और इस कारण रूसी शेयरहोल्डर लाचार हैं। स्वाभाविक बात है कि जो देश पूंजी का निर्यात करता

है वह दूध-मलाई ख़ुद अपने लिए रखता है: उदाहरण के लिए, जब बर्लिन *«Deutsche Bank»* साइबेरियाई कमर्शियल बैंक के शेयर बर्लिन के बाज़ार में लाया तो उसने वास्तव में पूरे साल भर तक उन्हें अपनी जेब में रखा और उसके बाद उन्हें १०० के स्थान पर १९३ के भाव बेच दिया, अर्थात् उनके अंकित मूल्य के लगभग दुगने भाव पर और इस प्रकार लगभग ६०,००,००० रूबल का मुनाफ़ा कमाया, जिसे हिल्फ़र्डिंग "सौदा पटानेवाले का मुनाफ़ा" कहते हैं।

हमारे लेखक ने सेंट पीटर्सबर्ग के मुख्य बैंकों की कुल "क्षमता" ८,२३,५०,००,००० रूबल, लगभग ८.२५ अरब रूबल, आंकी है और "होल्डिंगों" का अनुमान, बल्कि कहना चाहिए कि इस बात का अनुमान कि उनपर किस हद तक विदेशी बैंकों का प्रभुत्व है, उन्होंने इस प्रकार लगाया है: फ़्रांसीसी बैंक – ५५ प्रतिशत; अंग्रेज़ – १० प्रतिशत; जर्मन – ३५ प्रतिशत। लेखक ने अनुमान लगाया है कि ८,२३,५०,००,००० रूबल की इस कुल सक्रिय पूंजी में से ३,६८,७०,००,००० रूबल, अर्थात् ४० प्रतिशत से अधिक, "प्रोदुगोल" तथा "प्रोदामेत" नामक दो सिंडीकेटों के – और तेल, धातु तथा सीमेंट के उद्योगों के सिंडीकेटों के – हिस्से में आती है। इस प्रकार पूंजीवादी इजारेदारियों के निर्माण से रूस में बैंकों की तथा उद्योगों की पूंजी के एक में मिल जाने की दिशा में भी बहुत प्रगति हुई है।

वित्तीय पूंजी जो थोड़े-से लोगों के हाथों में संकेंद्रित होती है और जो वास्तव में इजारेदारी-सी होती है, कम्पनियां खोलकर, शेयर जारी करके और राज्यीय ऋणों आदि द्वारा बेशुमार मुनाफ़ा कमाती है, जो लगातार बढ़ता ही जाता है, वह वित्तीय अल्पतंत्र के प्रभुत्व को और मज़बूत बनाती है और इजारेदारों के फ़ायदे के लिए पूरे समाज से चौथ वसूल करती है। हम यहां पर अमरीकी ट्रस्टों के "व्यापार" के तरीक़ों के असंख्य उदाहरणों में से एक उदाहरण दे रहे हैं जिसे हिल्फ़र्डिंग ने उद्धृत किया है: १८८७ में हैवमेयर ने पंद्रह छोटी-छोटी कम्पनियों को मिलाकर, जिनकी कुल पूंजी ६५,००,००० डालर थी, शकर ट्रस्ट की स्थापना की। अमरीकियों की शब्दावली में, इस पूंजी में उचित मात्रा में "पानी मिलाकर" ट्रस्ट की पूंजी को ५,००,००,००० डालर तक बढ़ाया गया। आगे चलकर होनेवाले इजारेदारी मुनाफ़ों को ध्यान में रखते हुए ही इस प्रकार "पूंजी को बढ़ा-चढ़ाकर" घोषित किया गया था, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे भविष्य में होनेवाले इजारेदारी मुनाफ़ों की आशा में "यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कार्पोरेशन" कच्चे लोहे की यथासंभव

अधिक से अधिक खानों को ख़रीदता जा रहा है। वास्तव में, शकर ट्रस्ट ने इजारेदारी क़ीमतें निश्चित कीं जिसके फलस्वरूप उसे इतना मुनाफ़ा हुआ कि वह "पानी मिलाकर" **सात गुनी** बढ़ा ली गयी पूंजी पर १० प्रतिशत, अर्थात् **स्थापना के समय लगायी गयी वास्तविक पूंजी पर लगभग ७० प्रतिशत दिवीडेंड दे सका!** १६०६ में शकर ट्रस्ट की पूंजी ६,००,००,००० डालर थी। बाईस वर्ष में उसने अपनी पूंजी दस-गुनी से अधिक बढ़ा ली थी।

फ़्रांस में "वित्तीय अल्पतंत्र" के प्रभुत्व ने जो रूप धारण किया वह इससे थोड़ा ही भिन्न था (लीज़िस द्वारा लिखित 'फ़्रांस में वित्तीय अल्पतंत्र के ख़िलाफ़', इस विख्यात पुस्तक का पांचवां संस्करण १६०८ में प्रकाशित हुआ था)। बांड जारी करने के मामले में वहां के चार सबसे शक्तिशाली बैंकों की आपेक्षिक नहीं बल्कि "पूर्ण इजारेदारी" है। वास्तव में यह "बड़े बैंकों का ट्रस्ट" है। और इजारेदारी के कारण बांड जारी करने से इजारेदारी मुनाफ़े सुनिश्चित हो जाते हैं। आम तौर पर ऋण लेनेवाले देश को ऋण की रक़म के ६० प्रतिशत भाग से अधिक नहीं मिलता, शेष १० प्रतिशत बैंकों तथा अन्य दलालों को चला जाता है। बैंकों को ४०,००,००,००० फ़्रांक के रूसी-चीनी ऋण से जो मुनाफ़ा हुआ वह ८ प्रतिशत था; ८०,००,००,००० फ़्रांक के रूसी (१६०४) ऋण से १० प्रतिशत मुनाफ़ा हुआ; और ६,२५,००,००० फ़्रांक के मोराक्को के (१६०४) ऋण से १८.७५ प्रतिशत मुनाफ़ा हुआ। पूंजीवाद ने अपना विकास बहुत थोड़ी-सी सूदख़ोरी की पूंजी से आरंभ किया था और वह अपने विकास का अंत सूदख़ोरी की विपुल पूंजी के साथ कर रहा है। लीज़िस ने कहा है: "फ़्रांसीसी यूरोप के सूदख़ोर हैं।" पूंजीवाद के इस रूपांतरण के कारण आर्थिक जीवन की सभी परिस्थितियों में गंभीर परिवर्तन हो रहे हैं। जनसंख्या में कोई कमी-बढ़ती न होने और उद्योग, वाणिज्य तथा जहाज़रानी में गतिरोध आ जाने की दशा में "देश" सूदख़ोरी से अमीर बन सकता है। "पचास आदमी, जिनके पास ८०,००,००० फ़्रांक की पूंजी हो, चार बैंकों में जमा २,००,००,००,००० फ़्रांक की पूंजी पर नियंत्रण रख सकते हैं।" "होल्डिंग पद्धति" का भी, जिससे हम परिचित हो चुके हैं, यही परिणाम होता है। उदाहरण के लिए, *«Société Générale»*, जो सबसे बड़े बैंकों में से एक है, अपनी "बेटी कम्पनी" "मिस्री शकर कारख़ानों" के लिए ६४,००० बांड जारी करता है। ये बांड १५० प्रतिशत पर जारी किये जाते हैं,

अर्थात् हर फ़्रांक पर बैंक को ५० सेंटीम का लाभ होता है। बाद में मालूम हुआ कि नयी कम्पनी के डिवीडेंड झूठे हैं और "पब्लिक" को ६ से १० करोड़ फ़्रांक तक का नुक़सान हुआ। "*«Société Générale»* का एक संचालक 'शुगर रिफ़ाइनरीज़' के संचालक-मंडल का सदस्य था।" लेखक का इस निष्कर्ष पर पहुंचने पर बाध्य होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि "फ़्रांसीसी गणतंत्र एक वित्तीय राजतंत्र है", "वह वित्तीय अल्पतंत्र के पूर्ण प्रभुत्व का द्योतक है; अख़बारों और सरकार पर वित्तीय अल्पतंत्र का ही प्रभुत्व है।"*

प्रतिभूतियां जारी करने से, जो कि वित्तीय पूंजी के मुख्य कामों में से एक है, जिस असाधारण रूप से ऊंची दर पर मुनाफ़ा मिलता है उसका वित्तीय अल्पतंत्र के विकास तथा उसे सुदृढ़ बनाने में बहुत बड़ा हाथ होता है। जर्मन पत्रिका *«Die Bank»* लिखती है: "देश में इस प्रकार का एक भी कारोबार नहीं है जिसमें उसके लगभग बराबर भी मुनाफ़ा होता हो जितना कि विदेशों के लिए ऋण जुटाने के काम से मिलता है।"**

"बैंक के किसी दूसरे कारोबार से उतना मुनाफ़ा नहीं होता जितना कि प्रतिभूतियां जारी करने से होता है!" "जर्मन एकानोमिस्ट" के अनुसार, औद्योगिक शेयर जारी करने से औसत वार्षिक लाभ इस प्रकार हुआ:

	प्रतिशत
१८९५	३८.६
१८९६	३६.१
१८९७	६६.७
१८९८	६७.७
१८९९	६६.६
१९००	५५.२

* Lysis, *«Contre l'oligarchie financière en France»* ("फ़्रांस में वित्तीय अल्पतंत्र के ख़िलाफ़" – अनु०), ५ वां संस्करण, पेरिस, १९०८, पृष्ठ ११, १२, २६, ३९, ४०, ४८।

** *«Die Bank»*, १९१३, अंक ७, पृष्ठ ६३०।

"१८६१ से १६०० तक के दस वर्षों में जर्मन औद्योगिक शेयर जारी करके **एक अरब मार्क से अधिक** का मुनाफ़ा 'कमाया' गया।"*

औद्योगिक तेज़ी के ज़माने में वित्तीय पूंजी का मुनाफ़ा बेशुमार होता है, परन्तु औद्योगिक मंदी के ज़माने में छोटे-छोटे तथा कमज़ोर कारोबार ठप हो जाते हैं, बड़े बैंक उन्हें मिट्टी के मोल ख़रीदकर उनमें "होल्डिंग" प्राप्त कर लेते हैं या उनके "पुनर्निर्माण" तथा "पुन:संगठन" के लिए लाभप्रद योजनाओं में: भाग लेते हैं। उन कारोबारों का "पुनर्निर्माण" करने में, जो घाटे पर चलते रहे हैं, "शेयरों की पूंजी को गिरा दिया जाता है, अर्थात् मुनाफ़ा कम पूंजी पर बांटा जाता है और आगे चलकर भी उसका हिसाब इस प्रकार घटायी गयी पूंजी के आधार पर ही लगाया जाता है। या यदि उसकी आमदनी कुछ भी नहीं रह गयी है तो नयी पूंजी जुटायी जाती है जो भविष्य में पुरानी और कम लाभप्रद पूंजी के साथ मिलकर काफ़ी मुनाफ़ा दिला सकती है।" आगे चलकर हिल्फ़र्डिंग लिखते हैं, "बैंकों के लिए इन तमाम पुन:संगठनों तथा पुनर्निर्माणों का दोहरा महत्व होता है: पहले तो यह कि ये सौदे लाभप्रद होते हैं; और दूसरे, उनसे संकट में फंसी हुई कम्पनियों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने का मौक़ा मिल जाता है।"**

एक उदाहरण देखिये। डार्टमंड की यूनियन माइनिंग कम्पनी की स्थापना १८७२ में हुई थी। शेयरों से लगभग ४,००,००,००० मार्क की रक़म की पूंजी जुटायी गयी थी और पहले वर्ष १२ प्रतिशत का डिवीडेंड देने के बाद बाज़ार में शेयरों की क़ीमत बढ़कर १७० हो गयी। वित्तीय पूंजी ने सारी मलाई हड़प कर ली और उसने कोई २,८०,००,००० मार्क की तुच्छ रक़म कमायी। इस कम्पनी को खड़ा करने में मुख्य हाथ उस बहुत बड़े जर्मन बैंक «*Disconto-Gesellschaft*» का था जिसने इतनी सफलतापूर्वक ३०,००,००,००० मार्क की पूंजी खड़ी कर ली थी। बाद में यूनियन माइनिंग कम्पनी के डिवीडेंड घटते-घटते

---

* Stillich, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १४३ और W. Sombart, «*Die deutsche Volkswirtschaft im 19. Jahrhundert*» (उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन राष्ट्रीय अर्थतंत्र – अनु०), 2. Aufl., 1909, पृष्ठ ५२६, Anlage 8.

** 'वित्तीय पूंजी', पृष्ठ १७२।

कुछ नहीं रह गये: शेयरहोल्डरों को पूंजी "गिरा देने" पर राज़ी होना पड़ा, अर्थात् सब कुछ खो देने से बचने के लिए उन्हें उसका कुछ भाग खो देने पर राज़ी होना पड़ा। "पुनर्निर्माणों" के एक पूरे क्रम द्वारा तीस वर्षों में यूनियन कम्पनी के खातों से ७,३०,००,००० मार्क की रक़म काट दी गयी। "इस समय कम्पनी के मूल शेयरहोल्डरों के पास अपने शेयरों के अंकित मूल्य का केवल ५ प्रतिशत भाग है,"* परन्तु बैंकों ने हर "पुनर्निर्माण" से "मुनाफ़ा कमाया"।

तेज़ी से बढ़ते हुए बड़े-बड़े शहरों के आसपास की ज़मीन का सट्टा करना वित्तीय पूंजी के लिए विशेष रूप से लाभप्रद होता है। यहां पर बैंकों की इजारेदारी भूमि-कर की इजारेदारी और यातायात के साधनों की इजारेदारी में घुलमिल जाती है क्योंकि ज़मीन की क़ीमत में वृद्धि और उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटकर मुनाफ़े पर बेचने की संभावना आदि बातें मुख्यतः इसपर निर्भर होती हैं कि शहर के केंद्रीय भाग के साथ यातायात के साधन अच्छे हों; और यातायात के इन साधनों पर बड़ी-बड़ी कम्पनियों का क़ब्ज़ा होता है, जिनका संबंध होल्डिंग पद्धति और संचालक-मंडलों में पदों के वितरण के ज़रिये उन बैंकों के साथ होता है जिन्हें इस कारोबार में दिलचस्पी होती है। इसका नतीजा वह होता है जिसे जर्मन लेखक अश्वेगे ने, जिनके लेख *«Die Bank»* में प्रकाशित होते रहते हैं और जिन्होंने स्थावर भूसम्पत्ति के कारोबार तथा गिरवी आदि का विशेष रूप से अध्ययन किया है, "दलदल" कहा है। उपनगरों में मकान बनाने की ज़मीनों के सिलसिले में ज़ोरों का सट्टा चलता है; मकान बनाने के कारोबार बैठ जाते हैं (जैसे बर्लिन की "बोसवाउ तथा क्नाउएर" नामक कम्पनी का कारोबार बैठ गया था, जिसने "मज़बूत और ठोस" "जर्मन बैंक" (*«Deutsche Bank»*) की सहायता से १०,००,००,००० मार्क की मोटी रक़म बटोरी थी – ज़ाहिर है, "जर्मन बैंक" होल्डिंग पद्धति के अनुसार, अर्थात् गुप्त रूप से, परदे के पीछे, काम कर रहा था और "केवल" १,२०,००,००० मार्क का घाटा उठाकर वह

---

* Stillich, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १३८ और Liefmann, पृष्ठ ५१।

इस कारोबार में से निकल आया), और फिर छोटे-छोटे मालिकों तथा मज़दूरों की तबाही आती है जिन्हें इन फ़र्ज़ी इमारती कम्पनियों से कुछ भी नहीं मिलता, इमारती ज़मीन के टेंडर और इमारतें बनाने के लाइसेंस जारी करने पर नियंत्रण प्राप्त करने के लिए बर्लिन की "ईमानदार" पुलिस तथा प्रशासन-व्यवस्था के साथ जालसाज़ी के सौदे होते हैं, आदि, आदि।*

"अमरीकी नैतिकता", जिसकी कि यूरोप के प्रोफ़ेसर तथा नेकनीयत पूंजीपति इतनी मक्कारी के साथ निंदा करते हैं, वित्तीय पूंजी के युग में हर देश के हर बड़े शहर की नैतिकता बन गयी है।

१९१४ के आरंभ में बर्लिन में एक "यातायात ट्रस्ट" बनाने की, अर्थात् बर्लिन की तीन यातायात कम्पनियों के बीच – नगर की बिजली की रेल, ट्राम कम्पनी और बस कम्पनी के बीच – "हितों का ऐक्य" स्थापित करने की चर्चा थी। «*Die Bank*» ने लिखा, "जब से इस बात का पता चला कि बस कम्पनी के अधिकांश शेयर बाक़ी दोनों कम्पनियों ने ख़रीद लिये हैं तब से हमें मालूम है कि इस प्रकार की योजना की बात सोची जा रही है। ...जो लोग इस उद्देश्य को लेकर चल रहे हैं उनकी इस बात पर हम पूरी तरह विश्वास करने को तैयार हैं कि यातायात सेवाओं को एक में मिलाकर वे बचत करेंगे जिसका कुछ भाग आगे चलकर पब्लिक को फ़ायदा पहुंचायेगा। परन्तु इस बात में इस हक़ीक़त के कारण कुछ पेचीदगी पैदा हो गयी है कि जो यातायात ट्रस्ट बनाया जा रहा है उसके पीछे बैंकों का हाथ है, और यदि वे चाहें तो वे यातायात के इन साधनों को, जिनपर उन्होंने अपनी इजारेदारी क़ायम कर ली है, ज़मीन के टुकड़ों के अपने व्यापार के हितों के अधीन कर सकते हैं। यदि हम केवल इस बात को याद करें कि जिस बड़े बैंक ने एलीवेटेड रेलवे कम्पनी के निर्माण को प्रोत्साहित किया था उसके हित कम्पनी के निर्माण के समय पहले से ही उसमें मौजूद थे, तो हमें विश्वास हो जायेगा कि हमारा यह अनुमान कितना सही है। कहने का मतलब यह कि यातायात के इस कारोबार के हित ज़मीन

---

* «*Die Bank*» में, १९१३, पृष्ठ ९५२। L. Eschwege, «*Der Sumpf*» ("दलदल" – अनु०), उपरोक्त, १९१२, १, पृष्ठ २२३ तथा उसके आगे के पृष्ठ।

के टुकड़ों के व्यापार के हितों के साथ गुंथे हुए थे। बात यह है कि इस रेलवे की पूर्वी लाइन जिस ज़मीन से होकर गुज़रनेवाली थी उसे इस बैंक ने, जब यह बात तै हो गयी कि लाइन बिछायी जायेगी, बेच दिया और इस तरह अपने लिए और इस सौदे में शरीक कई दूसरे हिस्सेदारों के लिए बेशुमार मुनाफ़ा कमाया . . ." *

राजनीतिक व्यवस्था का रूप और "ब्योरे" की सभी दूसरी बातें कुछ भी हों पर जब एक बार कोई इजारेदारी बन जाती है और अरबों की रक़म पर उसका क़ब्ज़ा हो जाता है तो वह अनिवार्य रूप से सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में प्रविष्ट होती है। जर्मनी के आर्थिक साहित्य में हम अक्सर प्रशिया की नौकरशाही की ईमानदारी की भूरि-भूरि प्रशंसा और फ़्रांसीसियों के शर्मनाक पनामा[153] कांड तथा अमरीका के राजनीतिक भ्रष्टाचार की ओर संकेत पाते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि जर्मनी के बैंकों के कारोबार से संबंधित पूंजीवादी साहित्य को **भी** निरंतर शुद्धतः बैंक के कारोबार के क्षेत्र से बाहर की बातों का, जैसे उदाहरणार्थ बैंकों में नौकरी कर लेनेवाले सरकारी अफ़सरों की संख्या निरंतर बढ़ते जाने के प्रसंग में "बैंकों के आकर्षण" का, उल्लेख इन शब्दों में करना पड़ता है: "आप उस सरकारी अफ़सर की ईमानदारी के बारे में क्या कहेंगे जिसके मन में हमेशा यही कामना रहती है कि उसे बेहरेनस्ट्रासे में" (बर्लिन की वह सड़क जिसपर "जर्मन बैंक" का दफ़्तर है) "एक अच्छी-सी नौकरी मिल जाये?"** १६०६ में *«Die Bank»* के प्रकाशक अल्फ्रेड लैंसबर्ग ने एक लेख लिखा था जिसका शीर्षक था 'बिज़ेन्टाइनवाद का आर्थिक महत्व', जिसमें उन्होंने लगे हाथों विल्हेल्म द्वितीय के फ़िलिस्तीन के दौरे का और "इस यात्रा के तात्कालिक परिणाम" का, "अर्थात् बगदाद रेलवे के निर्माण" का उल्लेख किया था, "'जर्मन उद्यमशीलता की उस महान' घातक 'उपज'" का "जो हमारी तमाम भयंकर राजनीतिक ग़लतियों की अपेक्षा 'घेरेबंदी के लिए ज़्यादा ज़िम्मेवार है'।"*** (घेरेबंदी से मतलब जर्मनी को सबसे अलग कर

---

* *«Die Bank»* में *«Verkehrstrust»*, (यातायात ट्रस्ट) १६१४, १, पृष्ठ ८६।

** *«Die Bank»* में, *«Der Zug zur Bank»* (बैंक का आकर्षण – अनु०) १६०६, १, पृष्ठ ७६।

*** उपरोक्त, पृष्ठ ३०१।

देने और उसके चारों ओर जर्मन-विरोधी साम्राज्यवादी मित्र-देशों का घेरा डाल देने की एडवर्ड सप्तम की नीति से है।) १६११ में इसी पत्रिका में लिखनेवाले अश्वेगे नामक लेखक ने, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, एक लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'धनिकतंत्र तथा नौकरशाही', जिसमें उन्होंने फ़ोल्कर नामक एक जर्मन अफ़सर के क़िस्से का भंडाफोड़ किया था; वह कार्टेल समिति का एक उत्साही सदस्य था, जिसके बारे में कुछ समय बाद पता यह चला कि उसे सबसे बड़े कार्टेल, यानी स्टील सिंडीकेट में बहुत ऊंचे वेतन पर एक नौकरी मिल गयी थी। ऐसे ही दूसरे उदाहरणों के कारण, जो किसी भी प्रकार आकस्मिक नहीं थे, इस पूंजीवादी लेखक को यह स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ा कि "जर्मन संविधान में जिस आर्थिक स्वतंत्रता की गारंटी दी गयी है वह आर्थिक जीवन के कई क्षेत्रों में एक निरर्थक शब्द मात्र बनकर रह गयी है," और धनिकतंत्र के वर्तमान शासन के अधीन "व्यापकतम राजनीतिक स्वतंत्रता भी हमें अस्वतंत्र लोगों के राष्ट्र में परिवर्तित हो जाने से नहीं बचा सकती।"*

जहां तक रूस का सवाल है हम अपने आपको केवल एक उदाहरण तक ही सीमित रखेंगे। कुछ वर्ष पहले सभी अख़बारों ने यह ख़बर छापी कि सरकारी ख़ज़ाने के ऋण विभाग के संचालक दवीदोव ने अपने पद से इस्तीफ़ा देकर एक बड़े बैंक में नौकरी कर ली है, जहां, क़रार के अनुसार, उन्हें कई वर्ष के दौरान में वेतन के रूप में कुल दस लाख रूबल से अधिक रक़म मिलेगी। ऋण विभाग एक ऐसी संस्था है जिसका काम "देश की ऋण देनेवाली सभी संस्थाओं के काम का समन्वयन करना" है और जो सेंट पीटर्सबर्ग तथा मास्को के बैंकों को लगभग ८० करोड़ से १ अरब रूबल तक की सहायता देती है।**———

पूरे पूंजीवाद की आम तौर पर यह विशेषता है कि उसमें पूंजी के स्वामित्व को उत्पादन में पूंजी लगाने से अलग कर दिया जाता है, द्रव्य पूंजी को औद्योगिक या उत्पादनशील पूंजी से अलग कर दिया जाता है, और द्रव्य

---

* उपरोक्त, १६११, २, पृष्ठ ८२५; १६१३, २, पृष्ठ ६६२।

** E. Agahd, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ २०२।

पूंजी से प्राप्त होनेवाली आय पर ही जीवित रहनेवाले सूदख़ोरों को कारोबार करनेवालों तथा उन तमाम लोगों से अलग कर दिया जाता है जिनका पूंजी की व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से हाथ होता है। साम्राज्यवाद, अर्थात् वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व, पूंजीवाद की वह चरम अवस्था है जहां पहुंचकर यह अलगाव बहुत व्यापक रूप धारण कर लेता है। पूंजी के अन्य सभी रूपों पर वित्तीय पूंजी की प्रभुता का अर्थ सूदख़ोरों और वित्तीय अल्पतंत्र की प्रधानता होता है; इसका मतलब यह होता है कि वित्तीय दृष्टि से "शक्तिशाली" गिने-चुने राज्यों को अलग छांट लिया जाये। यह प्रक्रिया किस पैमाने पर चल रही है इसका अंदाज़ा उत्सारण से, अर्थात् जारी की जानेवाली हर प्रकार की प्रतिभूतियों से, संबंधित आंकड़ों से लगाया जा सकता है।

इंटरनेशनल स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट की बुलेटिन में अ० नेमार्क ने* सारी दुनिया में जारी की गयी प्रतिभूतियों के बारे में अत्यंत विशद, पूर्ण तथा तुलनात्मक आंकड़े प्रकाशित किये हैं, जिन्हें आंशिक रूप में आर्थिक साहित्य में बार-बार उद्धृत किया गया है। उन्होंने चार दशकों के आंकड़ों का जो योग दिया है, वह इस प्रकार है:

जारी की गयी कुल प्रतिभूतियां, अरब फ़्रांकों में

(दशक)	
१८७१-१८८०	७६.१
१८८१-१८९०	६४.५
१८९१-१९००	१००.४
१९०१-१९१०	१९७.८

उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में सारी दुनिया में जारी की गयी प्रतिभूतियों की कुल रक़म, विशेष रूप से फ़्रांस तथा प्रशिया के युद्ध के संबंध में जुटाये गये ऋणों के कारण, और इस युद्ध के बाद जर्मनी में नयी कम्पनियां खड़ी करने की लहर चल जाने के कारण, बहुत ऊंची थी। कुल मिलाकर देखा

---

* *Bulletin de l'institut international de statistique*, t. XIX, livr. II. La Haye. 1912. छोटे राज्यों के संबंध में दूसरे स्तंभ में जो आंकड़े दिये गये हैं उनका हिसाब १९०२ के आंकड़ों को २० प्रतिशत बढ़ाकर लगाया गया है।

जाये तो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों में यह वृद्धि अपेक्षतः इतनी तेज़ नहीं थी और केवल बीसवीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षों में लगभग १०० प्रतिशत की विशाल वृद्धि देखने में आती है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी का आरंभ केवल इजारेदारियों (कार्टेल, सिंडीकेट, ट्रस्ट) के विकास की दृष्टि से ही नहीं, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, बल्कि वित्तीय पूंजी की वृद्धि की दृष्टि से भी एक मोड़ का द्योतक है।

नेमार्क ने अनुमान लगाया है कि १६१० में सारी दुनिया में जो जारी की गयी प्रतिभूतियां प्रचलित थीं उनका मूल्य कुल मिलाकर लगभग ८,१५,००,००,००,००० फ़्रांक था। इस रक़म में से ऐसी राशियों को घटाकर जिनके बारे में यह शंका है कि उनका हिसाब शायद दो बार लगा लिया गया हो, वह इस रक़म को घटाकर ५७५-६०० अरब निर्धारित करते हैं जिसका विभाजन विभिन्न देशों के बीच इस प्रकार था: (हम ६,००,००,००,००,००० की रक़म को लेंगे।)

१६१० में प्रचलित वित्तीय प्रतिभूतियां (अरब फ़्रांकों में)

देश		
ग्रेट ब्रिटेन	१४२	४७६
सं० रा० अमरीका	१३२	
फ़्रांस	११०	
जर्मनी	६५	
रूस	३१	
आस्ट्रिया-हंगरी	२४	
इटली	१४	
जापान	१२	
हालैंड	१२.५	
बेलजियम	७.५	
स्पेन	७.५	
स्विट्ज़रलैंड	६.२५	
डेनमार्क	३.७५	
स्वीडन, नार्वे, रूमानिया, आदि	२.५	
कुल	६००	

इन आंकड़ों से फ़ौरन उन चार सबसे धनी पूंजीवादी देशों का चित्र हमारे सामने उभरकर आ जाता है, जिनमें से हर एक के पास लगभग १०० से १५० अरब फ़्रांक तक की रक़म की प्रतिभूतियां हैं। इन चार देशों में से दो, इंगलैंड तथा फ़्रांस, सबसे पुराने पूंजीवादी देश हैं, और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, उनके पास सबसे अधिक उपनिवेश हैं; बाक़ी दो, संयुक्त राज्य अमरीका तथा जर्मनी, विकास की तीव्रता की दृष्टि से तथा इस दृष्टि से कि उद्योगों में पूंजीवादी इजारेदारियों का विस्तार किस हद तक हुआ है, प्रमुख पूंजीवादी देश हैं। इन चारों देशों के पास मिलाकर ४,७९,००,००,००,००० फ़्रांक हैं, अर्थात् संसार की कुल वित्तीय पूंजी का ८० प्रतिशत भाग। लगभग बाक़ी तमाम दुनिया किसी न किसी रूप में इन अंतर्राष्ट्रीय महाजन देशों की, विश्व वित्तीय पूंजी के इन चार "स्तंभों" की, कमोबेश क़र्ज़दार और उनकी आसामी है।

परावलम्बन तथा वित्तीय पूंजी के संबंधों के इस अंतर्राष्ट्रीय जाल का निर्माण करने में पूंजी के निर्यात की जो भूमिका है उसकी जांच करना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

४. पूंजी का निर्यात

पुराने पूंजीवाद के ज़माने में, जब खुली प्रतियोगिता का पूरा राज था, **माल** का निर्यात उसकी विशेषता थी। पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था में, जबकि इजारेदारियों का राज है, **पूंजी** का निर्यात उसकी विशेषता है।

अपने विकास की चरम अवस्था में बिकाऊ माल का उत्पादन पूंजीवाद है, जहां पहुंचकर श्रम-शक्ति स्वयं एक बिकाऊ माल बन जाती है। आंतरिक विनिमय की, और विशेषतः अंतर्राष्ट्रीय विनिमय की, वृद्धि पूंजीवाद की अपनी अलग लाक्षणिक विशेषता है। अलग-अलग कारोबारों का, उद्योगों की अलग-अलग शाखाओं का तथा अलग-अलग देशों का असमान तथा रुक-रुककर झटकों के साथ विकास पूंजीवादी व्यवस्था में अनिवार्य है। इंगलैंड किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा सबसे पहले पूंजीवादी देश बना और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक खुले व्यापार का मार्ग अपनाकर वह "सारी दुनिया का कारख़ाना" होने का, सभी देशों को कारख़ानों का तैयार माल सप्लाई करनेवाला होने का दावा करने लगा, जिन्हें इसके बदले में उसे कच्चे माल से परिपूर्ण रखना पड़ता

था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम चौथाई में इस इजारेदारी की जड़ें खोखली हो चुकी थीं, क्योंकि दूसरे देश अपने आपको "संरक्षणात्मक" महसूलों द्वारा सुरक्षित करके स्वतंत्र पूंजीवादी राज्य बन गये थे। बीसवीं शताब्दी में प्रवेश करते ही हम एक नये ढंग की इजारेदारी का निर्माण होते देखते हैं: पहले, सभी विकसित पूंजीवादी देशों में इजारेदार पूंजीवादी संघ हैं; दूसरे, गिने-चुने अत्यंत धनी देशों की इजारेदारी की स्थिति, जिनमें पूंजी का संचय अत्यंत विशाल रूप धारण कर चुका है। उन्नत देशों में "पूंजी का" बेहद "अति-बाहुल्य" पैदा हो गया है।

यह तो मानी हुई बात है कि यदि पूंजीवाद कृषि का विकास कर सकता, जो आज हर जगह उद्योगों से बेहद पीछे है, यदि वह जन-साधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठा सकता, जिन्हें आज भी आश्चर्यजनक प्राविधिक उन्नति के बावजूद हर जगह भर-पेट भोजन नहीं मिलता और जो दरिद्रता का शिकार हैं, तो पूंजी के अतिबाहुल्य का कोई सवाल ही पैदा न होता। पूंजीवाद के निम्न-पूंजीवादी आलोचक बहुधा यह "दलील" पेश करते हैं। परन्तु यदि पूंजीवाद यह सब कुछ करता तो वह पूंजीवाद ही न होता, क्योंकि असमान विकास और जन-साधारण को भर-पेट भोजन न मिलना ये दोनों ही बातें इस उत्पादन-प्रणाली की आधारभूत तथा अनिवार्य शर्तें तथा मान्यताएं हैं। जब तक पूंजीवाद पूंजीवाद रहेगा तब तक फ़ालतू पूंजी उस देश विशेष के जन-साधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए नहीं इस्तेमाल की जायेगी क्योंकि इसका मतलब होगा पूंजीपतियों के मुनाफ़े में कमी, बल्कि उसका इस्तेमाल पिछड़े हुए देशों में पूंजी का निर्यात करके मुनाफ़े बढ़ाने के लिए किया जायेगा। इन पिछड़े हुए देशों में मुनाफ़े आम तौर पर ऊंचे होते हैं क्योंकि वहां पूंजी का अभाव रहता है, ज़मीन की क़ीमत अपेक्षतः कम होती है, मज़दूरी बहुत कम होती है, कच्चा माल सस्ता होता है। पूंजी के निर्यात की संभावना इस बात से उत्पन्न होती है कि अनेक पिछड़े हुए देश विश्वव्यापी पूंजीवादी संसर्ग के क्षेत्र में खिंचकर आ चुके हैं; वहां मुख्य रेलवे लाइनें या तो बन चुकी हैं या बनायी जा रही हैं, औद्योगिक विकास के लिए प्राथमिक परिस्थितियां उत्पन्न कर दी गयी हैं, आदि। पूंजी का निर्यात करने की आवश्यकता इस बात से उत्पन्न होती है कि कुछ गिने-चुने देशों में पूंजीवाद

"आवश्यकता से अधिक पक चुका है" और (कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था तथा जन-साधारण की दरिद्रता के कारण) पूंजी को "लाभप्रद" ढंग से लगाने के लिए क्षेत्र नहीं मिलता।

नीचे हम तीन देशों द्वारा विदेशों में लगायी गयी पूंजी की रक़म के संबंध में मोटे-मोटे आंकड़े दे रहे हैं:*

विदेशों में लगी हुई पूंजी

(अरब फ़्रांकों में)

वर्ष	ग्रेट ब्रिटेन	फ़्रांस	जर्मनी
१८६२	३.६	–	–
१८७२	१५.०	१० (१८६९)	–
१८८२	२२.०	१५ (१८८०)	?
१८९३	४२.०	२० (१८९०)	?
१९०२	६२.०	२७-३७	१२.५
१९१४	७५-१००.०	६०	४४.०

*हाबसन, 'साम्राज्यवाद', लंदन १९०२, पृष्ठ ५८; रीसेर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ ३९५ तथा ४०४; पी० आर्नड्ट, «*Weltwirtschaftliches Archiv*» में, खंड ७, १९१६, पृष्ठ ३५; नेमार्क, बुलेटिन में; हिल्फ़र्डिंग, 'वित्तीय पूंजी', पृष्ठ ४९२; ४ मई, १९१५ को हाउस आफ़ कामंस में लायड जार्ज का भाषण, जिसकी रिपोर्ट ५ मई, १९१५ को 'डेली टेलीग्राफ़' में छपी थी; बी० हार्म्स, «*Probleme der Weltwirtschaft*», जेना, १९१२, पृष्ठ २३५ तथा उसके बाद के पृष्ठ; डा० सीगमंद शिल्दर, «*Entwicklungstendenzen der Weltwirtschaft*» (विश्व अर्थतंत्र के विकास की प्रवृत्तियां – अनु०), बर्लिन, १९१२, खंड १, पृष्ठ १५०; जार्ज पेश, 'जर्नल आफ़ दे रायल स्टेटिस्टिकल सोसायटी' में 'ग्रेट ब्रिटेन द्वारा लगायी गयी पूंजी, आदि', खंड ७४, १९१०-११, पृष्ठ १६७ तथा उसके बाद के पृष्ठ; जार्ज दियूरिच, «*L'Expansion des banques allemandes à l'étranger, ses rapports avec le développement économique de l'Allemagne*» (जर्मनी के आर्थिक विकास के संबंध में विदेशों में जर्मन बैंकों का विस्तार – अनु०), पेरिस, १९०९, पृष्ठ ८४।

इस तालिका से पता चलता है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही जाकर पूंजी के निर्यात ने व्यापक रूप धारण किया। युद्ध से पहले विदेशों में तीन मुख्य देशों द्वारा लगायी गयी पूंजी १,७५,००,००,००,००० और २,००,००,००,००,००० फ़्रांक के बीच थी। यदि ५ प्रतिशत की मामूली दर से भी हिसाब लगाया जाये तो इस राशि से होनेवाली आय प्रति वर्ष ८ से १० अरब फ़्रांक तक रही होगी। संसार के अधिकांश देशों तथा राष्ट्रों के साम्राज्यवादी उत्पीड़न तथा शोषण के लिए, इस बात के लिए कि गिने-चुने धनवान राज्य पूंजीवादी ढंग से दूसरों का ख़ून चूसकर जीवित रहें, कितना ठोस आधार है!

विदेशों में लगी हुई यह पूंजी किस प्रकार बंटी हुई है? वह **कहां** लगायी गयी है? इस प्रश्न का उत्तर केवल मोटे-मोटे तौर पर ही दिया जा सकता है, पर जो आधुनिक साम्राज्यवाद के कुछ आम संबंधों तथा रिश्तों पर प्रकाश डालने के लिए काफ़ी है।

विदेशी पूंजी का मोट-मोट तौर पर वितरण

(१६१० के लगभग)

	ग्रेट ब्रिटेन	फ़्रांस	जर्मनी	कुल योग
	(अरब मार्कों में)			
यूरोप	४	२३	१८	४५
अमरीका	३७	४	१०	५१
एशिया, अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया	२६	८	७	४४
कुल योग	७०	३५	३५	१४०

ब्रिटिश पूंजी लगाने के मुख्य क्षेत्र ब्रिटिश उपनिवेश आदि हैं जो, एशिया की बात तो जाने दीजिये, अमरीका में भी बहुत बड़े-बड़े हैं (जैसे कनाडा)। इस उदाहरण में, पूंजी के विपुल निर्यात का बहुत गहरा संबंध विस्तृत उपनिवेशों के साथ है, साम्राज्यवाद के लिए जिनके महत्व का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। फ़्रांस के मामले में परिस्थिति इससे भिन्न है। फ़्रांस से जितनी पूंजी का निर्यात किया गया है वह मुख्यतः यूरोप में, सबसे बढ़कर रूस में (कम से कम दस अरब फ़्रांक), लगी हुई है। यह पूंजी मुख्यतः **ऋण के**

रूप में, सरकारी ऋणों के रूप में, लगायी गयी है, वह औद्योगिक कारोबार में लगी हुई पूंजी नहीं है। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद को, जो ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्यवाद से भिन्न है, हम सूदखोर साम्राज्यवाद कह सकते हैं। जर्मनी में एक तीसरे प्रकार का साम्राज्यवाद है, उसके उपनिवेश बहुत थोड़े हैं और विदेशों में लगी हुई जर्मन पूंजी यूरोप तथा अमरीका के बीच बहुत संतुलित ढंग से बंटी हुई है।

पूंजी का निर्यात उन देशों में, जहां वह भेजी जाती है, पूंजीवाद के विकास पर प्रभाव डालता है तथा उसकी रफ़्तार को बहुत तेज़ कर देता है। इसलिए, पूंजी के निर्यात से पूंजी का निर्यात करनेवाले देशों में विकास को कुछ हद तक रोक देने की प्रवृत्ति तो हो सकती है, पर वह इस काम को सारे संसार में पूंजीवाद के और अधिक विकास को बढ़ाकर तथा गहरा बनाकर ही पूरा कर सकता है।

जो देश पूंजी का निर्यात करते हैं वे लगभग हमेशा ही कुछ ऐसी "सुविधाएं" प्राप्त कर लेने में सफल हो जाते हैं, जिनके स्वरूप से वित्तीय पूंजी तथा इजारेदारी के युग की विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए, बर्लिन की «*Die Bank*» नामक समीक्षा-पत्रिका के अक्तूबर १९१३ के अंक में निम्नलिखित बात छपी थी:

"इधर कुछ दिनों से पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में एक ऐसा हास्यप्रधान नाटक हो रहा है जो ऐरिस्टोफ़ेनीज़ जैसे किसी नाटककार की लेखनी को शोभा देता। स्पेन से लेकर बालकन राज्यों तक, रूस से लेकर अर्जेन्टाइना, ब्राज़ील तथा चीन तक, बहुत-से देश बड़ी पूंजी के बाज़ार में खुलेआम या चोरी-छुपे आते हैं और क़र्ज़ मांगते हैं, कभी-कभी तो वे क़र्ज़ के लिए धरना देकर बैठ जाते हैं। इस समय पैसे के बाज़ार की हालत बहुत अच्छी नहीं है और राजनीतिक परिस्थिति भी बहुत आशाजनक नहीं है। परन्तु पैसे का एक भी बाज़ार ऐसा नहीं जो विदेशों को ऋण देने से इंकार कर सके क्योंकि वह डरता है कि कहीं उसका पड़ोसी उससे आगे न निकल जाये, ऋण देने पर राज़ी न हो जाये और इस प्रकार ऋण लेनेवाले से इसके बदले में कोई काम न करवा ले। इन अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाज़ियों में ऋण देनेवाला लगभग हमेशा ही कोई न कोई विशेष सुविधा प्राप्त कर लेता है: किसी वाणिज्यिक समझौते में अपनी सुविधा की

कोई शर्त, जहाज़ों के लिए कोयला लेने का कोई स्थान, कोई बंदरगाह बनाने का ठेका, कोई बड़ी-सी रिम्रायत, या तोपों का आर्डर।"*

वित्तीय पूंजी ने इजारेदारियों के युग को जन्म दिया है और इजारेदारियां हर जगह इजारेदारी के सिद्धांत लागू करती हैं: खुले बाज़ार में प्रतियोगिता के बजाय मुनाफ़े के सौदों के लिए "संबंधों" का फ़ायदा उठाया जाने लगता है। सबसे ज़्यादा आम बात तो यह होती है कि एक शर्त यह लगा दी जाती है कि जो ऋण दिया गया है उसका एक भाग ऋण देनेवाले देश से चीज़ें ख़रीदने पर, विशेष रूप से युद्ध-सामग्री, या जहाज़ आदि ख़रीदने पर ख़र्च किया जायेगा। पिछले दो दशकों में (१८९०-१९१०) फ़्रांस ने यह तरीक़ा बहुत बार अपनाया है। इस प्रकार विदेशों को पूंजी का निर्यात करना बिकाऊ माल के निर्यात को प्रोत्साहन देने का साधन बन जाता है। इस प्रसंग में, विशेष रूप से बड़ी-बड़ी कम्पनियों के बीच होनेवाले सौदे ऐसा रूप धारण कर लेते हैं जिसके बारे में शिल्दर** ने "बहुत नरम शब्दों में" कहा है कि वह "लगभग भ्रष्टाचार ही होता है"। जर्मनी में क्रुप्प, फ़्रांस में श्नाइदर, इंगलैंड में आर्मस्ट्रांग ऐसी कम्पनियां हैं जिनके संबंध शक्तिशाली बैंकों तथा सरकारों के साथ बहुत गहरे हैं और ऋण का बंदोबस्त करते समय इनकी आसानी से "उपेक्षा" नहीं की जा सकती।

रूस को ऋण देते समय फ़्रांस ने उसे "दबाकर" १६ सितम्बर, १९०५ का वाणिज्यिक समझौता करने पर मजबूर किया जिसमें उसने कुछ ऐसी रिम्रायतों की शर्त रखी जो १९१७ तक लागू रहनेवाली थीं। १९ अगस्त, १९११ को जब फ़्रांस और जापान के बीच वाणिज्यिक समझौता हुआ उस समय भी उसने यही किया। आस्ट्रिया तथा सरबिया के बीच, सात महीने की अवधि को छोड़कर, १९०६ से १९११ तक जो महसूलों का युद्ध चलता रहा उसका कारण आंशिक रूप से सरबिया को युद्ध-सामग्री देने के सिलसिले में आस्ट्रिया तथा फ़्रांस की पारस्परिक प्रतियोगिता थी। जनवरी १९१२ में पाल देशानेल ने चैम्बर आफ़ डिपुटीज़ में कहा कि १९०८ से १९११ तक फ़्रांसीसी कम्पनियों ने सरबिया को ४,५०,००,००० फ़्रांक की युद्ध-सामग्री दी थी।

---

* «*Die Bank*», १९१३, २, पृष्ठ १०२४।

** Schilder, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ ३४६, ३५० तथा ३७१।

साम्रो-पालो (ब्राज़ील) में आस्ट्रिया-हंगरी के कौंसल की एक रिपोर्ट में कहा गया है: "ब्राज़ील की रेलों का निर्माण मुख्यतः फ़्रांस, बेलजियम, ब्रिटेन तथा जर्मनी की पूंजी से हो रहा है। इन रेलों के निर्माण के संबंध में जो वित्तीय लेन-देन हुई है उसमें ऋण देनेवाले देशों ने यह शर्त लगायी है कि रेलों के लिए आवश्यक सामान का आर्डर उन्हें ही दिया जायेगा।"

हम यह कह सकते हैं कि इस प्रकार वित्तीय पूंजी शब्दशः अपना जाल संसार के सभी देशों में फैलाती है। इसमें उपनिवेशों में स्थापित किये जानेवाले बैंकों तथा उनकी शाखाओं की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। जर्मन साम्राज्यवाद दूसरे देशों में अपने उपनिवेश बनानेवाले उन "पुराने" देशों को बड़ी ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है जो अपने लिए इस बात का पूरा प्रबंध करने में विशेष रूप से "सफल" हुए हैं। १९०४ में ग्रेट ब्रिटेन के ५० औपनिवेशिक बैंक थे जिनकी २,२७९ शाखाएं थीं (१९१० में इन बैंकों की संख्या ७२ और उनकी शाखाओं की संख्या ५,४४९ थी); फ़्रांस के २० बैंक थे जिनकी १३६ शाखाएं थीं; हालैंड के १६ बैंक थे जिनकी ६८ शाखाएं थीं, और जर्मनी के "केवल" १३ बैंक थे जिनकी ७० शाखाएं थीं।* दूसरी तरफ़ अमरीकी पूंजीपति इंगलैंड तथा जर्मनी से जलते हैं: १९१५ में उन्होंने यह शिकायत की थी कि "दक्षिणी अमरीका में पांच जर्मन बैंकों की चालीस शाखाएं और पांच अंग्रेज़ बैंकों की सत्तर शाखाएं हैं... इंगलैंड और जर्मनी ने पिछले पच्चीस वर्षों में अर्जेन्टाइना, ब्राज़ील तथा उरुग्वे में लगभग चार अरब डालर की पूंजी लगायी है और फलस्वरूप वे आपस में इन तीन देशों के कुल व्यापार के ४६ प्रतिशत भाग पर क़ब्ज़ा जमाये हुए हैं।"**

---

* Riesser, पहले उद्धत की गयी पुस्तक, चौथा संस्करण, पृष्ठ ३७५, Diouritch, पृष्ठ २८३।

** *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol. LIX, May 1915, p. 301. इसी खंड में पृष्ठ ३३१ पर हम पढ़ते हैं कि प्रख्यात सांख्यिकीविद पेश ने «*Statist*» नामक वित्तीय पत्रिका के पिछले अंक में यह अनुमान लगाया था कि इंगलैंड, जर्मनी, फ़्रांस, बेलजियम तथा हालैंड ने ४०,००,००,००,००० डालर अर्थात् २,००,००,००,००,००० फ़्रांक की पूंजी निर्यात की।

पूंजी का निर्यात करनेवाले देशों ने तो अपने बीच दुनिया का बंटवारा जिस अर्थ में कर रखा है वह इस शब्द का आलंकारिक अर्थ है। परन्तु वित्तीय पूंजी के फलस्वरूप तो दुनिया का बंटवारा **सचमुच** हो गया है।

५. पूंजीपति संघों के बीच दुनिया का बंटवारा

इजारेदार पूंजीपति संघ, कार्टेल, सिंडीकेट तथा ट्रस्ट सबसे पहले तो अपने देश के बाज़ार को आपस में बांट लेते हैं, उस देश के उद्योगों को कमोबेश पूरी तरह अपने क़ब्ज़े में कर लेते हैं। परन्तु पूंजीवाद के अंतर्गत अपने देश का बाज़ार अनिवार्य रूप से विदेशी बाज़ार के साथ सम्बद्ध होता है। पूंजीवाद ने मुद्दत से ही विश्वव्यापी बाज़ार तैयार कर रखा है। जैसे-जैसे पूंजी का निर्यात बढ़ता गया और बड़े-बड़े इजारेदार संघों के विदेशी तथा औपनिवेशिक संबंध तथा "प्रभाव-क्षेत्र" हर तरह से बढ़ते गये, वैसे-वैसे "स्वाभाविक रूप से" परिस्थितियां इन संघों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की दिशा में, और अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के निर्माण की दिशा में खिंचती गयीं।

यह पूंजी तथा उत्पादन के विश्वव्यापी संकेंद्रण की नयी मंज़िल है जो इससे पहले की तमाम मंज़िलों से कहीं ज़्यादा ऊंची है। आइये, हम देखें कि यह महा-इजारेदारी किस प्रकार विकसित होती है।

बिजली-उद्योग नवीनतम प्राविधिक सफलताओं का सबसे लाक्षणिक उदाहरण है, उन्नीसवीं शताब्दी के **अंत** तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभ में पूंजीवाद की सारी विशेषताएं इसमें पायी जाती हैं। यह उद्योग नये पूंजीवादी देशों में से दो सबसे उन्नत देशों में, संयुक्त राज्य अमरीका तथा जर्मनी में, सबसे अधिक विकसित हुआ है। जर्मनी में १६०० के संकट ने इसके संकेंद्रण को विशेष रूप से प्रबल प्रोत्साहन दिया। संकट के दौरान में बैंकों ने, जो उस समय तक उद्योगों के साथ काफ़ी अच्छी तरह घुलमिल चुके थे, अपेक्षतः छोटी कम्पनियों के तबाह होने तथा बड़ी कम्पनियों में उनके विलीन हो जाने की प्रक्रिया को बहुत तेज़ कर दिया तथा गहरा बना दिया। जीडेल्स ने लिखा है,

"बैंक उन कम्पनियों को, जिन्हें पूंजी की सबसे अधिक आवश्यकता है, सहारा देने से इंकार करके पहले तो बहुत जबर्दस्त तेज़ी पैदा करते हैं और फिर वे कम्पनियां, जो उनके साथ काफ़ी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध नहीं होतीं, बुरी तरह ठप हो जाती हैं।"*

फलस्वरूप, १६०० के बाद जर्मनी में संकेंद्रण बड़ी तीव्र गति से बढ़ा। १६०० तक बिजली-उद्योग में आठ या सात "समूह" थे। हर एक में कई-कई कम्पनियां थीं (कुल मिलाकर २८ कम्पनियां थीं) और हर एक के पीछे २ से लेकर ११ बैंकों तक का हाथ था। १६०८ और १६१२ के बीच ये सारे समूह आपस में मिलकर दो, या एक रह गये। पृष्ठ ३८६ पर दिये हुए ख़ाके से इस प्रक्रिया का पता चलता है।

प्रख्यात ए० ई० जी० (जेनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी) के क़ब्ज़े में, जो इस प्रकार बढ़कर इतनी बड़ी हुई है, १७५ से २०० तक कम्पनियां ("होल्डिंग" पद्धति द्वारा), और कुल मिलाकर लगभग १,५०,००,००,००० मार्क की पूंजी है। अकेले विदेशों में ही दस से ज़्यादा देशों में इसकी अपनी चौंतीस एजेंसियां हैं, जिनमें से बारह ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियां हैं। बहुत पहले १६०४ में ही, जर्मनी के बिजली-उद्योग द्वारा विदेशों में लगायी गयी पूंजी का अनुमान २३,३०,००,००० मार्क का लगाया जाता था। उसमें से ६,२०,००,००० मार्क की पूंजी रूस में लगी हुई थी। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि ए० ई० जी० एक बहुत बड़ा "सम्मिलित कारख़ाना" है—अकेले उसकी उन कम्पनियों की संख्या जो कारख़ानों में माल तैयार करती हैं सोलह से कम नहीं है—जो बिजली के मोटे-मोटे तारों और इंसुलेटरों से लेकर मोटरें और वायुयान तक अत्यंत विविध प्रकार की चीज़ें तैयार करता है।

परन्तु यूरोप में जो संकेंद्रण हुआ वह भी अमरीका की इस संकेंद्रण की प्रक्रिया का ही एक अभिन्न अंग था; यह संकेंद्रण इस प्रकार हुआ:

---

*जीडेल्स, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ २३२।

बिजली-उद्योग में विभिन्न समूह

१६०० से पहले :	फ़ेल्टेन एंड गिलौम	लाहमेयेर	यूनियन ए० ई० जी०	सीमेन्स एंड हाल्स्के	शुकर्ट एंड कं०	बर्गमैन	कुम्मर
	फ़ेल्टेन एंड लाहमेयेर		ए० ई० जी० (जेनरल एल० कं०)	सीमेन्स एंड हाल्स्के-शुकर्ट		बर्गमैन	१६०० में ठप हो गयी
	ए० ई० जी० (जेनरल एलेक्ट्रिक कं०)			सीमेन्स एंड हाल्स्के-शुकर्ट			
१६१२ तक :	(१६०८ से इन दोनों के बीच गहरा "सहयोग" है)						

		जेनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी
संयुक्त राज्य अमरीका :	टामसन-हाउस्टन कम्पनी यूरोप में अपनी एक फ़र्म स्थापित करती है	एडीसन कम्पनी यूरोप में फ्रांसीसी एडीसन कम्पनी स्थापित करती है जो अपने पेटेन्ट निम्न जर्मन फ़र्म को बेच देती है
जर्मनी :	यूनियन एलेक्ट्रिक कम्पनी	जेनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी (ए० ई० जी०)

जेनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी (ए० ई० जी०)

इस प्रकार बिजली-उद्योग की **दो** "महान शक्तियों" का निर्माण हुआ: हेईनिग ने अपने लेख 'बिजली ट्रस्ट का मार्ग' में लिखा था कि "संसार में इनके अलावा कोई बिजली की कम्पनियां ऐसी नहीं हैं जो इनसे **पूर्णतः** स्वतंत्र हों।" निम्नलिखित आंकड़ों से इन दो "ट्रस्टों" के कारोबार के उत्पादन तथा उनके आकार का अंदाज़ा लग सकता है, हालांकि यह अंदाज़ा अधूरा ही होगा:

	साल	आमदनी-रफ़्तनी (लाख मार्कों में)	कर्मचारियों की संख्या	शुद्ध मुनाफ़ा (लाख मार्कों में)
अमरीका: जेनरल एलेक्ट्रिक कं० (जी० ई० सी०)	१९०७	२,५२०	२८,०००	३५४
	१९१०	२,९८०	३२,०००	४५६
जर्मनी: जेनरल एलेक्ट्रिक कं० (ए० ई० जी०)	१९०७	२,१६०	३०,७००	१४५
	१९११	३,६२०	६०,८००	२१७

तो, १९०७ में जर्मन तथा अमरीकी ट्रस्टों ने आपस में एक समझौता किया जिसके द्वारा उन्होंने दुनिया को अपने बीच बांट लिया। उनके बीच प्रतियोगिता समाप्त हो गयी। अमरीकी जेनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी (जी० ई० सी०)

को संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा "मिले"। जर्मन जेनरल एलेक्ट्रिक कम्पनी (ए० ई० जी०) को जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, हालैंड, डेनमार्क, स्विट्ज़रलैंड, तुर्की तथा बालकन देश "मिले"। इस संबंध में भी ख़ास समझौते हुए, जो स्वाभाविक रूप से गुप्त थे, कि उद्योग की नयी शाखाओं में तथा उन "नये" देशों में जिनका बंटवारा अभी तक बाक़ायदा नहीं हुआ था, "बेटी कम्पनियां" स्थापित करके घुसा जाये। इन दोनों ट्रस्टों के बीच आविष्कारों तथा प्रयोगों का आदान-प्रदान करने का भी समझौता हुआ।*

यह बात स्वतः स्पष्ट है कि इस ट्रस्ट से, जो वास्तव में अकेला और प्रायः सारी दुनिया में फैला हुआ है, जिसके क़ब्ज़े में कई अरब की पूंजी है, और दुनिया के कोने-कोने में जिसकी "शाखाएं", एजेंसियां, प्रतिनिधि तथा संबंध आदि हैं, टक्कर लेना कितना कठिन था, परन्तु दो शक्तिशाली ट्रस्टों के बीच दुनिया के बंटवारे का अर्थ यह नहीं होता कि यदि असमान विकास, युद्ध, दिवाले आदि के फलस्वरूप शक्तियों का पारस्परिक संबंध बदल जाये तो **पुनर्विभाजन** हो ही नहीं सकता।

इस प्रकार के पुनर्विभाजन की कोशिशों का, पुनर्विभाजन के लिए संघर्ष का एक शिक्षाप्रद उदाहरण तेल-उद्योग में मिलता है।

जीडेल्स ने १९०५ में लिखा, "दुनिया का तेल का बाज़ार आज भी अभी तक दो बहुत बड़े वित्तीय गुटों के बीच बंटा हुआ है – राकफ़ेलर की अमेरिकन स्टैण्डर्ड आयल कं० और राथशिल्ड एंड नोबेल, जिसका बाकू के रूसी तेल-क्षेत्रों पर नियंत्रण है। इन दोनों गुटों का आपस में गहरा संबंध है। परन्तु पिछले कई वर्षों से पांच शत्रुओं के कारण उनकी इजारेदारी के लिए ख़तरा पैदा हो गया है"**: (१) अमरीकी तेल-क्षेत्रों में तेल का समाप्त हो जाना; (२) बाकू की मांताशेव नामक कम्पनी की प्रतियोगिता; (३) आस्ट्रिया के तेल-क्षेत्र; (४) रूमानिया के तेल-क्षेत्र; (५) समुद्र-पार के तेल-क्षेत्र, विशेष रूप से डच उपनिवेशों में (सैमुएल तथा शेल की अत्यंत धनवान कम्पनियां, जिनका संबंध भी ब्रिटिश

---

* Riesser, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक; Diouritch, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ २३९; Kurt Heinig, पहले उद्धृत किया गया लेख।

** जीडेल्स, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १९३।

पूंजी से है)। इन गुटों में से अंतिम तीन गुटों का संबंध बड़े-बड़े जर्मन बैंकों के साथ है, जिनमें सबसे प्रमुख स्थान विशाल «*Deutsche Bank*» का है। इन बैंकों ने "स्वयं" अपने पैर जमाने के उद्देश्य से स्वतंत्र तथा नियमित ढंग से, उदाहरण के लिए, रूमानिया के तेल-क्षेत्रों का विकास किया। १९०७ में रूमानिया के तेल-उद्योग में जो विदेशी पूंजी लगी हुई थी वह अनुमानतः १८,५०,००,००० फ़्रांक की थी जिसमें से ७,४०,००,००० जर्मन पूंजी थी।*

"दुनिया के बंटवारे" के लिए संघर्ष आरंभ हो गया, आर्थिक साहित्य में इसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता है। एक तरफ़ तो राकफ़ेलर के "तेल ट्रस्ट" ने **हर चीज़** पर क़ब्ज़ा कर लेने की इच्छा से **ख़ुद** हालैंड में जाकर अपनी एक "बेटी कम्पनी" खड़ी की और अपने मुख्य शत्रु एंग्लो-डच शेल ट्रस्ट पर प्रहार करने के उद्देश्य से डच इंडीज़ में तेल-क्षेत्र ख़रीद लिये। दूसरी ओर, «*Deutsche Bank*» तथा जर्मनी के दूसरे बैंक रूमानिया को "अपने लिए बनाये रखने" और उसे राकफ़ेलर के ख़िलाफ़ रूस के साथ मिला देने के फेर में थे। राकफ़ेलर के पास कहीं अधिक पूंजी और तेल के परिवहन तथा वितरण की बहुत अच्छी व्यवस्था थी। इस संघर्ष की हार होनी थी और १९०७ में वह हुई भी, जिसमें «*Deutsche Bank*» की क़रारी हार हुई, उसके सामने दो ही रास्ते रह गये: या तो "तेल-उद्योग में अपने हितों" को ख़त्म कर दे और करोड़ों का घाटा उठाये या फिर घुटने टेक दे। उसने घुटने टेक देना ही बेहतर समझा और "तेल ट्रस्ट" के साथ एक ऐसा समझौता कर लिया जो उसके लिए बहुत नुक़सान का था। «*Deutsche Bank*» इसपर राज़ी हो गया कि वह "कोई ऐसी कोशिश नहीं करेगा जिससे अमरीकी हितों को हानि पहुंचे"। परन्तु समझौते में इसकी गुंजाइश रखी गयी थी कि यदि जर्मनी तेल की राज्यीय इजारेदारी क़ायम कर ले तो यह समझौता रद्द हो जायेगा।

इसके बाद "तेल का हास्यप्रधान नाटक" आरंभ हुआ। जर्मनी के एक वित्त-सम्राट् फ़ॉन ग्विनेर ने, जो «*Deutsche Bank*» के एक संचालक भी थे, अपने प्राइवेट सेक्रेटरी स्टास की मार्फ़त तेल की राज्यीय इजारेदारी **के लिए** एक मुहिम शुरू की। विशाल जर्मन बैंक के विशाल संगठन तथा उसके समस्त व्यापक "सम्पर्क" इस काम में जुटा दिये गये। अख़बारों में अमरीकी ट्रस्ट के

---

* Diouritch, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ २४५।

"जूए" के ख़िलाफ़ "देशभक्तिपूर्ण" क्रोध उबल पड़ा और १५ मार्च, १६११ को राइख़स्टाग ने लगभग सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें सरकार से तेल की एक इजारेदारी स्थापित करने का अनुरोध किया गया था। सरकार ने इस "लोकप्रिय" विचार को तुरन्त स्वीकार कर लिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि «*Deutsche Bank*» की चाल, जो अपने अमरीकी साझेदार को धोखा देने और राज्यीय इजारेदारी द्वारा अपने कारोबार को चमकाने की आशा लगाये बैठा था, सफल हो गयी। जर्मनी के तेल-सम्राट् बेशुमार मुनाफ़े के स्वप्न देखने लगे, जो रूस के शकर कारख़ानेदारों से कम नहीं होनेवाला था... परन्तु, पहले तो, बड़े-बड़े जर्मन बैंक लूट के माल के बंटवारे के सवाल पर आपस में लड़ पड़े। «*Disconto-Gesellschaft*» बैंक ने «*Deutsche Bank*» के लोलुपतापूर्ण उद्देश्यों की क़लई खोल दी; दूसरे, राकफ़ेलर के साथ टक्कर की संभावना से सरकार भयभीत हो उठी, क्योंकि इसमें बहुत संदेह था कि जर्मनी को दूसरे स्रोतों से तेल मिल भी सकता था कि नहीं (रूमानिया का उत्पादन बहुत थोड़ा था); तीसरे, उसी समय जर्मनी का युद्ध की तैयारियों के लिए एक अरब मार्क के १६१३ वाले ऋण का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। तेल की इजारेदारी की योजना स्थगित कर दी गयी। कम से कम कुछ समय के लिए तो इस टक्कर में राकफ़ेलर के "तेल ट्रस्ट" की विजय हुई।

बर्लिन की समीक्षा-पत्रिका «*Die Bank*» ने इस प्रसंग में लिखा कि बिजली की इजारेदारी स्थापित करके और पानी से सस्ती बिजली बनाकर ही जर्मनी तेल ट्रस्ट के ख़िलाफ़ लड़ सकता है। इसके साथ ही लेखक ने यह भी लिखा, "परन्तु बिजली की इजारेदारी उसी समय स्थापित होगी जब उत्पादकों को उसकी आवश्यकता होगी, अर्थात् उस समय जब कारोबार के ढह जाने का महान् संकट बिजली-उद्योग के दरवाज़े पर खड़ा होगा और जब वे विशालकाय महंगे बिजलीघर, जो इस समय बिजली की प्राइवेट 'कम्पनियों' द्वारा हर जगह बहुत पैसा लगाकर खड़े किये जा रहे हैं और जो शहरों, राज्यों आदि से आंशिक इजारेदारी भी प्राप्त करने लगे हैं, मुनाफ़े पर नहीं चलाये जा सकेंगे। उस समय जल-शक्ति का उपयोग करना पड़ेगा। पर उससे राज्य के ख़र्च पर सस्ती बिजली पैदा करना असंभव होगा; इसे भी 'राज्य द्वारा नियंत्रित प्राइवेट इजारेदारी' के हाथों में सौंप देना पड़ेगा क्योंकि प्राइवेट उद्योगों ने बहुत से समझौते कर

रखे हैं और भारी मुआवज़े की शर्त लगा रखी है... नाइट्रेट की इजारेदारी के मामले में यही हुआ था, तेल की इजारेदारी के मामले में भी यही बात है, बिजली की इजारेदारी के मामले में भी यही होगा। समय आ गया है कि एक सुंदर सिद्धांत की चकाचौंध से अंधे हो जानेवाले हमारे राज्यीय समाजवाद के समर्थक आख़िरकार इस बात को समझ लें कि जर्मनी में इजारेदारियों ने कभी भी उपभोक्ताओं को फ़ायदा पहुंचाने का, या इजारेदारी चलानेवाले के मुनाफ़े का एक भाग भी राज्य को देने का उद्देश्य अपने सामने नहीं रखा है और न ही कभी परिणामस्वरूप इन दोनों में से कोई बात हुई है; उन्होंने हमेशा राज्य के हितों की बलि देकर उन निजी उद्योगों को, जिनका दिवाला निकलनेवाला था, दुबारा अपने पैरों पर खड़ा कर देने में सुविधा पहुंचाने का काम किया है।"*

जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों को ऐसी महत्वपूर्ण स्वीकारोक्तियों पर मजबूर होना पड़ता है। यहां पर हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि वित्तीय पूंजी के युग में निजी तथा राज्यीय इजारेदारियां किस प्रकार एक-दूसरे में गुंथी हुई हैं; किस प्रकार वे दोनों ही दुनिया के बंटवारे के लिए बड़े इजारेदारों के बीच होनेवाले साम्राज्यवादी संघर्ष की अलग-अलग कड़ियां हैं।

व्यापारिक जहाज़रानी के क्षेत्र में भी संकेंद्रण के अत्यधिक विकास की परिणति दुनिया के बंटवारे में हुई है। जर्मनी में दो शक्तिशाली कम्पनियां सबसे आगे आ गयी हैं: «*Hamburg-Amerika*» और «*Norddeutscher Lloyd*», जिनमें से प्रत्येक के पास (शेयरों तथा बांडों के रूप में) २०,००,००,००० मार्क की पूंजी और १८ करोड़ ५० लाख से १८ करोड़ ९० लाख मार्क की क़ीमत के जहाज़ हैं। दूसरी ओर, अमरीका में १ जनवरी, १९०३ को "इंटरनेशनल मर्केन्टाइल मैरीन कं०" की स्थापना हुई, जिसे मार्गन का ट्रस्ट कहा जाता है; यह कम्पनी नौ अमरीकी तथा ब्रिटिश जहाज़ी कम्पनियों को मिलाकर बनायी गयी थी और इसके पास १२,००,००,००० डालर (४८,००,००,००० मार्क) की पूंजी थी। बहुत पहले १९०३ में ही ज़र्मनी की विशालकाय कम्पनियों और इस अमरीकी-ब्रिटिश ट्रस्ट के बीच मुनाफ़े के बंटवारे के सिलसिले में दुनिया का बंटवारा कर

---

* «*Die Bank*», १९१२, १, पृष्ठ १०३६; १९१२, २, पृष्ठ ६२९; १९१३, १, पृष्ठ ३८८।

लेने का समझौता हो गया था। जर्मन कम्पनियों ने अंग्रेज़-अमरीकी यातायात के क्षेत्र में प्रतियोगिता न करने का आश्वासन दिया। यह बात साफ़-साफ़ तय कर दी गयी कि कौन-कौन बंदरगाह किसके-किसके "हिस्से में आयेंगे", एक संयुक्त नियंत्रण-समिति की स्थापना कर दी गयी, इत्यादि। यह समझौता बीस वर्ष के लिए हुआ था और इसमें एक समझदारी की शर्त यह भी थी कि युद्ध छिड़ जाने पर यह समझौता रद्द हो जायेगा।*

इंटरनेशनल रेल कार्टेल के निर्माण की कहानी भी अत्यंत शिक्षाप्रद है। ब्रिटेन, बेलजियम तथा जर्मनी के रेल के कारख़ानों के मालिकों की तरफ़ से एक कार्टेल बनाने की पहली कोशिश अब से बहुत पहले १८८४ में एक भयंकर औद्योगिक मंदी के ज़माने में की गयी थी। इन कारख़ानेवालों ने आपस में समझौता किया कि वे एक-दूसरे के देश से बाज़ारों में प्रतियोगिता नहीं करेंगे और उन्होंने विदेशों को निम्नलिखित अनुपात के आपस में बांट लिया था: ग्रेट ब्रिटेन ६६ प्रतिशत, जर्मनी २७ प्रतिशत, बेलजियम ७ प्रतिशत। भारत पूरी तरह ग्रेट ब्रिटेन के लिए अलग छोड़ दिया गया था। इन सबने मिलकर उस एक ब्रिटिश कम्पनी के ख़िलाफ़ जंग छेड़ दी जो कार्टेल में शामिल नहीं हुई थी, और इस लड़ाई का ख़र्च कुल बिक्री में से कुछ प्रतिशत भाग काटकर निकाला जाता था। परन्तु १८८६ में जब दो ब्रिटिश कम्पनियां इससे अलग हो गयीं तो यह कार्टेल ढह गया। यह बात अत्यंत सारगर्भित है कि इसके बाद जो तेज़ी के ज़माने आये उनमें भी कोई समझौता नहीं हो पाया।

१९०४ के आरंभ में जर्मनी का स्टील सिंडीकेट बनाया गया। नवम्बर १९०४ में इंटरनेशनल रेल कार्टेल दुबारा खड़ा किया गया और बंटवारा इस अनुपात से हुआ: इंगलैंड ५३.५ प्रतिशत, जर्मनी २८.८३ प्रतिशत, बेलजियम १७.६७ प्रतिशत। बाद में फ़्रांस भी इसमें शामिल हो गया और उसे पहले, दूसरे तथा तीसरे वर्षों के दौर में १०० प्रतिशत की सीमा से बाहर, अर्थात् १०४.८ आदि के कुल योग में से, क्रमशः ४.८ प्रतिशत, ५.८ प्रतिशत तथा ६.४ प्रतिशत का हिस्सा मिला। १९०५ में यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कार्पोरेशन इस कार्टेल में शामिल हुआ; फिर आस्ट्रिया तथा स्पेन शामिल हुए। १९१० में फ़ोगेल्स्टीन ने

---

*रीसेर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १२५।

लिखा, "इस समय दुनिया का बंटवारा पूरा हो चुका है, और बड़े-बड़े उपभोक्ता, मुख्यतः राज्यीय रेलें – क्योंकि दुनिया का बंटवारा उनके हितों को ध्यान में रखे बिना ही कर दिया गया है – अब कवि की तरह बृहस्पति ग्रह के स्वर्ग में रह सकती हैं।"*

हम इंटरनेशनल ज़िंक सिंडीकेट का भी उल्लेख करेंगे, जिसकी स्थापना १९०९[1] में हुई थी और जिसने उत्पादन को बहुत सही-सही हिसाब लगाकर कारख़ानों के पांच समूहों में बांट दिया था: जर्मन, बेलजियम, फ़्रांसीसी, स्पेनी तथा ब्रिटिश; और इंटरनेशनल डायनामाइट ट्रस्ट का भी जिसके बारे में लिएफ़मैन ने कहा है कि यह "जर्मनी के समस्त बारूद बनानेवाले कारख़ानों का बिल्कुल आधुनिक घनिष्ठ गठजोड़ है, जिन्होंने इसी आधार पर संगठित फ़्रांस तथा अमरीका के बारूद बनानेवाले कारख़ानों के साथ मिलकर एक तरह से दुनिया को आपस में बांट लिया है।"**

लिएफ़मैन ने हिसाब लगाया है कि १८९७ में कुल मिलाकर लगभग चालीस ऐसे कार्टेल अन्तर्राष्ट्रीय थे जिनमें जर्मनी का हिस्सा था, और १९१० में उनकी संख्या सौ के लगभग थी।

कुछ पूंजीवादी लेखकों ने (जिनमें का० काउत्स्की भी शामिल हो गये हैं; उन्होंने अपने उन मार्क्सवादी विचारों को बिल्कुल त्याग दिया है जो, उदाहरण के लिए, १९०९ में उनके थे) यह मत प्रकट किया है कि चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीयकरण की सबसे ज्वलंत अभिव्यक्ति हैं, इसलिए उनसे पूंजीवाद के अंतर्गत राष्ट्रों के बीच शांति की आशा उत्पन्न होती है। सिद्धांत की दृष्टि से यह मत बिल्कुल बेतुका है, और व्यवहार में यह मत एक कुतर्क और बदतरीन क़िस्म के अवसरवाद का बेईमानी से भरा हुआ समर्थन है। अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों से पता चलता है कि पूंजीवादी इजारेदारियां किस हद तक विकसित हो चुकी हैं, और विभिन्न पूंजीवादी संघों के बीच संघर्ष का **उद्देश्य क्या है**। यह आख़िरवाली बात बहुत महत्वपूर्ण है; जो कुछ हो रहा है, उसके ऐतिहासिक-आर्थिक तात्पर्य का पता हमें केवल इसी से चलता है; क्योंकि बदलते हुए अपेक्षतः विशिष्ट तथा अस्थायी कारणों के साथ-साथ संघर्ष के **रूपों में** तो निरंतर परिवर्तन

---

* Vogelstein, «*Organisationsformen*», पृष्ठ १००।

** Liefmann, «*Kartelle und Trusts*», दूसरा संस्करण, पृष्ठ १६१।

होते रह सकते हैं और होते भी हैं, परन्तु जब तक वर्गों का अस्तित्व है तब तक इस संघर्ष का **सार-तत्व**, उनकी वर्गगत **विषय-वस्तु हरगिज़ नहीं बदल सकती।** स्वाभाविक रूप से यह बात, उदाहरण के लिए, जर्मन पूंजीपति वर्ग के हित में है–अपने सैद्धांतिक तर्कों की दृष्टि से काउत्स्की जिसकी ओर चले गये हैं (इसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे)–कि वर्तमान आर्थिक संघर्ष (दुनिया के बंटवारे) के **सार-तत्व** को छुपाया जाये और संघर्ष के कभी किसी और कभी किसी **रूप** पर ज़ोर दिया जाये। काउत्स्की भी यही ग़लती करते हैं। ज़ाहिर है, हमारे ध्यान में अकेला जर्मन पूंजीपति वर्ग ही नहीं बल्कि सारे संसार का पूंजीपति वर्ग है। पूंजीपति दुनिया का बंटवारा किसी विशेष दुष्टता की भावना के कारण नहीं बल्कि इसलिए करते हैं कि संकेंद्रण जिस हद तक पहुंच चुका होता है वह उन्हें मुनाफ़ा कमाने के लिए यह रास्ता अपनाने पर मजबूर कर देता है। और वे यह बंटवारा "पूंजी के अनुपात से", "शक्ति के अनुपात से" करते हैं क्योंकि बिकाऊ माल के उत्पादन और पूंजीवाद के अंतर्गत बंटवारे का कोई दूसरा तरीक़ा हो ही नहीं सकता. परन्तु शक्ति का कम या ज़्यादा होना इसपर निर्भर करता है कि आर्थिक तथा राजनीतिक विकास कहां किस हद तक हुआ है। जो कुछ हो रहा है उसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात को जानें कि शक्ति में परिवर्तन होने से कौनसे प्रश्न तय होते हैं। यह प्रश्न कि ये परिवर्तन "शुद्धत:" आर्थिक होते हैं या **ग़ैर**-आर्थिक (उदाहरण के लिए सैनिक) एक गौण प्रश्न है, जिससे पूंजीवाद के नवीनतम युग से संबंधित मूलभूत विचारों में ज़रा भी अंतर नहीं पड़ता। पूंजीवादी संघों के बीच संघर्ष तथा समझौतों के **सार-तत्व** के स्थान पर संघर्ष तथा समझौतों के रूप (जो आज शांतिपूर्ण होता है, कल युद्धपूर्ण और परसों फिर युद्धपूर्ण) का प्रश्न रखना स्तर से बहुत नीचे गिरकर एक कुतर्की की भूमिका को अपनाना है।

पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था का युग हमें बताता है कि पूंजीवादी संघों के बीच कुछ ऐसे संबंध पैदा हो जाते हैं जो दुनिया के आर्थिक बंटवारे पर **आधारित होते हैं**; जबकि इन्हीं के समानांतर तथा इन्हीं के सिलसिले में राजनीतिक संघों के बीच, राज्यों के बीच, कुछ संबंध पैदा होते हैं जिनका आधार दुनिया के क्षेत्रीय बंटवारे पर, उपनिवेशों के लिए संघर्ष पर, "आर्थिक क्षेत्र के लिए संघर्ष" पर होता है।

६. बड़ी ताक़तों के बीच दुनिया का बंटवारा

"यूरोपीय उपनिवेशों के क्षेत्रीय विकास" के बारे में अपनी पुस्तक में भूगोलवेत्ता अ० सुपान* ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में इस विकास का संक्षिप्त सार इस प्रकार दिया है:

यूरोपीय औपनिवेशिक ताक़तों के आधिपत्य के
इलाक़ों का प्रतिशत अनुपात
(संयुक्त राज्य अमरीका सहित)

	१८७६	१९००	कमी या बढ़ती
अफ़्रीका में	१०.८	९०.४	+७९.६
पोलीनेशिया में	५६.८	९८.९	+४२.१
एशिया में	५१.५	५६.६	+५.१
आस्ट्रेलिया में	१००.०	१००.०	—
अमरीका में	२७.५	२७.२	—०.३

अंत में वह लिखते हैं, "इसलिए इस काल की लाक्षणिक विशेषता अफ़्रीका तथा पोलीनेशिया का बंटवारा है।" चूंकि एशिया तथा अमरीका में कोई ऐसे इलाक़े नहीं हैं जो ख़ाली हों—अर्थात् जिनपर किसी न किसी राज्य का क़ब्ज़ा न हो—इसलिए सुपान के निष्कर्ष में कुछ और भी जोड़कर यह कहना आवश्यक है कि इस विचाराधीन काल की लाक्षणिक विशेषता अंतिम रूप से पूरे भूमंडल का बंटवारा है—अंतिम रूप से इस माने में नहीं कि अब उसका **पुनर्विभाजन** असंभव है, इसके विपरीत पुनर्विभाजन संभव तथा अनिवार्य हैं—बल्कि इस माने में कि पूंजीवादी देशों की औपनिवेशिक नीति ने हमारे इस ग्रह पर ख़ाली इलाक़ों पर आधिपत्य जमाने का काम **पूरा कर लिया है**। पहली बार दुनिया पूरी तरह बंट गयी है और इसलिए अब भविष्य में उसके पुनर्विभाजन **ही** संभव हैं, अर्थात् अब यह नहीं हो सकता कि कोई ऐसा इलाक़ा जिसका कोई मालिक न हो किसी "मालिक" के क़ब्ज़े में आ जाये, बल्कि अब तो केवल यह हो सकता है कि इलाक़े एक "मालिक" के हाथ से दूसरे के हाथ में चले जायें।

---

* A. Supan, *«Die territoriale Entwicklung der europäischen Kolonien»*, १९०६, पृष्ठ २५४।

इसलिए हम विश्व औपनिवेशिक युग के एक ख़ास दौर में से होकर गुज़र रहे हैं, जिसका घनिष्ठतम संबंध "पूंजीवाद के विकास की नवीनतम अवस्था" के साथ, वित्तीय पूंजी के साथ है। इस कारण, सबसे पहले यह आवश्यक है कि तथ्यों पर अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया जाये, ताकि इस बात का पता यथासंभव सही-सही लगाया जा सके कि यह युग किस बात में इससे पहले के युगों से भिन्न है, और वर्तमान स्थिति क्या है। सबसे पहले तो इस प्रसंग में तथ्यों से संबंधित दो प्रश्न उठते हैं: क्या औपनिवेशिक नीति का उग्र रूप धारण करना, उपनिवेशों के लिए संघर्ष का तेज़ होना, वित्तीय पूंजी के इस युग में ही देखने में आता है? और इस एतबार से इस समय दुनिया किस ढंग से बंटी हुई है?

उपनिवेशीकरण के इतिहास के बारे में अपनी पुस्तक में अमरीकी लेखक मारिस* ने उन्नीसवीं शताब्दी के विभिन्न कालों में ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस तथा जर्मनी के उपनिवेशों से संबंधित तथ्य-सामग्री को सार-रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जो नतीजे निकाले हैं उनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है:

उपनिवेश

वर्ष	ग्रेट ब्रिटेन		फ़्रांस		जर्मनी	
	क्षेत्रफल (लाख वर्ग मील)	आबादी (लाख)	क्षेत्रफल (लाख वर्ग मील)	आबादी (लाख)	क्षेत्रफल (लाख वर्ग मील)	आबादी (लाख)
१८१५-३० . .	?	१,२६४	०.२	५.०	–	–
१८६०	२५	१,४५१	२.०	३४.०	–	–
१८८०	७७	२,६७६	७.०	७५.०	–	–
१८९९	९३	३,०९०	३७.०	५६४.०	१०.०	१४७.०

* Henry C. Morris, «*The History of Colonization*», New York 1900, Vol. II, p. 88; Vol I, p. 419; Vol. II, p. 304.

ग्रेट ब्रिटेन के लिए औपनिवेशिक विजयों के अत्यधिक विस्तार का काल १८६० से १८८० तक था, और उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों में भी यह विस्तार बहुत काफ़ी हुआ। फ़्रांस और जर्मनी के लिए यह काल ठीक इन्हीं बीस वर्षों के भीतर आता है। हम पहले देख चुके हैं कि इजारेदारी से पहले के पूंजीवाद का विकास अर्थात् उस पूंजीवाद का जिसमें खुली प्रतियोगिता का बोलबाला था, उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें तथा आठवें दशक में अपनी चोटी पर पहुंच गया था। अब हम देखते हैं कि औपनिवेशिक विजयों में अत्यधिक "तेज़ी" **ठीक इसी काल के बाद** आरंभ होती है और यह कि दुनिया के क्षेत्रीय विभाजन का संघर्ष असाधारण रूप से तीव्र हो जाता है। इसलिए इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि इजारेदारी पूंजीवाद की अवस्था में, वित्तीय पूंजी में पूंजीवाद के संक्रमण का **संबंध** दुनिया के बंटवारे के संघर्ष के तीव्र होने के साथ है।

साम्राज्यवाद के विषय पर अपनी रचना में हाबसन ने १८८४ से १९०० तक के वर्षों को मुख्य यूरोपीय राज्यों के तीव्र "विस्तरण" का युग ठहराया है। उनके अनुमान के अनुसार, ग्रेट ब्रिटेन ने इन वर्षों के दौरान में ३७,००,००० वर्ग मील के इलाक़े पर क़ब्ज़ा किया जिसकी आबादी ५,७०,००,००० थी; फ़्रांस ने ३६,००,००० वर्ग मील के इलाक़े पर क़ब्ज़ा किया जिसकी आबादी ३,६५,००,००० थी; जर्मनी ने १०,००,००० वर्ग मील के इलाक़े पर क़ब्ज़ा किया जिसकी आबादी १,४७,००,००० थी; बेलजियम ने ९,००,००० वर्ग मील पर क़ब्ज़ा किया जिसकी आबादी ३,००,००,००० थी; पुर्तगाल ने ८,००,००० वर्ग मील पर क़ब्ज़ा किया जिसकी आबादी ९०,००,००० थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में, और विशेष रूप से १८८० के बाद से, सभी पूंजीवादी देशों द्वारा उपनिवेशों की खोज में रहना कूटनीति तथा वैदेशिक राजनीति के इतिहास की एक सर्वविदित बात है।

ग्रेट ब्रिटेन में उस काल में, जब खुली प्रतियोगिता सबसे ज़्यादा फल-फूल रही थी, अर्थात् १८४० से १८६० के बीच, ब्रिटेन के प्रमुख पूंजीवादी राजनीतिज्ञ औपनिवेशिक नीति **के विरुद्ध** थे और उनका यह मत था कि उपनिवेशों की मुक्ति तथा उनका ब्रिटेन से पूरी तरह अलग हो जाना अनिवार्य तथा वांछनीय है। एम० बियर ने "आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्यवाद"* शीर्षक एक लेख में, जो १८९८ में

---

* «*Die Neue Zeit*», १६, १, १८९८, पृष्ठ ३०२।

प्रकाशित हुआ था, यह बताया है कि १८५२ में डिज़रैली ने, जो एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जिनका झुकाव आम तौर पर साम्राज्यवाद की ओर रहता था, घोषणा की थी कि "उपनिवेश हमारी गरदन में चक्की के पाटों की तरह बंधे हुए हैं"। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ब्रिटेन के तत्कालीन नायक सेसील रोड्स तथा जोज़ेफ़ चैम्बरलेन थे, जो खुलेआम साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे और बिल्कुल बेधड़क होकर साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते थे।

इस बात की ओर ध्यान देना भी महत्वपूर्ण है कि ब्रिटेन के ये प्रमुख पूंजीवादी राजनीतिज्ञ उस समय ही आधुनिक साम्राज्यवाद के दो प्रकार के आधारों के पारस्परिक संबंध को देखने लगे थे, एक तो वे आधार जिन्हें शुद्ध आर्थिक आधार कहा जा सकता है और दूसरे राजनीतिक-सामाजिक आधार। चैम्बरलेन साम्राज्यवाद को एक "सच्ची, बुद्धिमत्तापूर्ण तथा मितव्ययिता की नीति" कहकर उसका प्रचार करते थे और विशेष रूप से जर्मनी, बेलजियम तथा अमरीका की प्रतियोगिता की ओर संकेत करते थे, जिसका मुक़ाबला ग्रेट ब्रिटेन को विश्व के बाज़ार में करना पड़ रहा था। पूंजीपति कार्टेल, सिंडीकेट तथा ट्रस्ट बनाते गये और यह कहते रहे कि इजारेदारियों में ही मुक्ति है। पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक नेताओं ने भी इसी बात को दोहराया कि इजारेदारियों में ही मुक्ति है और जल्दी-जल्दी दुनिया के उन हिस्सों पर क़ब्ज़ा करने लगे जिनका बंटवारा अभी तक नहीं हुआ था। और सेसील रोड्स के गहरे मित्र पत्रकार स्टेड से हमें मालूम हुआ कि १८९५ में रोड्स ने साम्राज्यवाद के बारे में अपने विचार उनसे इन शब्दों में व्यक्त किये थे: "कल मैं लंदन के ईस्ट एंड" (मज़दूरों की बस्ती) "में था और मैं बेरोज़गारों की एक सभा में गया। मैंने उनके रोषपूर्ण भाषण सुने, जो केवल 'रोटी, रोटी!' की पुकार थे, और घर लौटते समय मैं रास्ते भर इस दृश्य पर विचार करता रहा और साम्राज्यवाद के महत्व के बारे में मेरा विश्वास पहले से भी अधिक दृढ़ हो गया... मेरा चिरपोषित विचार सामाजिक समस्या का हल है, अर्थात् यह कि ब्रिटेन (यूनाइटेड किंगडम) के ४,००,००,००० निवासियों को रक्तपातपूर्ण गृहयुद्ध से बचाने के लिए, हम औपनिवेशिक राजनीतिज्ञों को नयी ज़मीनें हासिल करनी चाहिए जहां हम यहां की फ़ालतू आबादी को बसा सकें, हमें यहां के कारख़ानों तथा खानों की पैदावार के लिए नयी मंडियां जुटानी चाहिए। जैसा कि मैंने हमेशा कहा है साम्राज्य एक दाल-

रोटी का सवाल है। यदि आप गृहयुद्ध से बचना चाहते हैं तो आपको साम्राज्यवादी बनना पड़ेगा।"*

यह बात सेसील रोड्स ने १८९५ में कही थी, उस व्यक्ति ने जो करोड़पति था, जो वित्त-सम्राट था, जिसके कंधों पर अंग्रेज़-बोएर युद्ध की ज़िम्मेदारी सबसे अधिक थी। यह तो सही है कि जिस ढंग से उन्होंने साम्राज्यवाद की हिमायत की है वह बहुत ही भोंडा और बेहया तरीक़ा है, परन्तु सारतः वह उस "सिद्धांत" से भिन्न नहीं है जिसका प्रचार मास्लोव, ज़्यूदेकुम, पोत्रेसोव, डेविड तथा रूसी मार्क्सवाद के संस्थापक तथा अन्य सज्जन करते हैं। सेसील रोड्स कुछ ज़्यादा ईमानदार सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी थे...

दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन जिस ढंग से हुआ है, और इस संबंध में पिछले कुछ दशकों में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका यथासंभव सही-सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए हम उस तथ्य-सामग्री का उपयोग करेंगे जो सुपान ने दुनिया की सभी ताक़तों के औपनिवेशिक प्रदेशों के बारे में अपनी उस पुस्तक में दी है जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। सुपान ने १८७६ और १९०० के वर्षों को लिया है। हम १८७६ और १९१४ के वर्षों को लेंगे और १९१४ के लिए सुपान के आंकड़ों के बजाय हूबनर की "भौगोलिक तथा सांख्यिकीय तालिकाएं" में दिये गये ज़्यादा हाल के आंकड़ों को उद्धृत करेंगे; १८७६ का वर्ष बहुत ठीक चुना गया है क्योंकि उसी समय पर पहुंचकर हम कह सकते हैं कि पश्चिमी यूरोपीय पूंजीवाद के विकास की इजारेदारी से पहलेवाली मंजिल मुख्यतः पूरी हो चुकी थी। सुपान ने केवल उपनिवेशों के आंकड़े दिये हैं; दुनिया के बंटवारे का अधिक पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए हम इसे उपयोगी समझते हैं कि हम ग़ैर-औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों के बारे में भी संक्षिप्त आंकड़े जोड़ दें; अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों की श्रेणी में हम फ़ारस, चीन तथा तुर्की को रखते हैं; इनमें से पहला देश लगभग पूरी तरह एक उपनिवेश बन चुका है, दूसरा तथा तीसरा देश उपनिवेश बनते जा रहे हैं।

इस प्रकार हमें निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण मिलता है:

---

*उपरोक्त, पृष्ठ ३०४।

बड़ी ताक़तों के औपनिवेशिक प्रदेश

(लाख वर्ग किलोमीटरों में और लाख निवासियों में)

	उपनिवेश				उपनिवेशों के मालिक देश		कुल योग	
	१८७६		१९१४		१९१४		१९१४	
	क्षेत्रफल	आबादी	क्षेत्रफल	आबादी	क्षेत्रफल	आबादी	क्षेत्रफल	आबादी
ग्रेट ब्रिटेन	२२५	२,५१९	३३५	३,९३५	३	४६५	३३८	४,४००
रूस	१७०	१५९	१७४	३३२	५४	१,३६२	२२८	१,६९४
फ़्रांस	९	६०	१०६	५५५	५	३९६	१११	९५१
जर्मनी	—	—	२९	१२३	५	६४९	३४	७७२
सं० रा० अमरीका	—	—	३	९७	९४	९७०	९७	१,०६७
जापान	—	—	३	१९२	४	५३०	७	७२२
६ बड़ी ताक़तों का कुल योग	४०४	२,७३८	६५०	५,२३४	१६५	४,३७२	८१५	९,६०६
दूसरी ताक़तों (बेलजियम, हालैंड, आदि) के उपनिवेश							९९	४५३
अर्द्ध-औपनिवेशिक देश (फ़ारस, चीन, तुर्की)							१४५	३,६१२
दूसरे देश							२८०	२,८९९
सारी दुनिया का कुल योग							१,३३९	१६,५७०

इन आंकड़ों से हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों के संगम पर दुनिया का बंटवारा कितनी "पूरी तरह" हो चुका था। १८७६ के बाद औपनिवेशिक प्रदेशों के विस्तार में अत्यधिक वृद्धि हुई, पचास प्रतिशत से अधिक, छः सबसे बड़ी ताक़तों के उपनिवेशों का क्षेत्रफल ४,००,००,००० वर्ग किलोमीटर से बढ़कर ६,५०,००,००० वर्ग किलोमीटर हो गया; यह वृद्धि २,५०,००,००० वर्ग किलोमीटर की है, अर्थात् उपनिवेशों पर आधिपत्य रखनेवाले देशों के क्षेत्रफल (१,६५,००,००० वर्ग किलोमीटर)

से पचास प्रतिशत अधिक। १८७६ में तीन ताक़तें ऐसी थीं जिनके पास कोई उपनिवेश नहीं थे और चौथी के पास, फ़्रांस के पास, नहीं के बराबर थे। १९१४ तक इन चार ताक़तों ने १,४१,००,००० वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल के, अर्थात् यूरोप के कुल क्षेत्रफल से लगभग पचास प्रतिशत अधिक, उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया था, जिनकी आबादी लगभग १०,००,००,००० थी। औपनिवेशिक प्रदेशों में वृद्धि की रफ़्तार में बहुत अधिक असमानता है। उदाहरण के लिए, यदि हम फ़्रांस, जर्मनी तथा जापान की तुलना करें, जिनमें क्षेत्रफल तथा आबादी की दृष्टि से बहुत ज़्यादा अंतर नहीं है, तो हम देखेंगे कि जर्मनी तथा जापान ने मिलाकर कुल जितने औपनिवेशिक प्रदेश पर क़ब्ज़ा किया है उससे लगभग तिगुने इलाक़े पर फ़्रांस ने अपना आधिपत्य स्थापित किया है। जिस काल पर हम इस समय विचार कर रहे हैं उसके आरंभ में शायद वित्तीय पूंजी की मात्रा की दृष्टि से भी फ़्रांस उससे कई गुना अधिक धनवान था, जितना कि जर्मनी और जापान मिलकर थे। शुद्धतः आर्थिक परिस्थितियों के अतिरिक्त, और उनके आधार पर, भौगोलिक तथा अन्य परिस्थितियां भी औपनिवेशिक प्रदेशों के आकार पर प्रभाव डालती हैं। बड़े पैमाने के उद्योगों, विनिमय तथा वित्तीय पूंजी के दबाव के कारण पिछले कुछ दशकों में दुनिया में सबको समान स्तर पर ले आने, विभिन्न देशों की आर्थिक तथा रहन-सहन की परिस्थितियों को समान स्तर पर ले आने की प्रक्रिया कितनी ही प्रबल क्यों न रही हो, पर अब भी काफ़ी अंतर बाक़ी है; और जिन छः ताक़तों का उल्लेख किया गया है उनमें हम देखते हैं कि सबसे पहले तो अल्पवयस्क पूंजीवादी देश (अमरीका, जर्मनी तथा जापान) हैं जिनकी प्रगति असाधारण तीव्र गति से हुई है; दूसरे ऐसे देश हैं जिनका पूंजीवादी विकास पुराना है (फ़्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन), जिनकी प्रगति इधर कुछ समय से उपरोक्त देशों की तुलना में बहुत धीमी रही है, और तीसरे हम एक ऐसा देश देखते हैं जो आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़ा हुआ है (रूस), जहां आधुनिक पूंजीवादी साम्राज्यवाद, जिसे कहना चाहिए, पूंजीवाद से पहले के संबंधों के एक बहुत ही घने जाल में उलझा हुआ है।

बड़ी ताक़तों के उपनिवेशों के साथ ही हमने छोटे राज्यों के छोटे उपनिवेशों को रखा है जो, एक तरह से, उपनिवेशों के उस "पुनर्विभाजन"

का आगामी लक्ष्य बनेंगे जो संभव है, और कदाचित होगा भी। इनमें से अधिकांश छोटे राज्य अपने उपनिवेशों पर अपना आधिपत्य केवल इसलिए बनाये रख पाते हैं कि बड़ी ताक़तों के बीच हितों की टक्कर होती है, उनमें संघर्ष होते हैं, आदि, जिनके कारण वे लूट के माल के बंटवारे के बारे में आपस में किसी समझौते पर नहीं पहुंच पातीं। अर्द्ध-औपनिवेशिक देश उन संक्रमणकालीन रूपों का एक उदाहरण हैं जो प्रकृति तथा समाज के सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। सभी आर्थिक तथा सभी अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में वित्तीय पूंजी इतनी बड़ी, बल्कि कहा जा सकता है, इतनी निर्णायक शक्ति है कि वह उन राज्यों को भी, जो पूर्णतम राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं, अपने अधीन कर लेने की क्षमता रखती है और आधीन कर भी लेती है। हम शीघ्र ही इसके उदाहरण देखेंगे। ज़ाहिर है, वित्तीय पूंजी **ऐसी** पराधीनता को सबसे अधिक "सुविधाजनक" पाती है और उसी से सबसे अधिक मुनाफ़ा बटोर सकती है जिसमें अधीन किये गये देशों तथा जातियों की राजनीतिक स्वतंत्रता नष्ट हो जाये। इस प्रसंग में अर्द्ध-औपनिवेशिक देश "मध्यवर्ती अवस्था" का एक लाक्षणिक उदाहरण हैं। यह स्वाभाविक ही है कि इन अर्द्ध-परतंत्र देशों के लिए संघर्ष वित्तीय पूंजी के युग में, जबकि बाक़ी सारी दुनिया का बंटवारा हो चुका है, विशेष रूप से तीव्र हो जाये।

पूंजीवाद की इस नवीनतम अवस्था से पहले, और पूंजीवाद से भी पहले, औपनिवेशिक नीति तथा साम्राज्यवाद का अस्तित्व था। रोम, जिसकी स्थापना दासता की बुनियाद पर हुई थी, एक औपनिवेशिक नीति का अनुसरण करता था तथा साम्राज्यवाद के मार्ग पर चलता था। परन्तु साम्राज्यवाद के बारे में वे "स्थूल" लम्बे-चौड़े तर्क, जिनमें विभिन्न सामाजिक-आर्थिक पद्धतियों के मूलभूत अंतर को भुला दिया जाता है, या पीछे डाल दिया जाता है, अनिवार्य रूप से बहुत निम्न स्तर की अत्यंत नीरस ओछी बातों का, या फिर ऐसी दंभपूर्ण तुलनाओं का रूप धारण कर लेते हैं जैसे "वृहत्तर रोम तथा वृहत्तर ब्रिटेन"।*

---

* C. P. Lucas, «*Greater Rome and Greater Britain*», Oxf. 1912 (वृहत्तर रोम तथा वृहत्तर ब्रिटेन) या Earl of Cromer's «*Ancient and Modern Imperialism*» (प्राचीन तथा आधुनिक साम्राज्यवाद), लंदन १९१०। – अनु०

पूंजीवाद की **पिछली** अवस्थाओं की पूंजीवादी औपनिवेशिक नीति भी वित्तीय पूंजी की औपनिवेशिक नीति से मूलतः भिन्न है।

बड़े-बड़े पूंजीपतियों के इजारेदार संघों का प्रभुत्व पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था की मुख्य विशेषता है। ये इजारेदारियां उस समय सबसे अधिक दृढ़ रूप से स्थापित हो जाती हैं जब कोई एक समूह कच्चे माल के **समस्त** स्रोतों पर क़ब्ज़ा कर लेता है, और हम देख चुके हैं कि अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी संघ इस बात के लिए किस प्रकार अपना पूरा ज़ोर लगा देते हैं कि उनके प्रतिद्वंद्वियों के लिए उनके साथ प्रतियोगिता करना असंभव हो जाये, उदाहरणार्थ, वे लोहे के खान-क्षेत्र, तेल-क्षेत्र आदि ख़रीद लेते हैं। केवल उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा होने से ही इजारेदारियों को अपने प्रतियोगियों के साथ संघर्ष में हर प्रकार के ख़तरे से मुक्त रहने की गारंटी होती है, जिसमें यह ख़तरा भी शामिल है कि उनके प्रतियोगी कहीं राज्य की इजारेदारी क़ायम करने का क़ानून बनाकर अपना बचाव न कर लें। पूंजीवाद जितना ही विकसित होता है, जितनी ही तीव्रता के साथ कच्चे माल की कमी अनुभव होने लगती है, प्रतियोगिता तथा सारी दुनिया में कच्चे माल की खोज जितना ही उग्र रूप धारण करती जाती है, उतनी ही ज़्यादा हद तक सब कुछ दांव पर लगाकर उपनिवेशों को हथियाने का संघर्ष होने लगता है।

शिल्दर लिखते हैं, "यद्यपि संभव है कुछ लोगों को इस बात में विरोधाभास दिखायी दे पर यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि उस निकट भविष्य में ही, जिसकी कि हम कमोबेश सही-सही कल्पना कर सकते हैं, शहरों की आबादी तथा औद्योगिक आबादी में वृद्धि में खाने-पीने की चीज़ों की कमी के कारण उतनी रुकावट नहीं पड़ेगी जितनी कि उद्योगों के लिए कच्चे माल की कमी के कारण।" उदाहरण के लिए, लकड़ी की – जिसकी क़ीमत लगातार बढ़ती जा रही है, – चमड़े की और कपड़ा-उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल की कमी बढ़ती जा रही है। "कारख़ानेदार संघ पूरे विश्व अर्थतंत्र में कृषि तथा उद्योगों के बीच एक संतुलन स्थापित करने की पूरी कोशिश कर रहे हैं; इसके एक उदाहरण के रूप में हम कई सबसे महत्वपूर्ण औद्योगिक देशों के सूत कातनेवालों के संगठनों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ का, जिसकी स्थापना १९०४ में हुई थी, और फ़्लैक्स कातनेवालों के संगठनों के यूरोपीय

संघ का उल्लेख कर सकते हैं, जिसकी स्थापना उसी नमूने पर १६१० में हुई थी।"*

पूंजीवादी सुधारवादी, और उनमें भी ख़ास तौर पर काउत्स्की के आजकल के अनुयायी, ज़ाहिर है, इस प्रकार के तथ्यों के महत्व को कम करने की कोशिश करते हुए यह दलील देते हैं कि "महंगी और ख़तरनाक" औपनिवेशिक नीति के बिना खुले बाज़ार में कच्चा माल प्राप्त करना "संभव होगा"; और यह कि कृषि की परिस्थितियों में आम तौर पर "केवल" सुधार करके कच्चे माल की उपलब्ध मात्रा को बहुत ज़्यादा बढ़ा लेना "संभव होगा"। परन्तु इस प्रकार की दलीलें साम्राज्यवाद की तरफ़ से एक सफ़ाई, उस पर मुलम्मा चढ़ाने की कोशिश, बन जाती हैं क्योंकि उनमें पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था की मुख्य विशेषता की ओर – इजारेदारियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। खुले बाज़ार दिन-ब-दिन ज़्यादा हद तक अतीत की एक चीज़ बनते जा रहे हैं, इज़ारेदारी सिंडीकेट तथा ट्रस्ट उन्हें दिन-ब-दिन अधिक संकुचित करते जा रहे हैं, और कृषि की परिस्थितियों में "केवल" सुधार करने का अर्थ होता है जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाना, मज़दूरी बढ़ाना और मुनाफ़े में कमी करना। ऐसे ट्रस्ट सुधारवादियों की कल्पना के अतिरिक्त और कहां होंगे जो उपनिवेशों पर विजय प्राप्त करने के बजाय जन-साधारण की दशा में दिलचस्पी रख सकते हों ?

वित्तीय पूंजी को कच्चे माल के केवल उन्हीं स्रोतों में दिलचस्पी नहीं होती जिनका पता लग चुका है, बल्कि उसे निहित स्रोतों में भी दिलचस्पी होती है, क्योंकि वर्तमान प्राविधिक विकास की रफ़्तार बहुत तेज़ है और यह सम्भव है कि जो ज़मीन आज बेकार पड़ी है वह नये तरीक़ों का इस्तेमाल करके (इन नये तरीक़ों का पता लगाने के लिए कोई बड़ा बैंक इंजीनियरों, कृषि विशेषज्ञों आदि का एक विशेष दल संगठित करके वहां भेज सकता है) और बड़े परिमाण में पूंजी लगाकर कल उपजाऊ बना ली जाये। यह बात खनिज भंडारों की खोज करने, कच्चे माल को तैयार करने, तथा उसका सदुपयोग करने के लिए नये तरीक़ों का पता लगाने, आदि के बारे में भी सच है। यही कारण

---

* Schilder, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ ३८-४२।

है कि वित्तीय पूंजी अनिवार्य रूप से अपने आर्थिक क्षेत्र को, बल्कि अपने पूरे क्षेत्र को विस्तृत बनाने की कोशिश करती है। जिस प्रकार अपने "संभावित" (वर्तमान नहीं) मुनाफ़ों को और इजारेदारी के भावी परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए ट्रस्ट अपनी पूंजी को अपनी सम्पत्ति के मूल्य के दुगने या तिगुने के बराबर आंकते हैं, उसी प्रकार कच्चे माल के निहित स्रोतों को दृष्टिगत रखते हुए और इस भय से कि अविभाजित इलाक़ों के अंतिम छोटे-छोटे टुकड़ों के लिए, या जिन इलाक़ों का विभाजन हो भी चुका है उनके पुनर्विभाजन के लिए जो भीषण संघर्ष हो रहा है उसमें वह कहीं पीछे न रह जाये, वित्तीय पूंजी की आम कोशिश हर जगह हर प्रकार की यथासंभव ज़्यादा से ज़्यादा ज़मीन पर, हर उपाय से, क़ब्ज़ा कर लेने की होती है।

ब्रिटिश पूंजीपति **अपने** उपनिवेश मिस्र में कपास की खेती को विस्तृत करने की पूरी कोशिश कर रहे हैं (१९०४ में वहां कुल २३,००,००० हेक्टेयर भूमि पर खेती होती थी, जिसमें से ६,००,००० हेक्टेयर पर, अर्थात् चौथाई से अधिक भूमि पर, कपास की खेती होती थी); **अपने** उपनिवेश तुर्किस्तान में रूसी भी यही कर रहे हैं क्योंकि इस प्रकार वे इस दृष्टि से ज़्यादा अच्छी स्थिति में होंगे कि अपने विदेशी प्रतियोगियों को परास्त कर सकें, कच्चे माल के स्रोतों पर इजारेदारी क़ायम कर सकें और कम ख़र्च पर काम करनेवाले तथा अधिक मुनाफ़ा देनेवाले कपड़ा-उद्योग का एक ऐसा ट्रस्ट क़ायम कर सकें जिसमें कपास के उत्पादन तथा कारख़ानों में उससे विभिन्न माल तैयार करने से संबंधित **सभी** प्रक्रियाएं मालिकों के एक ही गुट के हाथों में "एकत्रित" तथा संकेंद्रित हो जायें।

पूंजी का निर्यात करने में जिन हितों की पूर्ति को लक्ष्य बनाया जाता है उनके कारण भी उपनिवेशों की विजय को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि उपनिवेशों के बाज़ार में प्रतियोगिता को दूर करने, ठेके मिलना निश्चित बनाने, आवश्यक "संबंध" स्थापित करने आदि के लिए इजारेदारी तरीक़ों को इस्तेमाल करना ज़्यादा आसान होता है (और कभी-कभी तो केवल इन्हीं तरीक़ों को इस्तेमाल किया जा सकता है)।

वित्तीय पूंजी की नींव पर जो ग़ैर-आर्थिक ऊपरी ढांचा तैयार होता है, अर्थात् उसकी राजनीति तथा उसकी विचारधारा, उससे भी औपनिवेशिक विजय

की चेष्टा को प्रोत्साहन मिलता है। जैसा कि हिल्फ़र्डिंग ने बिल्कुल सही कहा है "वित्तीय पूंजी स्वतंत्रता नहीं बल्कि प्रभुत्व चाहती है"। और एक फ़्रांसीसी पूंजीवादी लेखक ने मानो सेसील रोड्स के ऊपर उद्धृत किये गये विचारों* को विकसित करते हुए तथा उन्हें पूर्त्ति प्रदान करते हुए लिखा है कि आधुनिक औपनिवेशिक नीति के आर्थिक कारणों के साथ सामाजिक कारण भी जोड़ दिये जाने चाहिए: "जीवन की बढ़ती हुई जटिलताओं के कारण और उन कठिनाइयों के कारण जिनका बोझ केवल आम मज़दूरों पर ही नहीं बल्कि मध्यम वर्गों पर भी पड़ता है, पुरानी सभ्यता के सभी देशों में 'अधीरता, झुंझलाहट तथा घृणा बढ़ती जा रही है और ये भावनाएं सार्वजनिक शान्ति के लिए एक ख़तरा बनती जा रही हैं; निश्चित वर्ग माध्यम से जो शक्ति प्रक्षेपित हो रही है उसे विदेशों में किसी काम पर लगा दिया जाना चाहिए ताकि अपने देश में विस्फोट न होने पाये'।"**

चूंकि हम पूंजीवादी साम्राज्यवाद के युग की औपनिवेशिक नीति की चर्चा कर रहे हैं इसलिए यह बता दिया जाना चाहिए कि वित्तीय पूंजी और तदनुरूप वैदेशिक नीति, जो दुनिया के आर्थिक तथा राजनीतिक बंटवारे के लिए बड़ी ताक़तों का संघर्ष मात्र बनकर रह जाती है, राज्यों के परावलम्बन के अनेक **संक्रमणकालीन** रूपों को जन्म देती हैं। देशों के दो मुख्य समूह ही – एक तो वे जिनके पास उपनिवेश हैं और दूसरे उपनिवेश – इस युग की लाक्षणिकताओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि परावलम्बी देशों के वे विविध रूप भी इन लाक्षणिकताओं के द्योतक हैं जो कहने को तो राजनीतिक रूप में स्वतंत्र हैं पर वास्तव में वित्तीय तथा कूटनीतिक परावलम्बन के जाल में फंसे हुए हैं। हम **परावलम्बन** के एक रूप का – अर्द्ध-उपनिवेशों का – उल्लेख कर चुके हैं। एक दूसरे रूप का उदाहरण अर्जेन्टाइना की मिसाल में मिलता है।

---

* देखिये इस पुस्तक के पृष्ठ ३९८-३९९। – सं०

** Wahl, «*La France aux colonies*» (उपनिवेशों में फ़्रांस – अनु०), Henri Russier द्वारा उद्धृत, «*Le Partage de l'Océanie*» (ओशियाना का विभाजन – अनु०), पेरिस १९०५, पृष्ठ १६५।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संबंधित अपनी रचना में शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ ने लिखा है "दक्षिणी अमरीका और विशेष रूप से अर्जेन्टाइना वित्तीय दृष्टि से लंदन पर इतना निर्भर है कि उसे लगभग एक ब्रिटिश वाणिज्यिक उपनिवेश ही कहा जाना चाहिए।"* ब्योनस-आयर्स में आस्ट्रिया-हंगरी के कौंसल की १६०६ की रिपोर्ट को आधार बनाकर शिल्दर ने यह अनुमान लगाया है कि अर्जेन्टाइना में ब्रिटेन की ८,७५,००,००,००० फ्रांक की पूंजी लगी हुई है। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि इसके फलस्वरूप अर्जेन्टाइना के पूंजीपति वर्ग के साथ, उन क्षेत्रों के साथ जिनका उस देश के पूरे आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन पर नियंत्रण है, ब्रिटेन की वित्तीय पूंजी (और उसकी वफ़ादार मित्र, कूटनीति) कितने दृढ़ संबंध स्थापित कर लेती है।

राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ वित्तीय तथा कूटनीतिक परावलम्बन का इससे कुछ ही भिन्न रूप पुर्तगाल के उदाहरण में देखने को मिलता है। पुर्तगाल एक स्वतंत्र प्रभुसत्तात्मक राज्य है, पर वास्तव में, दो सौ वर्षों से अधिक से, स्पेनी उत्तराधिकार युद्ध (१७०१-१४) के बाद से, वह ब्रिटेन का संरक्षित राज्य रहा है। ग्रेट ब्रिटेन ने पुर्तगाल तथा उसके उपनिवेशों का संरक्षण अपने प्रतिद्वंद्वियों स्पेन तथा फ़्रांस के विरुद्ध लड़ाई में स्वयं अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए किया है। इसके बदले में ग्रेट ब्रिटेन को वाणिज्यिक विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, चीज़ों का आयात करने के सम्बन्ध में, विशेष रूप से पुर्तगाल तथा पुर्तगाली उपनिवेशों में पूंजी के आयात के संबंध में, दूसरों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक परिस्थितियां, पुर्तगाल के बंदरगाहों तथा द्वीपों, उसकी तार की लाइनों को इस्तेमाल करने का अधिकार, आदि मिले

---

* Schulze-Gaevernitz, «*Britischer Imperialismus und englischer Freihandel zu Beginn des 20-ten Jahrhunderts*» (बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा अंग्रेज़ी स्वतंत्र व्यापार – अनु०), Leipzig, 1906, पृष्ठ ३१८। Sartorius v. Waltershausen ने «*Das Volkswirtschaftliche System der Kapitalanlage im Auslande*» (विदेशों में पूंजी लगाने की राष्ट्रीय आर्थिक पद्धति – अनु०) में यही बात कही है, Berlin, 1907, पृष्ठ ४६।

हैं।* बड़े तथा छोटे राज्यों के बीच इस प्रकार के संबंध हमेशा से क़ायम रहे हैं, परन्तु पूंजीवादी साम्राज्यवाद के युग में वे एक ग्राम पद्धति का रूप धारण कर लेते हैं, वे "दुनिया के विभाजन" वाले संबंधों के कुल योग का एक ग्रंग बन जाते हैं, वे विश्व वित्तीय पूंजी की गतिविधियों की शृंखला की विभिन्न कड़ियां बन जाते हैं।

दुनिया के बंटवारे के प्रश्न का विवेचन पूरा करने के लिए हम निम्नलिखित बात का उल्लेख ग्रौर करेंगे। यह प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी के बिल्कुल ग्रंत ग्रौर बीसवीं शताब्दी के ग्रारंभ में बिल्कुल खुले तौर पर तथा निश्चित रूप से स्पेनी-ग्रमरीकी युद्ध के बाद ग्रमरीकी साहित्य में उठाया गया ग्रौर ग्रंग्रेज़-बोएर युद्ध के बाद ग्रंग्रेज़ी साहित्य में। जर्मन साहित्य ने भी, जो "बड़ी ईर्ष्या के साथ" "ब्रिटिश साम्राज्यवाद" को देखता रहा है, सुव्यवस्थित ढंग से इस तथ्य का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं यह प्रश्न फ़्रांसीसी पूंजीवादी साहित्य में भी पूंजीवादी दृष्टिकोण से यथासंभव व्यापकतम तथा सुनिश्चित शब्दों में उठाया गया है। हम द्रियो नामक इतिहासकार के शब्दों को उद्धृत करेंगे जिन्होंने 'उन्नीसवीं शताब्दी के ग्रंत में राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याएं' नामक ग्रपनी रचना के "बड़ी ताक़तें ग्रौर दुनिया का बंटवारा" शीर्षक ग्रध्याय में लिखा है: "पिछले कुछ वर्षों में, चीन को छोड़कर, भूमंडल के पूरे स्वतंत्र इलाक़े पर यूरोप तथा उत्तरी ग्रमरीका की ताक़तों ने क़ब्ज़ा कर लिया है। इस सवाल को लेकर ग्रनेक संघर्ष तथा प्रभाव के हेर-फेर हो चुके हैं, जो निकट भविष्य में इससे भी भयंकर उथल-पुथल की पूर्व-घोषणा करते हैं। क्योंकि जल्दी करना ग्रावश्यक है। जिन राष्ट्रों ने ग्रभी तक ग्रपने लिए बंदोबस्त नहीं किया है उनके लिए इस बात का ख़तरा है कि उन्हें ग्रपना हिस्सा कभी भी न मिले ग्रौर वे भूमंडल के उस शोषण में कभी भी हिस्सा न ले पायें जो ग्रगली" (ग्रर्थात् बीसवीं) "शताब्दी की एक मूलभूत विशेषता होगा। यही कारण है कि इधर कुछ समय से यूरोप तथा ग्रमरीका ग्रपने उपनिवेश बढ़ाने के, उन्नीसवीं शताब्दी के ग्रंत की सबसे उल्लेखनीय विशेषता 'साम्राज्यवाद' के बुख़ार का शिकार हैं।" ग्रागे चलकर इस लेखक ने लिखा, "दुनिया के इस

---

*शिल्दर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, खंड १, पृष्ठ १६०-१६१।

बंटवारे में, भूमंडल के ख़ज़ानों तथा बड़े बाज़ारों की इस बेतहाशा खोज में, इस उन्नीसवीं शताब्दी में स्थापित किये गये साम्राज्यों की ग्रापेक्षिक ताक़त इन साम्राज्यों की स्थापना करनेवाले राष्ट्रों के यूरोप में प्राप्त पद के अनुपात से बिल्कुल भी मेल नहीं खाती। यूरोप की प्रभुत्वपूर्ण ताक़तें, उसके भाग्य का फ़ैसला करनेवाली ताक़तें, पूरी दुनिया में उसी अनुपात से छायी हुई नहीं हैं। और चूंकि औपनिवेशिक ताक़त उस सम्पदा पर जिसे अभी तक आंका **नहीं** गया है, अपना क़ब्ज़ा जमाने की आशा, यूरोपीय ताक़तों की आपेक्षिक शक्ति पर स्पष्टतः अपना असर डालेगी, इसलिए उपनिवेशों का प्रश्न – यदि आप चाहें तो इसे 'साम्राज्यवाद' कह सकते हैं – जो स्वयं यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियों में सुधार कर चुका है, उनमें अधिकाधिक सुधार करता जायेगा।"*

७. साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की एक विशेष अवस्था

ऊपर साम्राज्यवाद के विषय पर जो कुछ बताया गया है उसे अब हमें सार-रूप में प्रस्तुत करने की, उसे समेटने की, कोशिश करनी चाहिए। साम्राज्यवाद का उदय आम तौर पर पूरे पूंजीवाद की मूलभूत लाक्षणिकताओं के विकास तथा उसी क्रम की एक कड़ी के रूप में हुआ। परन्तु अपने विकास की एक निश्चित तथा अत्यंत ऊंची अवस्था में पहुंचकर ही पूंजीवाद पूंजीवादी साम्राज्यवाद का रूप धारण कर सका, ऐसी अवस्था में पहुंचकर जब उसकी कुछेक मूलभूत लाक्षणिकताएं बदलकर अपनी उलटी बनने लगीं, जब एक उच्चतर सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में पूंजीवाद के संक्रमण की विशेषताएं एक निश्चित रूप धारण कर चुकी थीं और हर जगह अपने आपको प्रकट कर चुकी थीं। आर्थिक दृष्टि से, इस प्रक्रिया की मुख्य बात यह है कि पूंजीवादी इजारेदारी ने खुली प्रतियोगिता का स्थान ले लिया। खुली प्रतियोगिता पूंजीवाद की और बिकाऊ माल के उत्पादन की, आम तौर पर, मूलभूत लाक्षणिकता है; इजारेदारी खुली प्रतियोगिता की बिल्कुल उलट है, परन्तु हम अपनी आंखों से

---

* J.-E. Driault, «*Problèmes politiques et sociaux*». पेरिस १९०७, पृष्ठ २९९।

देख चुके हैं कि खुली प्रतियोगिता इजारेदारी में रूपांतरित होती जा रही है, वह बड़े उद्योगों को जन्म दे रही है और छोटे उद्योगों को बाहर ढकेले दे रही है, बड़े पैमाने के उद्योगों के स्थान पर और भी बड़े पैमाने के उद्योग स्थापित कर रही है और उसने उत्पादन तथा पूंजी के संकेंद्रण को इस हद तक पहुंचा दिया है कि उसमें से इजारेदारी – कार्टेल, सिंडीकेट तथा ट्रस्ट – पैदा हुई है और पैदा हो रही है और इनमें उसने लगभग एक दर्जन ऐसे बैंकों की पूंजी को मिला दिया है जो अरबों का हेर-फेर करते रहते हैं। इसके साथ ही इजारेदारियां, जो खुली प्रतियोगिता में से पैदा हुई हैं, इस खुली प्रतियोगिता को ख़त्म नहीं करतीं, बल्कि उसके ऊपर और उसके साथ क़ायम रहती हैं और इस प्रकार अनेक बहुत तीव्र तथा गहरे विग्रहों, संघर्षों तथा झगड़ों को जन्म देती हैं। पूंजीवाद का एक उच्चतर व्यवस्था में संक्रमण इजारेदारी है।

यदि साम्राज्यवाद की संक्षिप्ततम परिभाषा देना हो तो हम कहेंगे कि पूंजीवाद की इजारेदारी वाली अवस्था का नाम साम्राज्यवाद है। इस प्रकार की परिभाषा सबसे महत्वपूर्ण बातों को समेट लेगी, क्योंकि, एक ओर तो, जब थोड़े-से बहुत बड़े-बड़े इजारेदार बैंकों की पूंजी उद्योगपतियों के इजारेदार संघों की पूंजी के साथ मिल जाती है तो वह वित्तीय पूंजी बन जाती है; और, दूसरी ओर, दुनिया का विभाजन उस औपनिवेशिक नीति से, जो अबाध रूप से उन प्रदेशों में प्रचलित रही है, जिन्हें किसी पूंजीवादी सत्ता ने अपने अधिकार में नहीं लिया, दुनिया के उस हिस्से के इजारेदारी अधिकार की औपचारिक नीति में संक्रमण है जिसका पूर्ण रूप से बंटवारा किया जा चुका है।

परन्तु बहुत संक्षिप्त परिभाषाएं सुविधाजनक तो होती हैं क्योंकि वे मुख्य बातों को अपने अंदर समेट लेती हैं, फिर भी वे अपर्याप्त होती हैं क्योंकि जिस घटना की परिभाषा करना होता है उसकी बहुत महत्वपूर्ण विशेषताओं को इस परिभाषा से विशेष रूप से निष्कर्ष के रूप में निकालना पड़ता है। और इसलिए इस बात को भुलाये बिना कि आम तौर पर सभी परिभाषाओं के साथ कुछ शर्तें होती हैं तथा उनका महत्व आपेक्षिक होता है और यह कि किसी भी परिभाषा में कभी भी किसी घटना के पूर्ण विकासक्रम की सभी कड़ियों को नहीं समेटा जा सकता, हमें साम्राज्यवाद की ऐसी परिभाषा देनी चाहिए जिसमें उसकी निम्नलिखित पांच विशेषताएं आ जायें: (१) उत्पादन तथा

पूंजी का संकेंद्रण विकसित होकर इतनी ऊंची अवस्था में पहुंच गया है कि उसने इजारेदारियों को जन्म दिया है जिनकी कि आर्थिक जीवन में एक निर्णायक भूमिका है; (२) बैंकों की पूंजी और उद्योगों की पूंजी मिलकर एक हो गयी हैं, और इस "वित्तीय पूंजी" के आधार पर एक वित्तीय अल्पतंत्र की रचना हुई है; (३) पूंजी के निर्यात ने, जो माल के निर्यात से भिन्न है, असाधारण महत्व धारण कर लिया है; (४) अंतर्राष्ट्रीय इजारेदार पूंजीवादी संघों का निर्माण हुआ है जिन्होंने दुनिया को आपस में बांट लिया है, और (५) सबसे बड़ी पूंजीवादी ताक़तों के बीच पूरी दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन पूरा हो गया है। साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें पहुंचकर इजारेदारियों तथा वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व दृढ़ रूप से स्थापित हो चुका है, जिस अवस्था में पूंजी का निर्यात अत्यधिक महत्व ग्रहण कर चुका है, जिस अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच दुनिया का बंटवारा आरंभ हो गया है, जिस अवस्था में सबसे बड़ी पूंजीवादी ताक़तों के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रों का बंटवारा पूरा हो चुका है।

हम आगे चलकर देखेंगे कि यदि हम केवल मूलभूत, शुद्धतः आर्थिक अवधारणाओं को ही नहीं—ऊपर वाली परिभाषा इन्हीं तक सीमित है—बल्कि पूरे पूंजीवाद के प्रसंग में पूंजीवाद की इस अवस्था विशेष के ऐतिहासिक स्थान को भी, या मज़दूर वर्ग के आंदोलन की दो मुख्य धाराओं के साथ साम्राज्यवाद के संबंध को भी ध्यान में रखें तो साम्राज्यवाद की परिभाषा इससे भिन्न रूप में की जा सकती है और की जानी चाहिए। इस समय जो बात ध्यान देने की है वह यह कि, जैसी कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, साम्राज्यवाद निः-संदेह पूंजीवाद के विकास की एक विशेष अवस्था का द्योतक है। इस उद्देश्य से कि पाठकों को साम्राज्यवाद के बारे में यथासंभव दृढ़तम आधार पर तैयार किया गया चित्र प्राप्त हो सके, हमने जान-बूझकर यथासंभव ज़्यादा से ज़्यादा हद तक उन **पूंजीवादी** अर्थशास्त्रियों के उद्धरण देने की कोशिश की थी जो पूंजीवादी अर्थतंत्र की इस नवीनतम अवस्था के विषय में विशेषतः अकाट्य तथ्यों को स्वीकार करने पर बाध्य हैं। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए हमने विस्तारपूर्वक ऐसे आंकड़े उद्धृत किये हैं जिनसे पाठकों को यह पता चल सकता है कि बैंकों की पूंजी आदि किस हद तक बढ़ी है, मात्रा का गुण में रूपांतरण,

विकसित पूंजीवाद का साम्राज्यवाद में संक्रमण, ठीक-ठीक किस बात में अभिव्यक्त होता है। ज़ाहिर है, यह बताने की तो आवश्यकता नहीं कि प्रकृति तथा समाज की सभी सीमा-रेखाओं के साथ कुछ शर्तें होती हैं और वे बदली जा सकती हैं, और यह कि, उदाहरण के लिए, इस बात पर बहस करना बिल्कुल बेतुकी बात होगी कि साम्राज्यवाद "निश्चित रूप से" किस वर्ष या किस दशाब्दी में जाकर स्थापित हुआ।

परन्तु साम्राज्यवाद की परिभाषा करने के मामले में हमें मुख्यत: का० काउत्स्की के साथ बहस में पड़ना ही पड़ता है, जो तथाकथित दूसरी इंटरनेशनल के युग के–अर्थात् १८८९ से १९१४ तक के पच्चीस वर्षों के युग के–मुख्य मार्क्सवादी सिद्धांतवेत्ता हैं। साम्राज्यवाद की हमारी परिभाषा में जो मुख्य विचार प्रकट किये गये थे उन पर काउत्स्की ने १९१५ में, बल्कि नवम्बर १९१४ में ही, ज़बर्दस्त हमला किया। इस सिलसिले में उन्होंने कहा कि साम्राज्यवाद को अर्थतंत्र की कोई "मंज़िल" या अवस्था नहीं बल्कि एक नीति समझा जाना चाहिए, एक ऐसी निश्चित नीति जिसे वित्तीय पूंजी "पसंद करती है"। उन्होंने कहा कि "वर्तमान पूंजीवाद" को और साम्राज्यवाद को "एक ही चीज़" न समझनी चाहिए, कि यदि साम्राज्यवाद का अर्थ यह लगाया गया कि "वर्तमान पूंजीवाद की सभी घटनाओं" को–कार्टेल, संरक्षण, महाजनों का प्रभुत्व तथा औपनिवेशिक नीति–साम्राज्यवाद माना जाये तो यह प्रश्न कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के लिए आवश्यक है या नहीं "सरासर एक ही बात को शब्दों के हेर-फेर के साथ बार बार दोहराना होगा", क्योंकि उस दशा में तो "साम्राज्यवाद स्वाभाविक रूप से पूंजीवाद की एक बुनियादी आवश्यकता है", आदि, आदि। काउत्स्की के विचारों को प्रस्तुत करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि साम्राज्यवाद की उनकी परिभाषा को उद्धृत कर दिया जाये, जो कि उन विचारों के सार-तत्व के सर्वथा प्रतिकूल है जिन्हें हमने प्रतिपादित किया है (क्योंकि जर्मन मार्क्सवादियों के पक्ष की ओर से, जो पिछले कई वर्षों से इसी प्रकार के विचारों का समर्थन करते आये हैं, उठायी जानेवाली आपत्तियों के बारे में काउत्स्की बहुत समय से यह जानते हैं कि वे मार्क्सवाद की एक निश्चित धारा की ओर से उठायी जानेवाली आपत्तियां हैं)।

काउत्स्की की परिभाषा इस प्रकार है:

"साम्राज्यवाद अति विकसित औद्योगिक पूंजीवाद की उपज है। वह हर औद्योगिक पूंजीवादी राष्ट्र की इस चेष्टा में निहित है कि वह, इस बात की ओर कोई ध्यान दिये बिना कि उन प्रदेशों में कौनसी जातियां बसती हैं, **कृषि के**" (शब्द पर ज़ोर काउत्स्की का) "अधिक से अधिक विस्तृत क्षेत्र पर अपना नियंत्रण स्थापित कर ले या उन पर अपना आधिपत्य जमा ले।"*

यह परिभाषा बिल्कुल दो कौड़ी की है क्योंकि इसमें एकतरफ़ा, अर्थात् मनमाने ढंग से केवल जातियों के प्रश्न को अलग छांट लिया गया है (हालांकि जातियों का प्रश्न स्वयं भी और साम्राज्यवाद के प्रसंग में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है), इसमें मनमाने तथा **ग़लत ढंग से** इस प्रश्न का संबंध **केवल** उन देशों की औद्योगिक पूंजी के साथ जोड़ा गया है जो दूसरे राष्ट्रों पर आधिपत्य कर लेते हैं, और उतने ही मनमाने तथा ग़लत ढंग से कृषि प्रदेशों पर आधिपत्य करने के प्रश्न को सबसे आगे लाकर रख दिया गया है।

दूसरे प्रदेशों पर आधिपत्य करने की चेष्टा ही साम्राज्यवाद है – काउत्स्की की परिभाषा के **राजनीतिक** भाग का तात्पर्य यही है। यह बात सही है, पर बहुत अधूरी है, क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से साम्राज्यवाद, आम तौर पर, हिंसा तथा प्रतिक्रिया की दिशा में एक चेष्टा होती है। परन्तु इस समय तो हमें इस सवाल के **आर्थिक** पहलू में दिलचस्पी है, जिसे **अपनी** परिभाषा में काउत्स्की ने **स्वयं** शामिल कर दिया है। काउत्स्की की परिभाषा की ग़लतियों को अंधा भी देख सकता है। साम्राज्यवाद की लाक्षणिक विशेषता औद्योगिक **नहीं बल्कि** वित्तीय पूंजी है। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि फ़्रांस में पिछली शताब्दी के नवें दशक के बाद से आधिपत्यकारी (औपनिवेशिक) नीति में जो अत्यधिक उग्रता आयी उसका कारण ठीक यही था कि **वित्तीय** पूंजी का विकास असाधारण तीव्र गति के साथ हुआ था और औद्योगिक पूंजी कमज़ोर हुई थी। साम्राज्यवाद की लाक्षणिक विशेषता यही है कि वह **न केवल** कृषि प्रदेशों पर बल्कि अत्यंत उद्योगीकृत प्रदेशों पर भी आधिपत्य जमाने की कोशिश करता है (बेलजियम को हड़प लेने की जर्मनी की लालसा; लोरेन को हड़प लेने की फ़्रांस की लालसा), क्योंकि (१) इस बात के कारण कि दुनिया का

---

* *«Die Neue Zeit»*, १९१४, २ (खंड ३२), पृष्ठ ९०९, ११ सितम्बर, १९१४; देखिये १९१५, २, पृष्ठ १०७ तथा उसके आगे के पृष्ठ।

बंटवारा हो चुका है उन लोगों को, जो **पुनर्विभाजन** की बात सोच रहे हैं, **हर प्रकार के** इलाक़े की तरफ़ हाथ बढ़ाने पर मजबूर होना पड़ता है, और (२) अपना नेतृत्व स्थापित करने की अर्थात् नये इलाक़ों पर विजय प्राप्त करने की कोशिश में अनेक बड़ी ताक़तों की प्रतिद्वंद्विता साम्राज्यवाद की एक बुनियादी विशेषता है, जिसका उद्देश्य स्वयं अपने इलाक़े में वृद्धि करने की अपेक्षा अपने प्रतिद्वंद्वी को कमज़ोर करना और **उसके** नेतृत्व की जड़ें खोखली करना ज़्यादा होता है (बेलजियम का महत्व जर्मनी के लिए विशेष रूप से इस कारण है कि वह उसे इंगलैंड के विरुद्ध अपनी कार्रवाइयों का अड्डा बना सकता है; इंगलैंड जर्मनी के ख़िलाफ़ कार्रवाइयों के लिए एक अड्डे के रूप में बगदाद पर अपना क़ब्ज़ा जमाना चाहता है, इत्यादि)।

काउत्स्की विशेष रूप से – और बार-बार – अंग्रेज़ों का हवाला देते हैं, जिन्होंने, उनके कथनानुसार "साम्राज्यवाद" शब्द का वही शुद्धतः राजनीतिक अर्थ लगाया है जो वह, यानी काउत्स्की, इस शब्द का अर्थ समझते हैं। यदि हम अंग्रेज़ हाबसन की रचना 'साम्राज्यवाद' को लें, जो १९०२ में प्रकाशित हुई थी, तो उसमें हम पढ़ते हैं:

"नया साम्राज्यवाद पुराने साम्राज्यवाद से भिन्न है, पहले तो इस दृष्टि से कि उसने एक ही बढ़ते हुए साम्राज्य की महत्वाकांक्षा के बजाय आपस में प्रतियोगिता करनेवाले साम्राज्यों के सिद्धांत तथा व्यवहार को अपना लिया है, जिनमें से प्रत्येक साम्राज्य राजनीतिक क्षेत्र-वृद्धि तथा वाणिज्यिक लाभ की एक जैसी लालसा द्वारा प्रेरित है; दूसरे, इस दृष्टि से कि वित्तीय अर्थात् पूंजी लगाने के हितों ने वाणिज्यिक हितों की तुलना में प्रधानता प्राप्त कर ली है।"*

हम देखते हैं कि काउत्स्की ने आम तौर पर सभी अंग्रेज़ों का जो हवाला दिया है वह बिल्कुल ग़लत है (अगर उनका अभिप्राय घटिया अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों या साम्राज्यवाद के खुले समर्थकों से था तो बात दूसरी है)। हम देखते हैं कि काउत्स्की दावा तो यह करते हैं कि वह पहले की ही तरह मार्क्सवाद के समर्थक हैं, पर वास्तव में वह **सामाजिक-उदारवादी** हाबसन से भी एक क़दम पीछे हट गये हैं, जिसने आधुनिक साम्राज्यवाद की दो "इतिहास की दृष्टि से ठोस" (काउत्स्की की परिभाषा ऐतिहासिक सत्य का उपहास है!)

---

* Hobson, «*Imperialism*», लंदन, १९०२, पृष्ट ३२४।

विशेषताओं पर **ज्यादा सही** ढंग से विचार किया है: (१) **अनेक** साम्राज्यवादों के बीच प्रतियोगिता, और (२) व्यापारी की तुलना में महाजन की प्रधानता। यदि मुख्यतः सवाल औद्योगिक देशों द्वारा कृषिप्रधान देशों पर आधिपत्य करने का होता, तो व्यापारी की भूमिका सबसे प्रमुख हो जाती है।

काउत्स्की की परिभाषा केवल ग़लत और अमार्क्सवादी ही नहीं है। वह एक ऐसी पूरी विचार-पद्धति के आधार का काम करती है जो आद्योपांत मार्क्सवादी सिद्धांत तथा मार्क्सवादी व्यवहार से संबंध-विच्छेद की द्योतक है। इसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। काउत्स्की ने शब्दों के बारे में जो यह बहस छेड़ी है कि पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था को "साम्राज्यवाद" कहा जाना चाहिए या "वित्तीय पूंजी वाली अवस्था", वह बिल्कुल फ़ालतू बहस है। जो जी में आये कह लीजिये, उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। असल बात यह है कि काउत्स्की साम्राज्यवाद की राजनीति को उसकी अर्थ-व्यवस्था से अलग कर लेते हैं, वह नये इलाक़ों पर आधिपत्य को एक ऐसी नीति बताते हैं जिसे वित्तीय पूंजी "पसंद करती है", और उसके मुक़ाबले पर एक दूसरी पूंजीवादी नीति लाकर खड़ी कर देते हैं जिसके बारे में उनका कहना यह है कि वह वित्तीय पूंजी के इसी आधार पर संभव हो सकती है। तो इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में इजारेदारियां राजनीति के क्षेत्र में ग़ैर-इजारेदारी, अहिंसात्मक तथा ग़ैर-आधिपत्यकारी तरीक़ों के साथ मेल खा सकती हैं। तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दुनिया का क्षेत्रीय विभाजन, जो वित्तीय पूंजी के युग में ही पूरा किया गया था, और जो सबसे बड़े पूंजीवादी राज्यों के बीच प्रतिद्वंद्विता के वर्तमान विशिष्ट रूपों का आधार है, ग़ैर-साम्राज्यवादी नीति के साथ मेल खा सकता है। इसका परिणाम यह है कि पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था के गूढ़तम अंतविरोधों की गहराई की क़लई खोलने के बजाय उन्हें अनदेखा कर दिया जाये तथा उनकी तीव्रता को कम कर दिया जाये, इसका परिणाम है मार्क्सवाद के बजाय पूंजीवादी सुधारवाद।

काउत्स्की साम्राज्यवाद तथा दूसरों के इलाक़े पर आधिपत्य जमाने की नीति के जर्मन समर्थक कूनोव के साथ बहस में उलझ जाते हैं, जो बहुत ही भोंडे ढंग से तथा बेहयाई के साथ यह दलील देते हैं कि वर्तमान पूंजीवाद ही साम्राज्यवाद है; पूंजीवाद का विकास अनिवार्य तथा प्रगतिशील है; इसलिए

साम्राज्यवाद प्रगतिशील है; इसलिए हमें उसके आगे नाक रगड़ना चाहिए और उसका गुणगान करना चाहिए! यह कुछ-कुछ वैसा ही चित्र है जैसा कि १८९४-९५ में नरोदनिकों ने रूसी मार्क्सवादियों का खींचा था। उन्होंने दलील दी: यदि मार्क्सवादियों का यह विश्वास है कि पूंजीवाद रूस में अनिवार्य है, कि वह प्रगतिशील है तो उन्हें एक शराबख़ाना खोल लेना चाहिए और पूंजीवाद के विचार लोगों के दिमाग़ में बिठाना शुरू कर देना चाहिए। कूनोव को काउत्स्की का उत्तर इस प्रकार है: साम्राज्यवाद आजकल का पूंजीवाद नहीं है; वह आजकल के पूंजीवाद की नीति का केवल एक रूप है। हम इस नीति के ख़िलाफ़, साम्राज्यवाद, आधिपत्यों आदि के ख़िलाफ़ लड़ सकते हैं और हमें लड़ना चाहिए।

यह उत्तर देखने में बिल्कुल उचित प्रतीत होता है परंतु यह साम्राज्यवाद के साथ मेल कर लेने की ज़्यादा गूढ़ तथा ज़्यादा छुपी हुई (और इसलिए ज़्यादा ख़तरनाक) पैरवी है, क्योंकि ट्रस्ट्रों तथा बैंकों की नीति के ख़िलाफ़ ऐसी "लड़ाई" जिससे ट्रस्टों तथा बैंकों की अर्थपद्धति के आधार पर कोई प्रभाव न पड़ता हो, पूंजीवादी सुधारवाद तथा शांतिवाद के अलावा, सदिच्छाओं की उदारतापूर्ण तथा निष्कपट अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है। मौजूदा विरोधों की गहराई का पता लगाने के बजाय उनसे कतराना, उनमें से सबसे महत्वपूर्ण विरोधों को भूल जाना – यह है काउत्स्की का सिद्धांत, जिसमें और मार्क्सवाद में कोई समानता नहीं है। स्वाभाविक रूप से, इस प्रकार का "सिद्धांत" केवल कूनोव जैसे लोगों के साथ एकता की पैरवी करने का काम दे सकता है।

काउत्स्की लिखते हैं, "शुद्धतः आर्थिक दृष्टि से, यह असंभव नहीं है कि पूंजीवाद एक और मंज़िल से होकर गुज़रे, कार्टेलों की नीति को बढ़ाकर वैदेशिक नीति के क्षेत्र में भी लागू करने की मंज़िल से, अति-साम्राज्यवाद की मंज़िल से"* अर्थात् महा-साम्राज्यवाद की मंज़िल से, उस मंज़िल से जिसमें सारी दुनिया के साम्राज्यवादों के बीच संघर्ष न होकर उनका एक संघ बन जायेगा, वह एक ऐसी मंज़िल होगी जिसमें पूंजीवाद के अंतर्गत युद्ध बंद हो जायेंगे, वह

---

* *«Die Neue Zeit»*, १९१४, २ (खंड ३२), पृष्ठ ९२१, ११ सितम्बर, १९१४। देखिये १९१५, २, पृष्ठ १०७ तथा उसके आगे के पृष्ठ।

"अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकबद्ध वित्तीय पूंजी द्वारा दुनिया के संयुक्त शोषण"* की मंज़िल होगी।

हमें इस "अति-साम्राज्यवाद के सिद्धांत" पर आगे चलकर विचार करना होगा ताकि विस्तारपूर्वक यह बताया जा सके कि वह किस प्रकार निश्चित रूप से तथा पूर्णतः मार्क्सवाद से भिन्न है। इस समय, प्रस्तुत रचना की आम योजना के अनुसार, हम इस प्रश्न से संबंधित सही-सही आर्थिक तथ्य-सामग्री की छानबीन करेंगे। "शुद्धतः आर्थिक दृष्टिकोण से" क्या "अति-साम्राज्यवाद" संभव है, या वह अति-बकवास है?

यदि शुद्धतः आर्थिक दृष्टिकोण से अभिप्राय "शुद्ध" अमूर्त विचार है तो इस संबंध में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह केवल निम्नलिखित प्रस्थापना तक ही सीमित रह जाता है: विकास इजारेदारियों की ओर बढ़ रहा है, इसलिए, प्रवृत्ति सारी दुनिया की एक ही इजारेदारी की ओर है, अर्थात् सारी दुनिया के एक ही ट्रस्ट की ओर। यह अकाट्य बात है, परन्तु साथ ही यह उतनी ही पूर्णतः निरर्थक भी है जितना कि यह कहना कि "विकास" प्रयोगशालाओं में खाद्य-सामग्री के उत्पादन की दिशा में "बढ़ रहा है"। इस दृष्टि से अति-साम्राज्यवाद का "सिद्धान्त" "अति कृषि के सिद्धांत" से कम बेतुका नहीं है।

परन्तु यदि हम इतिहास की दृष्टि से एक निश्चित युग के रूप में, वित्तीय पूंजी के युग की "शुद्धतः आर्थिक" परिस्थितियों पर विचार करें जो बीसवीं शताब्दी के आरंभ में शुरू हुआ था, तो "अति-साम्राज्यवाद" की निर्जीव कल्पनाओं का (जो केवल एक अत्यंत प्रतिक्रियावादी उद्देश्य को पूरा करती हैं: **मौजूदा** विग्रहों की गहराई की तरफ़ से ध्यान हटाने के उद्देश्य को) सबसे अच्छा उत्तर यही दिया जा सकता है कि उनकी तुलना वर्तमान विश्व अर्थतंत्र की ठोस आर्थिक वास्तविकताओं के साथ कर ली जाये। अति-साम्राज्यवाद के बारे में काउत्स्की की सर्वथा निरर्थक बातें और बातों के अतिरिक्त उस बहुत ही ग़लत विचार को प्रोत्साहन देती हैं जिससे केवल साम्राज्यवाद के पक्षधरों को बल मिलता है, अर्थात् इस विचार को कि वित्तीय पूंजी का शासन विश्व अर्थतंत्र में निहित असमानता तथा विरोधों को **कम करता है**, जबकि वास्तव में वह उन्हें **बढ़ा देता है।**

---

* *«Die Neue Zeit»*, १९१५, १, पृष्ठ १४४, ३० अप्रैल, १९१५।

आर० काल्वेर * ने अपनी 'विश्व अर्थतंत्र की भूमिका' नामक छोटी-सी पुस्तक में उस मुख्य, शुद्धतः आर्थिक तथ्य-सामग्री का सारांश प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे हमें उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों के संगम पर विश्व अर्थतंत्र के आंतरिक संबंधों का ठोस चित्र प्राप्त हो सकता है। उन्होंने दुनिया को इस प्रकार पांच "मुख्य आर्थिक क्षेत्रों" में विभाजित किया है: (१) मध्य यूरोप (रूस तथा ग्रेट ब्रिटेन को छोड़कर सारा यूरोप); (२) ग्रेट ब्रिटेन; (३) रूस; (४) पूर्वी एशिया; (५) अमरीका; उन्होंने उपनिवेशों को उन राज्यों के "क्षेत्रों" में शामिल किया है जिनका उन पर आधिपत्य है और कुछ देशों को जिन्हें क्षेत्रों के हिसाब से बांटा नहीं गया है, जैसे एशिया में फ़ारस, अफ़ग़ानिस्तान तथा अरब, अफ़्रीका में मोराक्को तथा अबीसीनिया, आदि, उन्होंने "छोड़ दिया" है।

इन प्रदेशों के बारे में उन्होंने जो आर्थिक तथ्य-सामग्री उद्धृत की है, उसका सारांश यह है:

मुख्य आर्थिक क्षेत्र	क्षेत्रफल	आबादी
	लाख वर्ग किलोमीटरों में	लाखों में
१) मध्य यूरोपीय	२७६ (२३६)**	३,८८० (१,४६०)
२) ब्रिटिश	२८९ (२८६)**	३,९८० (३,५५०)
३) रूसी	२२०	१,३१०
४) पूर्वी एशियाई	१२०	३,८९०
५) अमरीकी	३००	१,४८०

* R. Calwer, *Einführung in die Weltwirtschaft*», बर्लिन, १९०६।

** कोष्ठकों के अंदर वाले आंकड़े उपनिवेशों के क्षेत्रफल तथा उनकी जनसंख्या के सूचक हैं।

हम देखते हैं कि तीन क्षेत्र ऐसे हैं जहां पूंजीवाद बहुत विकसित है (यातायात, व्यापार तथा उद्योग के साधनों के विकास का उच्च स्तर) : मध्य यूरोपीय, ब्रिटिश तथा अमरीकी क्षेत्र। इन्हीं में वे तीन राज्य हैं जिनका दुनिया पर प्रभुत्व क़ायम है: जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमरीका। इन देशों के बीच साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता तथा संघर्ष ने अत्यंत उग्र रूप धारण कर लिया है क्योंकि जर्मनी का क्षेत्रफल बहुत ही नगण्य और उसके उपनिवेशों की संख्या बहुत थोड़ी है; "मध्य यूरोप" की रचना अभी तक भविष्य की बात है, भीषण संघर्ष के बीच उसका जन्म हो रहा है। इस समय पूरे यूरोप की लाक्षणिक विशेषता राजनीतिक विच्छिन्नता है। दूसरी ओर, ब्रिटिश तथा अमरीकी क्षेत्रों में राजनीतिक संकेंद्रण बहुत विकसित है परन्तु एक के अति विस्तृत उपनिवेशों तथा दूसरे के नगण्य उपनिवेशों के बीच बहुत बड़ा अंतर है। परन्तु उपनिवेशों में

यातायात		व्यापार	उद्योग		
			उत्पादन		
रेलें (हज़ार किलोमीटरों में)	व्यापारिक जहाज (लाख टनों में)	आयात और निर्यात (अरब मार्कों में)	कोयले का (लाख टनों में)	कच्चे लोहे का (लाख टनों में)	सूत कातने के तकुओं की संख्या (लाखों में)
२०४	८०	४१	२,५१०	१५०	२६०
१४०	११०	२५	२,४६०	६०	५१०
६३	१०	३	१६०	३०	७०
८	१०	२	८०	०.२	२०
३७९	६०	१४	२,४५०	१४०	१६०

पूंजीवाद का विकास अभी आरंभ ही हो रहा है। दक्षिणी अमरीका के लिए संघर्ष अधिकाधिक उग्र रूप धारण करता जा रहा है।

दो क्षेत्र ऐसे हैं जहां पूंजीवाद का विकास बहुत कम हुआ है: रूस तथा पूर्वी एशिया। रूस में आबादी बहुत कम घनी है और पूर्वी एशिया में बहुत ही अधिक घनी है; रूस में राजनीतिक संकेंद्रण का स्तर बहुत ऊंचा है और पूर्वी एशिया में है ही नहीं। चीन का विभाजन अभी आरंभ ही हो रहा है और उस पर क़ब्ज़ा जमाने के लिए जापान, संयुक्त राज्य अमरीका आदि का पारस्परिक संघर्ष निरंतर उग्रतर रूप धारण करता जा रहा है।

इस वास्तविकता की तुलना – आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की अत्यधिक विषमता, विभिन्न देशों के विकास की रफ़्तार में अत्यधिक अंतर, आदि, और साम्राज्यवादी राज्यों के बीच भीषण संघर्ष – "शांतिपूर्ण" अति-साम्राज्यवाद के बारे में काउत्स्की की मूर्खतापूर्ण कपोल-कल्पना के साथ कीजिये। क्या यह एक भयभीत कूपमंडूक की क्रूर वास्तविकता से छुपने की प्रतिक्रियावादी कोशिश नहीं है? जिन अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों को काउत्स्की "अति-साम्राज्यवाद" के अंकुर समझते हैं (उसी प्रकार जैसे हम प्रयोगशाला में गोलियों के उत्पादन को अतिकृषि का अंकुर कह "सकते" हैं), क्या वे दुनिया के विभाजन **तथा पुनर्विभाजन** का, शांतिपूर्ण विभाजन से अशान्तिपूर्ण विभाजन में और अशांतिपूर्ण विभाजन से शांतिपूर्ण विभाजन में संक्रमण का उदाहरण नहीं हैं? क्या अमरीकी तथा दूसरी वित्तीय पूंजी, जिसने, उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय रेल सिंडीकेट में, या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक जहाज़रानी ट्रस्ट में जर्मनी को भी शरीक करके सारी दुनिया को शांतिपूर्वक बांट लिया था, इस समय शक्तियों के एक नये संबंध के आधार पर, जिसे सर्वथा **अ**शांतिपूर्ण तरीक़ों से बदला जा रहा है, दुनिया का **पुनर्विभाजन करने में व्यस्त नहीं है?**

वित्तीय पूंजी तथा ट्रस्ट विश्व अर्थतंत्र के विभिन्न भागों के विकास की गति के अंतर को कम नहीं करते, बल्कि बढ़ा देते हैं। एक बार शक्तियों का पारस्परिक संबंध बदल जाने पर **पूंजीवाद के अंतर्गत** इन विरोधों को हल करने

के लिए **बल-प्रयोग** के अतिरिक्त और क्या उपाय हो सकता है? रेल-संबंधी आंकड़ों* में विश्व अर्थतंत्र में पूंजीवाद तथा वित्तीय पूंजी के विकास की अलग-अलग रफ़्तारों के बारे में बहुत ही सही-सही तथ्य-सामग्री मिलती है। साम्राज्यवादी विकास के अंतिम दशकों में रेलों की कुल लम्बाई में इस प्रकार परिवर्तन हुए:

रेलें

(हज़ार किलोमीटरों में)

	१८९०	१९१३	बढ़ती
यूरोप	२२४	३४६	+१२२
सं० रा० अमरीका	२६८	४११	+१४३
सब उपनिवेश	८२ } १२५	२१० } ३४७	+१२८ } +२२२
एशिया और अमरीका के स्वतंत्र और अर्द्ध-स्वतंत्र राज्य	४३	१३७	+ ९४
कुल . .	६१७	१,१०४	

इस प्रकार हम देखते हैं कि रेलों का विकास अधिक तीव्र गति से उपनिवेशों और एशिया तथा अमरीका के स्वतंत्र (तथा अर्ध-स्वतंत्र) राज्यों में हुआ है। जैसा कि हम जानते हैं यहां चार या पांच सबसे बड़े पूंजीवादी राज्यों की वित्तीय पूंजी का एकच्छत्र राज्य है। उपनिवेशों में और एशिया तथा अमरीका के अन्य देशों में दो लाख किलोमीटर लम्बी नयी रेल की लाइनें ४०,००,००,००,००० मार्क से अधिक पूंजी की द्योतक हैं, यह नयी लगायी गयी पूंजी है जो विशेषतः लाभप्रद शर्तों पर लगायी गयी है और इस बात की विशेष गारंटी ले लेने के बाद लगायी गयी है कि उस पर अच्छा मुनाफ़ा होगा और इस्पात के कारख़ानों को लाभप्रद आर्डर दिये जायेंगे, आदि, आदि।

* *Stat. Jahrbuch für das deutsche Reich, 1915; Archiv für Eisenbahnwesen, 1892* (जर्मन साम्राज्य के लिए आंकड़ों का वार्षिक वृत्तांत; १९१५; रेलमार्ग पुरालेखशाला—अनु०)। १८९० में विभिन्न देशों के उपनिवेशों में रेलों के वितरण से संबंधित ब्योरे की बातों का मोटा-मोटा अनुमान ही लगाना पड़ा है।

पूंजीवाद का विकास सबसे अधिक तेज़ी के साथ उपनिवेशों में तथा समुद्र-पार के देशों में हो रहा है। समुद्र-पार के देशों में **नयी** साम्राज्यवादी ताक़तें उभर रही हैं (जैसे जापान)। दुनिया की साम्राज्यवादी प्रणालियों के बीच संघर्ष उग्रतर होता जा रहा है। वित्तीय पूंजी उपनिवेशों तथा समुद्र-पार के देशों के सबसे अधिक लाभप्रद कारोबारों से जो चौथ वसूल करती है वह बढ़ती जा रही है। इस "लूट के माल" के बंटवारे में एक असाधारण रूप से बड़ा हिस्सा उन देशों को मिलता है जो उत्पादक शक्तियों के विकास की गति की दृष्टि से हमेशा सबसे आगे नहीं होते। सबसे बड़े देशों में, उनके उपनिवेशों सहित रेलवे लाइनों की कुल लम्बाई इस प्रकार थी:

(हज़ार किलोमीटरों में)

	१८९०	१९१३	बढ़ती
सं० रा० अमरीका	२६८	४१३	+१४५
ब्रिटिश साम्राज्य	१०७	२०८	+१०१
रूस	३२	७८	+ ४६
जर्मनी	४३	६८	+ २५
फ़्रांस	४१	६३	+ २२
पांच देशों का कुल योग	४९१	८३०	+३३९

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय कुल जितनी रेलवे लाइनें हैं उनका लगभग ८० प्रतिशत भाग पांच सबसे बड़ी ताक़तों के हाथों में केंद्रित है। परन्तु इन रेलों के **स्वामित्व** का संकेंद्रण, वित्तीय पूंजी का संकेंद्रण, इससे भी कहीं ज़्यादा है, क्योंकि, उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ तथा फ़्रांसीसी करोड़पतियों के पास अमरीकी, रूसी तथा अन्य रेलों के बहुत बड़ी-बड़ी रक़मों के शेयर तथा बांड हैं।

अपने उपनिवेशों की बदौलत ग्रेट ब्रिटेन ने "अपनी" रेलों की लम्बाई में १,००,००० किलोमीटर की वृद्धि कर ली है, अर्थात् जर्मनी की तुलना में चार गुनी। फिर भी यह बात सर्वविदित है कि जर्मनी में उत्पादक शक्तियों का विकास,

विशेष रूप से कोयले तथा लोहे के उद्योगों का विकास, इस काल म–फ्रांस तथा रूस की बात तो जाने दीजिये–इंगलैंड की तुलना में भी बहुत ही ज़्यादा तीव्र गति से हुआ है। १८९२ में कच्चे लोहे का उत्पादन जर्मनी में ४९,००,००० टन और ग्रेट ब्रिटेन में ६८,००,००० टन था; १९१२ में जर्मनी का उत्पादन १,७६,००,००० टन हो गया और ब्रिटेन का ९०,००,००० टन। इस प्रकार इस मामले में जर्मनी की श्रेष्ठता इंगलैंड के मुक़ाबले में कहीं अधिक थी!* सवाल यह है कि एक ओर तो उत्पादक शक्तियों के विकास तथा पूंजी के संचय और दूसरी ओर उपनिवेशों के विभाजन तथा वित्तीय पूंजी के लिए "प्रभाव क्षेत्रों" के बीच जो विषमता थी उसे दूर करने का **पूंजीवाद के अंतर्गत** युद्ध के अतिरिक्त और क्या उपाय हो सकता था?

८. पूंजीवाद का परजीवी स्वभाव तथा उसका ह्रास

हमें अब साम्राज्यवाद के एक दूसरे बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू पर विचार करना है जिसको आम तौर पर इस विषय से संबंधित विवेचनाओं में अपर्याप्त महत्व दिया जाता है। मार्क्सवादी हिल्फ़र्डिंग की एक कमज़ोरी यह है कि वह ग़ैर-मार्क्सवादी हाबसन की तुलना में एक क़दम पीछे की ओर चले जाते हैं। हमारा संकेत साम्राज्यवाद के उस परजीवी स्वभाव की ओर है जो उसकी एक लाक्षणिकता है।

जैसा कि हम देख चुके हैं साम्राज्यवाद की सबसे गहरी नींव इजारेदारी है। यह पूंजीवादी इज़ारेदारी है, अर्थात् ऐसी इजारेदारी जो पूंजीवाद में से उत्पन्न हुई है और पूंजीवाद, माल के उत्पादन तथा प्रतियोगिता के सामान्य वातावरण में रहती है और इस सामान्य वातावरण के साथ उसका स्थायी तथा अमिट विरोध रहता है। फिर भी हर इजारेदारी की तरह यह भी अनिवार्य रूप में गतिरोध तथा ह्रास की प्रवृत्ति को जन्म देती है। चूंकि इजारेदारी क़ीमतें स्थापित हो

* Edgar Crammond, «*The Economic Relations of the British and German Empires*» (ब्रिटिश तथा जर्मन साम्राज्यों के आर्थिक संबंध) शीर्षक लेख भी देखिये, जुलाई १९१४, पृष्ठ ७७७ तथा उसके आगे के पृष्ठ।

जाती हैं, अस्थायी रूप से ही सही, इसलिए कुछ हद तक प्राविधिक उन्नति की, और फलस्वरूप हर उन्नति की प्रेरक शक्ति ख़त्म हो जाती है और उसी हद तक प्राविधिक उन्नति की रफ़्तार को जान-बूझकर धीमा कर देने की **आर्थिक** संभावना उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए अमरीका में ओवेन्स नामक किसी व्यक्ति ने एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया जिससे बोतलों के उत्पादन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया। जर्मनी के बोतलें बनानेवाले कार्टेल ने ओवेन्स का पेटेन्ट ख़रीद लिया परन्तु उसे ताक़ में रख दिया, उसे कभी इस्तेमाल नहीं किया। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि पूंजीवाद के अंतर्गत इजारेदारी विश्व के बाज़ार से प्रतियोगिता को कभी भी पूरी तरह और बहुत दीर्घकाल के लिए ख़त्म नहीं कर सकती (और, प्रसंगवश हम बता दें, कि यह भी एक कारण है कि अति-साम्राज्यवाद का सिद्धांत इतना बेतुका क्यों है)। इसमें तो संदेह नहीं कि प्राविधिक सुधारों का प्रयोग करने से उत्पादन की लागत में होनेवाली कमी और मुनाफ़े में वृद्धि परिवर्तन की दिशा में क्रियाशील होती है। परंतु गतिरोध तथा ह्रास की **प्रवृत्ति**, जो इजारेदारी की लाक्षणिकता है, काम करती रहती है, और उद्योगों की कुछ शाखाओं में, कुछ देशों में, कुछ समय के लिए उसका पलड़ा भारी हो जाता है।

अत्यंत विस्तृत, समृद्ध या सुस्थित उपनिवेशों पर इजारेदार स्वामित्व भी इसी दिशा में क्रियाशील रहता है।

इसके अतिरिक्त, साम्राज्यवाद कुछ थोड़े-से देशों में द्रव्य पूंजी का विपुल संचय होता है; जैसा कि हम देख चुके हैं यह संचय प्रतिभूतियों के रूप में १००-१५० अरब फ़्रांक के बराबर था। इसलिए एक वर्ग का, बल्कि कहना चाहिए, सूदख़ोरों के एक सामाजिक स्तर का असाधारण रूप से विकास होता है, अर्थात् ऐसे लोगों का जो "कूपन काटकर" अपनी जीविका कमाते हैं, जो किसी भी कारोबार में कोई हिस्सा नहीं लेते हैं, जिनका पेशा ही हरामख़ोरी होता है। पूंजी का निर्यात जो साम्राज्यवाद का एक सबसे बुनियादी आर्थिक आधार है, सूदख़ोरों को उत्पादन-व्यवस्था से और भी पूरी तरह अलग कर देता है और पूरे देश पर परजीवी होने की मुहर लगा देता है जो समुद्र-पार के कई देशों तथा उपनिवेशों के श्रम का शोषण करके जीवित रहता है।

हाबसन लिखते हैं, "१८९३ में विदेशों में जो ब्रिटिश पूंजी लगी हुई थी

वह इंगलैंड की कुल सम्पदा के लगभग १५ प्रतिशत के बराबर थी।"* हम पाठकों को याद दिलायेंगे कि १९१५ तक यह पूंजी लगभग ढाई गुनी बढ़ गयी थी। आगे चलकर हाबसन कहते हैं, "आक्रामक साम्राज्यवाद, जो टैक्स अदा करनेवालों को इतना महंगा पड़ता है, जो कारखानेवालों तथा व्यापारियों के लिए इतने कम महत्व का है,... पूंजी लगानेवालों (अंग्रेज़ी में 'इन्वेस्टर') के लिए बहुत मुनाफ़े का स्रोत है... ग्रेट ब्रिटेन को अपने पूरे वैदेशिक तथा औपनिवेशिक व्यापार से आयात तथा निर्यात से कमीशन के रूप में प्रति वर्ष जो आय होती है उसके बारे में सर आर० गिफ़ेन ने यह अनुमान लगाया है कि १८९९ में यह आय, ८०,००,००,००० पौंड के कुल लेन-देन पर २.५ प्रतिशत के हिसाब से, १,८०,००,००० पौंड (लगभग १७,००,००,००० रूबल) थी।" यह रक़म बहुत बड़ी तो है पर उससे ग्रेट ब्रिटेन के आक्रामक साम्राज्यवाद की पूरी व्याख्या नहीं हो सकती। उसकी व्याख्या तो "लगायी गयी" पूंजी से होनेवाली ९-१० करोड़ पौंड की आय से, सूदख़ोरों की आय से ही हो सकती है।

सूदख़ोरों की आय संसार के सबसे बड़े "व्यापारी" देश के वैदेशिक व्यापार से होनेवाली कुल आय से **पांच गुनी** अधिक है! यह है साम्राज्यवाद तथा साम्राज्यवाद के परजीवी स्वभाव का निचोड़।

यही कारण है कि साम्राज्यवाद विषयक आर्थिक साहित्य में "सूदख़ोर राज्य" *(Rentnerstaat)* या महाजन राज्य आदि शब्दों का प्रयोग आम तौर पर होने लगा है। दुनिया मुट्ठी-भर महाजन राज्यों तथा बहुत बड़ी संख्या में ऋणी राज्यों में बंट गयी है। शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ कहते हैं, "विदेशों में जो पूंजी लगायी जाती है उसकी सूची में सबसे पहला स्थान उस पूंजी का है जो राजनीतिक रूप से निर्भर अथवा मित्र देशों में लगायी जाती है: ग्रेट ब्रिटेन मिस्र, जापान, चीन तथा दक्षिणी अमरीका को ऋण देता है। इस प्रसंग में उसकी नौ-सेना आवश्यकता पड़ने पर क़ुर्क़-अमीन का काम करती है। ग्रेट ब्रिटेन की राजनीतिक ताक़त उसे अपने क़र्ज़दारों के रोष से सुरक्षित रखती है।"** सरटोरियस फ़ॉन वाल्टर्सगाज़ेन

---

* हाबसन, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ ५९, ६०।

** Schulze-Gaevernitz, «*Britischer Imperialismus*», पृष्ठ ३२० तथा उसके बाद के पृष्ठ।

ने अपनी पुस्तक 'विदेशों में पूंजी लगाने की राष्ट्रीय आर्थिक पद्धति' में एक "सूदख़ोर राज्य" की सबसे अच्छी मिसाल के रूप में हालैंड का उल्लेख किया है और यह बताया है कि ग्रेट ब्रिटेन तथा फ़्रांस भी अब वैसे ही बनते जा रहे हैं।* शिल्दर का यह मत है कि पांच औद्योगिक राज्य "निश्चित रूप से बहुत ही प्रमुख ऋण देनेवाले देश" बन गये हैं: ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी, बेलजियम तथा स्विट्ज़रलैंड। उन्होंने इस सूची में हालैंड को केवल इसलिए शामिल नहीं किया है कि वह "औद्योगिक दृष्टि से बहुत कम विकसित"** है। संयुक्त राज्य अमरीका का ऋण केवल अमरीकी देशों पर है।

शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ कहते हैं, "ग्रेट ब्रिटेन धीरे-धीरे एक औद्योगिक राज्य से एक ऋण देनेवाला राज्य बनता जा रहा है। औद्योगिक उत्पादन तथा कारख़ानों के तैयार माल के निर्यात की कुल मात्रा में वृद्धि के बावजूद सूद तथा डिवीडेंड से, प्रतिभूतियां जारी करने से, कमीशन तथा सट्टेबाज़ी से होनेवाली आय का सापेक्ष महत्व पूरे राष्ट्रीय अर्थतंत्र में बढ़ता जा रहा है। मेरी राय में यही बात है जो साम्राज्यवाद की उन्नति का आर्थिक आधार है। क़र्ज़दार के साथ क़र्ज़ देनेवाले का संबंध ख़रीदार के साथ माल बेचनेवाले के संबंध की अपेक्षा अधिक दृढ़ होता है।"*** जर्मनी के बारे में अ० लैंसबर्ग ने, जो बर्लिन की *«Die Bank»* नामक पत्रिका के प्रकाशक थे, १९११ में अपने 'जर्मनी – एक सूदख़ोर राज्य' शीर्षक लेख में लिखा: "फ़्रांस के लोगों में सूदख़ोर बनने की जो लालसा पायी जाती है उसे जर्मनी के लोग हमेशा बड़े तिरस्कार की दृष्टि से देखा करते हैं। परन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि जहां तक पूंजीपति वर्ग का सवाल है जर्मनी में भी परिस्थिति अधिकाधिक फ़्रांस जैसी ही होती जा रही है।"****

सूदख़ोर राज्य परजीवी ह्रासोन्मुख पूंजीवाद का राज्य है और इस बात का प्रभाव संबंधित देशों की सभी सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर आम तौर

---

* Sart. von Waltershausen, *«Das Volkswirtschaftliche System, etc.»*, बर्लिन, १९०७, खण्ड ४।

** शिल्दर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ ३९३।

*** Schulze-Gaevernitz, उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ १२२।

**** *«Die Bank»* १९११, १, पृष्ठ १०-११।

पर, और मज़दूर वर्ग के आंदोलन की दो मूलभूत धाराओं पर ख़ास तौर पर, पड़े बिना नहीं रह सकता। इस बात को यथासंभव स्पष्टतम रूप में व्यक्त करने के लिए हम हाबसन का उद्धरण देंगे, जो सबसे "विश्वसनीय" गवाह हैं क्योंकि उन पर "मार्क्सवादी कट्टरपंथ" की ओर झुकाव रखने की शंका नहीं की जा सकती; दूसरी ओर वह अंग्रेज़ हैं, जो उस देश की परिस्थिति से भली भांति परिचित हैं जो उपनिवेशों के मामले में, वित्तीय पूंजी के मामले में तथा साम्राज्यवादी अनुभव के मामले में, सबसे समृद्ध है।

हाबसन के दिमाग़ में अंग्रेज़-बोएर युद्ध की याद ताज़ा थी और वह साम्राज्यवाद तथा "पूंजी लगानेवालों" के हितों के पारस्परिक संबंध, ठेकों से होनेवाले बढ़ते हुए मुनाफ़ों आदि का उल्लेख करते हैं और लिखते हैं: "यद्यपि इस निश्चित रूप से परजीवी नीति के संचालक पूंजीपति हैं, परन्तु यही उद्देश्य मज़दूरों के कुछ वर्गों को भी पसंद आते हैं। कई शहरों में उद्योग की सबसे महत्वपूर्ण शाखाएं सरकारी रोज़गार या ठेकों पर निर्भर रहती हैं; धातु के तथा जहाज़ बनाने के केंद्रों का साम्राज्यवाद काफ़ी बड़ी हद तक इसी बात पर निर्भर करता है।" इस लेखक की राय में पुराने साम्राज्य दो कारणों से कमज़ोर हुए हैं: (१) "आर्थिक परजीविता", और (२) पराश्रित जातियों के लोगों के आधार पर सेना का संगठन। "पहले तो आर्थिक परजीविता का स्वभाव है, जिसके वश शासक राज्य ने अपने प्रांतों, उपनिवेशों तथा आश्रित देशों को अपने शासक वर्ग को धनवान बनाने तथा निम्नतर वर्गों को रिश्वत देकर चुपचाप राज़ी कर लेने के लिए इस्तेमाल किया है।" और हम इसके साथ इतना और कहेंगे कि इस प्रकार की रिश्वत देने की आर्थिक संभावना के लिए, भले ही उसका कोई भी रूप हो, बहुत ऊंचे इजारेदारी मुनाफ़ों की आवश्यकता होती है।

दूसरे कारण के बारे में हाबसन लिखते हैं: "ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस तथा अन्य साम्राज्यधारी राष्ट्र आगा-पीछा सोचे बिना जिस निश्चिंतता के साथ इस ख़तरनाक मार्ग पर प्रवेश कर रहे हैं, वह साम्राज्यवाद के अंधेपन की एक सबसे अद्भुत पहचान है। ग्रेट ब्रिटेन सबसे आगे निकल गया है। जिन लड़ाइयों द्वारा हमने अपने भारतीय साम्राज्य की स्थापना की है उनमें अधिकांशतः वहीं के निवासी लड़े थे, जैसा कि अभी हाल में मिस्र में हुआ है, भारत में भी बड़ी-बड़ी स्थायी सेनाएं

ब्रिटिश सेनानायकों के ग्राधीन कर दी गयी हैं; हमारे अफ़्रीकी राज्यों के सिलसिले में, दक्षिणी भाग को छोड़कर, जितनी भी लड़ाइयां हुई हैं उनमें भी हमारी तरफ़ से अधिकांश लड़ाइयां वहां के निवासियों ने ही की हैं।"

चीन के विभाजन के बाद परिस्थिति क्या हो जायेगी इसका ग्रार्थिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए हाबसन लिखते हैं: "उस दशा में यह संभव है कि पश्चिमी यूरोप के अधिकांश भाग की सूरत-शक्ल ग्रौर विशेषताएं वही हो जायें जो हम इस समय भी इंगलैंड के दक्षिणी भाग के कुछ हिस्सों में, रिव्येरा में ग्रौर इटली तथा स्विट्ज़रलैंड के धनिकों के रहायशी इलाक़ों में या उन हिस्सों में देखते हैं जहां सैर के लिए ग्रानेवालों की भरमार रहती है, यानी धनवान अभिजात वर्गीय लोगों के छोटे-छोटे समूह जो सुदूर पूर्व से डिवीडेंड ग्रौर पेंशनें वसूल करेंगे, इससे कुछ बड़ा समूह पेशेवर सेवकों तथा व्यापारियों का होगा ग्रौर एक बहुत बड़ा समूह ज़ाती नौकर चाकरों ग्रौर यातायात व्यवसाय तथा अधिक जल्दी ख़राब हो जानेवाली चीज़ों के उत्पादन की अंतिम अवस्थाओं में काम करनेवाले कर्मचारियों का होगा। सभी बुनियादी उद्योगों का लोप हो चुका होगा, मुख्य खाद्य-सामग्री तथा अध-तैयार माल एशिया तथा अफ़्रीका से नज़राने के रूप में ग्राया करेगा।" "हमने पश्चिमी राज्यों के इससे भी बड़े गंठजोड़ की, बड़ी ताक़तों के उस यूरोपीय संघ की संभावना का पहले ही से चित्रण कर दिया है जो अब तक की तरह विश्व सभ्यता के ध्येय को ग्रागे बढ़ाने के बजाय संभव है पश्चिमी परजीविता का विशाल संकट खड़ा कर दे। यह उन उन्नत ग्रौद्योगिक राष्ट्रों का समूह होगा जिनके उच्चतर वर्ग एशिया तथा अफ़्रीका से नज़राना वसूल करेंगे, जिसकी सहायता से वे उन अत्यंत बहुसंख्यक सेवक-समुदायों का भरण-पोषण करेंगे, जिनसे कृषि अथवा कारख़ानों के मुख्य उद्योगों में काम नहीं लिया जायेगा बल्कि वे एक नये वित्तीय अभिजात वर्ग के नियंत्रण में निजी या छोटी-मोटी ग्रौद्योगिक सेवाएं किया करेंगे। जिन लोगों का इस सिद्धांत "(इसे संभावना कहना अधिक उचित होगा)" के बारे में यह संदेह है कि यह विचार करने योग्य नहीं है वे दक्षिणी इंगलैंड के उन ज़िलों की ग्राज की ग्रार्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की छानबीन करें जो इस हालत में पहुंच चुके हैं, ग्रौर इस पद्धति के बहुत विस्तृत रूप से फैल जाने पर विचार करें जो महाजनों, 'पूंजी लगानेवालों' के ऐसे ही समूहों ग्रौर उनके राजनीतिक तथा व्यापारिक पदाधिकारियों का चीन पर ग्रार्थिक नियंत्रण स्थापित

हो जाने से संभव हो सकता है, जो संसार में मुनाफ़े के अब तक ज्ञात सबसे बड़े निहित भंडार को धीरे-धीरे ख़ाली करते रहेंगे ताकि उसका उपभोग यूरोप में कर सकें। परिस्थिति इतनी ज़्यादा जटिल है, विश्व-शक्तियों की पारस्परिक क्रिया इतनी ज़्यादा अज्ञेय है कि भविष्य के बारे में इस या किसी दूसरी कल्पना विशेष के संभव होने के बारे में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता ; परन्तु आज पश्चिमी यूरोप का साम्राज्यवाद जिन प्रभावों के अधीन है वे इसी दिशा में जा रहे हैं और यदि उनका मुक़ाबला न किया जायेगा या उनकी दिशा को मोड़ा न जायेगा, तो वे इसी परिणति की ओर बढ़ते रहेंगे।"*

लेखक का कहना बिल्कुल ठीक है: **यदि** साम्राज्यवाद की शक्तियों का मुक़ाबला न किया गया तो वे ठीक उसी लक्ष्य की ओर बढ़ेंगी जिसका कि लेखक ने वर्णन किया है। वर्तमान साम्राज्यवादी परिस्थिति में "यूरोप के संयुक्त राज्य" के महत्व का मूल्यांकन सही-सही किया गया है। परन्तु उन्हें इतना और कह देना चाहिए था कि मज़दूर वर्ग के आंदोलन के **भीतर भी** अवसरवादी, जो इस समय अस्थायी तौर पर अधिकांश देशों में विजयी हो गये हैं, सुव्यवस्थित तथा अडिग रूप से इसी दिशा में "काम कर रहे" हैं। साम्राज्यवाद, जिसका अर्थ दुनिया का बंटवारा और चीन के अतिरिक्त अन्य देशों का भी शोषण है, जिसका अर्थ है कि इने-गिने बहुत धनवान देशों को बहुत ऊंचे इजारेदारी मुनाफ़े मिलें, सर्वहारा वर्ग के उच्चतर स्तरों को रिश्वत खिलाने की आर्थिक संभावना उत्पन्न करता है और इस प्रकार अवसरवाद का पोषण करता है, उसे एक निश्चित रूप देता है और उसे मज़बूत करता है। परन्तु हमें उन शक्तियों की ओर से ध्यान नहीं हटने देना चाहिए जो आम तौर पर साम्राज्यवाद का और ख़ास तौर पर अवसरवाद का मुक़ाबला करती हैं, और स्वाभाविक ही है कि सामाजिक-उदारवादी हाबसन इन शक्तियों को देख नहीं पाते।

जर्मन अवसरवादी गेरहर्ड हिल्देब्रांड ने, जिन्हें साम्राज्यवाद का समर्थन करने के कारण पार्टी से निकाल दिया गया था और जो आज जर्मनी की तथाकथित "सामाजिक-जनवादी" पार्टी के नेता बन सकते हैं, अफ़्रीका के हब्शियों के ख़िलाफ़,

---

*हाबसन, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १०३, २०५, १४४, ३३५, ३८६।

"महान इस्लामी आंदोलन" के ख़िलाफ़, "शक्तिशाली सेना तथा नौ-सेना" क़ायम रखने के लिए, "चीनी-जापानी एकता" के ख़िलाफ़ और इसी तरह के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए "संयुक्त" कार्रवाई के उद्देश्य से "पश्चिमी यूरोप के संयुक्त राज्य" (रूस को छोड़कर) का समर्थन करके हाबसन की बात की बड़े अच्छे ढंग से पूर्ति कर दी है।*

शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ की पुस्तक में "ब्रिटिश साम्राज्यवाद" का जो विवरण मिलता है उससे भी इन्हीं परजीवी प्रवृत्तियों का पता चलता है। १८६५ और १८९८ के बीच ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय लगभग दुगनी हो गयी, और इसी काल में "विदेशों से" होनेवाली आय **नौगुनी** बढ़ी। जबकि साम्राज्यवाद का "गुण" इस बात में है कि वह "हब्शियों को उद्योग की आदतें सिखा देता है" (ज़ाहिर है, बल-प्रयोग के बिना नहीं...), तो साम्राज्यवाद की "ख़तरनाक बात" यह है कि "यूरोप शारीरिक श्रम का बोझ – पहले कृषि तथा खानों के काम का और फिर उद्योगों के ज़्यादा मोटे काम का – काली जातियों के कंधों पर डाल देगा और स्वयं सूदख़ोर बनकर संतुष्ट हो जायेगा और इस प्रकार वह, शायद, पहले काली और लाल जातियों की आर्थिक मुक्ति के लिए और बाद में उनकी राजनीतिक मुक्ति के लिए रास्ता साफ़ करेगा।"

ग्रेट ब्रिटेन में भूमि के निरंतर बढ़ते हुए भाग पर खेती बंद करके उसे खेल-कूद के लिए, अमीरों के मनोरंजन के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। स्काटलैंड के बारे में – जो संसार का सबसे ठाठदार क्रीड़ास्थल है – कहा जाता है कि "वह अपने अतीत और श्री कारनेगी (अमरीकी अरबपति) के बल पर जीवित है"। ब्रिटेन अकेले घुड़दौड़ और लोमड़ियों के शिकार पर प्रति वर्ष १,४०,००,००० पौंड (लगभग १३,००,००,००० रूबल) ख़र्च करता है। इंगलैंड में इस समय सूदख़ोरों की संख्या लगभग दस लाख है। कुल जनसंख्या में उत्पादक ढंग से रोज़गार में लगी हुई जनसंख्या का प्रतिशत अनुपात घटता जा रहा है:

---

* Gerhard Hildebrand, «*Die Erschütterung der Industrieherrschaft und des Industriesozialismus*» (उद्योगवाद तथा औद्योगिक समाजवाद के शासन का चकनाचूर होना – अनु०), १९१०, पृष्ठ २२९ तथा उसके आगे के पृष्ठ।

	ब्रिटेन की जनसंख्या	बुनियादी उद्योगों में मज़दूरों की संख्या	कुल जनसंख्या का प्रतिशत अनुपात
	(लाखों में)		
१८५१	१७६	४१	२३%
१९०१	३२५	४९	१५%

और ब्रिटेन के मज़दूर वर्ग का उल्लेख करते समय "बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद" के पूंजीवादी अन्वेषकों को मज़दूरों के **"उच्चतर स्तर"** और **"ख़ास सर्वहारा वर्ग के निम्नतर स्तर"** के बीच बाक़ायदा अंतर करने पर मजबूर होना पड़ता है। सहकारी संस्थाओं, ट्रेड-यूनियनों, खेल-कूद के क्लबों तथा अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के अधिकांश सदस्य इसी उच्चतर स्तर के लोग होते हैं, निर्वाचन-व्यवस्था इसी स्तर के अनुकूल बनायी गयी है, ग्रेट ब्रिटेन में निर्वाचन-व्यवस्था "अभी तक **इतनी काफ़ी सीमित है कि ख़ास सर्वहारा वर्ग का निम्नतर स्तर इसमें शामिल नहीं हो सकता**"!! ब्रिटेन के मज़दूर वर्ग की हालत को आकर्षक रूप में पेश करने के लिए, आम तौर पर इसी उच्चतर स्तर का उल्लेख किया जाता है, जो सर्वहारा वर्ग का बहुत ही **छोटा अल्पमत** है। उदाहरण के लिए, "बेरोज़गारी की समस्या मुख्यत: लंदन की और सर्वहारा वर्ग के निम्न स्तर की समस्या है **जिसको राजनीतिज्ञ बहुत कम महत्व देते हैं**"*... उन्हें कहना चाहिए था: जिसको पूंजीवादी राजनीतिज्ञ और "समाजवादी" अवसरवादी बहुत कम महत्व देते हैं।

जिन बातों का हम उल्लेख कर रहे हैं उनसे संबंधित साम्राज्यवाद की एक ख़ास विशेषता यह है कि साम्राज्यवादी देशों से उत्प्रवास घटता जा रहा है और अधिक पिछड़े हुए देशों से, जहां कम मज़दूरी मिलती है, इन देशों में आप्रवास बढ़ता जा रहा है। जैसा कि हावसन ने बताया है ग्रेट ब्रिटेन से उत्प्रवास १८८४ से घटता रहा है। उस वर्ष उत्प्रवासियों की संख्या २,४२,००० थी, जबकि १९०० में यह संख्या घटकर १,६९,००० रह गयी। जर्मनी से उत्प्रवास

* Schulze-Gaevernitz, «*Britischer Imperialismus*», पृष्ठ ३०१।

१८८१ और १८६० के बीच अपने उच्चतम शिखर पर पहुंचा, इन वर्षों में उत्प्रवासियों की कुल संख्या १४,५३,००० थी। इसके बाद के दो दशकों में यह संख्या घटकर ५,४४,००० और ३,४१,००० रह गयी। दूसरी ओर आस्ट्रिया, इटली, रूस तथा अन्य देशों से जर्मनी में आनेवाले मज़दूरों की संख्या में वृद्धि हुई। १६०७ की जनगणना के अनुसार जर्मनी में १३,४२,२६४ विदेशी थे जिनमें से ४,४०,८०० औद्योगिक मज़दूर तथा २,५७,३२६ खेत-मज़दूर थे।* फ़्रांस में खनिज-उद्योग में जितने मज़दूर काम करते हैं वे "अधिकांशतः" विदेशी हैं: पोलैंडवासी, इटलीवासी तथा स्पेनी।** संयुक्त राज्य अमरीका में पूर्वी तथा दक्षिणी यूरोप के आप्रवासी ऐसे व्यवसायों में काम करते हैं जिनमें पारिश्रमिक बहुत ही कम मिलता है, जबकि ओवरसियरों तथा अच्छा वेतन पानेवाले कर्मचारियों में सबसे अधिक अनुपात अमरीकी कार्यकर्ताओं का है।*** साम्राज्यवाद में मज़दूरों के बीच भी विशेषाधिकारप्राप्त हिस्से पैदा कर देने और उन्हें सर्वहारा वर्ग की व्यापक जनता से अलग कर देने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ग्रेट ब्रिटेन में मज़दूरों में फूट डालने, उनके बीच अवसरवाद को मज़बूत बनाने और मज़दूर वर्ग के आंदोलन में अस्थायी रूप से ह्रास पैदा कर देने की साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के आरंभ से बहुत पहले ही प्रकट हो गयी थी: क्योंकि साम्राज्यवाद की दो महत्वपूर्ण लाक्षणिक विशेषताएं ग्रेट ब्रिटेन में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही दिखायी पड़ने लगी थीं, अर्थात् विस्तृत औपनिवेशिक प्रदेश और विश्व के बाज़ार में इजारेदार स्थिति। मार्क्स तथा एंगेल्स ने बताया था कि मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में अवसरवाद तथा ब्रिटिश पूंजीवाद की साम्राज्यवादी विशेषताओं के बीच यह संबंध बाक़ायदा पिछले कई दशकों से क़ायम रहा है। उदाहरण के लिए, ७ अक्तूबर १८५८ को एंगेल्स ने मार्क्स को लिखा: "इंगलैंड

---

* *Statistik des Deutschen Reichs* (जर्मन साम्राज्य के आंकड़े – अनु०), भाग २११।

** Henger, «*Die Kapitalsanlage der Franzosen*» (फ़्रांस द्वारा लगायी गयी पूंजी), स्टुटगार्ट, १६१३।

*** Hourwich, «*Immigration and Labour*», (आप्रवास तथा श्रम), न्यूयार्क, १६१३।

का सर्वहारा वर्ग दिन प्रति दिन अधिक पूंजीवादी होता जा रहा है, जिससे नतीजा यह निकलता है कि समस्त राष्ट्रों में सबसे अधिक पूंजीवादी यह राष्ट्र स्पष्टतः इस लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है कि आखिर में चलकर उसके पास एक पूंजीवादी अभिजात वर्ग, और पूंजीपति वर्ग **के साथ ही साथ** एक पूंजीवादी सर्वहारा वर्ग भी हो। ज़ाहिर है, एक ऐसे राष्ट्र के लिए, जो पूरी दुनिया का शोषण करता हो, कुछ हद तक इस बात का हक़ भी है।" लगभग पच्चीस वर्ष बाद ११ अगस्त, १८८१ के एक पत्र में एंगेल्स "...इंगलैंड के उन बदतरीन क़िस्म के ट्रेड-यूनियनों" का उल्लेख करते हैं, "जो ऐसे लोगों के नेतृत्व को स्वीकार करते हैं जिन्हें पूंजीपति वर्ग ने यदि ख़रीद नहीं लिया है तो कम से कम वे उससे वेतन तो पाते ही हैं।" १२ सितम्बर १८८२ को काउत्स्की के नाम एक पत्र में एंगेल्स ने लिखा: "आपने मुझसे पूछा है कि अंग्रेज़ मज़दूर औपनिवेशिक नीति के बारे में क्या सोचते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि बिल्कुल वही जो वे आम तौर पर पूरी राजनीति के बारे में सोचते हैं। यहां मज़दूरों की कोई पार्टी नहीं है, यहां केवल रूढ़िवादी तथा उदारवादी आमूलवादी हैं और उपनिवेशों तथा विश्व के बाज़ार पर अपनी इजारेदारी के कारण इंगलैंड जो गुलछर्रे उड़ा रहा है उसमें मज़दूर भी ख़ुश होकर हिस्सा लेते हैं।"* (एंगेल्स ने 'इंगलैंड में मज़दूर वर्ग की हालत' नामक अपनी रचना के दूसरे संस्करण की भूमिका में भी, जो १८९२ में प्रकाशित हुई थी, ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे।)

इससे कारण तथा परिणाम बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं। कारण ये हैं: (१) इस देश द्वारा पूरे विश्व का शोषण; (२) विश्व के बाज़ार में उसकी इजारेदार स्थिति; (३) उपनिवेशों पर उसकी इजारेदारी। परिणाम ये हैं: (१) ब्रिटिश सर्वहारा वर्ग का एक हिस्सा पूंजीवादी हो जाता है; (२) सर्वहारा वर्ग का एक हिस्सा ऐसे लोगों का नेतृत्व स्वीकार करता है जिन्हें पूंजीपति वर्ग ने यदि ख़रीद नहीं लिया है तो कम से कम वे उससे वेतन तो पाते ही हैं। बीसवीं शताब्दी के

---

* Briefwechsel von Marx und Engels (मार्क्स और एंगेल्स की चिट्ठी-पत्री), खण्ड २, पृष्ठ २९०; खण्ड ४, ४५३। Karl Kautsky, «*Sozialismus und Kolonialpolitik*», बर्लिन १९०७, पृष्ठ ७९; यह पुस्तिका काउत्स्की ने उस अत्यंत सुदूर अतीत में लिखी थी जब वह मार्क्सवादी ही थे।

आरंभ के साम्राज्यवाद ने मुट्ठी-भर ऐसे राज्यों के बीच दुनिया को पूरी तरह बांट लिया था, जिनमें से प्रत्येक आज "पूरी दुनिया" के उससे कुछ ही छोटे भाग का शोषण करता है (अर्थात् उनसे अतिलाभ कमाता है) जितने भाग का शोषण इंगलैंड १८५८ में करता था; इनमें से प्रत्येक राज्य को ट्रस्टों, कार्टेलों, वित्तीय पूंजी तथा क़र्ज़ देनेवालों और क़र्ज़ लेनेवालों के संबंधों की बदौलत विश्व के बाज़ार में इजारेदार का पद प्राप्त है, इनमें से प्रत्येक राज्य को कुछ हद तक औपनिवेशिक इजारेदारी हासिल है (हम देख चुके हैं कि **पूरे** औपनिवेशिक जगत की कुल ७,५०,००,००० वर्ग किलोमीटर भूमि में से ६,५०,००,००० वर्ग किलोमीटर, अर्थात् ८६ प्रतिशत भूमि पर छः ताक़तों का क़ब्ज़ा है; ६,१०,००,००० वर्ग किलोमीटर, अर्थात् ८१ प्रतिशत भूमि पर तीन ताक़तों का क़ब्ज़ा है)।

वर्तमान स्थिति की लाक्षणिक विशेषता यह है कि आज ऐसी आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का बोलबाला है जिनमें अवसरवाद और मज़दूर वर्ग के आंदोलन के आम तथा बुनियादी हितों के बीच मेल न बैठ सकने की प्रवृत्ति का बढ़ना अनिवार्य था: साम्राज्यवाद एक अंकुर से बढ़कर एक प्रभुत्वशाली व्यवस्था बन गया है; अर्थ-व्यवस्था तथा राजनीति में पूंजीवादी इजारेदारियों को प्रथम स्थान प्राप्त है; दुनिया का बंटवारा पूरा हो चुका है; दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि ग्रेट ब्रिटेन की अविभक्त इजारेदारी के बजाय अब कुछ साम्राज्यवादी ताक़तें इस इजारेदारी में हिस्सा बंटाने के अधिकार के लिए कोशिश कर रही हैं और यह संघर्ष बीसवीं शताब्दी के आरंभ के पूरे काल की लाक्षणिकता है। अब अवसरवाद कई दशाब्दियों तक एक देश के मज़दूर वर्ग के आंदोलन में पूर्णतः विजयी नहीं रह सकता, जैसा कि वह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड में था, परन्तु कई देशों में वह पक चुका है, आवश्यकता से अधिक पक चुका है और सड़ गया है और "सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद" के रूप में पूंजीवादी नीति के साथ घुलमिलकर बिल्कुल एक हो गया है।*

---

*रूसी सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद भी, उसका खुला रूप भी जिसका प्रतिनिधित्व पोत्रेसोव, छेन्केली, मास्लोव आदि जैसे लोग करते हैं और उसका छुपा-ढका रूप भी, जिसका प्रतिनिधित्व छेईद्ज़े, स्कोबेलेव, अक्सेलरोद, मारतोव आदि जैसे लोग करते हैं, अवसरवाद की रूसी क़िस्म से, अर्थात् विसर्जनवाद से, निकला था।

६. साम्राज्यवाद की आलोचना

व्यापक अर्थ में साम्राज्यवाद की आलोचना से हमारा अभिप्राय यह है कि समाज के विभिन्न वर्ग अपनी आम विचारधारा के प्रसंग में साम्राज्यवादी नीति की ओर क्या रवैया अपनाते हैं।

एक ओर तो थोड़े-से लोगों के हाथों में संकेंद्रित वित्तीय पूंजी का अपार विस्तार और उसके द्वारा संबंधों तथा सम्पर्कों के असाधारण रूप से विस्तृत तथा घने जाल की रचना के कारण, जो केवल छोटे और मंझोले ही नहीं बल्कि बहुत ही छोटे पूंजीपतियों और छोटे मालिकों को भी अपने अधीन कर लेता है, और दूसरी ओर दुनिया के बंटवारे तथा दूसरे देशों पर प्रभुत्व के लिए महाजनों के अन्य जातीय-राज्यीय गुटों के ख़िलाफ़ चलाये जानेवाले निरंतर उग्रतर होते हुए संघर्ष के कारण, सम्पत्तिवान वर्ग पूरी तरह साम्राज्यवाद के पक्ष में चले जाते हैं। साम्राज्यवाद के उज्ज्वल भविष्य के बारे में "आम" उत्साह, उसका दृढ़तम समर्थन तथा उसे सबसे आकर्षक रूप में पेश करना – ये हैं इस युग के लक्षण। साम्राज्यवादी विचारधारा मज़दूर वर्ग में भी प्रविष्ट हो जाती है। उसके और दूसरे वर्गों के बीच कोई चीनी दीवार नहीं होती। जर्मनी की आजकल की तथाकथित "सामाजिक-जनवादी" पार्टी के नेताओं को "सामाजिक-साम्राज्यवादी" ठीक ही कहा जाता है, अर्थात् जो बातें समाजवादियों जैसी करते हैं और काम साम्राज्यवादियों जैसे; परन्तु अबसे बहुत पहले १६०२ में ही हाबसन ने इंगलैंड में "फ़ेबियन साम्राज्यवादियों" के अस्तित्व को देख लिया था, जिनका संबंध अवसरवादी **'फ़ेबियन सोसायटी'**[154] से था।

पूंजीवादी विद्वान तथा लेखक आम तौर पर कुछ ढके-छुपे ढंग से साम्राज्यवाद की हिमायत करते हैं, वे उसके पूर्ण प्रभुत्व तथा उसकी गहरी जड़ों पर परदा डालने की कोशिश करते हैं, वे कुछ ख़ास बातों को और गौण महत्व की ब्योरे की बातों को ही सामने लाकर रखने की कोशिश करते हैं और "सुधार" की कुछ सर्वथा हास्यास्पद योजनाओं द्वारा, जैसे ट्रस्टों या बैंकों पर पुलिस की निगरानी आदि की योजनाओं द्वारा, बुनियादी बातों की ओर से ध्यान हटाने की कोशिश करते हैं। कभी-कभी ऐसे निर्लज्ज तथा बेधड़क साम्राज्यवादी सामने आते हैं जिनमें इस बात को स्वीकार करने का साहस होता है कि साम्राज्यवाद की बुनियादी लाक्षणिकताओं में सुधार करने का विचार बिल्कुल बेतुका है।

हम एक उदाहरण देंगे। 'विश्व अर्थतंत्र की पुरालेखशाला' नामक पत्रिका में जर्मन साम्राज्यवादियों ने उपनिवेशों में, ज़ाहिर है विशेषत: उन उपनिवेशों में जिनपर जर्मनी का क़ब्ज़ा नहीं है, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को देखने की कोशिश की है। वे भारत में असंतोष तथा विरोध आंदोलनों का, नाटाल (दक्षिणी अफ़्रीका), डच ईस्ट इंडीज़, आदि के आंदोलनों का उल्लेख करते हैं। उनमें से एक ने, विभिन्न पराधीन राष्ट्रों तथा जातियों—एशिया, अफ़्रीका तथा यूरोप की विदेशी शासन के अधीन जातियों—के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन की, जो २८-३० जून, १९१० को हुआ था, अंग्रेज़ी रिपोर्ट पर अपनी टीका में इस सम्मेलन में दिये गये भाषणों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है: "हमसे कहा जाता है कि हमें साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ना चाहिए; कि शासक राज्यों को पराधीन जातियों के स्वतंत्रता के अधिकार को स्वीकार करना चाहिए; कि बड़ी ताक़तों और कमज़ोर राष्ट्रों के बीच जो संधियां हों उनके परिपालन पर निगरानी रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय होना चाहिए। वे इस प्रकार की सुखद इच्छाएं व्यक्त करने से आगे नहीं बढ़ते। हम उसमें इस बात को समझने की कहीं झलक भी नहीं पाते कि साम्राज्यवाद का पूंजीवाद के वर्तमान रूप के साथ अटूट संबंध है और इसलिए(!!) साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ खुले संघर्ष के सफल होने की कोई आशा नहीं हो सकती, यदि संघर्ष कदाचित् केवल उसके कुछ विशेषत: घृणास्पद अत्याचारों के ख़िलाफ़ विरोध करने तक ही सीमित हो तो बात और है।"* चूंकि साम्राज्यवाद के आधार में सुधार करने की बात एक धोखा है, "एक कोरी इच्छा" है, चूंकि उत्पीड़ित राष्ट्रों के पूंजीवादी प्रतिनिधि इससे "और ज़्यादा" आगे नहीं बढ़ते, इसलिए एक उत्पीड़क राष्ट्र का पूंजीवादी प्रतिनिधि "और ज़्यादा" **पीछे की ओर** जाता है, "वैज्ञानिक" होने का दावा करने की आड़ में वह साम्राज्यवाद के तलुए सहलाने की ओर जाता है। सचमुच कमाल का "तर्क" है!

ये सवाल कि क्या साम्राज्यवाद के आधार में सुधार करना संभव है, क्या उन विरोधों को, जिन्हें वह जन्म देता है, और भी उग्र तथा गहरा बनाने की

---

* *Weltwirtschaftliches Archiv*, खण्ड २, पृष्ठ १९३।

ओर आगे बढ़ना चाहिए या इन विरोधों को शांत करने की दिशा में पीछे हटना चाहिए, साम्राज्यवाद की आलोचना में बुनियादी प्रश्न हैं। चूंकि हर क्षेत्र में प्रतिक्रिया और वित्तीय अल्पतंत्र द्वारा किये जानेवाले उत्पीड़न के फलस्वरुप राष्ट्रीय उत्पीड़न में वृद्धि और खुली प्रतियोगिता का अंत साम्राज्यवाद की विशिष्ट राजनीतिक विशेषताएं हैं इसलिए बीसवीं शताब्दी के आरंभ में लगभग सभी साम्राज्यवादी देशों में साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ निम्न-पूंजीवादी जनवादी विरोध आरंभ हुआ। और काउत्स्की का तथा व्यापक अंतर्राष्ट्रीय काउत्स्कीवादी विचारधारा का मार्क्सवाद का पक्ष छोड़कर भाग जाना ठीक इसी बात में व्यक्त होता है कि काउत्स्की ने न केवल इस निम्न-पूंजीवादी, सुधारवादी विरोध का, जो अपने आर्थिक आधार की दृष्टि से वास्तव में प्रतिक्रियावादी है, विरोध करने का कष्ट नहीं उठाया, न केवल वह इस विरोध का विरोध करने में असमर्थ रहे, बल्कि व्यवहार में वह उसमें विलीन हो गये।

स्पेन के विरुद्ध १८९८ में जो साम्राज्यवादी युद्ध चलाया गया था उसपर संयुक्त राज्य अमरीका में "साम्राज्य-विरोधियों" का विरोध भड़क उठा, जो पूंजीवादी जनवाद के अंतिम अवशेष थे, उन्होंने इस युद्ध को "अपराधपूर्ण" घोषित किया, विदेशी इलाक़ों पर आधिपत्य करके उन्हें अपने राज्य में मिला लेने को संविधान का उल्लंघन ठहराया, और वहां के फ़िलिपाइन के मूलनिवासियों के नेता अग्वीनाल्दो के साथ जो व्यवहार किया गया था (अमरीकियों ने पहले उन्हें उनके देश को स्वतंत्र कर देने का आश्वासन दिया, लेकिन बाद में वहां अपनी फ़ौजें उतार दीं और उसपर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया), उसे "अंधराष्ट्रवादी विश्वासघात" ठहराया और लिन्कन के शब्दों को उद्धृत करते हुए कहा: "जब गोरा आदमी अपने ऊपर शासन करता है तो वह स्वशासन होता है, लेकिन जब वह अपने ऊपर भी शासन करता है और दूसरों पर भी तब वह स्वशासन नहीं रह जाता, वह निरंकुश शासन बन जाता है।"* परन्तु जब तक यह आलोचना साम्राज्यवाद और ट्रस्टों के और इसलिए साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के आधारों के पारस्परिक अटूट संबंध को स्वीकार करने से कतराती रहेगी, जब तक वह

* J. Patouillet, «*L'impérialisme américain*», दिजोन १९०४, पृष्ठ २७२।

बड़े पैमाने के पूंजीवाद और उसके विकास द्वारा पैदा होनेवाली शक्तियों के साथ मिलने से कतराती रहेगी – तब तक वह एक "कोरी इच्छा" ही रहेगी।

हाबसन ने भी अपनी साम्राज्यवाद की आलोचना में मुख्यतः यही रवैया अपनाया है। हाबसन ने "साम्राज्यवाद की अनिवार्यता" वाली दलील का विरोध करके और जनता की "उपभोग-क्षमता को बढ़ाने" (पूंजीवाद के अंतर्गत!) की आवश्यकता पर ज़ोर देकर काउत्स्की के ही तर्कों को उससे पहले पेश कर दिया था। जिन लेखकों के हमने ऊपर अनेक बार उद्धरण दिये हैं, जैसे अगाह्द, अ० लैंसबर्ग, ल० अश्वेगे, और फ़्रांसीसी लेखकों में विक्टर बेरार जिनकी 'इंगलैंड तथा साम्राज्यवाद' नामक बहुत ही सतही रचना १६०० में प्रकाशित हुई थी, वे साम्राज्यवाद, बैंकों की सर्वशक्तिमानता, वित्तीय अल्पतंत्र आदि की आलोचना में निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। ये सभी लेखक, जो मार्क्सवादी होने का कोई दावा नहीं करते, साम्राज्यवाद को खुली प्रतियोगिता तथा जनवाद के मुक़ाबले पर खड़ा करते हैं, बगदाद रेलवे योजना की इसलिए निंदा करते हैं कि उससे झगड़े और युद्ध पैदा होते हैं, शांति की "सुखद कामनाएं" व्यक्त करते हैं, आदि। स्टाक तथा शेयर जारी करने से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय आंकड़ों के संकलनकर्ता अ० नेमार्क पर भी यही बात लागू होती है, जिन्होंने खरबों फ़्रांक की "अन्तर्राष्ट्रीय" प्रतिभूतियों का हिसाब लगाने के बाद १६१२ में आश्चर्य के साथ कहा, "क्या इस बात पर विश्वास करना संभव है कि शांति में विघ्न पड़ सकता है?.. इन बहुत बड़ी-बड़ी राशियों को देखते हुए, क्या कोई युद्ध छेड़ने का ख़तरा मोल लेगा?"*

पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों का यह भोलापन कोई आश्चर्य की बात नहीं है; बल्कि यह बताना कि वे इतने भोले हैं और साम्राज्यवाद के अंतर्गत शांति की बातें "गंभीरतापूर्वक" करना **उनके हित में** है। १६१४, १६१५ और १६१६ में जब काउत्स्की इसी पूंजीवादी-सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं कि शांति के सवाल पर "सभी लोग सहमत हैं" (साम्राज्यवादी, नामधारी समाजवादी और सामाजिक-शांतिवादी), तो उनमें मार्क्सवाद की क्या बात बाक़ी रह जाती है? साम्राज्यवाद का विश्लेषण करने और उसके विरोधों की गहराइयों का

---

* *Bulletin de l'Institut international de statistique*, खण्ड १६, ग्रंथ २, पृष्ठ २२५।

रहस्योद्घाटन करने के बजाय हम उन्हें टाल जाने, उनसे कतरा जाने की एक सुधारवादी "कोरी इच्छा" के अलावा और कुछ नहीं देखते हैं।

काउत्स्की द्वारा साम्राज्यवाद की आर्थिक आलोचना का एक नमूना देखिये। वह १८७२ तथा १९१२ में मिस्र के साथ ब्रिटेन के निर्यात तथा आयात व्यापार को लेते हैं। पता यह चलता है कि यह निर्यात तथा आयात व्यापार ब्रिटेन के कुल वैदेशिक व्यापार की तुलना में कम बढ़ा है। इससे काउत्स्की यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "हमारे लिए यह मान लेने का कोई कारण नहीं है कि सैनिक आधिपत्य के बिना केवल आर्थिक तत्वों की क्रिया के फलस्वरूप मिस्र के साथ ब्रिटेन के व्यापार में कम वृद्धि होती।" "पूंजी की फैलने की प्रवृत्ति को... साम्राज्यवाद के हिंसात्मक तरीक़ों से नहीं बल्कि शांतिपूर्ण जनवाद द्वारा सबसे अधिक प्रोत्साहन मिल सकता है।"*

काउत्स्की की यह दलील, जिसे उनके रूसी अलमबरदार (और सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों के रूसी संरक्षक) मि० स्पेक्तातोर हर सुर में दोहराते हैं, साम्राज्यवाद की काउत्स्कीवादी आलोचना का आधार है और इसलिए हमें उसपर अधिक विस्तारपूर्वक विचार करना चाहिए। हम सबसे पहले हिल्फ़र्डिंग का एक उद्धरण देंगे जिनके निष्कर्षों के बारे में काउत्स्की ने कई मौक़ों पर, और विशेष रूप से अप्रैल १९१५ में, यह कहा है कि उन्हें "लगभग सभी समाजवादी सिद्धांतवेत्ताओं ने एकमत होकर स्वीकार कर लिया है"।

हिल्फ़र्डिंग लिखते हैं, "यह सर्वहारा वर्ग का काम नहीं है कि वह स्वतंत्र व्यापार के बीते हुए युग की नीति तथा राज्य के प्रति विरोध की नीति के साथ अधिक प्रगतिशील पूंजीवादी नीति की तुलना करे। वित्तीय पूंजी की आर्थिक नीति के जवाब में, साम्राज्यवाद के जवाब में सर्वहारा वर्ग को स्वतंत्र व्यापार को नहीं बल्कि समाजवाद को पेश करना चाहिए। सर्वहारा नीति का लक्ष्य अब खुली प्रतियोगिता को पुनःस्थापित करने का आदर्श नहीं हो सकता है – जो कि अब एक

---

* Kautsky, «*Nationalstaat, imperialistischer Staat und Staatenbund*» (जातीय राज्य, साम्राज्यवादी राज्य और राज्यों का संघ – अनु०), नूरेनबर्ग १९१५, पृष्ठ ७२ तथा ७०।

प्रतिक्रियावादी आदर्श बन चुका है–बल्कि उसका लक्ष्य होना चाहिए पूंजीवाद के उन्मूलन द्वारा प्रतियोगिता का पूर्णतः अंत करना।"*

काउत्स्की ने वित्तीय पूंजी के युग में एक "प्रतिक्रियावादी आदर्श" का, "शांतिपूर्ण जनवाद" का, "केवल आर्थिक तत्वों की क्रिया" का समर्थन करके मार्क्सवाद के साथ अपना नाता तोड़ लिया, क्योंकि, **वस्तुगत दृष्टि से**, यह आदर्श हमें इजारेदार पूंजीवाद से पीछे की ओर, ग़ैर-इजारेदार पूंजीवाद की ओर खींच ले जाता है और यह एक सुधारवादी धोखेबाज़ी है।

मिस्र के साथ व्यापार (या किसी दूसरे उपनिवेश अथवा अर्ध-उपनिवेश के साथ) सैनिक आधिपत्य **के बिना,** साम्राज्यवाद के बिना तथा वित्तीय पूंजी के बिना "ज़्यादा बढ़ा होता"। इसका क्या मतलब है? यदि आम तौर पर इजारेदारियों के, वित्तीय पूंजी के "संबंधों" या जुए (अर्थात् इजारेदारी भी) के कारण या कुछ देशों के उपनिवेशों पर इजारेदारी आधिपत्य के कारण खुली प्रतियोगिता को सीमित न किया गया होता तो पूंजीवाद का विकास और भी तीव्र गति से होता?

काउत्स्की की दलील का और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता, और **यह** "अर्थ" निरर्थक है। यदि तर्क की दृष्टि से यह **मान भी लिया जाये** कि किसी भी प्रकार की इजारेदारी के बिना खुली प्रतियोगिता ने पूंजीवाद तथा व्यापार को और तीव्र गति से विकसित किया **होता**, तो क्या यह सच नहीं कि जितनी तेज़ी से व्यापार तथा पूंजीवाद का विकास होता है उतना ही उत्पादन तथा पूंजी का संकेंद्रण भी बढ़ता है, जो इजारेदारी को **जन्म देता है**? और इजारेदारियों का जन्म **हो चुका है**–ठीक इसी खुली प्रतियोगिता **में से**! यदि इजारेदारियां अब प्रगति की रफ़्तार को धीमा करने लगी हैं तो यह खुली प्रतियोगिता के पक्ष में कोई दलील नहीं है, जो इजारेदारियों को पैदा कर चुकने के बाद अब असंभव हो गयी है।

हम काउत्स्की की दलील को चाहे जिस तरफ़ से उलट-पुलट कर देखें, हम उसमें प्रतिक्रिया तथा पूंजीवादी सुधारवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं पायेंगे।

यदि हम इस दलील को ठीक भी कर दें और स्पेक्तातोर की तरह कहें

---

*'वित्तीय पूंजी', पृष्ठ ५६७।

कि इंगलैंड के साथ ब्रिटिश उपनिवेशों का व्यापार और देशों के साथ उनके व्यापार की तुलना में अब ज़्यादा धीमी रफ़्तार से बढ़ रहा है, तब भी काउत्स्की का बचाव नहीं होता, क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन को इजारेदारी **ही**, साम्राज्यवाद **ही** नीचा दिखा रहा है, अंतर केवल यह है कि वह इजारेदारी और साम्राज्यवाद दूसरे देश के (अमरीका, जर्मनी के) हैं। यह बात विदित है कि कार्टेलों ने एक नये तथा अनोखे क़िस्म के संरक्षणात्मक महसूलों को जन्म दिया है, अर्थात् जो माल निर्यात के लिए उपयुक्त होता है उसे संरक्षण दिया जाता है (एंगेल्स ने 'पूंजी' के तीसरे खंड में इस बात का उल्लेख किया है)। यह भी विदित है कि कार्टेलों की तथा वित्तीय पूंजी की अपनी एक निराली पद्धति होती है, "बहुत ही सस्ते दामों पर माल का निर्यात करना," जिसे अंग्रेज़ "माल से पाट देना" कहते हैं: अपने देश में तो कार्टेल चीज़ों को बहुत ऊंची इजारेदारी क़ीमतों पर बेचता है, लेकिन उसी चीज़ को विदेशों में वह अपने प्रतियोगियों का पत्ता काटने, स्वयं अपना उत्पादन अधिकतम बढ़ाने आदि के लिए बहुत ही कम क़ीमतों पर बेचता है। यदि ब्रिटिश उपनिवेशों के साथ जर्मनी का व्यापार ग्रेट ब्रिटेन के व्यापार की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी से बढ़ रहा है तो इससे केवल यही सिद्ध होता है कि जर्मन साम्राज्यवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तुलना में अधिक अल्पवयस्क, अधिक बलवान तथा अधिक सुसंगठित है, वह उससे श्रेष्ठतर है, परन्तु इससे स्वतंत्र व्यापार की "श्रेष्ठता" हरगिज़ सिद्ध नहीं होती क्योंकि यह स्वतंत्र व्यापार और संरक्षण तथा औपनिवेशिक निर्भरता की नहीं बल्कि दो प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादों की, दो इजारेदारियों की, वित्तीय पूंजी के दो दलों की लड़ाई है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मुक़ाबले में जर्मन साम्राज्यवाद की श्रेष्ठता औपनिवेशिक हदबंदियों या संरक्षणात्मक महसूलों की दीवार से अधिक शक्तिशाली है: इस बात को स्वतंत्र व्यापार तथा "शांतिपूर्ण जनवाद" **के पक्ष में** एक "दलील" के रूप में इस्तेमाल करना बहुत ही घटिया बात है, इसका मतलब है साम्राज्यवाद की मूलभूत विशेषताओं तथा लाक्षणिकताओं को भूल जाना, मार्क्सवाद का स्थान निम्न-पूंजीवादी सुधारवाद को दे देना।

यह बात दिलचस्प है कि अ० लैंसबर्ग जैसा पूंजीवादी अर्थशास्त्री भी, जिसकी साम्राज्यवाद की आलोचना उतनी ही निम्न-पूंजीवादी ढंग की है जितनी काउत्स्की की आलोचना, व्यापार-संबंधी आंकड़ों के अधिक वैज्ञानिक अध्ययन के

ज़्यादा निकट पहुंच गया। उन्होंने अललटप्प किसी एक देश को और केवल एक उपनिवेश को चुनकर उसकी तुलना अन्य देशों के साथ नहीं की; उन्होंने एक साम्राज्यवादी देश के निर्यात व्यापार के बारे में इस प्रकार छानबीन की: (१) उन देशों के साथ उसका व्यापार जो वित्तीय दृष्टि से उसपर निर्भर हैं, जो उससे पैसा उधार लेते हैं; और (२) उन देशों के साथ उसका व्यापार जो वित्तीय दृष्टि से स्वतंत्र हैं। उन्हें ये आंकड़े प्राप्त हुए:

जर्मनी का निर्यात व्यापार

(लाख मार्कों में)

		१८८९	१९०८	प्रतिशत वृद्धि
उन देशों को जो वित्तीय दृष्टि से जर्मनी पर निर्भर हैं:	रूमानिया	४८२	७०८	४७
	पुर्तगाल	१९०	३२८	७३
	अर्जेन्टाइना	६०७	१,४७०	१४३
	ब्राज़ील	४८७	८४५	७३
	चिली	२८३	५२४	८५
	तुर्की	२९९	६४०	११४
	कुल . . .	२,३४८	४,५१५	९२
उन देशों को जो वित्तीय दृष्टि से जर्मनी पर निर्भर नहीं हैं:	ग्रेट ब्रिटेन	६,५१८	९,९७४	५३
	फ़्रांस	२,१०२	४,३७९	१०८
	बेलजियम	१,३७२	३,२२८	१३५
	स्विट्ज़रलैंड	१,७७४	४,०११	१२७
	आस्ट्रेलिया	२१२	६४५	२०५
	डच ईस्ट इंडीज़ . .	८८	४०७	३६३
	कुल . . .	१२,०६६	२२,६४४	८७

लैंसबर्ग ने **कोई निष्कर्ष** नहीं निकाले और इसलिए, यह आश्चर्य की बात है, वह यह नहीं देख पाये कि **यदि** आंकड़ों से कुछ सिद्ध होता है तो यही सिद्ध होता है कि वह **ग़लती** पर हैं, क्योंकि उन देशों की अपेक्षा जो वित्तीय

दृष्टि से स्वतंत्र हैं उन देशों को, जो वित्तीय दृष्टि से जर्मनी पर निर्भर हैं, निर्यात **ज्यादा तेज़ी से** बढ़ा है, भले ही अंतर बहुत थोड़ा है। (हमने "यदि" शब्द पर ज़ोर इसलिए दिया है कि लैंसबर्ग के आंकड़े बहुत अधूरे हैं।)

निर्यात और ऋणों के पारस्परिक संबंध का पता लगाते हुए लैंसबर्ग लिखते हैं:

"१८९०-९१ में जर्मनी के बैंकों की मारफ़त रूमानिया के लिए क़र्ज़ जुटाया गया, जिन्होंने इस क़र्ज़ में से इससे पहले ही के वर्षों में पेशगी रक़म दे रखी थी। यह क़र्ज़ मुख्यतः जर्मनी में रेलों का सामान ख़रीदने के लिए था। १८९१ में जर्मनी ने रूमानिया को ५,५०,००,००० मार्क का माल निर्यात किया। अगले वर्ष यह रक़म गिरकर ३,९४,००,००० मार्क, और कुछ उतार-चढ़ावों के बाद १९०० में २,५४,००,००० मार्क रह गयी। अभी पिछले कुछ वर्षों में जाकर दो नये ऋणों की बदौलत यह निर्यात फिर १८९१ के स्तर पर पहुंच पाया है।

"१८८८-८९ के ऋणों के बाद पुर्तगाल को जर्मनी से भेजे जानेवाले माल की क़ीमत बढ़ते-बढ़ते (१८९० में) २,११,००,००० हो गयी; फिर इसके बाद के दो वर्षों में वह घटते-घटते १,६२,००,००० और ७४,००,००० रह गयी और १९०३ में जाकर फिर अपने पिछले स्तर पर पहुंच गयी।

"अर्जेन्टाइना के साथ जर्मनी के व्यापार के आंकड़े और भी सारगर्भित हैं। १८८८ और १८९० में जुटाये गये ऋणों के बाद अर्जेन्टाइना को जर्मनी का निर्यात १८८९ में ६,०७,००,००० मार्क तक पहुंच गया। दो वर्ष बाद यह निर्यात केवल १,८६,००,००० मार्क तक ही पहुंचा, अर्थात् पिछली राशि की तुलना में तिहाई से भी कम। १९०१ में जाकर ही निर्यात १८८९ के स्तर तक पहुंच गया तथा उससे बढ़ सका और वह भी राज्य तथा नगरपालिकाओं द्वारा जुटाये गये ऋणों की बदौलत, बिजली के सामानों के कारख़ाने बनाने के लिए पेशगी देकर और ऋणों के अन्य लेन-देन के कारण।

"१८८९ के ऋण के कारण चिली को होनेवाला निर्यात बढ़कर (१८९२ में) ४,५२,००,००० मार्क तक पहुंच गया, और एक वर्ष बाद घटकर फिर २,२५,००,००० मार्क रह गया। १९०६ में जर्मनी के बैंकों ने चिली के लिए

फिर नया ऋण जुटाया जिसके बाद १९०७ में निर्यात बढ़कर ८,४७,००,००० मार्क तक पहुंच गया, लेकिन १९०८ में फिर घटकर ५,२४,००,००० मार्क रह गया।"*

इन तथ्यों से लैंसबर्ग यह दिलचस्प निम्न-पूंजीवादी ढंग का निष्कर्ष निकालते हैं कि निर्यात व्यापार जब ऋणों के साथ बंधा रहता है तो वह कितना अस्थायी और अनियमित होता है, अपने देश के उद्योगों को "स्वाभाविक ढंग से" तथा "सामंजस्यपूर्वक" विकसित करने के बजाय विदेशों में पूंजी लगाना कितना बुरा होता है, विदेशों के लिए ऋण जुटाने में क्रुप्प को जो करोड़ों की बख़्शीश देनी पड़ती है वह कितनी "महंगी" बैठती है, आदि। परन्तु इन तथ्यों से हमें साफ़-साफ़ पता चलता है कि निर्यात में वृद्धि का संबंध वित्तीय पूंजी के **ठीक इन्हीं** जालबट्टों से है। उसे पूंजीवादी नैतिकता की फ़िक्र नहीं होती बल्कि फ़िक्र होती है दोहरी कमाई की – पहले तो वह ऋण से होनेवाला मुनाफ़ा हड़प कर जाती है, फिर जब ऋण लेनेवाला **उसी** ऋण से क्रुप्प से माल ख़रीदता है या स्टील सिंडीकेट से रेलों का सामान आदि ख़रीदता है तो वह इस व्यापार से होनेवाला मुनाफ़ा भी हड़प कर लेती हैं।

हम एक बार फिर कहते हैं कि हम किसी भी प्रकार लैंसबर्ग के आंकड़ों को दोषरहित नहीं समझते, पर हमें उनको इसलिए उद्धृत करना पड़ा कि वे काउत्स्की तथा स्पेक्तातोर के आंकड़ों की अपेक्षा अधिक विज्ञानसंगत हैं और इसलिए कि लैंसबर्ग ने इस समस्या पर विचार करने का सही तरीक़ा दिखाया। निर्यात आदि के प्रसंग में वित्तीय पूंजी के महत्व पर विचार करते समय हमें और बातों से अलग इस बात का पता लगाना चाहिए कि निर्यात का विशेषतः तथा शुद्धतः महाजनों की तिकड़मों के साथ, विशेषतः तथा शुद्धतः कार्टेलों द्वारा माल की बिक्री आदि के साथ क्या संबंध है। केवल उपनिवेशों की तुलना ग़ैर-उपनिवेशों के साथ, एक साम्राज्यवाद की दूसरे साम्राज्यवाद के साथ, एक अर्ध-उपनिवेश या उपनिवेश (मिस्र) की अन्य सभी देशों के साथ करने का मतलब इस प्रश्न के असली **निचोड़** से कतराना और उसपर परदा डालना है।

---

* *«Die Bank»*, १९०९, २, पृष्ठ ८१९ तथा उसके बाद के पृष्ठ।

काउत्स्की की साम्राज्यवाद की सैद्धांतिक ग्रालोचना ग्रौर मार्क्सवाद के बीच कोई समानता नहीं है ग्रौर वह केवल ग्रवसरवादियों तथा सामाजिक-ग्रंधराष्ट्रवादियों के साथ शांति तथा एकता का प्रचार करने की केवल एक भूमिका मात्र है, इसका कारण ठीक यही है कि वह साम्राज्यवाद के बहुत गहरे तथा ग्राधारभूत विरोधों से कतराती है तथा उनपर परदा डालती है। ये विरोध हैं: इजारेदारी ग्रौर उसके साथ ही साथ ग्रस्तित्व में रहनेवाली खुली प्रतियोगिता का पारस्परिक विरोध, वित्तीय पूंजी के विशाल पैमाने के "सौदों" (ग्रौर विशाल मुनाफ़ों) तथा खुले बाज़ार में "ईमानदारी के" व्यापार का पारस्परिक विरोध, एक ग्रोर कार्टेलों तथा ट्रस्टों ग्रौर दूसरी ग्रोर कार्टेलों से मुक्त उद्योगों का पारस्परिक विरोध, ग्रादि।

काउत्स्की ने "ग्रति-साम्राज्यवाद" के जिस कुख्यात सिद्धांत का ग्राविष्कार किया है वह भी इतना ही प्रतिक्रियावादी है। इस विषय में उन्होंने १६१५ में जो तर्क दिये हैं उनकी तुलना १६०२ में हाबसन द्वारा दिये गये तर्कों के साथ करके देखिये।

काउत्स्की: "...क्या यह नहीं हो सकता कि वर्तमान साम्राज्यवादी नीति का स्थान एक नयी, ग्रति-साम्राज्यवादी नीति ले ले, जो राष्ट्रीय वित्तीय पूंजियों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के बजाय ग्रन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकबद्ध वित्तीय पूंजी द्वारा दुनिया का मिलकर शोषण करने की पद्धति लागू करे? पूंजीवाद की इस नयी ग्रवस्था की कम से कम कल्पना तो की ही जा सकती है। क्या यह ग्रवस्था प्राप्त की जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ग्रभी हमारे पास काफ़ी ग्राधारभूत तथ्य नहीं हैं।"*

हाबसन: "बहुत-से लोगों का ऐसा विचार है कि वर्तमान प्रवृत्तियों की सबसे न्यायसंगत परिणति यह होगी कि ईसाई-जगत इस प्रकार कुछ बड़े-बड़े संघात्मक साम्राज्यों में विभाजित हो जाये, जिनमें से हर एक के ग्रधीन कुछ ग्रसभ्य परतंत्र देश हों, ग्रौर यह एक ऐसी बात होगी जिससे ग्रंतर-साम्राज्यवाद के ग्राश्वस्त ग्राधार पर स्थायी शांति की सबसे ग्रधिक ग्राशा की जा सकती है।"

जिस चीज़ को हाबसन ने तेरह वर्ष पहले ग्रंतर-साम्राज्यवाद कहा था

---

* «*Neue Zeit*», ३० ग्रप्रैल, १६१५, पृष्ठ १४४।

उसी को काउत्स्की ने अति-साम्राज्यवाद या महा-साम्राज्यवाद कहा। एक नया और चुस्त आकर्षक शब्द गढ़ लेने के अतिरिक्त, जिसमें एक उपसर्ग के स्थान पर दूसरा उपसर्ग रख दिया गया है, काउत्स्की ने "वैज्ञानिक" विचारों के क्षेत्र में जो एकमात्र प्रगति की है वह यह कि हाबसन ने जिस चीज़ का वर्णन अंग्रेज़ पादरियों के धर्मोपदेश के रूप में किया था उसे उन्होंने मार्क्सवाद कहकर प्रस्तुत किया है। अंग्रेज़-बोएर युद्ध के बाद इस अत्यंत सम्मानित बिरादरी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह ब्रिटिश मध्यम वर्ग के उन लोगों को तथा उन मज़दूरों को **सांत्वना** देने की पूरी कोशिश करे जिनके बहुत-से सगे-संबंधी दक्षिणी अफ़्रीका के रणक्षेत्र में मारे गये थे और जिन्हें और अधिक टैक्स देने पर मजबूर किया जा रहा था ताकि ब्रिटिश महाजनों के लिए और अधिक मुनाफ़ा सुनिश्चित हो सके। और इस सिद्धांत से बढ़कर सांत्वना और क्या हो सकती थी कि साम्राज्यवाद इतना बुरा नहीं है, कि वह अंतर- (या अति-) साम्राज्यवाद के बहुत निकट है जिससे स्थायी शांति सुनिश्चित हो सकती है? अंग्रेज़ पादरियों या भावुक काउत्स्की की सदिच्छाएं कुछ भी रही हों पर काउत्स्की के "सिद्धांत" का जो एकमात्र वस्तुगत, अर्थात्, असली सामाजिक महत्व हो सकता है वह यह है कि वह आम जनता का ध्यान वर्तमान युग के तीव्र विरोधों तथा उग्र समस्याओं की ओर से हटाकर तथा उसे भविष्य में आनेवाले कल्पित "अति-साम्राज्यवाद" की भ्रममूलक संभावना की ओर निर्देशित करके उसे पूंजीवाद के अंतर्गत स्थायी शांति के संभव होने की आशाओं से सांत्वना देने का एक अत्यंत प्रतिक्रियावादी तरीक़ा है। जनता को धोखा देना – काउत्स्की के "मार्क्सवादी" सिद्धांत में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

वास्तव में यदि हम सुविदित तथा अकाट्य तथ्यों की तुलना भर कर लें तो हमें विश्वास हो जायेगा कि काउत्स्की जर्मन मज़दूरों के सामने (और सभी देशों के मज़दूरों के सामने) जिन संभावनाओं का आकर्षक चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं वे कितनी झूठी हैं। भारत, हिंद-चीन तथा चीन का उदाहरण ले लीजिये। यह विदित है कि ये तीन औपनिवेशिक तथा अर्ध-औपनिवेशिक देश, जिनकी कुल आबादी साठ से सत्तर करोड़ तक है, कई साम्राज्यवादी ताक़तों की – ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस, जापान, संयुक्त राज्य अमरीका आदि की – वित्तीय पूंजी के शोषण का शिकार हैं। मान लीजिये कि ये साम्राज्यवादी देश

इन एशियाई राज्यों में अपने अधिकृत क्षेत्रों, अपने हितों और अपने "प्रभाव-क्षेत्रों" की रक्षा करने या उन्हें बढ़ाने के उद्देश्य से एक-दूसरे के ख़िलाफ़ गंठजोड़ कर लेते हैं; ये गंठजोड़ "अंतर-साम्राज्यवादी" अथवा "अति-साम्राज्यवादी" गंठजोड़ होंगे। मान लीजिये कि **सभी** साम्राज्यवादी देश एशिया के इन भागों का "शांतिपूर्वक" बंटवारा कर लेने के लिए आपस में गंठजोड़ कर लेते हैं; यह गंठजोड़ "अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर एकबद्ध वित्तीय पूंजी" का गंठजोड़ होगा। बीसवीं शताब्दी के इतिहास में इस प्रकार के गंठजोड़ों के वास्तविक उदाहरण मिलते हैं, जैसे चीन की ओर बड़ी ताक़तों का रवैया। हम पूछते हैं कि यदि हम इस बात को मान भी लें कि पूंजीवादी व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहेगी—और काउत्स्की ने इस बात को मान लिया है—तो क्या इस बात की "कल्पना की जा सकती" है कि इस प्रकार के गंठजोड़ अस्थायी नहीं होंगे, कि वे हर प्रकार के टकरावों, झगड़ों तथा संघर्षों को ख़त्म कर देंगे?

इस प्रश्न को स्पष्ट रूप से पेश कर देना ही इस बात के लिए काफ़ी है कि उसका नहीं के अलावा और कोई उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि पूंजीवाद के अंतर्गत प्रभाव-क्षेत्रों, हितों, उपनिवेशों आदि के बंटवारे के लिए इस बंटवारे में भाग लेनेवालों की **ताक़त**, उनकी आम आर्थिक, वित्तीय, सैनिक ताक़त का हिसाब लगाने के अतिरिक्त और किसी दूसरे आधार की कल्पना **नहीं** की जा सकती। और विभाजन में भाग लेनेवालों की ताक़त में समान रूप से परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि पूंजीवाद के अंतर्गत विभिन्न कारख़ानों, ट्रस्टों, उद्योगों की शाखाओं या देशों का **समान** विकास असंभव है। अबसे पचास वर्ष पहले इंगलैंड की उस समय की ताक़त की तुलना में जर्मनी अपनी पूंजीवादी ताक़त की दृष्टि से एक बहुत ही कमज़ोर तथा नगण्य देश था; रूस की तुलना में जापान की यही हालत थी। क्या इस बात की "कल्पना की जा सकती" है कि दस या बीस वर्षों में साम्राज्यवादी ताक़तों की आपेक्षित शक्ति में कोई परिवर्तन **न** हुआ होता? कदापि नहीं।

इसलिए अंग्रेज़ पादरियों या जर्मन "मार्क्सवादी" काउत्स्की की ओछी कूपमंडूकों जैसी कल्पनाओं में नहीं बल्कि पूंजीवादी व्यवस्था की वास्तविकताओं में "अंतर-साम्राज्यवादी" अथवा "अति-साम्राज्यवादी" गंठजोड़—उनका रूप कुछ भी हो, चाहे वह एक साम्राज्यवादी गंठजोड़ के ख़िलाफ़ दूसरे गंठजोड़ के

रूप में हो या **सभी** साम्राज्यवादी ताक़तों के आम गंठजोड़ के रूप में हो— **अ**निवार्यतः युद्धों के बीच के कालों में "युद्ध-विराम" से ज़्यादा और कुछ नहीं होते। शांतिपूर्ण गंठजोड़ युद्धों के लिए ज़मीन तैयार करते हैं और स्वयं भी इन्हीं युद्धों में से उत्पन्न होते हैं, एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और विश्व अर्थ-व्यवस्था तथा विश्व राजनीति के भीतर साम्राज्यवादी बंधनों तथा संबंधों के **उसी एक ही** आधार में से संघर्ष के शांतिपूर्ण तथा अ-शांतिपूर्ण रूपों को बारी-बारी से जन्म देते हैं। परन्तु मज़दूरों को शांत करने के लिए और उन सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों के साथ उनका मेल करा देने के उद्देश्य से, जो भागकर पूंजीपति वर्ग में जा मिले हैं, बुद्धिमान काउत्स्की एक ही श्रृंखला की एक कड़ी को दूसरी कड़ी से **अलग कर देते हैं**, चीन को "शांत करने" (बाक्सर विद्रोह[155] की याद कीजिये) के लिए **सभी** ताक़तों के वर्तमान शांतिपूर्ण (और अति-साम्राज्यवादी, बल्कि अति-अति-साम्राज्यवादी) गंठजोड़ को कल होनेवाले उस अ-शांतिपूर्ण झगड़े से अलग कर देते हैं, जो शायद परसों तुर्की के बंटवारे के लिए एक दूसरे "शांतिपूर्ण" आम गंठजोड़ के लिए ज़मीन तैयार करेगा, **आदि, आदि**। साम्राज्यवादी शांति के कालों तथा साम्राज्यवादी युद्ध के कालों के बीच जो सजीव संबंध है उसे बताने के बजाय काउत्स्की मज़दूरों के सामने एक निष्प्राण अमूर्त विचार रखते हैं ताकि उनके निष्प्राण नेताओं से उनका मेल करा दें।

हिल नामक एक अमरीकी लेखक ने अपनी 'यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय विकास में कूटनीति का इतिहास' नामक रचना की भूमिका में कूटनीति के आधुनिक इतिहास के निम्नलिखित काल बताये हैं: (१) क्रांति का युग; (२) सांविधानिक आंदोलन; (३) "वाणिज्यिक साम्राज्यवाद" का वर्तमान युग।* एक दूसरे लेखक ने १८७० से ग्रेट ब्रिटेन की "विश्व नीति" के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया है: (१) प्रथम एशियाई युग (मध्य एशिया में भारत की दिशा में रूस की प्रगति के ख़िलाफ़ संघर्ष); (२) अफ़्रीकी युग (लगभग १८८५-१९०२): अफ़्रीका के बंटवारे के लिए फ़्रांस के ख़िलाफ़ संघर्ष का युग (१८९८ का "फ़शोदा कांड" जिसमें फ़्रांस के साथ

---

* David Jayne Hill, «*A History of the Diplomacy in the International Development of Europe*», खंड १, पृष्ठ १०।

उसका युद्ध होते-होते बचा); (३) दूसरा एशियाई युग (रूस के ख़िलाफ़ जापान के साथ गंठजोड़) और "यूरोपीय" युग, मुख्यत: जर्मन-विरोधी।* इटली में कारोबार करनेवाली फ़्रांसीसी वित्तीय पूंजी किस प्रकार इन देशों के राजनीतिक गंठजोड़ के लिए रास्ता साफ़ कर रही थी, और किस प्रकार फ़ारस के सवाल पर जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच और चीनी ऋणों के सवाल पर सभी यूरोपीय पूंजीपतियों के बीच एक झगड़ा पैदा हो रहा था, आदि आदि बातों का हवाला देते हुए "बैंकपति" रीसेर ने १९०५ में लिखा कि "सैनिक चौकियों की राजनीतिक झड़पें वित्तीय क्षेत्र में होती हैं"। देखिये, यह है साधारण साम्राज्यवादी झगड़ों के अभिन्न प्रसंग में शांतिपूर्ण "अति-साम्राज्यवादी" गंठजोड़ों की सजीव वास्तविकता।

काउत्स्की साम्राज्यवाद के सबसे गहरे विरोधों पर जो परदा डालते हैं, वह अनिवार्य रूप से साम्राज्यवाद पर मुलम्मा चढ़ाने का रूप धारण कर लेता है, उसकी छाप इस लेखक की साम्राज्यवाद की राजनीतिक विशेषताओं की आलोचना पर भी दिखायी देती है। साम्राज्यवाद वित्तीय पूंजी तथा इजारेदारियों का युग है, जो हर जगह स्वतंत्रता की भावना को नहीं बल्कि प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा को जन्म देता है। इन प्रवृत्तियों का परिणाम यह होता है कि हर क्षेत्र में, उसकी राजनीतिक व्यवस्था कुछ भी हो, प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और इस क्षेत्र में भी मौजूदा विरोध अत्यंत उग्र रूप धारण कर लेते हैं। जातीय उत्पीड़न का भार तथा दूसरों के इलाक़े को अपने राज्य में मिला लेने की चेष्टा, अर्थात् जातीय स्वतंत्रता का हनन (क्योंकि दूसरों के इलाक़े को अपने राज्य में मिला लेने का मतलब जातियों के आत्म-निर्णय के अधिकार के उल्लंघन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता है) विशेष रूप से उग्र रूप धारण कर लेते हैं। हिल्फ़र्डिंग ने साम्राज्यवाद तथा जातीय उत्पीड़न के उग्र होने के पारस्परिक संबंध को ठीक पहचाना है। वह लिखते हैं, "जिन देशों के मार्ग अभी नये-नये खुले हैं उनमें बाहर से आनेवाली पूंजी विरोधों को गहरा बना देती है और बाहर से आकर हस्तक्षेप करनेवालों के ख़िलाफ़ उन देशों की जनता के निरंतर बढ़ते हुए विरोध को जन्म देती है क्योंकि जनता में जातीय चेतना आने लगती

---

* शिल्दर, पहले उद्धृत की गयी पुस्तक, पृष्ठ १७८।

है; यह विरोध विदेशी पूंजी के ख़िलाफ़ ग्रासानी से ख़तरनाक रूप धारण कर सकता है। पुराने सामाजिक संबंधों में पूर्णतः एक क्रांतिकारी परिवर्तन ग्रा जाता है, 'इतिहास रहित राष्ट्रों' का युगों पुराना कृषि पर ग्राधारित पार्थक्य नष्ट हो जाता है ग्रौर वे खिंचकर पूंजीवाद के भंवर में ग्रा जाते हैं। पूंजीवाद स्वयं पराधीन जातियों को उनकी मुक्ति के साधन तथा उपाय प्रदान करता है ग्रौर वे उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ग्रग्रसर होती हैं जो किसी समय यूरोपीय राष्ट्रों को सर्वोपरि लक्ष्य प्रतीत होता था: ग्रार्थिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता के माध्यम के रूप में एक संयुक्त जातीय राज्य की रचना। जातीय स्वतंत्रता का यह ग्रांदोलन यूरोपीय पूंजी के लिए उसके शोषण के सबसे बहुमूल्य तथा सबसे ग्राशाप्रद क्षेत्रों में एक ख़तरा बन जाता है ग्रौर यूरोपीय पूंजी ग्रपने प्रभुत्व को केवल ग्रपने सैन्य-बल में निरंतर वृद्धि करके ही क़ायम रख सकती है।"*

इसके साथ ही यह ग्रौर कह देना चाहिए कि नये देशों में ही नहीं बल्कि पुराने देशों में भी साम्राज्यवाद दूसरों के इलाक़े को ग्रपने राज्य में मिलाने की दिशा में, जातीय उत्पीड़न को बढ़ाने की दिशा में जा रहा है ग्रौर फलस्वरूप उसके ख़िलाफ़ विरोध भी बढ़ रहा है। काउत्स्की इस बात पर तो ग्रापत्ति करते हैं कि साम्राज्यवाद राजनीतिक प्रतिक्रिया को बल देता है, पर वह एक ऐसे प्रश्न को बिल्कुल ग्रंधकार में छोड़ देते हैं, जो विशेषतः तात्कालिक महत्व का हो गया है, ग्रर्थात् यह प्रश्न कि साम्राज्यवाद के युग में ग्रवसरवादियों के साथ एकता ग्रसंभव है। वह दूसरों के इलाक़े को ग्रपने राज्य में मिलाने पर ग्रापत्ति तो करते हैं पर वह ग्रपनी इस ग्रापत्ति को ऐसे रूप में व्यक्त करते हैं जो ग्रवसरवादियों के लिए सबसे ग्रधिक स्वीकार्य तथा सबसे कम ग्रापत्तिजनक हो। वह जर्मन पाठकों को संबोधित करते हैं, पर सबसे सामयिक तथा सबसे महत्वपूर्ण बात पर परदा डाल देते हैं, उदाहरण के लिए, जर्मनी का ग्रलसेस-लोरेन को ग्रपने राज्य में मिला लेना। काउत्स्की के इस "मानसिक विकार" का मूल्यांकन करने के लिए हम निम्नलिखित उदाहरण लेंगे। मान लीजिये, कोई जापानी फ़िलिपाइन पर ग्रमरीका के ग्राधिपत्य की निंदा कर रहा है। सवाल यह है: क्या बहुत-से लोग इस बात पर विश्वास करेंगे कि

---

* 'वित्तीय पूंजी', पृष्ठ ४८७।

वह केवल इसलिए ऐसा कर रहा है कि उसे इस बात से नफ़रत है कि कोई किसी दूसरे के इलाक़े पर आधिपत्य जमाये, और इसलिए नहीं कि वह स्वयं फ़िलिपाइन को अपने राज्य में मिलाना चाहता है? और क्या हम इस बात को मानने पर मजबूर नहीं होंगे कि वह जापानी दूसरों के इलाक़े को अपने राज्य में मिलाने के ख़िलाफ़ जो "संघर्ष" कर रहा है उसे सच्चा और राजनीतिक दृष्टि से ईमानदार तभी समझा जा सकता है जब वह कोरिया पर जापान के आधिपत्य के ख़िलाफ़ भी लड़े और यह मांग करे कि कोरिया को जापान से अलग हो जाने की आज़ादी हो?

काउत्स्की का साम्राज्यवाद का सैद्धांतिक विश्लेषण और उनकी साम्राज्यवाद की आर्थिक तथा राजनीतिक आलोचना दोनों ही की **नस-नस में** साम्राज्यवाद के आधारभूत विरोधों पर परदा डालने तथा उन्हें टाल जाने की एक ऐसी भावना और यूरोप के मज़दूर वर्ग के आंदोलन में अवसरवाद के साथ छिन्न-भिन्न होती हुई एकता को हर क़ीमत पर सुरक्षित रखने की एक ऐसी चेष्टा समायी हुई है जिसका मार्क्सवाद के साथ कभी मेल नहीं बैठ सकता।

१०. इतिहास में साम्राज्यवाद का स्थान

हम देख चुके हैं कि सारतः साम्राज्यवाद इजारेदार पूंजीवाद है। यह बात स्वयं इतिहास में उसके स्थान को निर्धारित करती है क्योंकि इजारेदारी, जो खुली प्रतियोगिता की भूमि पर, और खुली प्रतियोगिता से ही पैदा होती है, वह पूंजीवादी व्यवस्था से एक उच्चतर सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में संक्रमण की द्योतक है। हमें इजारेदारी के चार मुख्य स्वरूपों को, या इजारेदार पूंजीवाद की उन चार मुख्य अभिव्यक्तियों को विशेष रूप से दृष्टिगत रखना चाहिए जो विचाराधीन युग की लाक्षणिकताएं हैं।

पहली बात, इजारेदारी उत्पादन के संकेंद्रण के विकास की एक बहुत ऊंची अवस्था में जाकर उत्पन्न हुई। इसका संबंध इजारेदार पूंजीवादी संघों, कार्टेलों, सिंडीकेटों तथा ट्रस्टों से है। हम देख चुके हैं कि इनकी वर्तमान आर्थिक जीवन में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में इजारेदारियों ने उन्नत देशों में अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और यद्यपि कार्टेलों

के संगठन की दिशा में पहले क़दम सबसे पहले उन देशों में उठाये गये जिन्हें ऊंचे महसूलों का संरक्षण प्राप्त था (जर्मनी, अमरीका), पर ग्रेट ब्रिटेन में भी, जहां खुले व्यापार की पद्धति प्रचलित थी, यही मूलभूत घटना देखने में आयी, अलबत्ता कुछ बाद में, अर्थात् उत्पादन के संकेंद्रण से इजारेदारी का जन्म।

दूसरी बात, इजारेदारियों ने कच्चे माल के सबसे महत्वपूर्ण स्रोतों पर, विशेष रूप से पूंजीवादी समाज के अंतर्गत सबसे अधिक हद तक कार्टेलों में संगठित उद्योगों के – कोयले तथा लोहे के उद्योगों के – कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़ा कर लेने को प्रोत्साहन दिया है। कच्चे माल के सबसे महत्वपूर्ण स्रोतों की इजारेदारी ने बड़ी पूंजी की ताक़त को बेहद बढ़ा दिया है और कार्टेलों में संगठित उद्योगों तथा उन उद्योगों के पारस्परिक विरोधों को बहुत उग्र रूप दे दिया है जो कार्टेलों में संगठित नहीं हैं।

तीसरी बात, इजारेदारी बैंकों से उत्पन्न हुई है। बैंक बिचवानी करनेवाले छोटे-मोटे कारोबारों से बढ़कर वित्तीय पूंजी के इजारेदार बन गये हैं। प्रमुखतम पूंजीवादी देशों में से प्रत्येक में तीन से पांच तक सबसे बड़े बैंकों ने औद्योगिक तथा बैंकों की पूंजी के बीच "वैयक्तिक एका" स्थापित कर लिया है और अरबों की रक़म का नियंत्रण अपने हाथ में संकेंद्रित कर लिया है; यह रक़म पूरे के पूरे देश की पूंजी तथा आय का अधिकांश भाग है। इस इजारेदारी की सबसे ज्वलंत अभिव्यक्ति वित्तीय अल्पतंत्र है, जो बिना किसी अपवाद के आधुनिक पूंजीवादी समाज की सभी आर्थिक तथा राजनीतिक संस्थाओं पर निर्भरता के संबंधों का एक घना जाल डाल देता है।

चौथी बात, इजारेदारी औपनिवेशिक नीति से उत्पन्न हुई है। औपनिवेशिक नीति के अनेक "पुराने" उद्देश्यों के साथ वित्तीय पूंजी ने कच्चे माल के स्रोतों के लिए, पूंजी के निर्यात के लिए, "प्रभाव क्षेत्रों" के लिए अर्थात् ऐसे क्षेत्रों के लिए जहां लाभप्रद सौदे किये जा सकें, रिआयतें हासिल की जा सकें, इजारेदारी मुनाफ़ा कमाया जा सके आदि, और अंततः आम तौर पर आर्थिक दृष्टि से उपयोगी इलाक़ों के लिए संघर्ष और जोड़ दिया है। जिस समय अफ़्रीका में यूरोपीय ताक़तों के उपनिवेश, उदाहरण के लिए, वहां के कुल क्षेत्र के लगभग दसवें भाग के बराबर थे (जैसी परिस्थिति कि १८७६ में थी), उस समय औपनिवेशिक नीति इजारेदारी के तरीक़ों से नहीं, वरन्

अन्य तरीक़ों से—एक प्रकार से, इलाक़ों को "बेरोकटोक हथिया लेने" के तरीक़ों से—विकसित हो सकती थी। परन्तु जब अफ़्रीका के नव्वे प्रतिशत भाग पर (१६०० तक) क़ब्ज़ा कर लिया गया, जब सारी दुनिया का बंटवारा हो गया, तब अनिवार्य रूप से उपनिवेशों पर इजारेदार स्वामित्व के युग का, और फलस्वरूप दुनिया के विभाजन तथा पुनर्विभाजन के लिए विशेष रूप से भीषण संघर्ष के युग का श्रीगणेश हुआ।

यह बात सर्वविदित है कि इजारेदार पूंजी ने पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों को कितना गहरा बना दिया है। महंगाई तथा कार्टेलों के अत्याचारों का ही उल्लेख कर देना काफ़ी है। विरोधों का इस प्रकार उग्र होना इतिहास के उस संक्रमणकालीन युग की सबसे प्रबल प्रेरक-शक्ति है, जो विश्वव्यापी वित्तीय पूंजी की अंतिम विजय के समय से आरंभ हुआ।

इजारेदारियों, अल्पतंत्र, स्वतंत्रता के बजाय प्रभुत्व की चेष्टा, मुट्ठी-भर सबसे धनवान तथा सबसे ताक़तवर राष्ट्रों द्वारा बढ़ती हुई संख्या में छोटे या कमज़ोर राष्ट्रों का शोषण—इन तमाम बातों ने साम्राज्यवाद की उन लाक्षणिक विशेषताओं को जन्म दिया है जिनके कारण हमें उसको परजीवी अथवा ह्रासोन्मुख पूंजीवाद कहने पर विवश होना पड़ता है। साम्राज्यवाद की एक प्रवृत्ति के रूप में उस "सूदख़ोर राज्य", महाजन राज्य का निर्माण दिन प्रति दिन ज़्यादा उभरकर सामने आता है, जिसमें पूंजीपति वर्ग निरंतर बढ़ती हुई हद तक पूंजी के निर्यात से होनेवाली आय पर और "कूपन काटकर" जीवित रहता है। यह समझना भूल होगी कि ह्रास की इस प्रवृत्ति का मतलब यह है कि पूंजीवाद का तीव्र गति से विकास असंभव है। ऐसा नहीं होता। साम्राज्यवाद के युग में उद्योगों की कुछ शाखाएं, पूंजीपति वर्ग के कुछ स्तर और कुछ देश, कम या ज़्यादा हद तक, इन प्रवृत्तियों में से कभी एक और कभी दूसरी का परिचय देते हैं। कुल मिलाकर, पूंजीवाद का विकास पहले की अपेक्षा बहुत तेज़ी से हो रहा है; परन्तु न केवल यह विकास आम तौर पर अधिकाधिक असमान होता जा रहा है बल्कि यह भी हो रहा है कि यह असमानता विशेष रूप से उन देशों के ह्रास में व्यक्त होती है जो पूंजी के मामले में सबसे धनी हैं (इंगलैंड)।

जर्मनी के आर्थिक विकास की तीव्र गति के बारे में रीसेर, जिन्होंने

जर्मनी के बड़े-बड़े बैंकों पर एक पुस्तक लिखी है, कहते हैं: "पिछले काल (१८४८-७०) की प्रगति, जिसे धीमी कहना सर्वथा उपयुक्त न होगा, इस काल (१८७०-१९०५) के दौरान में जर्मनी के पूरे राष्ट्रीय अर्थतंत्र की और उसके साथ जर्मनी के बैंकों के कारोबार की प्रगति के वेग की तुलना में उतनी ही धीमी थी जितनी कि पुराने ज़माने की डाक ले जानेवाली घोड़ागाड़ियां आजकल की मोटरों के मुक़ाबले में धीमी होती थीं... आजकल की मोटर इतनी तेज़ी से सरपट भागी जा रही है कि उससे न केवल उसके रास्ते के लापरवाह पैदल चलनेवालों के लिए बल्कि मोटर पर बैठे हुए लोगों के लिए भी ख़तरा पैदा हो गया है।" और फिर वित्तीय पूंजी को भी, जो इतने असाधारण वेग से बढ़ी है, उपनिवेशों पर अधिक "शांतिमय" स्वामित्व की हालत में पहुंच जाने में कोई आनाकानी नहीं है, जिन उपनिवेशों को अधिक समृद्ध राष्ट्रों से छीनना पड़ेगा – और वह भी केवल शांतिपूर्ण तरीक़ों से नहीं; उसकी इस तत्परता का कारण यही है कि वह इतनी तेज़ी से बढ़ी है। संयुक्त राज्य अमरीका में पिछले कुछ दशकों में आर्थिक विकास जर्मनी से भी ज्यादा तेज़ी से हुआ है, और **यही कारण** है कि आधुनिक अमरीकी पूंजीवाद की परजीवी विशेषताएं विशेष रूप से उभरकर सामने आयी हैं। दूसरी ओर, मिसाल के लिए, गणतांत्रिक अमरीकी पूंजीपति वर्ग की तुलना जापानी या जर्मन राजतांत्रिक पूंजीपति वर्ग के साथ करने से पता चलता है कि साम्राज्यवाद के युग में तीव्र से तीव्र राजनीतिक भेद भी बेहद कम हो जाता है – इस कारण नहीं कि इस भेद का आम तौर पर कोई महत्व नहीं होता बल्कि इसलिए कि इन सभी दृष्टांतों में हम एक ऐसे पूंजीपति वर्ग पर विचार कर रहे हैं जिसमें परजीविता की निश्चित विशेषताएं पायी जाती हैं।

उद्योग की विभिन्न शाखाओं में से किसी एक शाखा में, अनेक देशों में से किसी एक देश आदि में पूंजीपति जो बहुत ऊंचा इजारेदारी मुनाफ़ा कमाते हैं उससे उनके लिए आर्थिक दृष्टि से यह संभव हो जाता है कि वे मज़दूरों के कुछ हिस्सों को, और कुछ समय तक उनके काफ़ी बड़े अल्पमत को, रिश्वत दे सकें और उन्हें अन्य सभी उद्योगों अथवा राष्ट्रों के ख़िलाफ़ किसी एक उद्योग विशेष या राष्ट्र विशेष के पूंजीपति वर्ग की तरफ़ मिला लें। दुनिया के बंटवारे के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच विरोधों के उग्र होते जाने के कारण यह

चेष्टा और बढ़ती है। और इस प्रकार साम्राज्यवाद तथा अवसरवाद के बीच वह संबंध पैदा होता है जो सबसे पहले और सबसे स्पष्ट रूप से इंगलैंड में इसलिए प्रकट हुआ कि वहां अन्य देशों की तुलना में साम्राज्यवादी विकास की कुछ विशेषताएं बहुत पहले ही दिखायी देने लगी थीं। कुछ लेखक, जैसे उदाहरण के लिए ल० मारतोव, "अधिकृत आशावादिता" (काउत्स्की तथा हाइज़मैंस के ढंग की) का सहारा लेकर साम्राज्यवाद और मज़दूर वर्ग के आंदोलन में पाये जानेवाले अवसरवाद के पारस्परिक संबंध को – जो इस समय एक बहुत ही ज्वलंत तथ्य बन गया है – टाल जाने की कोशिश करते हैं। इस "सरकारी आशावादिता" का एक नमूना यह है: यदि प्रगतिशील पूंजीवाद के कारण ही अवसरवाद में वृद्धि होती या यदि ऐसा होता कि सबसे अच्छा वेतन पानेवाले मज़दूरों का ही झुकाव अवसरवाद की ओर होता, तो पूंजीवाद के विरोधियों के ध्येय की पूर्ति की कोई आशा नहीं रह जाती, आदि। हमें इस प्रकार की "आशावादिता" के बारे में किसी प्रकार के सुखद भ्रम में नहीं रहना चाहिए। यह अवसरवाद के संबंध में आशावादिता है, यह वह आशावादिता है जो अवसरवाद को छुपाने का काम करती है। सच तो यह है कि अवसरवाद के विकास की असाधारण तीव्र गति और उसका विशेषत: घृणास्पद स्वरूप इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि उसकी विजय स्थायी होगी: स्वस्थ शरीर पर किसी घातक फोड़े की तीव्र वृद्धि का परिणाम केवल यह हो सकता है कि वह फोड़ा जल्दी फूट जाये और शरीर उसकी पीड़ा से मुक्त हो जाये। इस सिलसिले में सबसे ख़तरनाक वे लोग होते हैं जो इस बात को समझना नहीं चाहते कि साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई उस समय तक एक ढोंग और निरर्थक बात है जब तक उसका संबंध अभिन्न रूप से अवसरवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई के साथ न हो।

इस पुस्तक में साम्राज्यवाद के आर्थिक सार के बारे में जो कुछ भी कहा गया है उससे यही नतीजा निकलता है कि हमें उसकी परिभाषा यह करना चाहिए कि वह संक्रमण की अवस्था में पूंजीवाद है, या यह कहना अधिक उचित होगा कि वह मरणोन्मुख पूंजीवाद है। इस संबंध में इस बात को ध्यान में रखना बहुत शिक्षाप्रद होगा कि पूंजीवादी अर्थशास्त्री आधुनिक पूंजीवाद का वर्णन करते समय इस प्रकार के आकर्षक शब्दों तथा फ़िकरों का इस्तेमाल करते

हैं जैसे "परस्पर गुंथ जाना", "पार्थक्य का अभाव", आदि; "अपने कामों तथा विकासक्रम के अनुकूल" बैंक "शुद्धतः निजी व्यापार के कारोबार नहीं" होते हैं, "वे शुद्धतः निजी व्यापार के नियमन के क्षेत्र से अधिकाधिक बाहर निकलते जा रहे हैं"। और यही रीसेर साहब, जिनके शब्दों को हमने अभी ऊपर उद्धृत किया है बड़ी गंभीरता के साथ घोषणा करते हैं कि "समाजीकरण" के बारे में मार्क्सवादियों की "भविष्यवाणी" "सही नहीं साबित हुई है"!

फिर इन आकर्षक शब्दों "परस्पर गुंथ जाने" का क्या अर्थ है? वे केवल उस प्रक्रिया की सबसे ज्वलंत विशेषता को अभिव्यक्त करते हैं जो हमारी आंखों के सामने हो रही है। इनका मतलब यह है कि देखनेवाला अलग-अलग पेड़ों को तो गिन लेता है पर वह जंगल को नहीं देख पाता। इन शब्दों में सतही, संयोगवश तथा अव्यवस्थित ढंग से होनेवाली बातों को हूबहू नक़ल कर दिया गया है। ये शब्द इस बात का रहस्योद्घाटन करते हैं कि अवलोकन करनेवाला एक ऐसा व्यक्ति है जो आधार-सामग्री की विपुलता को देखकर घबरा गया है पर वह उसके अर्थ तथा महत्व को समझने में सर्वथा असमर्थ है। शेयरों का स्वामित्व और निजी सम्पत्ति के मालिकों के पारस्परिक संबंध "ऊटपटांग ढंग से परस्पर गुंथ जाते हैं"। परन्तु इस गुंथाव की बुनियाद में, स्वयं उसका आधार, उत्पादन के बदलते हुए सामाजिक संबंध हैं। जब कोई बड़ा कारोबार अति विशाल रूप धारण कर लेता है और विपुल तथ्य-सामग्री का सही-सही हिसाब लगाने के आधार पर मूलभूत कच्चे माल के संभरण को इस प्रकार एक योजना के अनुसार संगठित करता है कि करोड़ों लोगों की कुल जितनी आवश्यकता है उसका दो-तिहाई या तीन-चौथाई भाग तक ही उन्हें मिल सके; जब कच्चा माल एक सुव्यवस्थित तथा संगठित ढंग से उत्पादन के लिए सबसे उपयुक्त स्थानों को, कभी-कभी तो सैकड़ों या हज़ारों मील दूर भी, भेजा जाता है; जब अनेक प्रकार का तैयार माल बनाने तक की सारी क्रमिक अवस्थाओं का निर्देशन एक ही केंद्र से किया जाता है; जब ये चीज़ें एक ही योजना के अनुसार करोड़ों उपभोक्ताओं के बीच वितरित की जाती हैं (अमरीकी "तेल ट्रस्ट" द्वारा अमरीका तथा जर्मनी में तेल का वितरण) — तब यह स्पष्ट हो जाता है कि चीज़ें "परस्पर गुंथ" ही नहीं गयी हैं बल्कि उत्पादन का समाजीकरण भी हो गया है। यह स्पष्ट हो जाता है कि निजी

आर्थिक संबंध तथा निजी सम्पत्ति के संबंध एक ऐसा खोल बन गये हैं जिसके अंदर की सामग्री अब उसमें नहीं समाती, एक ऐसा खोल बन गये हैं जिसके विनाश को कृत्रिम उपायों द्वारा रोकने की कोशिश की गयी तो अवश्य ही उसका क्षय हो जायेगा; एक ऐसा खोल जो काफ़ी दीर्घकाल तक क्षय की दशा में रह सकता है (यदि हम हद से ज़्यादा यह भी मान लें कि अवसरवादी फोड़े का इलाज बहुत लम्बा खिंचेगा), परन्तु इस खोल को अनिवार्य रूप से हटाना पड़ेगा।

जर्मन साम्राज्यवाद के उत्साही प्रशंसक शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़ जोश के साथ कहते हैं:

"एक बार जर्मन बैंकों की सर्वोच्च व्यवस्था एक दर्जन लोगों के हाथों में सौंप दिये जाने के बाद भी आज उनका काम सार्वजनिक हित की दृष्टि से अधिकांश राज्य-मंत्रियों के काम की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है।" (यहां पर बैंकपतियों, मंत्रियों, उद्योगपतियों तथा सूदख़ोरों के "परस्पर गुंथ जाने" को बड़ी आसानी से भुला दिया गया है ...) ..."जिन प्रवृत्तियों का हमने उल्लेख किया है यदि उनकी कल्पना हम उनके विकास की परिणति के रूप में करें तो हम देखेंगे कि: राष्ट्र की सारी द्रव्य पूंजी बैंकों में एकबद्ध हो गयी है; बैंकों ने स्वयं मिलकर कार्टेलों का रूप धारण कर लिया है; राष्ट्र की कारोबार में लगायी जानेवाली पूंजी प्रतिभूतियों के रूप में ढल गयी है। तब उस मेधावी पुरुष सेंट-साइमन की भविष्यवाणी पूरी हो जायेगी: 'उत्पादन की वर्तमान अराजकता को, जो इस बात के सर्वथा अनुकूल है कि आर्थिक संबंध बिना किसी एकरूप नियमन के विकसित हो रहे हैं, उत्पादन में संगठन के लिए जगह ख़ाली करनी पड़ेगी। तब उत्पादन का निर्देशन उन अलग-अलग उत्पादकों के हाथ में नहीं रह जायेगा, जो एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं और जिन्हें मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं का कोई ज्ञान नहीं होता; यह काम किसी सार्वजनिक संस्था के हाथों में होगा। केंद्रीय व्यवस्थापन समिति, जो सामाजिक अर्थतंत्र के विस्तृत क्षेत्र का सर्वेक्षण ज़्यादा ऊंचाई से कर सकेगी, वह उस अर्थतंत्र का नियमन पूरे समाज के हित में करेगी, वह उत्पादन के साधन उचित हाथों में सौंप देगी, और सबसे बढ़कर वह इस बात का ध्यान रखेगी कि पैदावार तथा खपत के बीच निरंतर एक सामंजस्य रहे। इस प्रकार की संस्थाएं

इस समय भी मौजूद हैं जिन्होंने आर्थिक श्रम के संगठन को कुछ हद तक अपने काम के एक हिस्से के रूप में अंगीकार कर लिया है: ये संस्थाएं बैंक हैं।' हम सेंट-साइमन की भविष्यवाणी के पूरा होने से अभी बहुत दूर हैं पर हम उसकी दिशा में आगे बढ़ रहे हैं: यह मार्क्सवाद है, मार्क्स ने जिस रूप में उसकी कल्पना की थी उससे भिन्न, पर केवल रूप में ही भिन्न।"*

सचमुच, यह मार्क्स का ज़बर्दस्त "खंडन" है, जो मार्क्स के नपेतुले वैज्ञानिक विश्लेषण के एक क़दम पीछे हटकर सेंट-साइमन की अटकलबाज़ी की शरण लेता है, वह एक मेधावी पुरुष की अटकलबाज़ी ही सही, पर है तो अटकलबाज़ी ही।

लेखन-काल: जनवरी–जून १९१६

मूलतः पुस्तिका के रूप में पेत्रोग्राद से अप्रैल १९१७ में प्रकाशित हुई

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड २२, पृष्ठ १७३–२९०

---

* *Grundriss der Sozialökonomik* (सामाजिक अर्थशास्त्र के सिद्धांत–अनु०), पृष्ठ १४६।

सर्वहारा क्रांति का युद्ध-संबंधी कार्यक्रम[156]

हालैंड, स्कैंडीनेविया तथा स्विट्ज़रलैंड में उन सामाजिक-जनवादियों के बीच, जो वर्तमान साम्राज्यवादी युद्ध में "पितृभूमि की रक्षा" के बारे में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों की झूठी बातों के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं, इस प्रकार की आवाज़ उठायी जा रही है कि अनिवार्य न्यूनतम सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम की "मिलिशिया" या "सशस्त्र जनता" वाली पुरानी धारा के स्थान पर "निःशस्त्रीकरण" की एक नयी धारा रख दी जाये। «Jugend-Internationale»* ने इस प्रश्न पर एक बहस आरंभ की है और अंक ३ में निरस्त्रीकरण के पक्ष में एक सम्पादकीय लेख प्रकाशित किया है। हमें यह देखकर खेद होता है कि र० ग्रिम्म की नवीनतम प्रस्थापनाओं में भी[157] "निरस्त्रीकरण" के विचार के साथ एक रिआयत बरती गयी है। «Neues Leben»[158] तथा «Vorbote»[159] नामक पत्रिकाओं में भी बहसें आरंभ की गयी हैं।

आइये, हम निरस्त्रीकरण के समर्थकों की स्थिति को जांचें।

१

मुख्य दलील यह दी जाती है कि निरस्त्रीकरण की मांग हर प्रकार के सैन्यवाद तथा हर युद्ध के ख़िलाफ़ संघर्ष की सबसे स्पष्ट, सबसे निर्णायक तथा सबसे सुसंगत अभिव्यक्ति है।

---

* युवाजन की इंटरनेशनल। – सं०

परंतु उनकी यह मुख्य दलील ही निरस्त्रीकरण के समर्थकों की सबसे बड़ी भूल है। जब तक समाजवादी समाजवादी रहेंगे, तब तक वे सभी युद्धों के ख़िलाफ़ नहीं हो सकते।

पहली बात तो यह कि समाजवादी क्रांतिकारी युद्धों के न तो कभी ख़िलाफ़ रहे हैं, और न कभी हो सकते हैं। "बड़ी" साम्राज्यवादी ताक़तों का पूंजीपति वर्ग पूरी तरह प्रतिक्रियावादी हो गया है, और **यह** पूंजीपति वर्ग इस समय जो युद्ध चला रहा है उसे हम प्रतिक्रियावादी, दूसरे लोगों को गुलाम बनानेवालों का तथा अपराधपूर्ण युद्ध समझते हैं। परंतु इस पूंजीपति वर्ग के **ख़िलाफ़** युद्ध के बारे में हमारा क्या रवैया है? उदाहरण के लिए, यदि वे लोग, जिनका यह पूंजीपति वर्ग उत्पीड़न करता है तथा जो इस पूंजीपति वर्ग पर निर्भर हैं, उपनिवेशों की जनता, अपनी मुक्ति के लिए युद्ध छेड़े तो उसकी ओर हमारा क्या रवैया होगा? 'इंटरनेशनल' दल की प्रस्थापनाओं की ५वीं धारा में हम पढ़ते हैं: "इस बेलगाम साम्राज्यवाद के युग में किसी भी प्रकार के कोई जातीय युद्ध नहीं हो सकते।" यह बात स्पष्टतः ग़लत है।

बीसवीं शताब्दी का, "बेलगाम साम्राज्यवाद" की इस शताब्दी का, इतिहास औपनिवेशिक युद्धों से भरा पड़ा है। परंतु हम यूरोपवासी, संसार के अधिकांश राष्ट्रों के साम्राज्यवादी उत्पीड़क, अपने स्वाभाविक निंदनीय यूरोपीय अंधराष्ट्रवाद के कारण जिन युद्धों को "औपनिवेशिक युद्ध" कहते हैं वे बहुधा जातीय युद्ध, या इन उत्पीड़ित जनताओं के जातीय विद्रोह होते हैं। साम्राज्यवाद की एक मुख्य विशेषता यह है कि वह सबसे अधिक पिछड़े हुए देशों में पूंजीवाद के विकास की रफ़्तार को तेज़ कर देता और इस प्रकार जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष को अधिक व्यापक तथा उग्र बना देता है। यह एक वास्तविकता है। इससे अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि साम्राज्यवाद को बहुधा जातीय युद्धों को जन्म देना पड़ता है। **जूनियस**, जिन्होंने अपनी पुस्तिका में उपरोक्त "प्रस्थापनाओं" का समर्थन किया है, कहती हैं कि साम्राज्यवादी युग में किसी भी साम्राज्यवादी बड़ी ताक़त के ख़िलाफ़ हर जातीय युद्ध का परिणाम यह होता है कि दूसरी प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी बड़ी ताक़त उसमें हस्तक्षेप करती है और इस प्रकार हर जातीय

युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध में परिवर्तित हो जाता है। परंतु यह दलील भी ग़लत है। यह हो **सकता** है, पर हमेशा ऐसा होता नहीं। १६०० से १६१४ के बीच के काल में अनेक औपनिवेशिक युद्ध ऐसे हुए जिन्होंने इस मार्ग का अनुसरण नहीं किया। यदि हम, उदाहरण के लिए यह घोषणा करें कि वर्तमान युद्ध में यदि सभी युद्धरत देश बिल्कुल थककर चूर हो जायें तो, मिसाल के लिए, भारत, फ़ारस, स्याम आदि के साथ मिलकर बड़ी ताक़तों के ख़िलाफ़ चीन "किसी भी प्रकार का" जातीय, प्रगतिशील, क्रांतिकारी युद्ध "नहीं" छेड़] "सकता", तो यह बात बिल्कुल हास्यास्पद होगी।

साम्राज्यवाद के अंतर्गत जातीय युद्धों की समस्त संभावना से इंकार करना सिद्धांत की दृष्टि से ग़लत, इतिहास की दृष्टि से स्पष्टतः भ्रांत तथा व्यवहार में यूरोपीय] अंधराष्ट्रवाद के बराबर है। इसका मतलब यह है कि हम लोग, जिनका संबंध उन राष्ट्रों से है जो यूरोप, अफ़्रीका तथा एशिया आदि के करोड़ों लोगों का उत्पीड़न करते हैं, उत्पीड़ित जनताओं को यह बता दें कि "हमारे" राष्ट्रों के ख़िलाफ़ युद्ध करना उनके लिए "असंभव" है!

दूसरी बात यह कि गृहयुद्ध भी युद्ध होते हैं। जो भी वर्ग-संघर्ष को मानता है उसके लिए गृहयुद्धों को मानना अनिवार्य है, जो वर्गों पर आधारित हर समाज में वर्ग-संघर्ष के क्रम की ही एक स्वाभाविक, और कुछ परिस्थितियों में अनिवार्य, कड़ी होते हैं, उसके विकास की एक मंज़िल और उसका उग्र रूप होते हैं। सभी बड़ी-बड़ी क्रांतियों से यह बात सिद्ध होती है। गृहयुद्ध का परित्याग करने, या उसे भुला देने का मतलब होगा घोर अवसरवाद में डूब जाना और समाजवादी क्रांति का परित्याग करना।

तीसरी बात यह कि किसी एक देश में समाजवाद की विजय हो जाने का मतलब यह नहीं होता कि एकदम से सभी युद्धों का उन्मूलन हो गया। इसके विपरीत इससे युद्धों की संभावना अधिक बढ़ जाती है। पूंजीवाद का विकास विभिन्न देशों में अत्यंत असमान गति से होता है। माल के उत्पादन की पद्धति में इसके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता है। इससे यह अकाट्य निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद एक साथ **सभी** देशों में विजय नहीं प्राप्त कर सकता। पहले उसकी विजय किसी एक या अनेक देशों में होगी, जबकि

बाक़ी देश पूंजीवादी या पूंजीवाद से भी पहले की दशा में रहेंगे। इससे केवल संघर्ष ही नहीं पैदा होगा बल्कि दूसरे देशों का पूंजीपति वर्ग समाजवादी राज्य के विजयी सर्वहारा वर्ग को कुचल देने की प्रत्यक्ष रूप से कोशिश करेगा। ऐसी दशा में हमारे लिए युद्ध करना न्यायपूर्ण तथा उचित होगा। वह युद्ध समाजवाद के लिए होगा, अन्य राष्ट्रों को पूंजीपति वर्ग से मुक्त कराने का युद्ध होगा। १२ सितम्बर, १८८२ को काउत्स्की के नाम अपने पत्र में जब एंगेल्स ने खुले तौर पर यह स्वीकार किया था कि उस समाजवाद के लिए **जो विजयी हो चुका हो** "प्रतिरक्षात्मक युद्ध" चलाना बिल्कुल संभव है, तो उन्होंने बिल्कुल सही बात कही थी। उनके दिमाग़ में दूसरे देशों के पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ विजयी सर्वहारा वर्ग की प्रतिरक्षा की बात थी।

युद्ध केवल उस समय जाकर असंभव होंगे जब हम केवल एक देश में नहीं, बल्कि पूरे संसार में पूंजीपति वर्ग का तख़्ता उलट देंगे, उसे पूरी तरह परास्त कर देंगे और उससे सब कुछ छीन लेंगे। और यदि हम इस सबसे महत्वपूर्ण बात से कतराये या उसे टाल गये कि समाजवाद में **संक्रमण** का सबसे कठिन काम, अर्थात् वह काम जिसमें सबसे अधिक लड़ने की ज़रूरत होती है, पूंजीपति वर्ग के विरोध को कुचलने का काम होता है, तो यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बिल्कुल ग़लत और बिल्कुल ग़ैर-क्रांतिकारी बात होगी। "सामाजिक" पादरी और अवसरवादी हमेशा भावी शांतिपूर्ण समाजवाद के स्वप्न देखने को तत्पर रहते हैं, परंतु जो चीज़ उन्हें क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों से अलग करती है वह यही है कि वे उस भीषण वर्ग-संघर्ष तथा उन वर्ग-**युद्धों** के बारे में सोचने या उनपर विचार करने से इंकार करते हैं जो इस सुंदर भविष्य को साकार बनाने के लिए आवश्यक होते हैं।

हमें शब्दों के चक्कर में आकर गुमराह नहीं हो जाना चाहिये। उदाहरण के लिए, बहुत-से लोग "पितृभूमि की रक्षा" शब्दों से घृणा करते हैं, क्योंकि कट्टर अवसरवादी तथा काउत्स्कीवादी इन शब्दों का प्रयोग **वर्तमान** लूटमार के युद्ध में पूंजीपति वर्ग के झूठ को छुपाने तथा उसे अनदेखा कर देने के लिए करते हैं। यह एक वास्तविकता है। परंतु इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि हम राजनीतिक नारों के अर्थ पर विचार करना भूल जायें। वर्तमान युद्ध में "पितृभूमि की रक्षा" को स्वीकार करना इस युद्ध को एक "न्यायपूर्ण" युद्ध,

सर्वहारा वर्ग के हित में लड़ा जानेवाला युद्ध, मानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है–हम एक बार फिर कहते हैं कि वह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है क्योंकि आक्रमण तो किसी भी युद्धों में हो सकते हैं। साम्राज्यवादी बड़ी ताक़तों के **ख़िलाफ़** अपने युद्धों में उत्पीड़ित जनताओं **की तरफ़ से**, या पूंजीवादी राज्य के किसी गैलीफ़े के ख़िलाफ़ **अपने** युद्ध में विजयी सर्वहारा वर्ग की तरफ़ से, "पितृभूमि की रक्षा" का परित्याग सरासर मूर्खता होगी।

सिद्धांततः इस बात को भूल जाना बिल्कुल ग़लत होगा कि हर युद्ध दूसरे उपायों से राजनीति का ही एक क्रम होता है; कि वर्तमान साम्राज्यवादी युद्ध बड़ी ताक़तों के दो दलों की साम्राज्यवादी राजनीति का ही एक क्रम है और यह राजनीति साम्राज्यवादी युग के संबंधों के कुल योग से उत्पन्न हुई है तथा उसी से उसका पोषण हुआ है। परंतु यही युग अवश्यमेव जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष की और पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा संघर्ष की राजनीति को भी, और इसलिए पहले, जातीय विद्रोहों तथा युद्धों को, दूसरे, पूंजीपति वर्ग के **विरुद्ध** सर्वहारा युद्धों तथा विद्रोहों को और तीसरे, दोनों प्रकार के क्रांतिकारी युद्धों आदि के संयोजन की संभावना तथा अनिवार्यता को जन्म देगा तथा उसका पोषण करेगा।

२

इन बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित सामान्य विचार भी जोड़ दिये जाने चाहिये।

वह उत्पीड़ित वर्ग जो हथियारों को इस्तेमाल करना सीखने की, हथियार हासिल करने की, चेष्टा नहीं करता वह इसी योग्य है कि उसके साथ दासों जैसा व्यवहार किया जाये। पूंजीवादी शांतिवादी या अवसरवादी बने बिना हम इस बात को नहीं भूल सकते कि हम एक वर्ग-समाज में रहते हैं, इस समाज से बाहर निकलने का वर्ग-संघर्ष के अलावा न तो कोई रास्ता है और न हो सकता है। हर वर्ग-समाज में, चाहे वह दास-प्रथा पर आधारित हो या कृषि-दासता पर, या इस समय की तरह मज़दूरी पर काम करनेवालों की दासता

पर, उत्पीड़क वर्ग सशस्त्र होता है। केवल आधुनिक स्थायी सेना ही नहीं बल्कि आधुनिक मिलिशिया भी—सबसे जनवादी पूंजीवादी जनतंत्रों में भी, जैसे स्विट्ज़रलैंड में—सर्वहारा वर्ग के **विरुद्ध** सशस्त्र पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह एक ऐसा सीधा-सादा सत्य है कि इसके बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। सभी पूंजीवादी देशों में हड़तालें करनेवालों के ख़िलाफ़ सेनाओं का जो प्रयोग किया जाता है केवल उसकी ओर संकेत कर देना ही काफ़ी है।

यह बात कि पूंजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध सशस्त्र है, आधुनिक पूंजीवादी समाज की एक सबसे बड़ी, सबसे बुनियादी और सबसे महत्वपूर्ण बात है। और इस बात के होते हुए क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों से "निरस्त्रीकरण" की "मांग करने" का अनुरोध किया जाता है! यह बात वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण को बिल्कुल त्याग देने, क्रांति के हर विचार का परित्याग कर देने के बराबर है। हमारा नारा यह होना चाहिये : पूंजीपति वर्ग को परास्त करने, उससे उसका सब कुछ छीन लेने तथा उसे निःशस्त्र कर देने के लिए सर्वहारा वर्ग को सशस्त्र किया जाये। क्रांतिकारी वर्ग केवल यही कार्यनीति अपना सकता है, यह ऐसी कार्यनीति है जो पूंजीवादी सैन्यवाद के पूरे **वस्तुगत विकास** का तर्कसंगत निष्कर्ष है और उस विकास का यही तक़ाज़ा है कि यह कार्यनीति अपनायी जाये। केवल पूंजीपति वर्ग को निःशस्त्र करने के **बाद** ही सर्वहारा वर्ग इस योग्य हो सकेगा कि वह अपने विश्व-ऐतिहासिक ध्येय के साथ विश्वासघात किये बिना समस्त हथियारों को घूरे पर फेंक दे; और सर्वहारा वर्ग निःसंदेह इस काम को पूरा करेगा, परंतु **केवल उसी समय जब यह शर्त पूरी हो जायेगी, उससे पहले हर्गिज़ नहीं**।

यदि वर्तमान युद्ध से प्रतिक्रियावादी ईसाई समाजवादियों में, रोने-गिड़गिड़ानेवाले निम्न-पूंजीपति वर्ग में, **केवल** क्षोभ और भय, शस्त्रास्त्रों के हर प्रयोग, रक्तपात तथा मार-काट आदि के विरुद्ध केवल घृणा की भावना पैदा होती है तो हमें कहना चाहिये : पूंजीवादी समाज तो हमेशा ही एक **अनन्त विभीषिका** होता है। और यदि यह युद्ध, जो समस्त युद्धों में सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी है, अब उस समाज के **भयानक अंत** की तैयारी कर रहा है तो हमें निराशा में डूब जाने की कोई ज़रूरत नहीं है। ऐसे समय पर जबकि,

जैसा कि हर आदमी देख सकता है, पूंजीपति वर्ग स्वयं एकमात्र न्यायोचित तथा क्रांतिकारी युद्ध के लिए, अर्थात् साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ गृहयुद्ध के लिए, रास्ता साफ़ कर रहा है, निरस्त्रीकरण की "मांग" उठाना, या यह कहना अधिक उचित होगा कि निरस्त्रीकरण के स्वप्न देखना, निराशा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जो लोग यह कहेंगे कि इस सिद्धांत का जीवन से कोई संबंध नहीं है उन्हें हम केवल दो विश्व-ऐतिहासिक तथ्यों की याद दिलायेंगे: एक ओर तो ट्रस्टों की भूमिका तथा उद्योगों में औरतों से काम लेने की, और दूसरी ओर, १८७१ के पेरिस कम्यून तथा रूस में १९०५ में दिसम्बर विद्रोह की।

पूंजीपति वर्ग का काम ट्रस्ट खड़े करना, औरतों तथा बच्चों को फ़ैक्ट-रियों में काम करने पर मजबूर करना, वहां उन्हें यातनाएं देना, भ्रष्टाचार सिखाना तथा उन्हें बिल्कुल कंगाल बना देना होता है। हम ऐसी उन्नति की "मांग" नहीं करते। हम उसका "समर्थन" नहीं करते; हम उसके ख़िलाफ़ लड़ते हैं। पर हम **किस प्रकार** लड़ते हैं? हम जानते हैं कि ट्रस्ट और उद्योगों में स्त्रियों का काम करना प्रगतिशील बातें हैं। हम फिर लौटकर दस्तकारी की व्यवस्था, इजारेदारी से पहले के पूंजीवाद की अवस्था में पहुंचना नहीं चाहते, हम नहीं चाहते कि औरतें फिर पहले की ही तरह घर के काम-काज में अपनी जान खपाती रहें। ट्रस्टों आदि के ज़रिये आगे बढ़ो, और उनको पार करके समाजवाद तक पहुंचो!

कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ यह दलील जनता की मौजूदा फ़ौजबंदी पर भी लागू होती है। आज साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग केवल प्रौढ़ों को ही नहीं बल्कि नौजवानों को भी फ़ौजी बना देता है। संभव है कल वह औरतों की भी फ़ौजबंदी आरंभ कर दे। इसपर हमें कहना चाहिये: और भी अच्छा है! और तेज़ी से इस काम को पूरा करो! यह काम जितनी ही तेज़ी से होगा, हम पूंजीवाद के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह के उतने ही अधिक निकट पहुंचेंगे। यदि सामाजिक-जनवादी पेरिस कम्यून के उदाहरण को भूले नहीं हैं तो वे नौजवानों आदि की फ़ौजबंदी से भयभीत किस प्रकार हो सकते हैं? यह कोई "जीवन से असम्बद्ध सिद्धांत" नहीं है, यह कोई स्वप्न नहीं है, बल्कि एक

सच बात है। यदि तमाम आर्थिक तथा राजनीतिक तथ्यों के बावजूद सामाजिक-जनवादी इस बात में संदेह करने लगे कि साम्राज्यवादी युग तथा साम्राज्यवादी युद्धों के कारण अनिवार्य रूप से ऐसे तथ्यों की पुनरावृत्ति होती है, तो यह बहुत बुरी बात होगी।

एक किसी पूंजीवादी लेखक ने, जिसने पेरिस कम्यून का अवलोकन किया था, मई १८७१ में इंगलैंड के एक अख़बार में लिखा: "यदि फ़्रांसीसी राष्ट्र में केवल स्त्रियां ही स्त्रियां होतीं तो वह कैसा भयानक राष्ट्र होता!" पेरिस कम्यून में औरतें और तेरह बरस से ऊपर के बच्चे मर्दों के कंधे से कंधा मिलाकर लड़े। पूंजीपति वर्ग का तख़्ता उलटने के लिए भविष्य में जो लड़ाइयां होंगी उनमें भी परिस्थिति इससे भिन्न नहीं होगी। सर्वहारा वर्ग की औरतें पूरी तरह हथियारों से लैस पूंजीपति वर्ग को बहुत कम हथियारों से लैस या निहत्थे मज़दूरों को गोलियों से भूनते हाथ पर हाथ धरे बैठी देखती नहीं रहेंगी। वे उसी प्रकार हथियार उठायेंगी जैसे उन्होंने १८७१ में उठाये थे और उन राष्ट्रों में से जो आज दबे हुए हैं—या यह कहना अधिक उचित होगा कि मज़दूर वर्ग के वर्तमान आंदोलन में से जिसे सरकारों के मुक़ाबले में अवसरवादियों ने ज़्यादा असंगठित कर रखा है—निःसंदेह क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के "भयानक राष्ट्रों" के एक अंतर्राष्ट्रीय संघ का उदय होगा, वह देर में हो या जल्दी पर होगा अवश्य।

सैन्यवाद अब पूरे सामाजिक जीवन की नस-नस में समा गया है। साम्राज्यवाद संसार के विभाजन और पुनर्विभाजन के लिए बड़ी ताक़तों का भीषण संघर्ष है—इसलिए इसका परिणाम अनिवार्य रूप से यह होगा कि सभी देशों में, निष्पक्ष तथा छोटे देशों में भी, सैन्यीकरण और बढ़ेगा। इसके ख़िलाफ़ सर्वहारा वर्ग की औरतें क्या करेंगी? क्या वे युद्ध को, हर फ़ौजी चीज़ को केवल कोसेंगी, केवल निरस्त्रीकरण की मांग करेंगी? उस उत्पीड़ित वर्ग की औरतें, जो सचमुच क्रांतिकारी है, कभी भी ऐसी अपमानजनक भूमिका के लिए राज़ी नहीं होंगी। वे अपने बेटों से कहेंगी: "तुम शीघ्र ही मर्द बन जाओगे। तुम्हें बंदूक दी जायेगी। उसे लेकर तुम सैन्य कला सीखना। सर्वहारा वर्ग को इस ज्ञान की आवश्यकता अपने भाइयों पर, दूसरे देशों के मज़दूरों पर, गोली चलाने के लिए नहीं है, जैसा कि वे वर्तमान युद्ध में कर रहे हैं, या जैसा

कि समाजवाद के साथ ग़द्दारी करनेवाले तुमसे करने को कहते हैं ; उसे केवल सदिच्छा द्वारा नहीं बल्कि पूंजीपति वर्ग को पराजित करके तथा उसे निःशस्त्र करके स्वयं अपने देश के पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ने और शोषण, दरिद्रता तथा युद्ध का अंत कर देने के लिए इस ज्ञान की आवश्यकता है।"

यदि हमें वर्तमान युद्ध के संबंध में इस प्रकार का प्रचार, ठीक इसी प्रकार का प्रचार, करने से दूर रहना है, तो बेहतर है कि हम अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के बारे में, समाजवादी क्रांति के बारे में और युद्ध के ख़िलाफ़ युद्ध के बारे में लम्बी-चौड़ी बातें करना छोड़ दें।

३

निरस्त्रीकरण के समर्थक कार्यक्रम में "सशस्त्र जनता" वाली धारा का विरोध और बातों के अलावा इस कारण भी करते हैं कि उनका कहना है कि इस मांग के कारण बड़ी आसानी से अवसरवाद को छूट मिल जाती है। हम ऊपर सबसे महत्वपूर्ण बात की, अर्थात् वर्ग-संघर्ष तथा सामाजिक क्रांति के साथ निरस्त्रीकरण के संबंध की, विवेचना कर चुके हैं। अब हम निरस्त्रीकरण की मांग तथा अवसरवाद के पारस्परिक संबंध की विवेचना करेंगे। इस मांग के अस्वीकार्य होने का एक सबसे बड़ा कारण यही है कि यह मांग, और इससे उत्पन्न होनेवाले भ्रम, अनिवार्य रूप से अवसरवाद के विरुद्ध हमारे संघर्ष को कमज़ोर तथा शक्तिहीन बनाते हैं।

इस समय इंटरनेशनल के सामने फ़ौरन जो सबसे मुख्य प्रश्न है वह निःसंदेह इसी संघर्ष का प्रश्न है। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ कोई भी ऐसा संघर्ष जिसका संबंध घनिष्ठ रूप से अवसरवाद के ख़िलाफ़ चलनेवाले संघर्ष के साथ न हो, एक खोखली बात या एक धोखा है। ज़िम्मरवाल्ड तथा किएन्थाल[160] का एक मुख्य दोष, तीसरी इंटरनेशनल के इन अंकुरों के संभवतः कभी भी प्रस्फुटित न हो सकने का एक मुख्य कारण, यह है कि अवसरवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष के सवाल को कभी खुले तौर पर उठाया भी नहीं गया, अवसरवादियों के साथ संबंध-विच्छेद की आवश्यकता की घोषणा करने के अर्थ में इस प्रश्न को

तै करना तो बहुत दूर की बात थी। यूरोपीय मज़दूर वर्ग के आंदोलन में—अस्थायी रूप से—अवसरवाद की विजय हुई है। सभी बड़े देशों में अवसरवाद के दो मुख्य रूप उभरे हैं: पहला तो है प्लेख़ानोव, शीदेमान, लेजियन, अलबर्ट टामस तथा सेम्बात, वैंडरवेल्डे, हिन्दमैन, हेंडेरसन आदि सज्जनों का कट्टर तथा नि:संकोच, और इसलिए कम ख़तरनाक, सामाजिक-साम्राज्यवाद; दूसरा छुपा हुआ काउत्स्कीवादी अवसरवाद: जर्मनी में काउत्स्की—गाआज़े तथा 'सामाजिक-जनवादी श्रमिक दल'[161]; फ़्रांस में लॉन्गे, प्रेसमैन, मेयरास आदि; इंगलैंड में रैमज़े मैकडानल्ड तथा 'स्वतंत्र लेबर पार्टी'[162] के अन्य नेता; रूस में मार्तोव, छेईद्ज़े तथा अन्य लोग; इटली में त्रीव्ज तथा अन्य तथाकथित वामपंथी सुधारवादी।

कट्टर अवसरवाद खुले तौर पर और प्रत्यक्ष रूप से क्रांति का और उभरते हुए क्रांतिकारी आंदोलनों तथा विस्फोटों का विरोधी होता है और सरकारों के साथ इसकी सीधी मैत्री होती है, यद्यपि इस मैत्री के रूप विविध प्रकार के होते हैं: मंत्रिमंडलों में भाग लेने से लेकर युद्ध-उद्योग समितियों में (रूस में)[163] भाग लेने तक। छुपे हुए अवसरवादी, काउत्स्कीवादी, मज़दूर आंदोलन के लिए ज़्यादा हानिकारक तथा ख़तरनाक होते हैं क्योंकि वे कट्टर अवसरवाद के साथ मैत्री का समर्थन तर्कसंगत प्रतीत होनेवाले, तथाकथित "मार्क्सवादी" आकर्षक शब्दों तथा शांतिवादी नारों की आड़ में छुपाकर करते हैं। सर्वहारा राजनीति के **सभी** क्षेत्रों में—संसद, ट्रेड-यूनियनों, हड़तालों, सैनिक मामलों आदि में—अवसरवाद के इन दोनों ही प्रचलित रूपों के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिये। प्रचलित अवसरवाद के इन **दोनों** ही रूपों की मुख्य लाक्षणिक विशेषता यह है कि **वर्तमान युद्ध तथा क्रांति के पारस्परिक संबंध** के ठोस प्रश्न को और **क्रांति के अन्य ठोस प्रश्नों को** दबा दिया जाता है, छुपाया जाता है या पुलिस द्वारा लगायी गयी पाबंदियों को दृष्टिगत रखकर ही उनपर विचार किया जाता है। और यह सब कुछ इस बात के बावजूद किया जाता है कि युद्ध से पहले असंख्य बार, ग़ैर-सरकारी तौर पर भी और बैसेल घोषणापत्र[164] में सरकारी तौर पर भी, ठीक **इसी** युद्ध के, जो छिड़नेवाला था, और सर्वहारा क्रांति के पारस्परिक संबंध को बताया गया था। निरस्त्रीकरण की मांग का मुख्य दोष यह है कि उसमें क्रांति के सभी ठोस प्रश्नों से दामन

बचाया जाता है। या ऐसा है कि निरस्त्रीकरण के समर्थक बिल्कुल ही नये क़िस्म की निःशस्त्र क्रांति के पक्ष में हैं?

आगे बढ़िये। हम किसी भी प्रकार सुधारों के लिए लड़ने के विरोधी नहीं हैं। हम इस दुःखद संभावना की ओर से आंखें नहीं मूंदना चाहते कि—यदि बुरी से बुरी बात हुई—यदि जनव्यापी बेचैनी तथा जनव्यापी असंतोष के अनेक विस्फोटों के बावजूद , और हमारी कोशिशों के बावजूद, वर्तमान युद्ध के फलस्वरूप क्रांति न हुई तो मानव-जाति को एक दूसरे साम्राज्यवादी युद्ध से होकर गुज़रना पड़ेगा। हम सुधारों के ऐसे कार्यक्रम के पक्ष में हैं जिसका रुख़ अवसरवादियों के **भी** ख़िलाफ़ हो। यदि हम सुधारों का सघर्ष पूरी तरह उनपर छोड़ दें और दुःखद वास्तविकता से भागकर अपने आपको बचा लें और बादलों से ऊपर कहीं बहुत ऊंचाई पर किसी प्रकार के "निरस्त्रीकरण" में शरण ले लें, तो अवसरवादी बहुत ख़ुश होंगे। "निरस्त्रीकरण" का मतलब अरुचिकर वास्तविकता के ख़िलाफ़ लड़ना नहीं बल्कि केवल उससे दूर भागना होता है।

ऐसे कार्यक्रम में हम कुछ इस प्रकार की बात कहेंगे: "१९१४-१६ के साम्राज्यवादी युद्ध में पितृभूमि की रक्षा का नारा तथा उसे स्वीकार करना एक पूंजीवादी झूठ की सहायता से मज़दूर आंदोलन को भ्रष्ट करने का एक साधन मात्र है।" ठोस प्रश्नों का इस प्रकार का ठोस उत्तर निरस्त्रीकरण की मांग तथा "हर प्रकार की" पितृभूति की रक्षा के परित्याग की अपेक्षा सिद्धांत की दृष्टि से ज़्यादा सही, सर्वहारा वर्ग के लिए ज़्यादा उपयोगी और अवसरवादियों के लिए ज़्यादा असह्य होगा। और हम उसमें यह भी कह सकते हैं: "सभी साम्राज्यवादी बड़ी ताक़तों का—इंगलैंड, फ़्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, इटली, जापान तथा संयुक्त राज्य अमरीका का—पूंजीपति वर्ग इतना प्रतिक्रियावादी हो गया है और संसार पर अपना प्रभुत्व जमाने की चेष्टा उसकी नस-नस में इतनी समा गयी है कि **उन** देशों **के पूंजीपति वर्ग** द्वारा चलाया जानेवाला **कोई भी** युद्ध प्रतिक्रियावादी होने के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता। सर्वहारा वर्ग को ऐसे सभी युद्धों का केवल विरोध ही नहीं करना चाहिये बल्कि उसे ऐसे युद्धों में 'स्वयं' अपनी सरकार की पराजय की इच्छा भी रखना चाहिये और यदि युद्ध को रोकने के उद्देश्य से किया गया विद्रोह असफल

सिद्ध हो तो उसे इस पराजय को क्रांतिकारी विद्रोह के लिए इस्तेमाल करना चाहिये।"

मिलिशिया के सवाल पर हम कहते हैं: हम पूंजीवादी मिलिशिया के पक्ष में नहीं हैं, हम केवल सर्वहारा मिलिशिया के पक्ष में हैं। इसलिए केवल स्थायी सेना के लिए ही नहीं बल्कि संयुक्त राज्य अमरीका, या स्विट्ज़रलैंड, नार्वे आदि जैसे देशों की पूंजीवादी मिलिशिया के लिए भी "न एक पाई, न एक भाई", विशेष रूप से इसलिए और भी कि हम देखते हैं कि सबसे अधिक स्वतंत्र जनतांत्रिक देशों में भी (उदाहरण के लिए स्विट्ज़रलैंड में) मिलिशिया प्रशा के रंग में दिन प्रतिदिन अधिक रंगती जा रही है, विशेष रूप से १९०७ तथा १९११ में, और हड़तालियों के विरुद्ध उसे इस्तेमाल करके उसका दुरुपयोग किया जा रहा है। हम यह मांग कर सकते हैं कि सभी अफ़सरों को जनता चुने, सारे फ़ौजी क़ानून रद्द कर दिये जायें, सभी विदेशी तथा देश में पैदा हुए मज़दूरों को समान अधिकार मिलें (यह बात उन साम्राज्यवादी राज्यों के प्रसंग में विशेष महत्व रखती है, जो, स्विट्ज़रलैंड की तरह, निरंतर बढ़ती हुई संख्या में विदेशी मज़दूरों का अधिकाधिक खुले तौर पर शोषण करते हैं और उन्हें अधिकार देने से इंकार करते हैं); इसके अलावा, मिसाल के लिए, उस देश के हर सौ निवासियों को स्वैच्छिक सैन्य-प्रशिक्षण के संगठन बनाने का अधिकार हो, वे स्वतंत्र रूप से अपने प्रशिक्षकों को चुन सकें जिन्हें राज्य की ओर से वेतन दिया जाये, आदि। केवल ऐसी ही परिस्थितियों में सर्वहारा वर्ग ग़ुलामों के मालिकों के लिए नहीं बल्कि **स्वयं अपने** लिए सैन्य-प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेगा और ऐसा प्रशिक्षण सर्वहारा के हितों के अनुरूप है। रूसी क्रांति ने दिखा दिया कि क्रांतिकारी आंदोलन की हर सफलता, किसी शहर पर, किसी फ़ैक्टरी वाले गांव पर या सेना के किसी हिस्से पर अधिकार हो जाने जैसी आंशिक सफलता भी—अनिवार्य रूप से विजयी सर्वहारा वर्ग को ठीक इसी प्रकार के कार्यक्रम को पूरा करने पर **मजबूर करती है।**

अंतिम बात यह कि यह तो मानी हुई बात है कि अवसरवाद के विरुद्ध केवल कार्यक्रमों के सहारे नहीं लड़ा जा सकता, उसके ख़िलाफ़ केवल इस प्रकार लड़ा जा सकता है कि इन कार्यक्रमों को सचमुच पूरा करने के बारे में निरंतर सतर्क रहा जाये। दिवालिया दूसरी इंटरनेशनल ने जो सबसे बड़ी और सबसे

सांघातिक भूल की वह यह थी कि वह जो कुछ कहती थी उसे करती नहीं थी, उसको मक्कारी तथा निर्लज्ज क्रांतिकारी लफ़्फ़ाज़ी की आदत पड़ गयी थी (बैसेल घोषणापत्र की तरफ़ काउत्स्की तथा उनकी मंडली के वर्तमान रवैये पर ध्यान दीजिये)। एक सामाजिक विचार के रूप में, – अर्थात् एक ऐसे विचार के रूप में जो एक ख़ास सामाजिक वातावरण से उत्पन्न होता है और जो एक ख़ास सामाजिक वातावरण पर अपना प्रभाव डाल सकता है और जो किसी एक आदमी की सनक भर नहीं है – निरस्त्रीकरण का विचार स्पष्टतः कुछ ऐसे छोटे-छोटे राज्यों में व्याप्त जीवन की असाधारण रूप से "शांत" परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ है जो बहुत समय से युद्धों के रक्तपातपूर्ण विश्वव्यापी मुख्य मार्ग से अलग रहे हैं और अलग रहने की आशा रखते हैं। इस बात पर विश्वास लाने के लिए, उदाहरण के लिए, नार्वे में निरस्त्रीकरण के समर्थकों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों पर ही विचार कर लेना काफ़ी होगा। वे कहते हैं: "हमारा देश एक छोटा-सा देश है। हमारी सेना बहुत छोटी-सी है और हम बड़ी ताक़तों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते" (और इसलिए बड़ी ताक़तों के किसी न किसी गुट के साथ साम्राज्यवादी **मैत्री-संधि** में ज़बर्दस्ती खींच लिये जाने का विरोध करने से भी लाचार हैं) ... "हम चाहते हैं कि हमें अपने अलग एक कोने में शांतिपूर्वक पड़ा रहने दिया जाये, और हमें अपनी संकुचित राजनीति चलाने, निरस्त्रीकरण, अनिवार्य रूप से सुलह-समझौता करानेवाले न्यायालयों, स्थायी निष्पक्षता आदि की" (निःसंदेह बेल्जियम के ढंग की "स्थायी"?) "मांग करते रहने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाये।"

छोटे-छोटे राज्यों की सबसे अलग रहने की तुच्छ चेष्टा, विश्व इतिहास की बड़ी-बड़ी लड़ाइयों से यथासंभव दूर रहने की और बिल्कुल जकड़ी हुई निष्क्रियता की स्थिति में क़ायम रहने के लिए अपनी अपेक्षतः एकाधिकारी स्थिति का फ़ायदा उठाने की निम्न-पूंजीवादी इच्छा – यह है वह **वस्तुगत** सामाजिक वातावरण जिसके कारण कुछ छोटे राज्यों में निरस्त्रीकरण के विचार को कुछ हद तक सफलता तथा कुछ हद तक लोकप्रियता प्राप्त होना सुनिश्चित हो सकता है। जाहिर है, यह चेष्टा प्रतिक्रियावादी और पूर्णतः भ्रमों पर आधारित है, क्योंकि किसी न किसी तरीक़े से साम्राज्यवाद छोटे राज्यों को विश्व अर्थतंत्र तथा विश्व राजनीति की भंवर में खींच लाता है।

उदाहरण के लिए, स्विट्ज़रलैंड के साम्राज्यवादी वातावरण के कारण उसके मज़दूर आंदोलन के लिए वस्तुगत रूप से **दो** मार्ग खुलते हैं: अवसरवादी, पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर, साम्राज्यवादी पूंजीवादी पर्यटकों से ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा बटोरने के लिए स्विट्ज़रलैंड को एक जनतांत्रिक-जनवादी इजारेदार संघ में परिवर्तित कर देने और इस "शांत" इजारेदार स्थिति को यथासंभव लाभप्रद तथा शांत रूप से इस्तेमाल करने की कोशिश कर रहे हैं।

स्विट्ज़रलैंड के सच्चे सामाजिक-जनवादी यूरोप की मज़दूर पार्टियों के क्रांतिकारी तत्वों की घनिष्ठ मैत्री को विजय प्राप्त करने में सहायता पहुंचाने के लिए स्विट्ज़रलैंड की आपेक्षिक स्वतंत्रता तथा उसकी "अंतर्राष्ट्रीय" स्थिति का लाभ उठाने की कोशिश कर रहे हैं। भगवान की कृपा से स्विट्ज़रलैंड की "अपनी अलग कोई भाषा" नहीं है बल्कि वहां तीन विश्वव्यापी भाषाएं बोली जाती हैं, ठीक वही भाषाएं जो पड़ोस के युद्धरत देशों में बोली जाती हैं।

यदि स्विट्ज़रलैंड की पार्टी के बीस हज़ार सदस्य एक प्रकार के "अतिरिक्त युद्ध-कर" के रूप में प्रति सप्ताह दो-दो सेंटीम चंदा दें तो हमें साल भर में लगभग बीस हज़ार फ़्रांक की रक़म मिल सकती है, यह रक़म इतनी काफ़ी होगी कि हम समय-समय पर मज़दूरों के उभरते हुए विद्रोहों के बारे में, फ़ौजी खंदकों में उनके भाई-चारे के प्रदर्शन के बारे में, "स्वयं अपने" देशों के साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ अपने हथियार क्रांतिकारी ढंग से इस्तेमाल करने की उनकी आशा के बारे में, तथा ऐसी ही दूसरी बातों के बारे में जो सच्चाई है उससे संबंधित सारी सामग्री तीनों भाषाओं में प्रकाशित करके – फ़ौजी कमानों द्वारा लगायी गयी पाबंदियों के बावजूद – युद्धरत देशों के मज़दूरों तथा सिपाहियों के बीच बंटवा दें।

यह सब कुछ कोई नयी बात नहीं है। *«La Sentinelle»*[165], *«Volksrecht»*[166] तथा *«Berner Tagwacht»*[167] जैसे सर्वोत्तम अख़बार ठीक यही काम कर रहे हैं, यद्यपि दुर्भाग्यवश वे इस काम को काफ़ी बड़े पैमाने पर नहीं कर पा रहे हैं। केवल इसी प्रकार की कार्रवाइयों द्वारा आराऊ पार्टी कांग्रेस[168] का शानदार निर्णय केवल एक शानदार निर्णय मात्र न रहकर उससे कुछ अधिक बन सकता है।

हमें इस समय जिस प्रश्न में दिलचस्पी है वह यह है: क्या निरस्त्रीकरण की मांग स्विट्ज़रलैंड के सामाजिक-जनवादियों के बीच पायी जानेवाली क्रांतिकारी धारा के अनुकूल है? स्पष्टतः नहीं। वस्तुगत दृष्टि से, "निरस्त्रीकरण" छोटे राज्यों का अत्यंत जातीय, विशिष्ट रूप से जातीय कार्यक्रम है, वह अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद का अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम कदापि नहीं है।

सितम्बर १९१६ में लिखा गया
पहली बार «*Jugend-Internationale*»
के सितम्बर तथा अक्तूबर १९१७ के
अंक ९ तथा १० में प्रकाशित किया गया
हस्ताक्षर: *N. Lenin*

१९२९ में, व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत
रचनाएं, दूसरा और तीसरा संस्करण,
खंड १९ में पहली बार रूसी भाषा में
प्रकाशित किया गया।

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड २३, पृष्ठ ९५-७६

१६०५ की क्रान्ति पर भाषण[169]

नौजवान दोस्तो और साथियो!

आज "ख़ूनी इतवार" की बारहवीं वर्षगांठ है, जिसे उचित ही रूसी क्रान्ति का आरंभ माना जाता है।

ज़ार के सामने अपनी दरख़ास्त पेश करने के लिए हज़ारों-हज़ारों मज़दूर— सामाजिक-जनवादी नहीं बल्कि राजभक्त और धर्मभीरु लोग—गपोन नामक पादरी के नेतृत्व में शहर के हर हिस्से से राजधानी के केन्द्र की ओर, शिशिर प्रासाद के सामने के मैदान की ओर उमड़े आ रहे हैं। उनके हाथों में देवताओं के चित्र हैं। गपोन ने, जो उस समय उनका नेता था, पत्र लिखकर ज़ार को उनकी व्यक्तिगत सुरक्षा का आश्वासन दिया था और उनसे जनता के सामने प्रगट होने की प्रार्थना की थी।

सेनाएं बुलाई जाती हैं। उल्हान और कज़्ज़ाक तेग़-तलवारों के साथ भीड़ पर टूट पड़ते हैं। निहत्थे मज़दूरों पर गोलियां चलाई जाती हैं, जो घुटने टेक-टेककर कज़्ज़ाकों से विनती करते हैं कि वे उन्हें ज़ार के पास जाने दें। पुलिस की रिपोर्ट के अनुसार उस दिन एक हज़ार से अधिक आदमी मारे गये और दो हज़ार से अधिक घायल हुए। मज़दूरों का क्रोध अवर्णनीय था।

बहुत ही मोटे तौर से देखने पर २२ जनवरी, १६०५ की—"ख़ूनी इतवार" की—यह तस्वीर थी।

उस घटना के ऐतिहासिक महत्त्व का और भी स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए मैं मज़दूरों की दरख़ास्त में से कई एक अंश पढ़कर आपको सुनाऊंगा। दरख़ास्त निम्नलिखित ढंग से शुरू होती है:

"हम मज़दूर, पीटर्सबर्ग के निवासी, आपके हुज़ूर में आये हैं। हम

दुखी हैं, दुतकारे हुए गुलाम, हम अत्याचार और तानाशाही के कुचले हुए हैं। जब हमारे सब्र का प्याला लबरेज़ हो गया, तब हमने काम बन्द कर दिया और अपने मालिकों से प्रार्थना की कि हमें केवल वह दे दिया जाये जिसके बिना जीवन एक यातना बन गया है। मगर यह सब कुछ नामंजूर कर दिया गया, मिल मालिकों को हर बात ग़ैर-क़ानूनी मालूम हुई। यहां पर उपस्थित हम कई हज़ार लोगों को, रूस की तमाम जनता की तरह ही, किसी तरह का कोई भी इन्सानी हक़ नहीं हासिल है। आपके पदाधिकारियों की वजह से हम ग़ुलाम बन गये हैं।"

दरख़ास्त में निम्नांकित मांगें गिनाई गयी हैं: राजबन्दियों की आम रिहाई की जाये, नागरिक स्वतंत्रता दी जाये, ठीक मज़दूरी दी जाये, ज़मीन धीरे-धीरे जनता को हस्तान्तरित की जाये, आम और बराबर मताधिकार के आधार पर एक संविधान सभा बुलाई जाये; और दरख़ास्त इन शब्दों के साथ ख़त्म होती है: "राजन्! अपनी प्रजा की सहायता करने से इनकार न करें! उस दीवार को ढहा दें जो आप और आपकी प्रजा के बीच खड़ी है! आप आज्ञा दें और शपथपूर्वक कहें कि हमारी प्रार्थना स्वीकार की जाये। इस तरह आप समूचे रूस को सुखी बनायेंगे। अगर नहीं, तो हम इसी स्थान पर जान दे देने के लिए तैयार हैं। हमारे लिए केवल दो ही रास्ते हैं: आज़ादी और सुख, या क़ब्र।"

एक कट्टरपंथी पादरी के नेतृत्व में चलनेवाले अशिक्षित, निरक्षर मज़दूरों की उस दरख़ास्त को **अब** पढ़ने पर आदमी को एक विचित्र भावना का बोध होता है। वह अनचाहे ही उस सीधी-सादी दरख़ास्त और उन शांतिमय प्रस्तावों में समानता देखता है जिन्हें आज के दिन सामाजिक-शान्तिवादियों ने पास किया है, यानी उन लोगों ने पास किया जो समाजवादी होना तो चाहते हैं पर जो वस्तुतः पूंजीवादी नारेबाज़ ही हैं। क्रान्तिपूर्व रूस के अज्ञानी मज़दूर यह नहीं जानते थे कि ज़ार प्रमुख है **शासक वर्ग का**, यानी उन बड़े ज़मींदारों के वर्ग का जिनका बड़े पूंजीपतियों के साथ हज़ार सूत्रों द्वारा गठबन्धन हो चुका है और जो हर हिंसात्मक उपाय से उनकी इजारेदारी, उनके विशेषाधिकारों और उनके मुनाफ़ों की रक्षा करने को तैयार हैं। आज के सामाजिक-शान्तिवादी, जो – मज़ाक़ दरकिनार! – "उच्च शिक्षित" जंचना चाहते हैं, यह नहीं महसूस

करते कि जो पूंजीवादी सरकारें एक साम्राज्यवादी डाकेज़नी के युद्ध में लगी हुई हैं उनसे "जनवादी" शान्ति की आशा करना वैसी ही मूर्खता है जैसी मूर्खता यह सोचने में थी कि शान्तिमय दरख़ास्तों के ज़रिए ख़ूनी ज़ार को जनवादी सुधार देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

फिर भी, इन सब कुछ के बावजूद उनमें महान अन्तर यह है कि आज के सामाजिक-शांतिवादी बहुत हद तक मिथ्याचारी हैं, जो मीठे बहकावे के ज़रिए जनता को क्रान्तिकारी संघर्ष से विरत कर देने की कोशिश कर रहे हैं, जबकि क्रान्तिपूर्व रूस के अशिक्षित रूसी मज़दूरों ने कार्यतः यह सिद्ध कर दिया था कि वे ईमानदार लोग थे, जिनमें पहले पहल राजनीतिक चेतना जागृत हुई थी।

राजनीतिक चेतना तथा क्रान्तिकारी संघर्ष के प्रति जनता के विशाल समूहों के इस जागरण में ही २२ जनवरी १९०५ का ऐतिहासिक महत्त्व है।

"रूस में अभी तक क्रान्तिकारी जनता नहीं है," ऐसा वक्तव्य "ख़ूनी इतवार" से **दो दिन पहले** श्री प्योत्र स्त्रूवे ने दिया था, जो उस समय रूसी उदारपंथियों के नेता थे और देश के बाहर से एक ग़ैर-क़ानूनी स्वतंत्र अख़बार का प्रकाशन करते थे। पूंजीवादी सुधारवादियों के उस "उच्च शिक्षित" महादंभी और नितान्त निर्बुद्धि नेता को यह विचार बहुत ही मूर्खतापूर्ण लगा था कि एक निरक्षर किसान देश भी क्रान्तिकारी जनता पैदा कर सकता है! उन दिनों के सुधारवादियों को—आज के सुधारवादियों की तरह ही—इस बात का कितना गंभीर विश्वास था कि एक वास्तविक क्रान्ति असंभव है!

२२ जनवरी (पुराने ढंग से ९ जनवरी), १९०५ से पहले रूस की क्रान्तिकारी पार्टी में थोड़े से गिने-चुने लोग ही थे, और उन दिनों के सुधारवादी (ठीक आज के सुधारवादियों की तरह ही) हमें एक "सम्प्रदाय" कहकर हमारी हंसी उड़ाते थे। कुछ सौ क्रान्तिकारी संगठनकर्त्ता, स्थानीय संगठनों के कुछ हज़ार सदस्य, आधा दर्जन क्रान्तिकारी पर्चे जो महीने में एक बार से अधिक नहीं निकल पाते थे और मुख्यतः विदेशों से प्रकाशित होते थे तथा अकल्पनीय कठिनाइयों और भारी क़ुर्बानियों की क़ीमत पर रूस में चोरी छिपे पहुंचाये जाते थे—ऐसी थीं २२ जनवरी, १९०५ से पहले रूस की

क्रान्तिकारी पार्टियां और ऐसा था विशेषत: क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद। ऐसी परिस्थिति के कारण संकुचित बुद्धि और दंभी सुधारवादियों को यह दावा करने के लिए नियमित आधार मिला कि रूस में उस समय तक क्रान्तिकारी जनता का अस्तित्व नहीं था।

फिर भी, कुछ महीनों के भीतर ही तस्वीर एकदम बदल गई। क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों की संख्या "यकायक" सैकड़ों से बढ़कर हज़ारों तक पहुंच गई और वे हज़ारों, बीस से तीस लाख तक सर्वहारा के नेता बने। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष ने पांच करोड़ से दस करोड़ तक किसान जनता में गहरी और ज़ोरदार अशान्ति तथा आंशिक रूप से एक क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म दिया। किसान आन्दोलन की गूंज फ़ौज में पहुंची, जिसके फलस्वरूप सैनिकों के विद्रोह हुए, फ़ौज के एक हिस्से और दूसरे हिस्से के बीच हथियारबन्द टक्करें हुईं। इस प्रकार तेरह करोड़ आबादी के एक विशाल देश ने क्रान्ति में प्रवेश किया। इस प्रकार ऊंघता हुआ रूस क्रान्तिकारी सर्वहारा और क्रान्तिकारी जनता के रूस में परिणत हो गया।

इस परिवर्तन का अध्ययन करना है, इसकी संभावनाओं, रीतियों और रास्तों को समझ लेना चाहिए।

इस परिवर्तन का मुख्य साधन **सामूहिक हड़ताल** था। रूसी क्रान्ति की विशेषता ठीक इस बात में थी कि सामाजिक अन्तर्य की दृष्टि से वह **पूंजीवादी-जनवादी** क्रान्ति थी, किन्तु संघर्ष के साधनों की दृष्टि से **सर्वहारा** क्रान्ति थी। वह पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति इसलिए थी कि जिस लक्ष्य की ओर वह सीधे प्रयत्नशील थी और जिसे वह सीधे अपनी ही शक्तियों से प्राप्त कर सकती थी, वह था एक जनवादी जनतंत्र, आठ घंटे का दिन और रईसों की बड़ी बड़ी रियासतों की ज़ब्ती – और ये सब ऐसे काम थे जिन्हें फ़्रांस में १७९२ और १७९३ की पूंजीवादी क्रान्ति लगभग पूरी तरह कर चुकी थी।

इसके साथ ही रूसी क्रान्ति एक सर्वहारा क्रान्ति भी थी, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि उसमें प्रमुख शक्ति सर्वहारा वर्ग था, वह आन्दोलन का हरावल दस्ता था, बल्कि इसलिए भी कि सर्वहारा वर्ग का विशिष्ट संघर्ष साधन, यानी हड़ताल, जनता को आन्दोलित करने का मुख्य साधन था और वही निर्णायक घटनाओं के उठते-गिरते विकास का सबसे अधिक चारित्रिक स्वरूप था।

संसार के इतिहास में रूसी क्रान्ति ही वह **पहली** महान क्रान्ति है—पर निश्चय ही वह अन्तिम नहीं होगी—जिसमें सामूहिक राजनीतिक हड़ताल ने असाधारण रूप से बड़ी भूमिका अदा की। यह भी दावा किया जा सकता है कि रूसी क्रान्ति की घटनाओं और उसके राजनीतिक स्वरूप-परिवर्तनों को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक **हड़ताल के आंकड़ों की सहायता से** उन घटनाओं और उन स्वरूप-परिवर्तनों के आधार का अध्ययन नहीं किया जायेगा।

मैं अच्छी तरह जानता हूं कि किसी भाषण के लिए नीरस आंकड़े कितने अनुपयुक्त होते हैं, और उनके कारण श्रोताओं के ऊब जाने की कितनी संभावना रहती है। इसके बावजूद मोटे तौर से कुछ संख्याएं उद्धृत करने से मैं बाज़ नहीं आ सकता, ताकि आप समूचे आन्दोलन के सही-सही वस्तुगत आधार का मूल्यांकन कर सकें। क्रान्ति से पहले के दस वर्ष में रूस में हड़तालियों की संख्या औसतन ४३ हज़ार सालाना थी। इस प्रकार क्रान्ति से पहले के पूरे दशक में हड़तालियों की संख्या ४ लाख ३० हज़ार थी। १९०५ की जनवरी में, यानी क्रान्ति के पहले महीने में, हड़तालियों की संख्या ४ लाख ४० हज़ार थी। इस प्रकार केवल **एक महीने** में ही हड़तालियों की संख्या गत पूरे दशक की संख्या से **अधिक** थी!

रूस में जैसा बेहद ज़ोरदार हड़ताल आन्दोलन १९०५ में हुआ, वैसा संसार के किसी और पूंजीवादी देश ने नहीं देखा है—इंगलैंड, संयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी जैसे अत्यन्त आगे बढ़े हुए देशों ने भी नहीं। हड़तालियों की कुल संख्या २८ लाख थी—रूस के कुल मिल मज़दूरों की संख्या से दुगुनी! निश्चय ही इससे यह नहीं साबित होता कि रूस के शहरी मिल मजदूर पश्चिमी यूरोप के अपने भाइयों की अपेक्षा अधिक शिक्षित, अधिक शक्तिशाली या संघर्ष के लिए अधिक साधन सम्पन्न थे। सच बात इसके बिल्कुल ही विपरीत है।

किन्तु इससे यह तो प्रगट होता ही है कि सर्वहारा वर्ग की सोई हुई शक्ति कितनी महान हो सकती है। इससे प्रगट होता है कि सर्वहारा वर्ग साधारण शान्तिमय समय की अपेक्षा एक क्रान्तिकारी दौर में **सौगुनी** लड़ाकू शक्ति का विकास कर **सकता है**। मैं यह दावा बिना किसी अतिशयोक्ति के, रूसी इतिहास के अत्यन्त यथार्थ आंकड़ों के आधार पर, करता हूं। इससे प्रगट

होता है कि लगातार १९०५ तक मानवजाति को यह नहीं मालूम था कि जब सर्वहारा वर्ग वास्तविक महान लक्ष्यों के लिए लड़ने पर उतर आता है और सच्चे क्रान्तिकारी ढंग से लड़ने पर आ जाता है, तब वह कितनी महान, कितनी असीम शक्ति का परिचय दे सकता है और देगा!

रूसी क्रान्ति का इतिहास हमें यह बताता है कि ठीक हरावल दस्ता ही, पगार मज़दूरों का चुना हुआ तत्व ही, सबसे अधिक दृढ़ता और सबसे अधिक आत्म-बलिदान के साथ लड़ा। जितना ही बड़ा कारख़ाना था, उतना ही दृढ़ और साल में उतनी ही बार अधिक हड़तालें हुईं। जितना ही बड़ा शहर था, संघर्ष में उतनी ही बड़ी भूमिका सर्वहारा वर्ग ने अदा की। तीन सबसे बड़े शहर—पीटर्सबर्ग, रीगा और वार्सा—जहां सबसे अधिक वर्ग-चेतन और सबसे अधिक बहुसंख्यक मज़दूर रहते हैं, वहां हड़तालियों की संख्या कुल मज़दूरों की संख्या की तुलना में, देहाती क्षेत्रों की तो बात ही क्या, अन्य सभी शहरों के हड़तालियों की संख्या की अपेक्षा भी अगणित रूप से अधिक थी।

रूस का धातु-मज़दूर सर्वहारा वर्ग का हरावल दस्ता है, जो बात संभवतः दूसरे पूंजीवादी देशों के बारे में भी सही है। और यहीं हमें निम्नांकित शिक्षाप्रद तथ्य देखने को मिलते हैं: १९०५ में हड़तालियों की संख्या रूस के मज़दूरों की कुल संख्या का १६० फ़ीसदी थी, जबकि उसी साल में **धातु-मज़दूरों** में हड़तालियों की संख्या धातु-उद्योग में काम करनेवाले कुल मज़दूरों की संख्या का ३२० फ़ीसदी थी। यह हिसाब लगाया गया है कि १९०५ में हर रूसी मज़दूर ने हड़ताल के कारण औसतन १० रूबल—युद्ध से पहले के विनिमय-दर के अनुसार २६ फ़्रांक—खोया, मानो यह रक़म उसने संघर्ष के लिए भेंट कर दी। किन्तु यदि हम केवल धातु-मज़दूरों को ही लें तो पायेंगे कि उनके नुक़सान की औसत रक़म **तीन गुना अधिक** थी! अगली क़तार में मज़दूर वर्ग के सर्वोत्तम तत्व मार्च करते थे, लड़खड़ाते को संभालते हुए, सोते को जगाते हुए और कमज़ोरों को हिम्मत बंधाते हुए।

क्रान्ति के समय में राजनीतिक के साथ आर्थिक हड़तालों का गुंथन एक असाधारण रूप से अद्भुत था। इसमें सन्देह नहीं कि हड़ताल के इन दो रूपों के बीच घनिष्ठतम सम्बन्ध से ही आन्दोलन के लिए महान बल की गारंटी हुई । शोषितों का विस्तृत समूह संभवतः क्रान्तिकारी आन्दोलन में न शामिल

हुआ होता, यदि उसने इस बात के रोज़-रोज़ उदाहरण न देखे होते कि विभिन्न उद्योगों से पगार मज़दूर किस प्रकार अपनी हालतों में प्रत्यक्ष और तात्कालिक सुधार करने के लिए पूंजीपतियों को मजबूर कर देते हैं। उस संघर्ष ने सम्पूर्ण रूसी जनता में एक नया जोश भर दिया। तभी जाकर भूदासता से ग्रस्त, एकान्त-निद्रित, पित्रक, धर्मात्मा और आज्ञाकारी रूस ने बाबा आदम का सड़ा-गला चोला उतार फेंका; तभी जाकर रूसी जनता ने वास्तविक जनवादी, वास्तविक क्रान्तिकारी शिक्षा पाई।

जब पूंजीवादी सज्जन और उनकी हां में हां मिलानेवाले चाटुकार, समाजवादी सुधारवादी, बहुत दंभपूर्वक जनता को "शिक्षा देने" की बात करते हैं, तो उनका मतलब होता है कुछ स्कूली ढंग की पंडिताऊ शिक्षा, वह शिक्षा जो जनता का मनोबल भंग करती है और उसमें पूंजीवादी पूर्वाग्रह भरती है।

जनता की वास्तविक शिक्षा को कभी भी स्वतंत्र राजनीतिक संघर्ष से, और विशेषतः उस क्रान्तिकारी संघर्ष से अलग नहीं किया जा सकता जिसमें जनता ख़ुद जुटी होती है। केवल संघर्ष ही शोषित वर्ग को शिक्षा देता है, केवल संघर्ष ही उसे अपनी शक्ति की सीमा का ज्ञान कराता है, उसके दृष्टिकोण को विस्तृत बनाता है, उसकी योग्यताओं को बढ़ाता है, उसके दिमाग़ को साफ़ करता है और उसके इरादों को इस्पात की तरह दृढ़ बनाता है। इसलिए, प्रतिक्रियावादियों को भी यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि १९०५ ने, संघर्ष के साल ने, "पागलपन के साल" ने, निश्चित रूप से पित्रक रूस को दफ़ना दिया।

१९०५ के हड़ताल संघर्ष में रूस के धातु-मज़दूरों और सूती मिल मज़दूरों के पारस्परिक अनुपात की और बारीकी से जांच करना चाहिए। धातु-मज़दूर सर्वहारा वर्ग में सबसे अधिक मज़दूरी पानेवाले, सबसे अधिक वर्ग-चेतन और सबसे अधिक सुसंस्कृत हैं। सूती मिल मज़दूर, रूस में जिनकी संख्या १९०५ में धातु-मज़दूरों से ढाई गुना अधिक थी, अत्यन्त पिछड़ा हुआ और बहुत कम मज़दूरी पानेवाला मज़दूर समुदाय है; और उसमें से अत्यधिक लोगों ने देहाती क्षेत्रों में रहनेवाले अपने किसान पारिवारिकों से अभी अन्तिम रूप से सम्बन्ध-विच्छेद भी नहीं किया है। यहां हमें निम्नलिखित बहुत ही महत्त्वपूर्ण परिस्थिति का सामना करना पड़ता है।

१९०५ के पूरे साल में हुई धातु-मज़दूरों की हड़तालों से प्रगट होता है कि उनमें आर्थिक की अपेक्षा राजनीतिक हड़तालों की प्रमुखता रही, यद्यपि वह प्रमुखता साल के शुरू में अभी प्रायः उतनी अधिक नहीं थी जितनी साल के अंत में थी। दूसरी ओर हम सूती मिल मज़दूरों में यह देखते हैं कि १९०५ के शुरू में उनकी हड़तालों में आर्थिक हड़तालों की बहुत प्रमुखता थी, और केवल साल के अन्त में जाकर ही उसका स्थान राजनीतिक हड़तालों की प्रमुखता ने लिया। इससे यह बहुत स्पष्ट नतीजा निकलता है कि केवल आर्थिक संघर्ष, केवल एक ऐसा संघर्ष जो हालतों में प्रत्यक्ष और तत्काल सुधार के लिए किया जाता है, शोषित जनता के अत्यन्त पिछड़े हुए हिस्सों को प्रोत्साहित कर सकता है, वही उन्हें शिक्षा देता है और वही–एक क्रान्तिकारी दौर में–उन्हें चन्द महीनों के भीतर ही राजनीतिक लड़ाई लड़नेवालों की एक फ़ौज के रूप में बदल देता है।

अवश्य ही, ऐसा परिवर्तन लाने के लिए मज़दूरों के हरावल दस्ते को यह समझना था कि वर्ग-संघर्ष एक ऐसा संघर्ष नहीं है जो ऊपरी स्तर के चन्द लोगों के हित में किया जाता है, जैसा कि सुधारवादियों ने अनेक-अनेक बार मज़दूरों को विश्वास दिलाने की कोशिश की है; बल्कि यह कि सर्वहारा वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह शोषितों के बहुसंख्यक भाग के वास्तविक हरावल दस्ते के रूप में सामने आये और उस बहुसंख्यक भाग को संघर्ष में खींचे, जैसा १९०५ में रूस में हुआ और जैसा यूरोप की आगामी सर्वहारा क्रान्ति में अवश्य होना चाहिए और निस्सन्देह होगा।

१९०५ के आरंभ में हड़ताल आन्दोलन की पहली बड़ी धारा सारे देश में फैली। उसी साल के वसन्त में हमने रूस में पहले बड़े **किसान आन्दोलन** का जागरण देखा, जो केवल आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक भी था। इस तथ्य का महत्त्व, जिसने इतिहास में एक मोड़ का निर्देश किया, तभी समझा जा सकता है जब यह बात ध्यान में रखी जाये कि रूस में किसान अत्यन्त दमनकारी भू-दासता से अभी १८६१ में ही मुक्त हुए थे, कि बहुसंख्यक किसान निरक्षर हैं, अवर्णनीय अभावों में रहते हैं, ज़मींदारों द्वारा पददलित हैं, पादरियों द्वारा विभ्रान्त हैं और महान दूरियों तथा सड़कों के प्रायः नितान्त अभाव के कारण एक दूसरे से अलग-थलग हैं।

रूस में ज़ारशाही के ख़िलाफ़ एक क्रान्तिकारी आन्दोलन पहले पहल १८२५ में हुआ और उस आन्दोलन का प्रतिनिधित्व प्रायः एकमात्र अभिजात वर्ग के लोगों ने किया था। तब से १८८१ तक, जब आतंकवादियों ने अलेक्सान्द्र द्वितीय की हत्या कर डाली थी, आन्दोलन के नेता मध्यवर्गी बुद्धिजीवी रहे। उन्होंने असीम आत्म-बलिदान का प्रदर्शन किया और अपनी साहसपूर्ण आतंकवादी संघर्ष-पद्धति से सारे संसार में विस्मय पैदा कर दिया था। निस्सन्देह उनके बलिदान व्यर्थ नहीं थे, निस्सन्देह उन बलिदानों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रूसी जनता की आगामी क्रान्तिकारी शिक्षा में योगदान किया था। किन्तु वे जनता की क्रान्ति पैदा करने का अपना तात्कालिक लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सके, कर भी नहीं सकते थे।

वह केवल सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष से ही प्राप्त किया गया। रूस और जापान के साम्राज्यवादी युद्ध द्वारा पढ़ाये गये क्रूर पाठ के संबंध में सारे देश में व्याप्त सामूहिक हड़तालों की लहरों ने ही एकमात्र, किसान जनता को उसकी आलसभरी नींद से जगाया। "हड़ताली" शब्द में किसानों के लिए एक बिल्कुल ही नया अर्थ पैदा हो गया। वह कुछ-कुछ विद्रोही, क्रान्तिकारी जैसे अर्थ का बोधक हो गया, जो पहले "विद्यार्थी" शब्द द्वारा व्यक्त होता था। किन्तु चूंकि "विद्यार्थी" मध्यवर्गी होता था, "विद्वान लोगों" में से होता था, "कुलीनों" में से होता था, इसलिए वह जनता के लिए बेगाना था। इसके विपरीत "हड़ताली" जनता में से था और शोषित वर्ग का आदमी था; वह जब पीटर्सबर्ग से निर्वासित किया जाता था तब अक्सर अपने गांव लौट जाता था और वहां गांववालों को उस महाज्वाला की बात सुनाता था जो शहरों में फूट पड़ी थी और जो निश्चय ही पूंजीपतियों और रईसों दोनों को नष्ट कर देगी। रूस के देहाती क्षेत्रों में एक नये ढंग का आदमी – वर्ग-चेतन नौजवान किसान – पैदा हुआ। वह "हड़तालियों" से मेलजोल रखता था, अख़बार पढ़ता था, किसानों को उन घटनाओं के बारे में बताता था जो शहरों में होती थीं, अपने गांववालों को राजनीतिक मांगों के अर्थ समझाता था और उन्हें बड़े-बड़े ज़मींदारों-रईसों, पादरियों और सरकारी कर्मचारियों के ख़िलाफ़ लड़ने को ललकारता था।

किसान अपनी हालतों पर विचार करने के लिए टोलियों में जमा होते

श्रौर वे धीरे-धीरे संघर्ष में खिंच श्राये ; वे बड़े ज़मींदारों के ख़िलाफ़ झुंडों में निकले, उनके महलों में श्राग लगा दी, या उनके पशुश्रों को हांक ले गये, उनके श्रनाज श्रौर जीविका के दूसरे साधन छीन लिये, पुलिसवालों को मार डाला श्रौर यह मांग की कि रईसों की बड़ी-बड़ी रियासतों को जनता के हवाले कर दिया जाये।

१९०५ के वसन्त में किसान श्रान्दोलन श्रभी केवल श्रपनी प्राथमिक श्रवस्था में था, वह श्रल्पसंख्यक ज़िलों तक ही, ज़िलों की कुल संख्या के लगभग सातवें भाग तक ही, सीमित था।

किन्तु शहरों की सामूहिक मज़दूर हड़तालों के साथ देहातों के किसान श्रान्दोलन का संयोग ज़ारशाही के "सबसे दृढ़" श्रौर श्रन्तिम सहारे को हिला देने के लिए काफ़ी था। मेरा मतलब **सेना** से है।

सेना श्रौर नौसेना में **विद्रोह** का एक सिलसिला फूट पड़ा। क्रान्ति के दौरान में हड़ताल श्रौर किसान श्रान्दोलन की हर नयी धारा के साथ रूस के हर हिस्से में सेनाश्रों में भी विद्रोह हुए। उनमें सबसे श्रधिक प्रसिद्ध वह है जो काला सागर के 'प्रिंस पोत्योमकिन' नामक बख़्तरबन्द जहाज़ पर हुश्रा था, जिसने विद्रोहियों के श्रधिकार में श्राने के बाद श्रोदेस्सा में क्रान्ति में भाग लिया था श्रौर क्रान्ति की पराजय तथा दूसरे बन्दरगाहों (जैसे, क्रीमिया में फ़ेश्रोदोसिया) पर श्रधिकार करने के श्रसफल प्रयत्नों के बाद कोन्स्तान्त्सा में रूमानियन श्रधिकारियों को श्रात्म-समर्पण किया था।

मुझे श्रनुमति दीजिये कि मैं काले सागर के जहाज़ी बेड़े के इस विद्रोह से संबंधित एक छोटी सी घटना का विस्तार से वर्णन करूं ताकि घटनाश्रों के चरम विकास की ठोस तस्वीर श्रापके सामने श्रा सके।

> "क्रान्तिकारी मज़दूरों श्रौर मल्लाहों की सभाएं होती थीं, वे श्रौर जल्दी-जल्दी होने लगीं। चूंकि फ़ौजवालों को मज़दूरों की सभाश्रों में जाने की श्राज्ञा नहीं थी, इसलिए फ़ौजवालों की सभाश्रों में झुंड के झुंड मज़दूर पहुंचने लगे। वे हज़ारों की संख्या में जमा होते। संयुक्त संघर्ष के विचार का ज़ोरदार समर्थन हुश्रा। श्रधिक वर्ग-चेतन कम्पनियों ने श्रपने प्रतिनिधि चुने।

"तब सैनिक अधिकारियों ने कार्रवाई करने का फ़ैसला किया। कुछ अफ़सरों द्वारा सभाओं में 'देशभक्ति' के भाषण देने के दयनीय नतीजे निकले: मल्लाहों ने, जो वाद-विवाद के अभ्यस्त थे, अपने अफ़सरों को बेशर्मी के साथ भागने को मजबूर कर दिया। इन प्रयत्नों की असफलता के कारण सभाओं पर बिलकुल ही रोक लगा देने का फ़ैसला किया गया। २४ नवम्बर, १९०५ की सुबह को, मल्लाहों की एक कम्पनी पूरे फ़ौजी साज-बाज के साथ नौसैनिक बारिकों के फाटकों पर तैनात कर दी गई। रियर ऐडमिरल पिसारेव्स्की ने ऊंची आवाज़ में हुक्म दिया: 'किसी को बारिकों से निकलने मत दो। आज्ञा न मानने पर गोली मार दो।' जिस कम्पनी को यह आज्ञा दी गई थी, उसी की पांति में से पेत्रोव नामक एक मल्लाह निकला; उसने सबके सामने अपनी बन्दूक़ भरी और एक गोली से बेलोस्तोक रेजिमेंट के कप्तान स्टाइन का काम तमाम कर दिया तथा दूसरी से रियर ऐडमिरल पिसारेव्स्की को घायल कर दिया। किसी अफ़सर की आज्ञा गूंज उठी: 'पकड़ लो उसे!' पर कोई हिला नहीं। पेत्रोव ने अपनी बन्दूक़ ज़मीन पर फेंक दी और चिल्लाकर बोला: 'तुम वहां क्यों खड़े हो? पकड़ लो मुझे!' वह पकड़ लिया गया। वहां चारों तरफ़ से मल्लाह उमड़ पड़े। उन्होंने उसकी नेकचलनी पर अपने विश्वास की घोषणा करते हुए क्रोधपूर्वक उसकी रिहाई की मांग की। उत्तेजना अपने शीर्ष पर पहुंच गई।

"'पेत्रोव, गोली अकस्मात चल गई थी न? है न?'—परिस्थिति से निकलने का मार्ग ढूंढ़ने की कोशिश करते हुए एक अफ़सर ने पूछा।

"'आपका मतलब क्या है, अकस्मात? मैं पांति से बाहर निकला, गोली भरी और निशाना साधा। इसे अकस्मात कहा जाएगा?'

"'वे तुम्हारी रिहाई की मांग कर रहे हैं...'

"और पेत्रोव रिहा कर दिया गया। मगर मल्लाह उतने से ही संतुष्ट नहीं हुए; ड्यूटी पर जितने अफ़सर थे सभी गिरफ़्तार कर लिए गए, उनके हथियार छीन लिए गए और वे कम्पनी के हेडक्वार्टर पहुंचाए गए... मल्लाहों के प्रतिनिधियों ने, लगभग ४० आदमियों ने, रात भर विचार-विमर्श किया। निर्णय हुआ कि अफ़सरों को रिहा कर दिया जाए, पर उन्हें बारिकों में घुसने की आज्ञा न दी जाए..."

यह छोटा सा दृश्य स्पष्ट रूप से प्रगट कर देता है कि अधिकतर विद्रोहों में घटनाएं किस प्रकार विकसित हुईं। जनता की क्रान्तिकारी अशान्ति सेनाओं में फैले बिना रह ही नहीं सकती थी। यह चारित्रिक है कि आन्दोलन के नेता नौसेना और सेना की **उन इकाइयों** में से निकले जिन्हें मुख्यत: औद्योगिक मज़दूरों में से भर्ती किया गया था और जिनके लिए उच्चतर टेकनिकल प्रशिक्षा आवश्यक थी, उदाहरण के लिए सफ़रमैना। किन्तु आम जनता अभी अत्यन्त सरल, अत्यन्त शान्तिप्रिय, अत्यन्त नेक स्वभाव और अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थी। वह काफ़ी जल्दी उत्तेजित हो उठती थी – कोई अन्याय, अफ़सरों द्वारा कोई नितान्त कठोर व्यवहार, ख़राब खाना इत्यादि एक विस्फोट पैदा कर देने के लिए काफ़ी था। किन्तु उसमें लगन और लक्ष्य की स्पष्ट दृष्टि का अभाव था। वह इस बात को अच्छी तरह नहीं समझती थी कि क्रान्ति की सफलता की एकमात्र गारंटी सशस्त्र संघर्ष को केवल अत्यन्त उत्साहपूर्वक जारी रखने, केवल सभी सैनिक और नागरिक सत्ता पर विजय प्राप्त करने और सरकार को उलटने तथा शक्ति पर अधिकार करने में ही है।

सैनिकों और नौसैनिकों का आम समूह आसानी से विद्रोह कर देता था। पर उतनी ही आसानी से वह गिरफ़्तार अफ़सरों को रिहा कर देने जैसे सीधेपन और मूर्खता के काम भी कर देता था। वह अपने बड़ों के वादों और समझाने-बुझाने से शान्त हो जाता था। इस तरह अधिकारियों को बहुमूल्य समय मिल जाता था, वे कुमक मंगा लेते थे, विद्रोहियों की शक्तियों को चकनाचूर कर देते थे और उसके बाद अत्यन्त पाशविक दमन तथा नेताओं को प्राणदंड दिया जाना आरंभ हो जाता था।

१९०५ में रूसी सेनाओं में हुए विद्रोहों के साथ १८२५ में हुए दिसम्बरवालों के विद्रोह की तुलना विशेष रूप से रोचक है। उस समय राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व प्राय: एकमात्र अफ़सरों के, वह भी अभिजात्य वर्ग में पैदा अफ़सरों के हाथ में था। उन्हें नेपोलियन के युद्धों के समय के यूरोप के जनवादी विचारों की छूत लग गई थी। आम सिपाही, जो उस समय तक भूदास किसान ही थे, निष्क्रिय ही बने रहे।

१९०५ का इतिहास हमारे सामने इससे बिल्कुल ही भिन्न तस्वीर पेश करता है। कुछ अपवादों को छोड़कर, उस समय के अफ़सर या तो पूंजीवादी-

उदारपंथी, सुधारवादी या घोर प्रतिक्रान्तिवादी विचारों के थे। फ़ौजी वर्दीधारी मज़दूर श्रौर किसान ही विद्रोहों के प्राण थे, श्रौर इस प्रकार श्रान्दोलन जनता का श्रान्दोलन बन गया। उसमें शोषितों का बहुसंख्यक रूस के इतिहास में पहली बार सम्मिलित हुश्रा। उसमें जो कमी थी वह एक श्रोर तो यह थी कि जन-समुदाय में लगन श्रौर संकल्प का श्रभाव था श्रौर वह भरोसे के रोग से श्रत्यधिक पीड़ित था, तथा दूसरी श्रोर फ़ौजी वर्दीधारी क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी मज़दूरों में संगठन का श्रभाव था; उनमें नेतृत्व को श्रपने हाथों में लेने, क्रान्तिकारी सेना की श्रगली पांति में श्राकर खड़ा होने श्रौर सरकारी सत्ता के खिलाफ़ श्राक्रमण श्रारंभ करने की योग्यता का श्रभाव था।

प्रसंगवश मैं कहना चाहूंगा कि ये दोनों ख़ामियां, चाहे हमारे श्रनचाहे ढंग से धीरे-धीरे ही क्यों न हों, निश्चित रूप से दूर हो जाएंगी, न केवल पूंजीवाद के श्राम विकास के कारण बल्कि इस युद्ध के कारण भी...

१८७१ के पेरिस कम्यून के इतिहास की तरह ही रूसी क्रान्ति का इतिहास हमें हर हालत में यह निश्चयपूर्वक सिखाता है कि राष्ट्रीय सेना के एक भाग के विरुद्ध उसके दूसरे भाग के विजयी संघर्ष के सिवा श्रौर किसी साधन से कभी भी सैनिकतंत्र को पराजित श्रौर नष्ट नहीं किया जा सकता। सैनिकतंत्र की केवल निन्दा करना, उसे गालियां देना, उसका "खंडन" करना, उसकी श्रालोचना करना श्रौर यह कहना कि वह नाशकारी है, काफ़ी नहीं है; शान्तिपूर्वक सैनिक सेवा करने से इन्कार कर देना भी मूर्खता है—कर्तव्य यह है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी चेतना को भारी उत्तेजना की स्थिति में रखा जाए श्रौर न केवल साधारण तौर से, बल्कि ठोस रूप से, सर्वहारा वर्ग के श्रेष्ठतम तत्वों को इसके लिए तैयार किया जाए कि जिस घड़ी भी जनता की श्रशांति शीर्ष-बिन्दु पर पहुंच जाए, उस घड़ी वे क्रान्तिकारी सेना का नेतृत्व संभाल सकें।

किसी भी पूंजीवादी राज्य के दैनिक श्रनुभव हमें यही शिक्षा देते हैं। एक ऐसे राज्य द्वारा श्रनुभव किया जानेवाला हर "छोटा" संकट हमें छोटे रूप में लड़ाइयों के उन तत्वों श्रौर मूल सिद्धान्तों का परिचय देता है, जो निश्चय ही एक बड़े संकट के समय में श्रनिवार्य रूप से बड़े पैमाने पर दुहराये जायेंगे। उदाहरण के लिए, एक हड़ताल यदि पूंजीवादी समाज का एक छोटा संकट नहीं

तो और क्या है? प्रशा के गृह-मंत्री हेर फ़ॉन पुत्तकामेर ने क्या ये शब्द ठीक ही नहीं कहे थे कि "हर हड़ताल अपने भीतर क्रान्ति का अजगर छिपाये रहती है"? हड़तालों के समय सभी देशों में, यहां तक कि तथाकथित अत्यन्त शांतिमय, अत्यन्त "जनवादी" पूंजीवादी देशों में भी, फ़ौजों का बुलाया जाना क्या हमारे सामने यह नहीं प्रगट करता कि किसी सचमुच ही **बड़े** संकट के समय स्थिति **कैसी** होगी?

किन्तु अब मैं रूसी क्रान्ति के इतिहास की ओर लौटूंगा।

मैंने आपको यह बताने की कोशिश की है कि मज़दूरों की हड़तालों ने किस तरह सारे देश को और शोषितों के अत्यन्त विस्तृत तथा अत्यन्त पिछड़े हुए स्तरों को हिला दिया, किस तरह किसान आन्दोलन शुरू हुआ और किस तरह उसके साथ सेनाओं में होनेवाले विद्रोह जुड़े हुए थे।

१९०५ के पतझड़ में पूरा आन्दोलन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया। अगस्त की १९ (६) तारीख़ को ज़ार का वह घोषणापत्र निकला जिसमें एक प्रतिनिधि सभा बनाने का एलान था। वह तथाकथित बुलीगिन दूमा एक ऐसे मताधिकार क़ानून के आधार पर बनने को था, जिसमें मतदाताओं की एक अजीब छोटी संख्या निर्धारित की गई थी और जिसके द्वारा उस विलक्षण "संसद" को क़ानून बनाने के कोई अधिकार नहीं दिए गए थे; उसे केवल **सलाहकारी**, केवल परामर्श देने के अधिकार ही दिए गए थे!

पूंजीवादी, उदारपंथी और अवसरवादी, भयभीत ज़ार के इस "उपहार" को दोनों हाथों से ग्रहण करने को तैयार थे। सभी सुधारवादियों की तरह, हमारे १९०५ के सुधारवादी भी यह नहीं समझ सके कि ऐसी ऐतिहासिक परिस्थितियां पैदा होती हैं जब सुधार, और विशेषतः सुधारों के वादे, **मात्र एक** लक्ष्य का अनुसरण करते हैं, यानी जनता के असंतोष को शान्त कर देने के लक्ष्य का, संघर्ष को रोक देने या कम से कम धीमा कर देने के लिए क्रान्तिकारी वर्ग को विवश कर देने के लक्ष्य का।

रूस के क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद ने इस कर के, अगस्त १९०५ के मायावी विधान के इस अनुदान के, सच्चे चरित्र को स्पष्ट रूप से समझ लिया। इसलिए एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना उसने नारा दिया: सलाहकारी दूमा का नाश हो! दूमा का बहिष्कार करो! ज़ारशाही का नाश हो! इस

सरकार को उलटने की दृष्टि से क्रान्तिकारी संघर्ष को जारी रखो! पहली सच्ची जन प्रतिनिधि सभा ज़ार द्वारा नहीं, बल्कि अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार द्वारा बुलाई जानी चाहिए!

इतिहास के इस तथ्य ने कि **बुलीगिन दूमा** कभी बुलाई ही नहीं गई, यह सिद्ध कर दिया कि क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी सही थे। उसकी बैठक होने से पहले ही क्रान्तिकारी तूफ़ान उसे बहा ले गया और उस तूफ़ान ने ज़ार को एक नया चुनाव-क़ानून जारी करने तथा दूमा को एक क़ानून बनानेवाली सभा के रूप में स्वीकार करने को बाध्य किया। उस चुनाव-क़ानून द्वारा मतदाताओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गई।

१९०५ के अक्तूबर और दिसम्बर के महीनों में रूसी क्रान्ति की ऊपर उठती हुई वक्र-रेखा अपने शीर्ष-बिन्दु पर पहुंची। जनता की क्रान्तिकारी शक्ति के समस्त स्रोत पहले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप से उन्मुक्त हो गए। जैसा कि मैं आपको बता चुका हूं, जनवरी १९०५ में हड़तालियों की संख्या ४४० हज़ार थी, पर अक्तूबर में वह ५ लाख से भी अधिक हो गई (ध्यान में रखिए कि ऐसा केवल एक महीने में ही हुआ!)। फिर भी, यह संख्या **केवल** मिल मज़दूरों की है, जिसके साथ कई लाख रेलवे मज़दूरों, डाक-तार कर्मचारियों इत्यादि की संख्या भी अवश्य जोड़ी जानी चाहिए।

अखिल रूसी आम रेल-हड़ताल ने रेलवे के यातायात को ठप कर दिया और सरकार की शक्तियों को पूरी तरह पंगु बना दिया। विश्वविद्यालयों के दरवाज़े खुले हुए थे और जो लेक्चर-हॉल शान्ति के समय में एकमात्र इसलिए अभिप्रेत थे कि युवक-युवतियों के मस्तिष्क में अध्यापकीय, पुस्तकीय विज्ञता ठूंसी जाए और उन्हें पूंजीवादी वर्ग और ज़ारशाही के आज्ञाकारी सेवक के रूप में ढाला जाए, वे हज़ारों-हज़ारों मज़दूरों, कारीगरों और दफ़्तरी कर्मचारियों के सभा-स्थल का काम देने लगे, जहां वे खुले आम, स्वतंत्रतापूर्वक राजनीतिक प्रश्नों पर वाद-विवाद करते थे।

समाचारपत्रों की स्वतंत्रता भी हासिल की गई। सेन्सर का प्रतिबन्ध एकदम ही टूट गया। कोई प्रकाशक अधिकारियों के पास समाचारपत्र की वह प्रति भी भेजने का साहस नहीं करता था, जिसे भेजने का नियम था और जिसे भेजने के लिए वह क़ानूनन बाध्य था, और न अधिकारी ही इसके ख़िलाफ़ कोई

कार्रवाई करने का साहस करते थे। रूस के इतिहास में पहले पहल पीटर्सबर्ग और दूसरे शहरों में क्रान्तिकारी समाचारपत्र निकले। केवल पीटर्सबर्ग में ही तीन सामाजिक-जनवादी दैनिक पत्र निकले, जिनकी ५० हज़ार से एक लाख प्रतियां तक वितरित होती थीं।

सर्वहारा वर्ग आन्दोलन के आगे आगे मार्च करता था। वह क्रान्तिकारी ढंग से आठ घंटे का दिन जीतने के लिए आगे बढ़ा। उस समय पीटर्सबर्ग के मज़दूरों का लड़ाकू नारा था: **"आठ घंटे का दिन और हथियार दो!"** क्रान्ति का भाग्य-निर्णय केवल सशस्त्र संघर्ष द्वारा ही हो सकता है और होगा, यह बात प्रति दिन अधिकाधिक मज़दूर जनता के लिए स्पष्ट होती गई।

लड़ाई की आग में से एक विलक्षण जन-संगठन पैदा हुआ: **मज़दूरों के प्रतिनिधियों की** प्रसिद्ध **सोवियतें**, तमाम मिलों के प्रतिनिधियों की सभाएं। रूस के अनेक शहरों में **मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सोवियतें** अधिकाधिक अंशों में अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार की भूमिका अदा करने लगीं, विद्रोह के नेता और साधन की भूमिका अदा करने लगीं। सैनिकों और नौसैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतें बनाने और उन्हें मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सोवियतों से मिला देने के प्रयत्न किए गए।

उन दिनों रूस के कुछ शहरों में, कुछ मुद्दत के लिए, नाना प्रकार के छोटे-छोटे स्थानीय "जनतंत्र" बन गए, जिनमें सरकार की सत्ता अपदस्थ कर दी गई और मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सोवियतें नई राज्य-सत्ता के रूप में कार्य करने लगीं। दुर्भाग्य से वह मुद्दत अत्यन्त छोटी थी, "जीतें" बहुत क्षीण और बिखरी हुई थीं।

१९०५ के पतझड़ में किसान आन्दोलन ने और व्यापक रूप धारण कर लिया। उस समय तथाकथित "किसान उत्पातों" और वास्तविक किसान विद्रोहों से देश के **एक तिहाई से अधिक** ज़िले प्रभावित हो गए थे। किसानों ने दो हज़ार महलों में आग लगा दी और जीविका के साधनों को जिन्हें लुटेरे जमींदारों ने जनता से छीना था, आपस में बांट लिया।

दुर्भाग्य से यह काफ़ी अच्छी तरह नहीं किया गया! दुर्भाग्य से किसानों ने जमींदारों के महलों की कुल संख्या का १५वां भाग ही नष्ट किया, उस संख्या का १५वां भाग जिसे रूस की धरती से लज्जाजनक सामंती विशाल

ज़मींदारशाही को पूरी तरह मिटा देने के लिए कुल की कुल नष्ट कर देना **चाहिए** था। दुर्भाग्य से अपनी कार्रवाइयों में किसान अत्यन्त असंयुक्त, असंगठित और अपर्याप्त रूप से आक्रमणशील थे; और यह क्रान्ति की पराजय के आधारभूत कारणों में से एक कारण था।

रूस की पददलित जातियों में जातीय स्वाधीनता का एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। रूस में **आधी से अधिक, प्रायः तीन-पंचमांश (बिल्कुल ठीक कहें तो ५७ फ़ीसदी)** आबादी जातीय दमन का शिकार है, उसे अपनी देसी भाषाएं उपयोग में लाने की भी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त है, उसका बलात् रूसीकरण किया जा रहा है। उदाहरण के लिए, मुसलमानों ने, रूस में जिनकी संख्या करोड़ों में है, आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ उस समय एक मुसलिम लीग का संगठन कर लिया—सामान्यतः वह समय नाना प्रकार के संगठनों की प्रकाण्ड वृद्धि का युग था।

श्रोताओं को और विशेषतः नौजवान लोगों को यह बताने के लिए कि उस समय रूस में मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के सिलसिले में ही जातीय स्वाधीनता का आन्दोलन कैसे उठा, मैं आगे एक छोटा सा उदाहरण उपस्थित करूंगा।

दिसम्बर १९०५ में, सैकड़ों स्कूलों में, पोलिश स्कूली बच्चों ने सभी रूसी किताबें, तस्वीरें और ज़ार के चित्र जला डाले; अपने रूसी शिक्षकों और साथी-छात्रों को पीटा तथा यह आवाज़ लगाते हुए उन्हें स्कूल से मार भगाया कि "रूस वापस जाओ!" माध्यमिक स्कूलों के पोलिश छात्रों ने अन्य मांगों के साथ निम्नलिखित मांगें पेश कीं: "१) सभी माध्यमिक स्कूलों को मज़दूरों के प्रतिनिधियों की सोवियत के नियन्त्रण में अवश्य आना चाहिए; २) स्कूल की इमारत और हाते में छात्रों और मज़दूरों की संयुक्त सभाएं बुलाई जानी चाहिए; ३) आगामी सर्वहारा जनतंत्र की सदस्यता के चिन्ह स्वरूप स्कूल में लाल कुर्तियां पहनने की आज्ञा होनी चाहिए," इत्यादि।

आन्दोलन की लहर जितनी ही ऊंची उठी, उतनी ही प्रबलता और कृत-निश्चयता के साथ प्रतिक्रिया ने क्रान्ति से लोहा लेने की तैयारी की। १९०५ की रूसी क्रान्ति ने उस बात की पुष्टि कर दी जो क० काउत्स्की ने १९०२ में अपनी पुस्तक 'सामाजिक क्रान्ति' में लिखी थी (संयोगवश, उस समय तक वे

क्रान्तिकारी मार्क्सवादी थे, आज की तरह सामाजिक देशभक्तों और अवसरवादियों के वकील अभी नहीं बने थे)। उन्होंने निम्न प्रकार लिखा था:

..."आगामी क्रान्ति सरकार के ख़िलाफ़ अचानक विद्रोह के समान कम और एक दीर्घकालिक **गृहयुद्ध** के समान अधिक होगी।"

बिल्कुल यही बात हुई भी! निस्सन्देह यही बात आगामी यूरोपीय क्रान्ति में भी होगी!

ज़ारशाही ने अपनी नफ़रत का बुख़ार विशेषत: यहूदियों पर उतारा। एक ओर तो, क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेताओं में असाधारण रूप से अधिक प्रतिशत नेता (समूची यहूदी आबादी की तुलना में) यहूदी थे। संयोगवश, आज भी यहूदियों को यह श्रेय प्राप्त है कि अन्तर्राष्ट्रीयतावादी धारा के प्रतिनिधियों में उनकी संख्या और जातियों की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक प्रतिशत है। दूसरी ओर ज़ारशाही भली भांति जानती थी कि यहूदियों के ख़िलाफ़ **सामूहिक हत्या की मुहिमों** का बिल्कुल संचालन करने के लिए नहीं तो कम से कम उनका संगठन करने के लिए जनता की बेहद जाहिल जमातों के अत्यन्तहीन पूर्वाग्रहों का किस प्रकार इस्तेमाल किया जा सकता है–अनुमान किया जाता है कि उस अवधि के भीतर १०० शहरों में ४००० यहूदियों की हत्या की गई और १०,००० के अंग-भंग किए गए–शान्तिप्रिय यहूदियों, उनकी स्त्रियों और उनके बच्चों के वे राक्षसीय हत्याकाण्ड, जिनसे सारे सभ्य संसार में घृणा उमड़ पड़ी है। मेरे ध्यान में सभ्य संसार के सच्चे जनवादी तत्वों की घृणा है, जो **केवल** समाजवादी मज़दूर हैं, सर्वहारा वर्ग के लोग हैं।

अधिक से अधिक स्वतंत्र देशों और यहां तक कि पश्चिमी यूरोप के प्रजातांत्रिक देशों के भी पूंजीपति अपनी अत्यन्त निर्लज्ज सौदेबाज़ी के साथ, विशेषकर ज़ारशाही की आर्थिक सहायता करने और पूंजी निर्यात द्वारा रूस के साम्राज्यवादी शोषण आदि के कामों के साथ "रूसी अत्याचार" सम्बन्धी अपने ढोंग भरे वाक्यों का पूरी ख़ूबी के साथ मेल कर लेते हैं।

मास्को के दिसम्बर-विद्रोह के साथ १९०५ की क्रान्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुंची। नौ दिन तक विद्रोहियों की एक छोटी संख्या ने, अर्थात् संगठित सशस्त्र मज़दूरों ने–जो **आठ हज़ार** से अधिक नहीं थे–ज़ार की सरकार का प्रतिरोध किया, जो मास्को के फ़ौजी दस्तों पर भरोसा करना तो दूर उन्हें ताले

में बन्द रखने को विवश थी और जो केवल पीटर्सबर्ग से सेम्योनोव्स्की रेजिमेन्ट के आ जाने से ही विद्रोह को कुचलने में समर्थ हुई।

पूंजीवादी मास्को-विद्रोह की खिल्ली उड़ाना और कुछ कृत्रिम सी घटना के रूप में उसका वर्णन करना पसन्द करते हैं। उदाहरण के लिए, जर्मनी के तथाकथित "वैज्ञानिक" साहित्य में, अध्यापक श्री माक्स वेबेर ने, रूस के राजनीतिक विकास पर लिखित अपनी भारी भरकम पोथी में, मास्को-विद्रोह को एक "पुत्श" (क्षणिक विस्फोट) कहा है। महापंडित अध्यापक श्री ने लिखा है, "लेनिन के दल और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के एक भाग ने बहुत दिनों से इस **निरर्थक** विद्रोह के लिए तैयारी की थी।"

कायर पूंजीवादियों की अध्यापकीय विज्ञता का मूल्यांकन उसके उपयुक्त ढंग से ही करने के लिए हड़ताल के आंकड़ों की नीरस संख्याओं का स्मरण पर्याप्त होगा। जनवरी १९०५ में विशुद्ध राजनीतिक हड़ताली रूस में केवल १,२३,००० थे, अक्तूबर में वे ३,३०,००० हो गए और उनकी संख्या **दिसम्बर में अधिकतम हो गयी,** यानी केवल एक मास में ३,७०,००० विशुद्ध राजनीतिक हड़ताली! आइए हम क्रान्ति की उठती हुई लहर की, किसानों और सैनिकों के विद्रोहों की याद करें, और हमें तुरंत निश्चित विश्वास हो जाएगा कि दिसम्बर-विद्रोह के बारे में पूंजीवादी "विज्ञान" का निर्णय केवल मूर्खतापूर्ण ही नहीं है, बल्कि उस कायर पूंजीवादी वर्ग की शाब्दिक हीलेबाजी भी है जो यह समझता है कि सर्वहारा वर्ग उसका सबसे भयानक वर्ग-शत्रु है।

यथार्थतः रूसी क्रान्ति का सम्पूर्ण विकास अनिवार्य रूप से ज़ार की सरकार और वर्ग-चेतन सर्वहारा के हरावल दस्ते के बीच एक निर्णायक सशस्त्र संग्राम की ओर अग्रसर हो रहा था।

मैं अपनी पहले की उक्तियों में बता चुका हूं कि रूसी क्रान्ति की कमज़ोरी कहां थी, जिसके कारण उसकी तात्कालिक पराजय हुई।

दिसम्बर-विद्रोह के दमन के साथ क्रान्ति शमित होने लगी। किन्तु उस अवधि में भी अत्यन्त रोचक घड़ियां आईं। इस सम्बन्ध में मज़दूर वर्ग के सर्वाधिक लड़ाकू तत्वों द्वारा क्रान्ति के पलायन को रोकने और नए आक्रमण की तैयारी करने के दोहरे प्रयत्नों का स्मरण पर्याप्त होगा।

किन्तु मेरा समय प्रायः समाप्त हो चुका है और मैं अपने श्रोताओं के

धैर्य का दुरुपयोग करना नहीं चाहता। रूसी क्रान्ति के वारे में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बातें याद रखने की हैं: उसका वर्ग-चरित्र, उसकी प्रेरक शक्तियां और संघर्ष-पद्धतियां – इनका अनुचित्रण, मैं समझता हूं, मैंने उस हद तक कर दिया है जहां तक एक संक्षिप्त भाषण में ऐसे विस्तृत विषय को ख़त्म कर देना संभव है।

अब थोड़ी सी अतिरिक्त बातें रूसी क्रान्ति के विश्व-व्यापी महत्त्व के सम्बन्ध में।

भौगोलिक, आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से रूस केवल यूरोप का ही नहीं है, वह एशिया का भी है। इसी लिए हम देखते हैं कि रूसी क्रान्ति की उपलब्धि इतनी ही नहीं है कि उसने यूरोप के सबसे बड़े तथा सबसे पिछड़े देश को अन्तिम रूप से नींद से जगा दिया और क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में एक क्रान्तिकारी जनता की सृष्टि कर दी।

उसकी उपलब्धि इतनी ही नहीं है। रूसी क्रान्ति ने सम्पूर्ण एशिया को गतिमान कर दिया। तुर्की, ईरान और चीन की क्रान्तियां यह सिद्ध करती हैं कि १६०५ के शक्तिशाली विद्रोह ने गहरे चिन्ह छोड़े थे और यह कि **करोड़ों-करोड़ों** जनता की अग्रगामी गतिशीलता में व्यक्त होनेवाले उसके प्रभाव को मिटाया नहीं जा सकता।

अप्रत्यक्ष रूप से रूसी क्रान्ति ने पश्चिम में स्थित देशों पर भी प्रभाव डाला। यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि वियना में ३० अक्तूबर १६०५ को ज़ार के वैधानिक घोषणापत्र की सूचना का तार पहुंचते ही, उस समाचार ने आस्ट्रिया में सार्वजनिक मताधिकार की अन्तिम विजय में निर्णायक भूमिका अदा की।

उस समय आस्ट्रिया की सामाजिक-जनवादी पार्टी की कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था और उसमें जब कामरेड एल्लेनबोगेन – तब वे सामाजिक देशभक्त नहीं थे, अभी कामरेड ही थे – राजनीतिक हड़ताल पर अपना भाषण दे रहे थे, यह तार उनके सामने मेज़ पर रख दिया गया। अधिवेशन की बहसें तुरंत रुक गईं। "हमारा स्थान सड़कों पर है!" – यह पुकार उस हॉल में गूंजने लगी जिसमें आस्ट्रिया की सामाजिक-जनवादी पार्टी के प्रतिनिधि इकट्ठे हुए थे। उसके ठीक बाद के दिनों में वियना की सड़कों पर विराट प्रदर्शन हुए

ग्रौर प्राग में मार्ग-अवरोधक मोर्चेबन्दियां हुईं। इस प्रकार ग्रास्ट्रिया में सार्वजनिक मताधिकार की विजय का निर्णय हो गया।

बहुधा पश्चिमी यूरोप के ऐसे लोग मिल जाते हैं, जो रूसी क्रान्ति के बारे में इस प्रकार तर्क करते हैं मानो उस पिछड़े देश की घटनाएं, वहां के संघर्ष के सम्बन्ध ग्रौर उसकी पद्धतियां, पश्चिमी यूरोप के सम्बन्धों से बहुत कम सादृश्य रखती हैं ग्रौर इसलिए मुश्किल से उनका कोई ग्रमली महत्व हो सकता है।

ऐसे विचार से ग्रधिक भ्रान्तिमूलक ग्रौर कुछ भी नहीं हो सकता।

निस्सन्देह, ग्रागामी यूरोपीय क्रान्ति में ग्रानेवाले संग्रामों के रूप ग्रौर ग्रवसर ग्रनेक दृष्टियों से रूसी क्रान्ति के रूपों से भिन्न होंगे।

किन्तु इसके बावजूद, रूसी क्रान्ति ठीक ग्रपने सर्वहारा-चरित्र के कारण, उस विशिष्ट ग्रर्थ में जिसका निर्देश मैं कर चुका हूं, ग्रानेवाली यूरोपीय क्रान्ति की **प्रस्तावना** ही है। निस्सन्देह यह ग्रानेवाली क्रान्ति केवल सर्वहारा क्रान्ति ही हो सकती है ग्रौर, इसके ग्रतिरिक्त, ग्रौर भी गंभीरतर ग्रर्थ में: ग्रन्तर्य की दृष्टि से सर्वहारा, समाजवादी क्रान्ति। यह ग्रानेवाली क्रान्ति ग्रौर भी ग्रधिक मात्रा में एक ग्रोर तो यह प्रगट करेगी कि केवल कठोर संग्राम, ठीक गृह-युद्ध ही मानव-जाति को पूंजी के जुए से मुक्त कर सकते हैं; ग्रौर दूसरी ग्रोर यह कि केवल वर्ग-चेतन सर्वहारा ही शोषितों की विशाल बहुसंख्या के नेता के रूप में ग्रागे ग्रा सकते हैं ग्रौर ग्राएंगे।

हमें यूरोप की वर्तमान श्मशानवत शान्ति से धोखा नहीं खाना चाहिए। यूरोप क्रान्ति-गर्भित है। साम्राज्यवादी युद्ध की पैशाचिक विभीषिका ग्रौर भारी निर्वाह-व्यय के कारण होनेवाले कष्ट सर्वत्र क्रान्तिकारी मनोवृत्ति की सृष्टि कर रहे हैं; ग्रौर शासक वर्ग, पूंजीपति तथा उनकी एजेन्ट सरकारें एक ग्रंधी गली में ग्रधिकाधिक बढ़ती जा रही हैं, जहां से महानतम उथल-पुथल के बिना वे कदापि ग्रपने को बाहर नहीं खींच सकतीं।

जैसे रूस में जनवादी जनतंत्र जीतने के उद्देश्य से १९०५ में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में ज़ार की सरकार के ख़िलाफ़ जन-विद्रोह हुए, वैसे ही ग्रागामी चन्द वर्षों में ही, ठीक इस डाकेज़नी के युद्ध के सम्बन्ध में ही, यूरोप की जनता सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में वित्तीय पूंजी के शासन के विरुद्ध, बड़े-बड़े बैंकों के विरुद्ध, पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह में उठ खड़ी होगी ग्रौर उस

उथल-पुथल का अन्त पूंजीपतियों के स्वामित्वहरण और समाजवाद की विजय में होने के सिवा और किसी रूप में नहीं हो सकता।

संभव है कि इस आनेवाली क्रान्ति में निर्णायक संग्रामों को देखने के लिए हम पुरानी पीढ़ी के लोग जीवित न रहें। किन्तु मेरा ख़याल है कि मैं बहुत विश्वासपूर्वक यह आशा प्रगट कर सकता हूं कि जो युवक स्विट्ज़रलैण्ड और सारी दुनिया के समाजवादी आन्दोलन में बहुत शानदार ढंग से काम कर रहे हैं, उन्हें आगामी सर्वहारा क्रान्ति में न केवल लड़ने का बल्कि विजय प्राप्त करने का भी सौभाग्य प्राप्त होगा।

९ (१७) जनवरी, १९१७ से पहले
जर्मन भाषा में लिखित।

२२ जनवरी, १९२५ को पहली बार
'प्राव्दा' के १८वें अंक में प्रकाशित।
हस्ताक्षर: **न० लेनिन**

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खण्ड २३, पृष्ठ २२८–२४६

टिप्पणियां

1 ९ जनवरी, १९०५ को पादरी गपोन के नेतृत्व में पीटर्सबर्ग के मज़दूरों ने एक शान्तिपूर्ण प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारी मज़दूर ज़ार को अपनी अर्ज़ी पेश करने के लिए शिशिर प्रासाद पहुंचे। ज़ार के आदेश के अनुसार सिपाहियों ने प्रदर्शन पर गोली चला दी। निःशस्त्र मज़दूरों के विरुद्ध की गयी इस ख़ूनी कार्रवाई के जवाब में समूचे रूस में राजनीतिक हड़तालों और प्रदर्शनों की लहर उठी। इनमें "स्वेच्छाचारी शासन का नाश हो!" का नारा लगाया गया। ९ जनवरी, १९०५ की घटनाओं ने १९०५-०७ की क्रांति के श्रीगणेश का संकेत दिया। – पृ० ११

2 लेनिन ने **'जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां'** शीर्षक पुस्तक रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस और उसी के साथ-साथ जेनेवा में आयोजित मेन्शेविक सम्मेलन के बाद जून और जुलाई १९०५ के बीच लिखी। यह पुस्तक रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति के प्रकाशन के रूप में जेनेवा में प्रकाशित हुई। लेनिन उन दिनों जेनेवा में रहते और काम करते थे। उसी वर्ष अर्थात् १९०५ में रूस में उक्त पुस्तक का पुनःप्रकाशन हुआ। यह रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति ने किया और रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की मास्को समिति ने भी अलग से इसकी १०,००० प्रतियां छापीं।

'जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' का प्रकाशन पार्टी के जीवन में एक महान घटना रहा।

यह पुस्तक पीटर्सबर्ग, मास्को, कज़ान, तिफ़लिस, बाकू तथा रूस के अन्य नगरों में गुप्त रूप से बांटी गयी। गुप्त पार्टी और मज़दूर मंडलों में इसका अध्ययन हुआ। गिरफ़्तारियों और तलाशियों के दौरान ज़ारशाही

ख़ुफ़िया पुलिस की रूस के भिन्न-भिन्न भागों में इसकी प्रतियां मिलीं जो उसने ज़ब्त कर दीं। १९ फ़रवरी १९०७ को पीटर्सबर्ग की प्रेस विषयक मामलों की समिति ने इस पुस्तक पर पाबंदी लगा दी। उसी वर्ष की २२ दिसंबर को पीटर्सबर्ग के न्यायालय ने फ़ैसला किया कि इस पुस्तक को नष्ट कर दिया जाये।

लेनिन ने उक्त 'दो कार्यनीतियां' को 'बारह वर्ष' शीर्षक लेख-संग्रह के पहले खंड में शामिल किया। यह खंड पीटर्सबर्ग में १९०७ में प्रकाशित हुआ। इसमें नयी टिप्पणियां जोड़ी गयी थीं।

'जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' शीर्षक पुस्तक अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद बड़े पैमाने पर वितरित की गयी।—पृ० १६

3 **'प्रोलेतारी'** (सर्वहारा)—एक ग़ैर-क़ानूनी बोल्शेविक साप्ताहिक समाचारपत्र जो रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का मुखपत्र था। पार्टी की तीसरी कांग्रेस के निर्णयानुसार इसका प्रकाशन आरंभ हुआ। २७ अप्रैल (१० मई) १९०५ को केंद्रीय समिति के पूर्णाधिवेशन में किये गये एक निर्णयानुसार लेनिन उक्त मुखपत्र के प्रधान संपादक नियुक्त किये गये।

'प्रोलेतारी' १४(२७) मई से १२(२५) नवंबर १९०५ तक जेनेवा में प्रकाशित होता रहा। कुल मिलाकर इसके २६ अंक निकले। पत्र के संपादक-मंडल के कार्य में व० व० वोरोव्स्की, अ० व० लुनाचार्स्की और म० स० ओल्मीन्स्की (अलेक्सांद्रोव) बराबर हाथ बंटाते रहे। 'प्रोलेतारी' ने पुराने, अर्थात् लेनिन के 'ईस्क्रा' की नीति चलायी और बोल्शेविक समाचारपत्र 'व्पेर्योद' (आगे) का सूत्र पूर्णतया जारी रखा। इस पत्र में लेनिन ने ६० से अधिक लेख और टिप्पणियां लिखीं। 'प्रोलेतारी' में प्रकाशित लेनिन के लेख स्थानीय बोल्शेविक समाचारपत्रों में फिर से छापे गये और अलग पर्चों के रूप में भी प्रकाशित किये गये।

नवंबर १९०५ में, लेनिन के रूस के लिए रवाना होने के शीघ्र ही बाद 'प्रोलेतारी' का प्रकाशन रोक दिया गया। अंतिम दो अंकों (नं० २५ और २६) का संपादन व० व० वोरोव्स्की ने किया।—पृ १६

4 **नरोदवाद**—रूसी क्रांतिकारी आंदोलन की एक निम्न-पूंजीवादी प्रवृत्ति। १९ वीं शताब्दी के सातवें और आठवें दशकों में यह जारी रही। नरोदवादियों ने स्वेच्छाचारी शासन की समाप्ति और किसानों को भूस्वामियों की भूमि के

हस्तांतरण की वकालत की। पर साथ-साथ उन्होंने यह बात अस्वीकार की कि रूस में पूंजीवादी संबंधों का विकास संभव है। इसी लिए उनकी धारणा थी कि मुख्य क्रांतिकारी शक्ति सर्वहारा नहीं, बल्कि किसान वर्ग है। वे देहाती कम्यून को समाजवाद का बीज मानते थे। किसान वर्ग को स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित करने के प्रयत्न में नरोदवादी देहाती इलाक़ों में अर्थात् जनता के पास (रूसी भाषा में जनता का पर्यायवाचक शब्द है 'नरोद'; इसी कारण ये लोग 'नरोदवादी' कहलाये) पहुंचे पर वहां उन्हें कोई समर्थन न मिला।

१९वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशकों में नरोदवादियों ने ज़ारशाही के प्रति समझौतावादी रुख़ अपनाया, कुलकों के हित व्यक्त किये और ज़ोर-शोर के साथ मार्क्सवाद का विरोध किया। – पृ० १७

5 समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी का कार्यक्रम फ़िनलैंड में २९ दिसंबर, १९०५ से ६ जनवरी, १९०६ तक आयोजित पहली कांग्रेस में स्वीकार किया गया।

'समाजवादी-क्रांतिकारी' – रूस की एक निम्न-पूंजीवादी पार्टी; १९०१ के अंत और १९०२ के आरंभ में विभिन्न नरोदवादी दलों और मंडलों ('समाजवादी-क्रांतिकारी संघ', 'समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी' इत्यादि) के एकीकरण के फलस्वरूप इसकी स्थापना हुई थी। इसके अधिकृत मुखपत्र थे: 'रेवोल्यूत्सिओन्नाया रोस्सीया' ('क्रांतिकारी रूस') नामक समाचारपत्र (१९००-१९०५) और 'वेस्त्निक रूस्कोय रेवोल्यूत्सीई' ('रूसी क्रांति का संदेशवाहक') नामक पत्रिका (१९०१-१९०५)। समाजवादी-क्रांतिकारियों के दृष्टिकोण नरोदवादी और संशोधनवादी विचारों का एक अशास्त्रीय मिश्रण थे। लेनिन के शब्दों में उन्होंने "नरोदवाद की फटी-पुरानी गुदड़ी में मार्क्सवाद की फ़ैशनेबुल अवसरवादी 'आलोचना' के थेगले" (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ९, पृष्ठ २८३) लगाने का प्रयत्न किया। समाजवादी-क्रांतिकारियों ने सर्वहारा और किसान वर्ग के बीच का वर्गभेद नहीं देखा, किसान वर्ग के अंतर्गत वर्गविभाजन और अंतर्विरोधों पर परदा डाला और क्रांति में सर्वहारा की प्रधान भूमिका नामंज़ूर की। समाजवादी-क्रांतिकारियों ने स्वेच्छाचारी शासन विरोधी संघर्ष के आधारभूत साधन के रूप में वैयक्तिक आतंक की कार्यनीति का प्रचार किया। इस नीति ने क्रांतिकारी आंदोलन को बड़ी क्षति पहुंचायी।

समाजवादी-क्रांतिकारियों के कृषि विषयक कार्यक्रम में व्यक्तिगत भूस्वामित्व की समाप्ति, समान पट्टे के आधार पर ग्राम-समुदायों को उसके

हस्तांतरण और सभी प्रकार के सहकारों के विकास की पूर्वकल्पना की गयी थी। समाजवादी-क्रांतिकारियों ने अपने कार्यक्रम को "भूमि के समाजीकरण" के नाम से प्रस्तुत तो किया था पर वस्तुतः उसमें कुछ भी समाजवादी न था, क्योंकि जैसा कि लेनिन ने दिखा दिया, केवल व्यक्तिगत भू-स्वामित्व की समाप्ति से पूंजी के प्रभुत्व और जनता की दरिद्रता की समाप्ति नहीं हो सकती। हां, ज़मींदारी स्वामित्व की समाप्ति के लिए संघर्ष समाजवादी-क्रांतिकारियों के कृषि विषयक कार्यक्रम का प्रगतिशील अंश था। इस मांग ने पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की अवस्था में किसान वर्ग के हितों और आकांक्षाओं को वस्तुगत रूप से व्यक्त किया।

बोल्शेविक पार्टी ने समाजवादी-क्रांतिकारियों के अपने को समाजवादी दिखाने के प्रयत्नों का भंडाफोड़ कर दिया, किसान वर्ग पर प्रभाव जमाने के क्षेत्र में उनके विरुद्ध डटकर संघर्ष किया और मज़दूर आंदोलन को नुक़सान पहुंचानेवाली वैयक्तिक आतंक की उनकी कार्यनीति का पर्दाफ़ाश कर दिया। साथ ही साथ विशिष्ट स्थितियों में बोल्शेविकों ने ज़ारशाही विरोधी संघर्ष में समाजवादी-क्रांतिकारियों के साथ अस्थायी समझौते भी किये।

पहली रूसी क्रांति के वर्षों में समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी में फूट पड़ गयी: इसके दायें पक्ष से क़ानूनी 'श्रमिक नरोदवादी-समाजवादी पार्टी' बनी। इसके दृष्टिकोण सांविधानिक-जनवादियों (कैडेटों) के से थे। बायें पक्ष ने अर्द्ध-अराजकतावादी 'मक्सीमलीस्त' संघ का स्वरूप धारण कर लिया। पहले विश्वयुद्ध के दौरान में अधिकांश समाजवादी-क्रांतिकारियों ने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपना लिया।

फ़रवरी १९१७ की पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की विजय के बाद मेन्शेविकों और कैडेटों के साथ समाजवादी-क्रांतिकारी, प्रतिक्रांतिकारी पूंजीवादी-ज़मींदारी अस्थायी सरकार के आधारस्तंभ बन गये और उनकी पार्टी के नेता (केरेन्स्की, अव्क्सेन्त्येव, चेर्नोव) उस सरकार के सदस्य बन गये। किसान वर्ग के क्रांतिकारी बन जाने से प्रभावित होकर समाजवादी-क्रांतिकारियों के वाम पक्ष ने नवंबर १९१७ के अंत में वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों की स्वतंत्र पार्टी की स्थापना की। किसान समुदाय पर अपना प्रभाव बनाये रखने के प्रयत्न में वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों ने औपचारिक रूप से सोवियत सत्ता को मान्यता दी और बोल्शेविकों के साथ समझौता कर लिया, पर शीघ्र ही सोवियत सत्ता के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। – पृ० १७

6 **'ओस्वोबोज्देनिये'** (मुक्ति) – एक पाक्षिक पत्रिका जो प० ब० स्त्रूवे के संपादन में जून १९०२ से अक्तूबर १९०५ तक विदेश में प्रकाशित होती रही। यह रूसी उदारवादी-राजतंत्रवादी पूंजीवादियों का मुखपत्र थी। १९०३ में यह नव-स्थापित उदारवादी-राजतंत्रवादी संगठन 'मुक्ति लीग' (इसकी स्थापना जनवरी १९०४ में हुई) का केंद्र बन गयी। लीग अक्तूबर १९०५ तक बनी रही। ज़ेम्सत्वोवादियों-संविधानवादियों के साथ इसने अक्तूबर १९०५ में स्थापित सांविधानिक-जनवादी पार्टी (कैडेट) के बीज का काम किया। कैडेटों की पार्टी रूस की प्रधान पूंजीवादी पार्टी थी। – पृ० १८

7 **"अर्थवाद"** – १९वीं शताब्दी के अंत और २०वीं शताब्दी के आरंभ में रूसी सामाजिक-जनवाद की एक अवसरवादी प्रवृत्ति जो अंतर्राष्ट्रीय अवसरवाद की रूसी क़िस्म थी। रूस में 'राबोचाया मीस्ल' (मज़दूरों का विचार) (१८९७-१९०२) समाचारपत्र और विदेश में 'राबोचेये देलो' (मज़दूरों का कार्य) (१८९९-१९०२) पत्रिका "अर्थवादियों" के मुखपत्र थे।

१८९९ में "अर्थवादियों" का घोषणापत्र 'क्रीडो' प्रकाशित हुआ। यह ये० द० कुस्कोवा ने लिखा था। उन दिनों लेनिन निर्वासन में थे। जब उन्हें 'क्रीडो' की प्रति मिली तो उन्होंने 'रूसी सामाजिक-जनवादियों का विरोध-पत्र' लिखा। इसमें उन्होंने "अर्थवादियों" के कार्यक्रम की कड़ी आलोचना की। "अर्थवादियों" ने मज़दूर वर्ग का कार्यभार ऊंचे वेतनों और काम की बेहतर हालतों इत्यादि तक ही सीमित रखा और ज़ोर देकर कहा कि राजनीतिक संघर्ष उदार-पूंजीवादियों का काम है। यह मानते हुए कि पार्टी केवल आंदोलन की स्वतःप्रवृत्त प्रक्रिया का निरीक्षण और घटनाओं का अंकन करती रहे, उन्होंने मज़दूर वर्ग की पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका अस्वीकार की। मज़दूर आंदोलन की स्वतःप्रवृत्ति का समादर करते हुए "अर्थवादियों" ने क्रांतिकारी सिद्धांत और वर्ग-चेतना को कम महत्त्वपूर्ण माना, इस बात पर ज़ोर दिया कि समाजवादी विचारधारा स्वतःप्रवृत्त आंदोलन से उत्पन्न होगी, मज़दूर आंदोलन में मार्क्सवादी पार्टी द्वारा समाजवादी चेतना फूंकी जाने की आवश्यकता अस्वीकार की और इससे पूंजीवादी विचारधारा का मार्ग प्रशस्त कर दिया। मज़दूर वर्ग की केंद्रीकृत पार्टी के निर्माण की आवश्यकता का विरोध करनेवाले "अर्थवादियों" ने छुटपुट और शौक़िया क़िस्म के मंडलों का समर्थन करके सामाजिक-जनवादी आंदोलन में अव्यवस्था और अस्थिरता का पोषण किया। यह डर पैदा हुआ कि "अर्थवाद" मज़दूर वर्ग को वर्गीय क्रांतिकारी मार्ग से भटका देगा और उसे पूंजीवादियों

का एक राजनीतिक पुछल्ला भर बना देगा। लेनिन के 'ईस्क्रा' ने "अर्थवाद" विरोधी संघर्ष में प्रधान भूमिका अदा की। व्ला० इ० लेनिन ने 'क्या करें?' शीर्षक पुस्तक के ज़रिये "अर्थवाद" की विचारधारा को अंतिम रूप से परास्त किया। –पृ० १८

४ **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस** लंदन में १२-२७ अप्रैल (२५ अप्रैल–१० मई) १९०५ तक हुई। कांग्रेस में निर्णयात्मक मताधिकार वाले २४ और परामर्शात्मक मताधिकार वाले १४ प्रतिनिधि उपस्थित थे। यही पहली बोल्शेविक कांग्रेस थी।

कांग्रेस ने निम्नलिखित कार्य-सूची स्वीकृत की जो लेनिन द्वारा बनायी गयी थी: १) संगठन समिति की रिपोर्ट; २) कार्यनीति विषयक प्रश्न; ३) संगठन विषयक प्रश्न; ४) अन्य पार्टियों और प्रवृत्तियों के प्रति रुख़; ५) पार्टी के अंतर्गत प्रश्न; ६) प्रतिनिधियों के विवरण और ७) चुनाव।

कांग्रेस के पूरे कार्य का मार्गदर्शन लेनिन ने किया। उन्होंने कांग्रेस के मूलभूत प्रश्नों पर प्रस्तावों के मसौदे तैयार किये। लेनिन ने सशस्त्र विद्रोह, अस्थायी क्रांतिकारी सरकार में सामाजिक-जनवादियों का समावेश, किसान आंदोलन के प्रति रुख़, पार्टी की नियमावली तथा अन्य कई प्रश्नों पर भाषण दिये। कांग्रेस के कार्य-विवरणों में लेनिन के १०० से अधिक भाषणों और सुझावों का उल्लेख है।

कांग्रेस ने बोल्शेविकों की कार्यनीति निश्चित की जिसका उद्देश्य था पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की संपूर्ण विजय और उसका समाजवादी क्रांति में विकास। कांग्रेस के निर्णयों ने क्रांति के नेता के नाते सर्वहारा के कार्यभार स्पष्ट किये और पूंजीवादी-जनवादी क्रांति में पार्टी की रणनीति विषयक योजना तैयार की। यह नीति इस प्रकार थी: उदार पूंजीवादियों को एक ओर रखकर सर्वहारा को पूरे किसान वर्ग के साथ गंठजोड़ करके क्रांति की विजय के संघर्ष का नेतृत्व करना चाहिये।

कांग्रेस ने पार्टी के नियमों में निम्न प्रकार से परिवर्तन किये: क) पहली धारा के संबंध में लेनिन का मसौदा स्वीकार किया; ख) केंद्रीय समिति के अधिकार और स्थानीय समितियों के साथ उसके संबंध यथातथ रूप से निश्चित किये; ग) एक पूर्णाधिकारी केंद्रीय संस्था का अर्थात् केंद्रीय समिति का निर्माण करके केंद्रीय संस्था का स्वरूप बदल दिया। पहले इस संस्था के तीन केंद्र थे: केंद्रीय समिति, केंद्रीय मुखपत्र और पार्टी परिषद्। –पृ० १९

9 **'ईस्क्रा'** (चिंगारी) – दिसंबर १९०० में लेनिन द्वारा विदेश में संस्थापित पहला अखिल-रूसी मार्क्सवादी समाचारपत्र जो गुप्त रूप से रूस भेजा जाता था। इसने रूसी सामाजिक-जनवादियों को विचारधारा की दृष्टि से एकबद्ध करने में और बिखरे हुए स्थानीय संगठनों को एकरूप क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी में सम्मिलित करने की तैयारी में महान भूमिका अदा की। १९०३ में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर पार्टी के बोल्शेविकों और मेन्शेविकों में विभाजन के बाद मेन्शेविकों ने 'ईस्क्रा' पर क़ब्ज़ा कर लिया (५२वें अंक से) और तब से वह लेनिन के **पुराने** 'ईस्क्रा' से अलग **नया** 'ईस्क्रा' कहलाया जाने लगा। – पृ० १९

10 **बुलीगिन आयोग** फ़रवरी १९०५ में ज़ार के आदेशानुसार उस समय के गृहमंत्री अ० ग० बुलीगिन की अध्यक्षता में क़ायम किया गया था। इसने सलाहकार राज्य दूमा की स्थापना और दूमा के चुनावों को शासित करनेवाले विनियमों से संबंधित एक विधेयक का मसौदा तैयार किया। ज़ार के ६ (१९) अगस्त १९०५ के घोषणापत्र के साथ इनका प्रकाशन हुआ। बोल्शेविकों ने बुलीगिन दूमा के प्रति सक्रिय बहिष्कार घोषित किया। सरकार उक्त दूमा को आमंत्रित करने से रह गयी ; क्रांति की शक्ति के रेले में यह दूमा बह गयी। – पृ० २१

11 **कैडेट** – सांविधानिक-जनवादी पार्टी के सदस्य। यह रूस में साम्राज्यवादी पूंजीवादियों की मुख्य पार्टी थी। इसकी स्थापना अक्तूबर १९०५ में हुई थी। कैडेट अपने को 'जन-स्वतंत्रता' पार्टी कहलाते थे, पर वस्तुतः उन्होंने स्वेच्छाचारी शासन के साथ सौदा करने के प्रयत्न किये। उनका उद्देश्य सांविधानिक राजसत्ता के रूप में ज़ारशाही को बनाये रखने का था। १९१४-१९१८ के साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध के दौरान में उन्होंने "विजयशाली समाप्ति तक" युद्ध की मांग की। फ़रवरी १९१७ की क्रांति के बाद पेत्रोग्राद सोवियत के समाजवादी-क्रांतिकारी और मेन्शेविक नेताओं के साथ किये गये समझौते के फलस्वरूप उन्होंने पूंजीवादी अस्थायी सरकार में प्रधान स्थान प्राप्त कर लिया। सरकार में रहते हुए उन्होंने जनता के विरुद्ध प्रतिक्रांतिकारी नीति चलायी।

महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद कैडेट सोवियत सत्ता के ज़िद्दी दुश्मन बन गये और साम्राज्यवादियों की सशस्त्र प्रतिक्रांतिकारी गतिविधियों तथा हस्तक्षेपकों के अभियानों में भाग लिया। हस्तक्षेपकों और सफ़ेद गार्डों की पराजय के बाद परावास में रहते हुए कैडेट अपनी सोवियत विरोधी, प्रतिक्रांतिकारी गतिविधियों से बाज़ न आये। – पृ० २१

12 **मिलेरांवाद** – १९वीं शताब्दी के अंत और २०वीं शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी-यूरोपीय समाजवादी पार्टियों की एक अवसरवादी प्रवृत्ति। यह वाद फ़्रांसीसी समाजवादी मिलेरां के नाम से मशहूर हुआ। मिलेरां ने १८९९ में फ़्रांस की प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी सरकार में प्रवेश किया और पूंजीवादियों के साथ साम्राज्यवादी नीति चलायी। – पृ० ३१

13 यहां संकेत १८७१ के पेरिस कम्यून की ओर है। यह पेरिस में सर्वहारा क्रांति द्वारा स्थापित की गयी क्रांतिकारी मज़दूर वर्गीय सरकार थी। यह संसार के इतिहास में सर्वहारा अधिनायकत्व की पहली सरकार थी। यह पेरिस में १८ मार्च से २८ मई १८७१ तक ७२ दिन बनी रही। – पृ० ३२

14 **फ़्रैंकफ़ुर्ट संसद** – जर्मनी में मार्च १८४८ की क्रांति के बाद स्थापित की गयी अखिल जर्मन राष्ट्रीय विधान-सभा। निरंकुश शासन और जर्मनी की फूट के विरुद्ध निश्चयपूर्ण संघर्ष के लिए आम जनता को संगठित करने के बजाय इसने अपनी पूरी गतिविधियां साम्राज्य के संविधान पर निष्फल चर्चाओं तक ही सीमित रखीं। – पृ० ३५

15 **'नोये राइनिशे त्साइटुङ'** (नया राईनी समाचारपत्र) – यह कोलोन में १ जून १८४८ से १९ मई १८४९ तक प्रकाशित होता रहा। क० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स इस पत्र के प्रबंधक थे और प्रधान संपादक मार्क्स ही थे। इस पत्र ने आम जनता को शिक्षित किया, प्रतिक्रांति का सामना करने के लिए उन्हें जगा दिया। जर्मनी भर में इसका प्रभाव अनुभव किया गया। निश्चित और अदम्य रुख़, युयुत्सु अंतर्राष्ट्रीयता और प्रशा की सरकार तथा कोलोन के अधिकारीगणों के विरुद्ध राजनीतिक लेखों के प्रकाशन के कारण सामंतवादी-राजतंत्रवादी तथा उदार-पूंजीवादी समाचारपत्रों और सरकार ने भी 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' को बराबर तंग किये रखा। मई १८४९ में जब प्रतिक्रांति ने आम चढ़ाई शुरू कर दी तो प्रशा की सरकार ने मार्क्स को प्रशा से निष्कासित करने का आदेश जारी किया। मार्क्स के निष्कासन और उक्त पत्र के अन्य संपादकों के विरुद्ध यंत्रणापूर्ण कार्यवाहियों के कारण पत्र का प्रकाशन बंद हो गया। इसका अंतिम अर्थात् ३०१ अंक १९ मई १८४९ को प्रकाशित हुआ। यह लाल स्याही में छपा था। मज़दूरों के नाम विदाई संदेश में संपादकों ने यह घोषणा की थी कि "हमारे अंतिम शब्द सदा और सर्वत्र यही रहेंगे : श्रमिक वर्ग की मुक्ति!" इस समाचारपत्र के संबंध में एंगेल्स का 'मार्क्स और नोये राइनिशे त्साइटुङ' शीर्षक लेख (१८८४-१८४९) देखिये। – पृ० ३५

16 **'सोत्सिअल-देमोक्रात'** – एक मेन्शेविक समाचारपत्र जो अप्रैल से नवंबर १६०५ तक तिफ़लिस में जार्जियाई भाषा में प्रकाशित होता था।

'ज़ेम्स्की सोबोर और हमारी कार्यनीति' शीर्षक लेख काकेशिया के मेन्शेविकों के नेता न० जोर्दानिया ने लिखा था। लेनिन ने 'जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' शीर्षक अपनी पुस्तक के ७वें अध्याय में इस लेख की कड़ी आलोचना की। (देखिये प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १६–१६७)। – पृ० ३८

17 **यमदूत सभा** – क्रांतिकारी आंदोलन का सामना करने के लिए ज़ारशाही पुलिस द्वारा स्थापित राजतंत्रवादी गिरोह। उन्होंने क्रांतिकारियों की हत्याएं कीं, प्रगतिशील बुद्धिजीवियों को तंग किया और यहूदियों की मार-काट तथा लूट-खसोट की। – पृ० ३९

18 लेनिन का संकेत यहां १९वीं शताब्दी के अंतिम दशक और २०वीं शताब्दी के पहले दशक के ज़ेम्सत्वो-उदारवादी आंदोलन के एक नेता द० न० शिपोव के "सांविधानिक" कार्यक्रम की ओर है। इसका निचोड़ था ज़ारशाही स्वेच्छाचारी शासन का संरक्षण। हां, इसमें "ज़ार द्वारा दिये जानेवाले" संविधान के ज़रिये उक्त शासन का कुछ नियंत्रण अभिप्रेत था। – पृ० ४१

19 **'रूस्काया स्तारिना'** (रूसी अतीत) – इतिहास विषयक मासिक पत्रिका। म० इ० सेमेव्स्की इसके संस्थापक थे और यह पीटर्सबर्ग में १८७० से १९१८ तक प्रकाशित होती रही। इसमें रूस के राजनीतिज्ञों तथा सांस्कृतिक क्षेत्र के प्रधान व्यक्तियों के संस्मरणों, दैनंदिनियों, टिप्पणियों तथा पत्रों को काफ़ी जगह दी जाती थी और विविध प्रकार की दस्तावेज़ी सामग्री भी प्रकाशित की जाती थी। – पृ० ४६

20 देखिये टिप्पणी ६। – पृ० ४९

21 **'रूस्सकीये वेदोमोस्ती'** (रूसी अभिलेख-संग्रह) – यह समाचारपत्र मास्को में १८६३ से प्रकाशित होता था। इसमें नरम उदारवादी बुद्धिजीवियों के दृष्टिकोण प्रकाशित हुआ करते थे। १९वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशकों में इसने जनवादी लेखकों (व० ग० कोरोलेन्को, म० ये० साल्तिकोव-श्चेद्रिन,

ग० इ० उस्पेन्स्की इत्यादि) और उदार नरोदवादियों के लेख प्रकाशित किये। १९०५ से यह कैडेट पार्टी का दाहिने पक्ष का मुखपत्र बन गया। जैसा कि लेनिन ने दिखा दिया 'रूस्सकीये वेदोमोस्ती' "**दक्षिण** कैडेटवाद और नरोदवाद" का एक अजीब मेल था (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १९, पृष्ठ १११)।

१९१८ में अन्य प्रतिक्रांतिकारी समाचारपत्रों की तरह 'रूस्सकीये वेदोमोस्ती' भी बंद कर दिया गया।–पृ० ५७

22 **'सिन ओतेचेस्त्वा'** (पितृभूमि का पुत्र) – उदारवादी प्रवृत्ति का एक दैनिक समाचारपत्र। यह १८५६ से १९०० तक और फिर १८ नवंबर (१ दिसंबर) १९०४ से पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता था। इसके लेखकों में 'ओस्वोबोज्देनिये' दल के सदस्य और विविध रुझानों वाले नरोदवादी शामिल थे। १५(२८) नवंबर १९०५ से यह समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी का मुखपत्र बन गया। इस पत्र का प्रकाशन २(१५) दिसंबर १९०५ से बंद कर दिया गया।

'नाशा जीज़्न' (हमारा जीवन) – सांविधानिक-जनवादी पार्टी के वाम पक्ष का नज़दीकी दैनिक समाचारपत्र। यह पीटर्सबर्ग में ६(१९) नवंबर १९०४ से ११(२४) जुलाई १९०६ तक रुक-रुककर प्रकाशित होता रहा।– पृ० ५७

23 **'नाशी द्नी'** (हमारे दिन) – एक उदारवादी दैनिक। यह पीटर्सबर्ग में १८(३१) दिसंबर १९०४ से ५(१८) फ़रवरी १९०५ तक प्रकाशित होता रहा। ७(२०) दिसंबर १९०५ को इसका प्रकाशन फिर से आरंभ हुआ पर तब इसके केवल दो ही अंक निकले।–पृ० ५७

24 **'मफ़लरधारी आदमी'** – रूसी लेखक अ० प० चेख़ोव की इसी शीर्षक वाली कहानी का मुख्य चरित्र। इसके रूप में लेखक ने एक ऐसे विशिष्ट कूपमंडूक फ़िलिस्टीन का चित्र प्रस्तुत किया है जो सभी प्रकार के नवीकरणों और पहलक़दमी से डरता है।–पृ० ५८

25 लेनिन का संकेत यहां 'फ़्रांज़ मेहरिंग द्वारा संपादित कार्ल मार्क्स, फ़्रेडरिक एंगेल्स और फ़र्दीनांद लासाल की साहित्यिक विरासत से' शीर्षक पुस्तक की ओर है। खंड ३, स्टुटगार्ट, १९०२, पृष्ठ २११।–पृ० ६६

26 **जिरौंदवादी और जैकोबिनवादी** – १८वीं शताब्दी के अंत में फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति के काल में पूंजीवादियों के दो राजनीतिक दलों के नाम। जिरौंदवादी, नरम पूंजीवादियों के हित अभिव्यक्त करते थे और क्रांति तथा प्रतिक्रांति के बीच डगमगाते रहते थे। उनकी नीति राजसत्ता के साथ सौदेबाज़ी की थी। जैकोबिनवादी, पूंजीवादियों के अधिक कट्टर प्रतिनिधि अर्थात् क्रांतिकारी जनवादी थे जो बराबर निरंकुश शासन तथा सामंतशाही के विनाश की वकालत करते थे। इन्होंने ३१ मई – २ जून १७९३ के जन-विद्रोह का नेतृत्व किया। इस विद्रोह ने जिरौंदवादियों का तख़्ता उलट दिया और जैकोबिनवादी अधिनायकत्व की स्थापना की।

लेनिन ने "सामाजिक-जनवादी जिरौंदवादी" संज्ञा का प्रयोग मेन्शेविकों के लिए किया था। इन लोगों की विचारधारा सामाजिक-जनवाद की एक अवसरवादी प्रवृत्ति थी। – पृ० ६६

27 **'व्पेर्योद'-वादी, कांग्रेसवादी या 'प्रोलेतारी'-वादी** – बोल्शेविकों के विभिन्न नाम। उनके द्वारा आमंत्रित तीसरी पार्टी कांग्रेस और उनके द्वारा प्रकाशित 'व्पेर्योद' (आगे), तथा 'प्रोलेतारी' नामक समाचारपत्रों के कारण ये नाम प्रचलित हुए। – पृ० ६६

28 यहां संकेत उदारवादियों के प्रति रुख़ के संबंध में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में स्वीकृत प्रस्ताव की ओर है जो स्तारोवेर (मेन्शेविक अ० न० पोत्रेसोव का उपनाम) ने पेश किया था। लेनिन ने 'मज़दूरों का और पूंजीवादियों का जनवाद' शीर्षक अपने लेख में इस प्रस्ताव की आलोचना की। – पृ० ६८

29 यहां संकेत १४-१५ (२७-२८) मई १९०५ को रूसी-जापानी युद्ध के दौरान हुई त्सुसीमा द्वीप के पास की समुंदरी लड़ाई की ओर है। यह लड़ाई रूसी जहाज़ी बेड़े की हार के साथ समाप्त हुई। – पृ० ७०

30 **ज़ेम्सत्वो-वादी** – ज़ेम्सत्वो के सदस्य। **ज़ेम्सत्वो** – १८६४ में ज़ारशाही रूस के केंद्रीय गुबर्नियों में रईसों के नेतृत्व में शुरू की गयी स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं को दिया गया नाम। ज़ेम्सत्वो के अधिकार शुद्ध स्थानीय आर्थिक समस्याओं (अस्पतालों तथा सड़कों का निर्माण, सांख्यिकी, बीमा इत्यादि) तक सीमित थे। इनकी गतिविधियों पर प्रादेशिक गवर्नरों तथा गृह मंत्रालय का नियंत्रण

था ग्रौर सरकार की दृष्टि से प्रतिकूल निर्णयों को ये गवर्नर तथा उक्त मंत्रालय रद्द कर सकते थे। — पृ० ७१

31 **"संसदीय बौड़मपन"** से लेनिन का ग्रभिप्राय ग्रवसरवादियों के इस विश्वास से था कि शासन की संसदीय प्रणाली सर्वशक्तिमान है ग्रौर संसदीय संघर्ष ही राजनीतिक संघर्ष का एकमात्र, या सब स्थितियों में, मुख्य स्वरूप है। — पृ० ७३

32 जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की १८६५ में ब्रेस्लाउ में हुई कांग्रेस में कृषि विषयक कार्यक्रम के मसौदे पर मतभेद उत्पन्न हुए थे। यहां उन्हीं की ग्रोर संकेत है। — पृ० ७६

33 **'राबोचेये देलो'** (मज़दूरों का कार्य) — एक पत्रिका जो 'विदेश में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादी संघ' का मुखपत्र थी। यह ग्रप्रैल १८६६ से फ़रवरी १६०२ तक जेनेवा में प्रकाशित होती रही। इसके संपादक ब० न० क्रिचेव्स्की, प० फ़० तेप्लोव (सिबिर्याक), व० प० इवानशिन ग्रौर बाद में ग्र० स० मार्तिनोव थे। इसके कुल मिलाकर १२ ग्रंक (नौ पुस्तकों में) प्रकाशित हुए। 'राबोचेये देलो' का संपादक-मंडल विदेश में "ग्रर्थवादियों" का केंद्र था। इस पत्रिका ने बर्न्सटीन की मार्क्सवाद की "ग्रालोचना की स्वतंत्रता" वाली घोषणा का समर्थन किया ग्रौर रूसी सामाजिक-जनवाद की कार्यनीति तथा संगठनात्मक कार्यभार संबंधी प्रश्नों पर ग्रवसरवादी रुख़ ग्रपनाया। 'राबोचेये देलो' के ग्रनुयायियों ने राजनीतिक संघर्ष को ग्रार्थिक संघर्ष की तुलना में गौण मानने के ग्रवसरवादी विचारों का प्रचार किया, मज़दूर ग्रांदोलन की स्वत:प्रवृत्ति के सामने झुकते रहे ग्रौर पार्टी की प्रधान भूमिका ग्रस्वीकार की। इसके संपादकों में से एक व० प० इवानशिन ने 'राबोचाया मीस्ल' (मज़दूरों का विचार) के संपादन में हाथ बंटाया। यह कट्टर "ग्रर्थवादियों" का मुखपत्र था ग्रौर इसे 'राबोचेये देलो' का समर्थन प्राप्त था। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'राबोचेये देलो' वालों ने पार्टी के चरम दक्षिण, ग्रवसरवादी पक्ष का प्रतिनिधित्व किया। — पृ० ७७

34 यहां संकेत लेनिन के 'ईस्क्रा' की योजना के प्रति नदेज्दिन (ये० ग्रो० ज़ेलेन्स्की का उपनाम) द्वारा समाचारपत्रों में प्रकाशित विरोध की ग्रोर है। लेनिन ने १६०२ में ही 'क्या करें?' शीर्षक ग्रपनी पुस्तक में इस विरोध की ग्रालोचना की थी। — पृ० ८२

35 **फ़्रैंकफ़ुर्ट समाचारपत्र** («*Frankfurter Zeitung*») – दैनिक समाचारपत्र, बड़े जर्मन हुंडी दलालों का मुखपत्र। यह फ़्रैंकफ़ुर्ट-ग्रान-मेन में १८५६ से १९४३ तक प्रकाशित होता रहा। १९४९ से «*Frankfurter Allgemeine Zeitung*» (फ़्रैंकफ़ुर्ट ग्राम समाचारपत्र) नाम से यह फिर से प्रकाशित होने लगा। इस समय यह पश्चिम-जर्मन इजारेदारों का प्रवक्ता है। – पृ० ८५

36 **बर्न्सटीनवाद** – ग्रंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद की एक मार्क्सवाद-विरोधी प्रवृत्ति। यह जर्मनी में १९वीं शताब्दी के ग्रंत में उत्पन्न हुई ग्रौर इसका नाम जर्मन सामाजिक-जनवादी एडुग्रर्ड बर्न्सटीन से संबद्ध रहा। एंगेल्स की मृत्यु के बाद बर्न्सटीन ने खुल्लमखुल्ला ऐसे दृष्टिकोण प्रकट किये जिनमें पूंजीवादी उदारवाद के प्रभाव में मार्क्स के क्रांतिकारी सिद्धांतों के संशोधन का तत्त्व निहित था (देखिये उनके 'समाजवाद की समस्याएं' शीर्षक लेख ग्रौर 'समाजवाद की पूर्वस्थितियां ग्रौर सामाजिक-जनवाद के कार्यभार' शीर्षक पुस्तक)। साथ-साथ बर्न्सटीन ने सामाजिक-जनवादी पार्टी को सामाजिक सुधार की निम्न-पूंजीवादी पार्टी में बदल डालने की कोशिश की।

रूस में "क़ानूनी मार्क्सवादियों", "ग्रर्थवादियों", बुंदवादियों ग्रौर मेन्शेविकों ने बर्न्सटीनवाद का समर्थन किया। – पृ० ८८

37 यहां संकेत बोल्शेविक समाचारपत्र 'व्पेर्योद' के १३वें ग्रौर १४वें ग्रंकों में प्रकाशित किये गये लेनिन के निम्नलिखित दो लेखों की ग्रोर है: 'सामाजिक-जनवाद ग्रौर ग्रस्थायी क्रांतिकारी सरकार' ग्रौर 'सर्वहारा ग्रौर किसान वर्ग का क्रांतिकारी-जनवादी ग्रधिनायकत्व'। – पृ० ९२

38 यहां लेनिन के सामने १८७४ में ब्लांकीवादियों के लंदन दल द्वारा जारी किया गया कार्यक्रम है। ये लोग पेरिस कम्यून के भूतपूर्व सदस्य थे। – पृ० ९४

39 **एर्फ़ुर्ट कार्यक्रम** – जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी का यह कार्यक्रम ग्रक्तूबर १८९१ की एर्फ़ुर्ट कांग्रेस में स्वीकृत किया गया था। गोथा कार्यक्रम (१८७५) की तुलना में यह एक क़दम ग्रागे था। यह पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के ग्रनिवार्य विनाश ग्रौर समाजवादी उत्पादन-पद्धति द्वारा उसके स्थानग्रहण से संबंधित मार्क्सवादी सिद्धांत पर ग्राधारित था। एर्फ़ुर्ट कार्यक्रम ने मज़दूर वर्ग द्वारा राजनीतिक संघर्ष के छेड़े जाने की ग्रावश्यकता पर बल देने, उक्त संघर्ष के नेता के नाते पार्टी की भूमिका स्पष्ट करने ग्रादि का कार्य किया।

पर एर्फ़र्ट कार्यक्रम में अवसरवाद के लिए गंभीर सहूलियतें मौजूद थीं। फ़्रेडरिक एंगेल्स ने एर्फ़र्ट कार्यक्रम के मसौदे की कड़ी आलोचना की। सारतः यह समूची दूसरी इंटरनेशनल के अवसरवाद की आलोचना थी। लेकिन जर्मन सामाजिक-जनवाद के नेताओं ने एंगेल्स द्वारा की गयी आलोचना पार्टी के साधारण सदस्यों से छिपाये रखी और जब कार्यक्रम का अंतिम पाठ तैयार किया गया उस समय एंगेल्स के अत्यंत महत्त्वपूर्ण निरूपणों पर भी ध्यान नहीं दिया। लेनिन के अनुसार एर्फ़र्ट कार्यक्रम की मुख्य त्रुटि, अवसरवाद को उसकी भीरुतापूर्ण सहूलियत, इस तथ्य में निहित थी कि उसने सर्वहारा के अधिनायकत्व के संबंध में कुछ भी नहीं कहा। – पृ० १०१

10 लेनिन ने 'जनवादी क्रांति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' शीर्षक अपनी पुस्तक के १०वें अध्याय के लिए जुलाई १९०५ में यह टिप्पणी लिखी थी। इस पुस्तक के पहले संस्करण में यह टिप्पणी नहीं थी। यह पहली बार १९२६ में लेनिन के संकलित ग्रंथ, खंड ५ में प्रकाशित हुई। – पृ० १०२

11 देखिये एंगेल्स का पत्र फ़्र० तुराती के नाम, २६ जनवरी, १८९४। – पृ० १०२

12 **बकूनिनवाद** – अराजकतावाद के सिद्धांतकार और मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक समाजवाद के शत्रु म० अ० बकूनिन के नाम पर प्रचलित प्रवृत्ति। बकूनिन के अनुयायियों (बकूनिनवादियों) ने मार्क्सवादी सिद्धांत और मज़दूर वर्ग की कार्यनीति के विरुद्ध डटकर संघर्ष किया। बकूनिनवाद की मुख्य प्रस्थापना यह रही कि उसने किसी भी राज्य-प्रणाली को, सर्वहारा अधिनायकत्व को भी मानने से इनकार किया और सर्वहारा की विश्व ऐतिहासिक भूमिका समझने से रह गया। बकूनिन ने वर्गों के "समानीकरण" का, नीचे से "स्वतंत्र संस्थाएं" एकत्रित करने का विचार प्रस्तुत किया। बकूनिनवादियों के मतानुसार अविलंब कार्यान्वित किये जानेवाले जन-विद्रोहों का मार्गदर्शन "विख्यात" व्यक्तियों से बनी हुई गुप्त क्रांतिकारी संस्था को करना था। मसलन्, बकूनिनवादियों का विश्वास था कि रूस के किसान अविलंब विद्रोह करने को तैयार हैं। षड्यंत्र, अविलंब विद्रोहों और आतंक की उनकी कार्यनीति दुस्साहसिक और विद्रोह संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांतों के विरुद्ध थी। बकूनिनवाद नरोदवाद का एक विचारधारात्मक स्रोत था।

बकूनिन और बकूनिनवादियों के संबंध में देखिये: का० मार्क्स तथा फ़्रे० एंगेल्स लिखित 'सामाजिक-जनवाद का संघ और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सभा' (१८७३); फ़्रे० एंगेल्स लिखित 'कार्यरत बकूनिनवादी' (१८७३) तथा

'प्रावासी साहित्य' (१८७५), और लेनिन लिखित 'अस्थायी क्रांतिकारी सरकार' (१६०५), इत्यादि।–पृ० ११०

43 लेनिन का संकेत यहां 'अस्थायी क्रांतिकारी सरकार' शीर्षक अपने लेख और एंगेल्स के 'कार्यरत बकूनिनवादी, १८७३ की गरमियों में स्पेन में उद्भूत विद्रोह के संबंध में टिप्पणियां' शीर्षक लेख की ओर है। एंगेल्स ने अपने इस लेख में बकूनिनवादियों द्वारा स्वीकृत उस प्रस्ताव की आलोचना की है जिसका लेनिन ने उल्लेख किया है।–पृ० ११०

44 *Credo* ('क्रीडो'–विश्वास का प्रतीक, कार्यक्रम, विश्व दृष्टिकोण का प्रतिज्ञापन)–"अर्थवादियों" के एक दल (स० न० प्रोकोपोविच, ये० द० कुस्कोवा और अन्य जो बाद में कैडेट बन गये) द्वारा १८६६ में जारी किया गया घोषणापत्र इस नाम से मशहूर हुआ। इस घोषणापत्र द्वारा रूसी "अर्थवाद" की अवसरवादिता अत्यंत स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई। लेनिन ने एक तीखा विरोधपत्र ('रूसी सामाजिक-जनवादियों का विरोधपत्र') लिखकर "अर्थवादियों" के दृष्टिकोणों की निंदा की।–पृ० ११२

45 **'राबोचाया मीस्ल'** (मज़दूरों का विचार)–"अर्थवादियों" का समाचारपत्र जो अक्तूबर १८६७ से दिसंबर १६०२ तक प्रकाशित होता रहा। इसके कुल मिलाकर १६ अंक निकले (क० म० तख़्तारेव तथा दूसरों के संपादकत्व में)। पहले दो अंक पीटर्सबर्ग में मिमिओग्राफ़ी द्वारा छापे गये; ३ से ११ तक के अंक बर्लिन में प्रकाशित हुए, १२ से १५ तक अंक वार्सा में निकले और १६वां अंक विदेश में।

"'राबोचाया मीस्ल' का विशेष क्रोड़पत्र"–'राबोचाया मीस्ल' के संपादक-मंडल द्वारा सितंबर १८६६ में प्रकाशित पुस्तिका। इस पुस्तिका ने और विशेषकर 'हमारी वास्तविकताएं' शीर्षक लेख ने साफ़-साफ़ उसके अवसरवादी दृष्टिकोण प्रकट किये। यह लेख र० म० के हस्ताक्षरों के साथ प्रकाशित हुआ था।

लेनिन ने 'राबोचाया मीस्ल' के दृष्टिकोणों को अंतर्राष्ट्रीय अवसरवाद का रूसी प्रकार कहकर 'रूसी सामाजिक-जनवाद की एक पतनशील प्रवृत्ति' शीर्षक रचना, 'ईस्क्रा' में प्रकाशित लेखों और 'क्या करें?' शीर्षक पुस्तक में उनकी आलोचना की।–पृ० ११२

46 यहां संकेत मार्क्स विरचित 'हेगेल के विधि विषयक दर्शन की ग्रालोचना' शीर्षक पुस्तक में से मार्क्स के कथन की ग्रोर है।–पृ० ११३

47 *«L'Humanité»* (मानवजाति)–१९०४ में जान जोरेस द्वारा फ़ांसीसी समाजवादी पार्टी के मुखपत्र के रूप में संस्थापित दैनिक समाचारपत्र। पहले विश्वयुद्ध (१९१४-१८) के दौरान यह पत्र फ़ांसीसी समाजवादी पार्टी के चरम दक्षिण पक्ष के हाथों में था ग्रौर सामाजिक-ग्रंधराष्ट्रवादी रुख़ ग्रपनाये था। टूर्स कांग्रेस (दिसंबर १९२०) में पार्टी में फूट पड़ने के शीघ्र बाद ग्रौर फ़्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के बाद यह समाचारपत्र उक्त कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र बन गया। *«L'Humanité»* ग्राज भी पेरिस में फ़्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी के केंद्रीय मुखपत्र के रूप में प्रकाशित होता है।–पृ० ११५

48 १९०५ की एक मेन्शेविक सम्मेलन में स्वीकृत **"संगठनात्मक नियमावली"** की ग्रालोचना लेनिन ने 'तीसरा क़दम पीछे' शीर्षक लेख में ग्रौर "'पार्टी की फूट के संबंध में मज़दूरों के विचार' शीर्षक पुस्तिका की भूमिका" में की थी।–पृ० १३०

49 देखिये कार्ल मार्क्स कृत 'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८-१८५०'।–पृ० १३३

50 **हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनें**–जर्मनी की सुधारवादी ट्रेड-यूनियनें। पूंजीवादी प्रगतिवादी पार्टी के नेता म० हिर्श ग्रौर फ़० डुंकेर ने १८६८ में इनकी स्थापना की थी। पूंजी ग्रौर श्रम के हितों की "लयबद्धता" की वकालत करते हुए हिर्श-डुंकेर यूनियनों के संगठक मानते थे कि मज़दूरों के साथ पूंजीपतियों को भी ट्रेड-यूनियनों में प्रवेश देना संभव है। उन्होंने हड़तालों की ग्रावश्यकता ग्रस्वीकार की। उनकी मान्यता थी कि मज़दूरों को क़ानून द्वारा ग्रौर ट्रेड-यूनियन संगठनों की सहायता से पूंजीवादी समाज के दायरे में पूंजी के शोषण से मुक्त कराना संभव है। उनके मतानुसार ट्रेड-यूनियनों का मुख्य कार्य था मालिकों तथा मज़दूरों के बीच बिचवाई करना ग्रौर धन संग्रह करना। हड़तालों के प्रति हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनों का रुख़ ग्रस्वीकार का था ग्रौर इस कारण वे हड़ताल तोड़क संगठनों में परिवर्तित हो गयीं। उनकी गतिविधियां मुख्यतया परस्पर सहायककारी संस्थाग्रों ग्रौर शैक्षणिक क्लबों तक ही सीमित रहीं। सभी प्रयत्नों ग्रौर सरकारी समर्थन के बावजूद ये यूनियनें कभी भी जर्मन मज़दूर

आंदोलन में कोई प्रभाव न जमा पायीं। १९३३ में हिर्श-डुंकेर यूनियनों के अवसरवादी नेताओं ने फ़ासिस्ट 'श्रम मोर्चे' में प्रवेश किया।–पृ० १४३

51 **'ज़ार्या'** (प्रभात) – 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल द्वारा स्टुटगार्ट में १९०१-०२ में प्रकाशित मार्क्सवादी वैज्ञानिक तथा राजनीतिक पत्रिका। कुल मिलाकर इसके चार अंक (तीन पुस्तकों में) प्रकाशित हुए : पहला अंक अप्रैल १९०१ में (वस्तुतः यह नयी शैली के अनुसार २३ मार्च को निकला था), दूसरा और तीसरा अंक दिसंबर १९०१ में और चौथा अंक अगस्त १९०२ में।

'ज़ार्या' अंतर्राष्ट्रीय तथा रूसी संशोधनवाद की आलोचना और मार्क्सवाद के सैद्धांतिक आधारों का समर्थन करती रही।–पृ० १४९

52 **'मास्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती'** (मास्को अभिलेख-संग्रह) – सबसे पुराने रूसी समाचारपत्रों में से एक। मूलतः (१७५६) यह मास्को विश्व-विद्यालय द्वारा एक छोटे से पर्चे के रूप में प्रकाशित होता था। १८६३ में यह म० न० कात्कोव ने ले लिया और फिर राजतंत्रवादी-राष्ट्रवादी मुखपत्र बन गया। इसमें ज़मींदारों और पादरियों के अत्यंत प्रतिक्रियावादी समुदायों के दृष्टिकोण प्रकाशित होते रहे। १९०५ में यह यमदूत सभाइयों का एक प्रधान मुखपत्र बन गया और १९१७ की अक्तूबर क्रांति के समय तक जारी रहा।–पृ० १५३

53 देखिये कार्ल मार्क्स का लेख 'संकट और प्रतिक्रांति'।–पृ० १५६

54 देखिये 'फ़्रैंकफ़ुर्ट में उग्र-जनवादी पार्टी और फ़्रैंकफ़ुर्ट वाम-पक्ष का कार्यक्रम' शीर्षक लेख।–पृ० १५७

55 देखिये 'फ़्रैंकफ़ुर्ट में उग्र-जनवादी पार्टी और फ़्रैंकफ़ुर्ट वाम-पक्ष का कार्यक्रम' शीर्षक लेख।–पृ० १५८

56 देखिये 'फ़्रैंकफ़ुर्ट एसंबली' शीर्षक लेख।–पृ० १५८

57 देखिये फ़्रेडरिक एंगेल्स का 'क्रांति विषयक बहसें' शीर्षक लेख।–पृ० १५९

58 देखिये कार्ल मार्क्स का 'सामंती सेवाओं की समाप्ति विषयक विधेयक' शीर्षक लेख।–पृ० १६१

59 आरंभ में **कोलोन मज़दूर संघ के मुखपत्र** का नाम था *«Zeitung des Arbeiter-Vereins zu Köln»* ('कोलोन मज़दूर संघ का समाचारपत्र')। इसका उपशीर्षक था *«Freiheit, Brüderlichkeit, Arbeit»* ('स्वतंत्रता, बंधुता, श्रम')। 'कम्युनिस्ट लीग' के सदस्य ई० मोल और क० शापर इसके संपादक थे। अप्रैल और अक्तूबर १८४८ के बीच इसके ४० अंक निकले। बाद में इसका उपशीर्षक ही इसका नाम बन गया और उस नाम से अक्तूबर १८४८ से जून १८४९ तक इसके २३ अंक और निकले।—पृ० १६३

60 **'कम्युनिस्ट लीग'**—क्रांतिकारी सर्वहारा का पहला अंतर्राष्ट्रीय संगठन। १८४७ की गरमियों में लंदन में इसकी स्थापना हुई थी। कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स इसके संगठक थे और उन्होंने इस संगठन के अनुदेश पर 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' लिखा। लीग के लक्ष्य इस प्रकार थे: पूंजीवादी वर्ग का उच्चाटन, वर्ग-विरोधों पर आधारित पुराने पूंजीवादी समाज की समाप्ति और ऐसे नये समाज की स्थापना जिसमें न कोई वर्ग होंगे और न होगी निजी संपत्ति ही। सर्वहारावादी क्रांतिकारियों के स्कूल, सर्वहारावादी पार्टी के बीज और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सभा (पहली इंटरनेशनल) के पूर्वज के रूप में 'कम्युनिस्ट लीग' ने महान ऐतिहासिक भूमिका अदा की। लीग नवंबर १८५२ तक बनी रही। लीग के श्रेष्ठतम नेताओं ने आगे चलकर पहली इंटरनेशनल में प्रधान भूमिका अदा की। देखिये: फ़्रे० एंगेल्स का 'कम्युनिस्ट लीग के इतिहास के संबंध में' शीर्षक लेख।—पृ० १६५

61 **'तोवारिश्च'** (साथी)—पूंजीवादी दैनिक समाचारपत्र जो मार्च १९०६ से जनवरी १९०८ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता रहा। अधिकृत रूप से यह पत्र किसी पार्टी का मुखपत्र नहीं माना जाता था पर वस्तुतः था वह वामपंथी कैडेटों यानी 'बेज़ग्लावत्सियों' का मुखपत्र। समाचारपत्र के कार्य में मेन्शेविकों ने भी भाग लिया।—पृ० १६६

62 **ख्लेस्ताकोव**—न० व० गोगोल रचित नाटक 'इन्सपेक्टर जनरल' का मुख्य चरित्र। इसके रूप में लेखक ने परले सिरे के शेखीबाज़ और झूठखोर का विशिष्ट नमूना प्रस्तुत किया है।—पृ० १६७

63 'नोवाया जीज़्न' (नया जीवन) समाचारपत्र में प्रकाशित लेनिन का **'पार्टी का पुनर्संगठन'** शीर्षक पहला लेख जो उन्होंने निर्वासन से रूस लौट आने के बाद

लिखा था। इसने दिसंबर १९०५ में तामरफ़ोर्स सम्मेलन में स्वीकृत 'पार्टी का पुनर्संगठन' शीर्षक प्रस्ताव के आधार का काम किया।—पृ० १६८

64 **स्वतंत्रवादी**—ज़ुबातोव ढंग की तथाकथित 'स्वतंत्र सामाजिक मज़दूर पार्टी'। १९०५ की शरद में ज़ारशाही सरकार के आदेश पर और गुप्त राजनीतिक पुलिस की सहायता से पीटर्सबर्ग में इसकी स्थापना हुई थी। इस संगठन का उद्देश्य था क्रांतिकारी संघर्ष से मज़दूरों का ध्यान हटाना। १९०८ के आरंभ में इस पार्टी ने आख़िरी सांस ली।—पृ० १६८

65 **'सभी पार्टी संगठनों और सभी सामाजिक-जनवादी मज़दूरों के नाम'** 'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की चौथी कांग्रेस के आमंत्रण के संबंध में' शीर्षक अपील १०(२३) नवंबर १९०५ को 'नोवाया जीज़न' के नवें अंक में प्रकाशित हुई थी।—पृ० १६९

66 यहां नये अर्थात् मेन्शेविक 'ईस्क्रा' की ओर संकेत है।—पृ० १६९

67 **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की चौथी (एकता) कांग्रेस** स्टाकहोम में १०-२५ अप्रैल (२३ अप्रैल—८ मई) १९०६ तक हुई।

कांग्रेस में निर्णयात्मक मताधिकार वाले ११२ (पार्टी के ५७ स्थानीय संगठनों के प्रतिनिधि) और परामर्शात्मक मताधिकार वाले २२ प्रतिनिधि उपस्थित थे। इनके अलावा कांग्रेस की कार्यवाही में राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी पार्टियों के भी प्रतिनिधि रहे: पोलैंड और लिथुआनियाई सामाजिक-जनवादियों, बुंद और लाटवियाई सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के तीन-तीन प्रतिनिधि, उक्रइनी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी और फ़िन्नी मज़दूर पार्टी का एक-एक प्रतिनिधि और बल्गारियाई सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का एक प्रतिनिधि। बोल्शेविक प्रतिनिधियों में व्ला० इ० लेनिन, फ़० अ० अर्त्योम (सेर्गेयेव), व० व० वोरोव्स्की, क० ये० वोरोशीलोव, म० इ० कालीनिन, म० व० फ़्रूंज़े, स० ग० शाउम्यान, इत्यादि शामिल थे। कार्य-सूची के मुख्य विषय इस प्रकार थे: कृषि विषयक प्रश्न, वर्तमान परिस्थिति और सर्वहारा के वर्ग विषयक कार्यभार का मूल्यांकन, राज्य दूमा के प्रति रुख़, और संगठन विषयक प्रश्न। यह कांग्रेस सभी प्रश्नों पर बोल्शेविकों और मेन्शेविकों के बीच कड़े संघर्ष की भूमि सिद्ध हुई। लेनिन ने कृषि विषयक प्रश्न, चालू परिस्थिति, राज्य दूमा के चुनावों से संबंधित कार्यनीति विषयक प्रश्नों, सशस्त्र विद्रोह इत्यादि पर भाषण दिये।

कांग्रेस में मेन्शेविकों का नगण्य ही क्यों न हो, लेकिन बहुमत था और इसका प्रभाव कांग्रेस के निर्णयों के स्वरूप पर पड़ा: कितने ही प्रश्नों पर कांग्रेस ने मेन्शेविकों के प्रस्ताव (कृषि विषयक कार्यक्रम, राज्य दूमा के प्रति रुख़ इत्यादि के संबंध में) स्वीकृत किये। पार्टी के सदस्यत्व विषयक नियमों की पहली धारा का लेनिन द्वारा बनाया गया मसौदा कांग्रेस ने स्वीकृत किया। कांग्रेस ने पोलैंड और लिथुआनिया के जातीय सामाजिक-जनवादी संगठनों तथा लाटवियाई सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी को रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में शामिल कर लिया और बुंद को रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के साथ संवद्ध करने के प्रश्न पर पूर्वनिर्णय किया।

कांग्रेस में निर्वाचित केंद्रीय समिति में तीन बोल्शेविक और सात मेन्शेविक थे और केंद्रीय मुखपत्र में बस मेन्शेविक ही मेन्शेविक थे।

लेनिन ने 'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की एकता कांग्रेस विषयक विवरण' शीर्षक पुस्तिका में कांग्रेस की कार्यवाही का विश्लेषण किया।—पृ० १६६

68 **'नोवाया जीज़्न'** (नया जीवन)—पहला क़ानूनी बोल्शेविक समाचारपत्र। यह दैनिक २७ अक्तूबर (६ नवंबर) से ३(१६) दिसंबर १६०५ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता रहा। नवंबर १६०५ के आरंभ में, जब लेनिन देशांतर से पीटर्सबर्ग लौट आये तो यह पत्र सीधे उनके नेतृत्व में निकलने लगा। 'नोवाया जीज़्न' वस्तुत: रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का मुखपत्र था। इसके प्रमुख लेखकों में व० व० वोरोव्स्की, म० स० ओल्मीन्स्की और अ० व० लुनाचार्स्की शामिल थे। मक्सीम गोर्की ने भी पत्र के काम में सक्रिय भाग लिया और उसकी काफ़ी आर्थिक सहायता की। 'नोवाया जीज़्न' की ग्राहक-संख्या ८०,००० हो गयी।

'नोवाया जीज़्न' को सरकार द्वारा बराबर तंग किया गया। २७ में से १५ अंक ज़ब्त और नष्ट किये गये। २७वें अंक के प्रकाशन के बाद सरकार ने इस पत्र का गला घोंट दिया। इसका अंतिम अर्थात् २८वां अंक गैर-क़ानूनी तौर पर निकला।—पृ० १७०

69 **वान्देय**—फ़्रांस का एक प्रदेश जहां १८वीं शताब्दी के अंत में पूंजीवादी क्रांति के दौरान, पिछड़े हुए प्रतिक्रियावादी किसानों ने क्रांतिकारी विधान-सभा के विरुद्ध प्रतिक्रांतिकारी बग़ावत खड़ी कर दी। यह बग़ावत धार्मिक नारों

के नीचे हुई और प्रतिक्रांतिकारी पादरियों और भू-स्वामियों ने उसका नेतृत्व किया। —पृ० १७७

70 **लड़नेवाले दस्तों की संयुक्त परिषद** में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की मास्को समिति, मास्को सामाजिक-जनवादी दल, समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी की मास्को समिति द्वारा संगठित पार्टी दस्तों और 'वोल्नाया रयोन्नाया', 'उनिवेर्सितेत्स्काया', 'तिपोग्राफ़्स्काया' और 'कफ़्काज़स्काया' नामक लड़नेवाले दस्तों के प्रतिनिधि शामिल थे। —पृ० १८२

71 यहां संकेत रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की मास्को समिति के आदेश पर आरंभ की गयी **आम राजनीतिक हड़ताल** की ओर है। ७(२०) अक्तूबर १९०५ को मास्को-कज़ान रेलवे के मज़दूरों ने हड़ताल की। इसने शीघ्र ही सभी औद्योगिक केंद्रों को अपनी लपेट में ले लिया और फिर अखिल रूसी हड़ताल में विकसित हुई। हड़तालियों की संख्या २० लाख से अधिक हो गयी। हड़ताल के नारे निम्न थे: स्वेच्छाचारी शासन का उच्चाटन, बुलीगिन दूमा का सक्रिय बहिष्कार, संविधान सभा का आयोजन और जनवादी जनतंत्र की स्थापना। बढ़ते हुए क्रांतिकारी आंदोलन से भयभीत होकर ज़ारशाही सरकार ने कुछ रियायतें देने के लिए दौड़धूप की। १७ अक्तूबर को ज़ार ने एक घोषणापत्र जारी करके "नागरिक स्वतंत्रताएं" और "वैधानिक" दूमा देने का आश्वासन दिया।

बोल्शेविकों ने ज़ार के घोषणापत्र की पोल खोल दी और लोगों से अपील की कि वे अपना संघर्ष जारी रखें। इसके विपरीत मेन्शेविकों और समाजवादी-क्रांतिकारियों ने घोषणापत्र का स्वागत किया और मज़दूरों से आग्रह किया कि वे हड़ताल बंद कर दें। पूंजीवादियों से समर्थन पाकर और मेन्शेविकों तथा समाजवादी-क्रांतिकारियों की ग़द्दारी से लाभ उठाकर ज़ारशाही सरकार ने आक्रमणकारी रुख़ अपना लिया। उसने देश भर में हत्या, लूटखसोट और यंत्रणाओं का रेला छोड़ दिया।

विद्यमान परिस्थिति को ध्यान में लेते हुए रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के २२ अक्तूबर (४ नवंबर) को आयोजित मास्को सम्मेलन ने आम हड़ताल रोक देने का निर्णय किया। अक्तूबर की आम राजनीतिक हड़ताल ने मज़दूर आंदोलन की शक्ति का प्रदर्शन किया और ग्रामीण क्षेत्रों, सेना तथा नौसेना में क्रांतिकारी संघर्ष के विकास को बढ़ावा दिया। इस हड़ताल ने सर्वहारा को दिसंबर के सशस्त्र विद्रोह की ओर अग्रसर किया। —पृ० १८२

72 देखिये काल मार्क्स विरचित 'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८-१८५०'।—पृ० १८२

73 ८ (२१) दिसंबर १९०५ की शाम को सैनिकों और पुलिस वालों ने 'एक्वेरियम' पार्क (सादोवो-त्रिउम्फ़ालनाया स्क्वेयर) को घेर लिया। उस समय पार्क के थियेटर में एक आम सभा चल रही थी। मज़दूरों के लड़ाकू दस्ते थियेटर की रक्षा कर रहे थे और उनकी वीरतापूर्ण कार्रवाइयों को ही इसका श्रेय है कि उक्त स्थान में कोई रक्तपात नहीं हुआ। सभा में उपस्थित लोगों में से जिनके पास बंदूकें थीं वे तो टूटी हुई चहारदीवारी में से किसी तरह छूट निकले पर जो बाक़ी लोग फाटक से जा रहे थे उनकी तलाशी हुई, उन्हें पीटा गया और कई एक गिरफ़्तार कर लिये गये।—पृ० १८२

74 **फ़ीडलर स्कूल** (चीस्तिये प्रुदी के पास)—इस स्थान में आम तौर पर पार्टी की बैठकें और सम्मेलन हुआ करते थे। ९(२२) दिसंबर १९०५ की शाम को वहां एक बैठक चल रही थी और उसी समय पुलिस ने फ़ीडलर स्कूल को घेर लिया। बैठक में भाग लेनेवालों ने, जिनमें मुख्यतया लड़ाकू दस्तों के सदस्य शामिल थे, आत्म-समर्पण करने से इनकार कर दिया और स्कूल के चारों ओर मोर्चेबंदी कर ली। सैनिकों ने स्कूल पर तोपें और मशीनगनें चलायीं। गोलावारी में ३० लोग हताहत हुए और १२० लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया।—पृ० १८२

75 **सेम्योनोव्स्की रेजिमेंट**—सेम्योनोव्स्की गार्ड्स रेजिमेंट के सिपाही दिसंबर १९०५ में मास्को के मज़दूरों का विद्रोह दबाने के लिए पीटर्सबर्ग से मास्को भेजे गये थे।—पृ० १८३

76 देखिये फ़्रेडरिक एंगेल्स कृत 'जर्मनी में क्रांति और प्रतिक्रांति', अध्याय १७।—पृ० १८७

77 फ़्रे० एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' सहित अपनी कितनी ही रचनाओं में बार-बार इस थीसिस को विकसित किया था।—पृ० १८७

78 यहां लेनिन के सामने फ़्रे० एंगेल्स द्वारा का० मार्क्स की 'फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष, १८४८-१८५०' शीर्षक रचना के लिए लिखी गयी 'प्रस्तावना' है। १८९५ में जर्मन सामाजिक-जनवादियों ने यह 'प्रस्तावना' तोड़-मरोड़कर प्रकाशित की और बाद में उससे सशस्त्र विद्रोह और मोर्चेबंदी की लड़ाई के त्याग का

अर्थ निकाला। फ़े० एंगेल्स की पांडुलिपि के अनुसार 'प्रस्तावना' का पूरा पाठ केवल सोवियत संघ में प्रकाशित किया गया। – पृ० १८८

79 दिसंबर १९०५ में विद्रोही मज़दूरों, खेत मज़दूरों और किसानों के हथियारबंद दस्तों ने कई लाटवियाई शहरों पर क़ब्ज़ा कर लिया। ज़ारशाही फ़ौजी टुकड़ियों के विरुद्ध पार्टीज़न लड़ाई शुरू हो गयी। जनवरी १९०६ में ज़ारशाही ताज़ीरी दस्तों ने लाटविया के विद्रोह को दबा दिया। – पृ० १८९

80 यहां संकेत स्वेआबोर्ग और क्रोंश्ताद्त गढ़ियों में जुलाई १९०६ में हुए विद्रोहों की ओर है। – पृ० १८९

81 **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का पांचवां (अखिल रूसी) सम्मेलन** पेरिस में २१-२७ दिसंबर १९०८ (३-९ जनवरी १९०९) तक हुआ। इसमें पार्टी के निम्नलिखित प्रधान संगठनों के प्रतिनिधि उपस्थित थे: पीटर्सबर्ग, उराल, काकेशस, मास्को और केंद्रीय औद्योगिक प्रदेश के संगठनों के प्रतिनिधि और पोलिश सामाजिक-जनवादी पार्टी तथा बुंद के प्रतिनिधि। सम्मेलन में निर्णायक मताधिकार वाले १६ प्रतिनिधि उपस्थित थे जिनमें से पांच बोल्शेविक, तीन मेन्शेविक, पांच पोलिश सामाजिक-जनवादी और तीन बुंदवादी थे। लेनिन ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति का प्रतिनिधित्व किया।

सम्मेलन ने निम्नलिखित प्रश्नों पर चर्चा की: १) रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति, पोलिश सामाजिक-जनवादी पार्टी की केंद्रीय समिति, बुंद की केंद्रीय समिति, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के पीटर्सबर्ग, मास्को, केंद्रीय औद्योगिक प्रदेश, उराल और काकेशस के संगठनों के विवरण; २) चालू राजनीतिक परिस्थिति और पार्टी के कार्यभार; ३) दूमा में सामाजिक-जनवादी दल; ४) परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति के प्रकाश में संगठनात्मक प्रश्न; ५) स्थानीय राष्ट्रीय संगठनों का संयोजन; ६) विदेश विषयक मामले, इत्यादि।

सम्मेलन ने 'चालू परिस्थिति और पार्टी के कार्यभार' के संबंध में लेनिन का विवरण सुना। लेनिन ने दूमा दल, संगठनात्मक प्रश्न इत्यादि पर भी भाषण दिये। सम्मेलन में बोल्शेविकों ने पार्टी के अंतर्गत दो प्रकार के अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा: "पार्टी के खुले दुश्मन **विसर्जनवादियों** के विरुद्ध और पार्टी के छिपे दुश्मन **बहिष्कारवादियों** के विरुद्ध"। लेनिन के

सुझाव पर सम्मेलन ने विसर्जनवाद की निंदा की ग्रौर पार्टी संगठनों से ग्रनुरोध किया कि वे पार्टी के विसर्जन के सभी प्रयत्नों के विरुद्ध डटकर संघर्ष करें। – पृ० १६१

४२ **त्रुदोविक (श्रम दल के सदस्य)** – रूस की राज्य दूमाग्रों में निम्न-पूंजीवादी जनवादियों का एक दल जिसमें किसान ग्रौर नरोदवादी प्रवृत्तिवाले बुद्धिजीवी शामिल थे। इसकी स्थापना ग्रप्रैल १६०६ में पहली राज्य दूमा के किसान प्रतिनिधियों द्वारा की गयी थी।

त्रुदोविकों ने सभी सामाजिक श्रेणियों तथा जातीय बंधनों की समाप्ति, ज़ेम्सत्वो ग्रौर नागरिक स्वशासन के जनवादीकरण ग्रौर राज्य दूमा के चुनावों में सार्वत्रिक मताधिकार की मांग की। उनका कृषि कार्यक्रम समान भूमि-पट्टे के नरोदवादी सिद्धांतों पर ग्राधारित था; इसमें सरकार, ज़ार-परिवार ग्रौर धर्ममठों तथा एक निश्चित क्षेत्र से ग्रधिक सीमा ("श्रम सीमा") वाली निजी जागीरों से ज़मीन लेकर एक राष्ट्रीय भूमि निधि के निर्माण का तत्त्व निहित था। जब्त की गयी निजी भूमि के लिए मुग्रावज़े की भी व्यवस्था इसमें थी। व्ला० इ० लेनिन ने १६०६ में कहा था कि किसान एक ऐसा विशिष्ट त्रुदोविक है जो "राजतंत्र के साथ समझौता करने, ज़मीन की **ख़ुद ग्रपनी** जोत पर पूंजीवादी प्रणाली के दायरे में शांतिपूर्वक जीवन विताने के लिए भी तैयार होता है, पर इस समय उसकी मुख्य शक्ति भूस्वामी विरोधी संघर्ष की दिशा में, सामंतवादी शासन विरोधी संघर्ष की दिशा में, जनवाद के लिए संघर्ष की दिशा में लगी हुई है" (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खण्ड ११, पृष्ठ २०१)।

राज्य दूमा में त्रुदोविक कैडेटों ग्रौर बोल्शेविकों के बीच डगमगा रहे थे। छोटे मालिकों के रूप में किसानों का ग्रस्तित्व ही इसका कारण था। चूंकि ग्रभी तक त्रुदोविक किसान समुदायों के प्रतिनिधि बने हुए थे इसलिए दूमा के बोल्शेविकों ने कैडेटों ग्रौर जारशाही स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध संयुक्त संघर्ष छेड़ने की दृष्टि से उनके साथ समझौते की कार्यनीति चलायी। उक्त "श्रम दल" १६१७ में "जन समाजवादी" पार्टी में विलीन हो गया ग्रौर ग्रस्थायी पूंजीवादी सरकार का सक्रिय समर्थन किया। ग्रक्तूबर समाजवादी क्रांति की विजय के बाद त्रुदोविकों ने पूंजीवादी प्रतिक्रांति का पक्ष ग्रपना लिया। – पृ० १६३

४३ **'ग्रक्तूबरवादी'** (या **'सत्रह ग्रक्तूबर संघ'**) – क्रांति के भय से १७ ग्रक्तूबर १६०५ को ज़ार द्वारा जनता को "ग्रटूट नागरिक स्वतंत्रताएं" प्रदान करने

का आश्वासन देनेवाले घोषणापत्र के जारी किये जाने के बाद रूस में स्थापित की गयी एक प्रतिक्रांतिकारी पार्टी। यह पार्टी बड़े औद्योगिक पूंजीपतियों और पूंजीवादी पद्धति से अपने फ़ार्म संभालनेवाले भूस्वामियों के हितों का प्रतिनिधित्व और समर्थन करती थी। सुप्रसिद्ध उद्योगपति और मास्कोवासी मकान-मालिक अ० इ० गुचकोव और एक बड़ा ज़मींदार म० व० रोद्ज़्यान्को इसके प्रमुख थे। अक्तूबरवादी ज़ारशाही की गृह और विदेश नीति का पूरा समर्थन करते थे। १९०६ की शरद में यह सरकारी पार्टी बन गयी। – पृ० १९३

84 **स्तोलीपिन** (१८६२-१९११) – ज़ारशाही रूस का एक प्रतिक्रियावादी राजनयिक। १९०६ से यह गृहमंत्री और मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष था।

९ नवंबर १९०६ को स्तोलीपिन ने एक अध्यादेश जारी किया। इससे किसानों को देहाती कम्यून से अलग होने और अपना "ख़ूतोर" यानी फ़ार्म बसाने का और निजी संपत्ति के रूप में अपनी जोतों का क़ब्ज़ा लेने का अधिकार मिल गया। इस क़ानून से कुलकों का लाभ हुआ और ग़रीब देहातियों का सर्वनाश। क़ानून का एकमात्र उद्देश्य था कुलकों को ग्रामीण इलाक़ों में ज़ार के समर्थक बनाना।

३(१६) जून १९०७ को स्तोलीपिन ने शासन में उथल-पुथल कर दी। यह प्रतिक्रियावादी उथल-पुथल सरकार द्वारा दूसरी राज्य दूमा की समाप्ति और दूमा के चुनावों के संबंध में नये क़ानून के प्रचलन के रूप में प्रकट हुई। नये चुनाव क़ानून का मसविदा इस प्रकार तैयार किया गया था कि दूमा में ज़मींदारों और व्यापारिक तथा औद्योगिक पूंजीपतियों का बहुमत सुनिश्चित हो और मज़दूरों तथा किसानों का मताधिकार और अधिक नियंत्रित हो। उक्त क़ानून के अनुसार मध्य एशिया की जनसंख्या के एक बड़े भाग को मताधिकार से वंचित किया गया और पोलैंड तथा काकेशस का प्रतिनिधित्व दो गुना घटाया गया। इस नये क़ानून के आधार पर चुनी गयी और नवंबर १९०७ में आमंत्रित तीसरी दूमा यमदूत सभाई-कैडेट एसंबली थी।

३ जून की उथल-पुथल के साथ स्तोलीपिन प्रतिक्रिया का काल आरंभ हुआ जो "तीन जून शासन" कहलाया। – पृ० १९३

85 **समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून** जर्मनी में १८७८ में बिस्मार्क की सरकार ने लागू किया था। इसका उद्देश्य था मज़दूरों और समाजवादी आंदोलनों का मुक़ाबला करना। इस क़ानून ने सामाजिक-जनवादी पार्टी के

सभी संगठनों, ग्राम मज़दूर संगठनों ग्रौर मज़दूर ग्रख़बारों को दबा दिया। समाजवादी साहित्य ज़ब्त किया गया ग्रौर समाजवादियों के ख़िलाफ़ सरकारी कार्रवाइयां की गयीं ग्रौर उनका निष्कासन शुरू हुग्रा। फिर भी, इन दमनकारी कार्रवाइयों से सामाजिक-जनवादी पार्टी की हिम्मत न टूटी ग्रौर उसने गुप्त गतिविधियों की राह ग्रपनायी : पार्टी का केंद्रीय मुखपत्र 'सोत्सिग्रल-देमोक्रात' विदेश में प्रकाशित होने लगा ग्रौर पार्टी की कांग्रेसें नियमित रूप से होती रहीं (१८८०, १८८३ ग्रौर १८८७) ; ग़ैर-क़ानूनी केंद्रीय समिति के नेतृत्व में सामाजिक-जनवादी संगठनों ग्रौर दलों ने जर्मनी में भूमिगत रूप से ग्रपनी गतिविधियां तेज़ी के साथ फिर से शुरू कर दीं। साथ ही साथ पार्टी ने ग्राम जनता के साथ ग्रपने संबंध घनिष्ठतर कराने की क़ानूनी संभावनाग्रों का भी बड़े पैमाने पर उपयोग किया। उसका प्रभाव दिन दूना रात चौगुना बढ़ता रहा : जर्मन राइख़स्टाग के चुनावों में सामाजिक-जनवादियों को दिये मतों की संख्या १८७८ ग्रौर १८६० के बीच तिगुनी से ज़्यादा बढ़ गयी।

का० मार्क्स ग्रौर फ़्रे० एंगेल्स ने जर्मन सामाजिक-जनवादियों की बड़ी सहायता की। १८६० में मज़दूर ग्रांदोलन के सतत बढ़ते हुए प्रभाव के कारण समाजवादियों के विरुद्ध ग्रसाधारण क़ानून रद्द करना पड़ा। – पृ० १६६

86 **बहिष्कारवादी** – बोल्शेविकों (बोग्दानोव, पोक्रोव्स्की, लुनाचार्स्की, बुब्नोव इत्यादि) का एक दल जिसने तीसरी राज्य दूमा से सामाजिक-जनवादी प्रतिनिधियों को वापस बुलाने ग्रौर क़ानूनी संगठनों में काम करना बंद कर देने की मांग की थी। १६०८ में बहिष्कारवादियों ने ग्रपना एक ग्रलग दल स्थापित किया ग्रौर लेनिन के विरुद्ध ग्रपना संघर्ष शुरू किया। उन्होंने दूमा में भाग लेने, ट्रेड-यूनियनों, सहकारी समितियों तथा ग्रन्य ग्राम क़ानूनी ग्रौर ग्रर्धक़ानूनी संगठनों में काम करने से साफ़ इन्कार कर दिया; उन्होंने ग्रपने काम को ग़ैर-क़ानूनी संगठनों तक सीमित रखने, पार्टी को ग़ैर-पार्टी समुदायों से ग्रलग कर देने ग्रौर उसे प्रतिक्रांति के ग्राघातों का शिकार बनाने के प्रयत्न किये। लेनिन ने बहिष्कारवादियों को "नयी क़िस्म के विसर्जनवादी" ग्रौर "उल्टे मेन्शेविक" कहा।

ग्रंतिमेत्थमवाद बहिष्कारवाद का ही एक प्रकार है, दोनों में ग्रंतर केवल स्वरूप का है। ग्रंतिमेत्थमवादियों का सुझाव था कि दूमा के सामाजिक-जनवादी दल को पहले ग्रंतिमेत्थम दिया जाये ग्रौर यदि वे उसे न मानें तो सामाजिक-जनवादी प्रतिनिधियों को वापस बुलाया जाये।

अंतिमेत्थमवाद वास्तव में छिपा हुआ, वेषांतरित बहिष्कारवाद ही था। लेनिन अंतिमेत्थमवादियों को "लजीले बहिष्कारवादी" कहते थे।

१९०९ के वसंत में बहिष्कारवादियों, अंतिमेत्थमवादियों और ईश्वर निर्माताओं ने काप्री द्वीप पर एक पार्टी विरोधी स्कूल संगठित करने के उद्देश्य से एक प्रारंभिक दल की स्थापना की (बोग्दानोव, अलेक्सीन्स्की, लुनाचार्स्की इत्यादि)। वस्तुतः यह दल उनके पार्टी-विरोधी गुट का गढ़ था।

'प्रोलेतारी' के विस्तृत संपादक-मंडल का एक सम्मेलन जून १९०९ में हुआ। इसके एक निर्णय में कहा गया था कि "रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की एक निश्चित प्रवृत्ति के नाते बोल्शेविज़्म न बहिष्कारवाद के साथ और न अंतिमेत्थमवाद के साथ ही कोई समानता रखता है" और बोल्शेविकों से अपील की गयी थी कि वे मार्क्सवाद से इन भटकावों के विरुद्ध डटकर संघर्ष छेड़ दें। बहिष्कारवादियों के नेता बोग्दानोव (मक्सीमोव) को बोल्शेविक पार्टी से हटा दिया गया। – पृ० १९६

87 **मनीलोव** – न० व० गोगोल कृत 'मृत आत्माएं' शीर्षक उपन्यास में चित्रित भावुक, "आत्मसंतुष्ट" ज़मींदार। इसके रूप में लेखक ने एक मंदबुद्धि, खोखले स्वप्नदर्शी और सुस्त वाचिवीर का चरित्र प्रस्तुत किया है। – पृ० २०१

88 **दिसंबरवादी** – अभिजात वर्ग के बीच के रूसी क्रांतिकारी; इन्होंने सामंतशाही और स्वेच्छाचारी शासन का विरोध किया। १४ दिसंबर १८२५ को उन्होंने सशस्त्र विद्रोह छेड़ दिया। – पृ० २०१

89 यहां व्ला० इ० लेनिन ने अ० इ० हर्ज़ेन कृत 'अंत तथा आरंभ' रचना से उद्धरण लिया है। – पृ० २०२

90 यहां व्ला० इ० लेनिन ने 'एक पुराने साथी के नाम पत्र' (चौथा पत्र) से उद्धरण लिया है। – पृ० २०३

91 यहां संकेत १८६१ में रूस में भूदास-प्रथा की समाप्ति की ओर है। – पृ० २०४

92 **अखिल रूसी किसान लीग** – १९०५ में स्थापित क्रांतिकारी-जनवादी संगठन। लीग की मास्को में अगस्त और नवंबर १९०५ में आयोजित पहली और दूसरी कांग्रेसों में इसका कार्यक्रम और कार्यनीति तैयार की गयी। किसान

लीग ने राजनीतिक स्वतंत्रता और संविधान सभा के अविलंब अधिवेशन की मांग की। इसने पहली राज्य दूमा के बहिष्कार का समर्थन किया। इसके कृषि कार्यक्रम ने मांग की कि निजी भूस्वामित्व समाप्त किया जाये और धर्ममठों, गिरजाघरों सम्राट, राजकुमारों तथा सरकार की सारी ज़मीन किसानों को बिना मुआवज़े के हस्तांतरित की जाये। लीग की नीति अधकचरी और ढुलमुल थी: भूस्वामित्व की समाप्ति का आग्रह करते हुए उसने भूस्वामियों को आंशिक मुआवज़ा दिया जाने की स्वीकृति दी। लीग की स्थापना के साथ ही पुलिस उसके पीछे पड़ गयी और १६०६ के अंत में लीग ने अंतिम सांस ली। – पृ० २०४

93 **'कोलोकोल'** (घंटा) – «Vivos voco!» (उनसे, जो ज़िंदा हैं!) इस आदर्श वाक्य के साथ प्रकाशित होनेवाला एक राजनीतिक समाचारपत्र। हर्ज़ेन द्वारा स्थापित स्वतंत्र रूसी छापेख़ाने से यह अ० इ० हर्ज़ेन और न० प० ओगार्योव द्वारा १८५७ से अप्रैल १८६५ तक लंदन में और १८६५ से जुलाई १८६७ तक जेनेवा में प्रकाशित किया जाता था। यह महीने में एक बार और कभी-कभी दो बार निकलता था। १८६८ में 'कोलोकोल' फ़्रांसीसी में निकलता था। इसके कुछ अंकों में रूसी क्रोड़पत्र रहते थे। 'कोलोकोल' की २५०० प्रतियां निकलती थीं और रूस भर में विस्तृत पैमाने पर इसका वितरण होता था। रूस में मज़दूरों के समाचारपत्रों का उदय होने से पहले 'कोलोकोल' ही क्रांतिकारी ग़ैर-सेन्सर समाचारपत्रों में अग्रणी था। 'कोलोकोल' ने स्वेच्छाचारी शासन के आतंक, सरकारी अधिकारियों द्वारा सार्वजनिक संपत्ति की लूटखसोट तथा ग़बन और भूस्वामियों द्वारा किसानों के निर्दय शोषण का पर्दाफ़ाश किया। 'कोलोकोल' ने आम जनवादी तथा क्रांतिकारी आंदोलन के विकास और स्वेच्छाचारी शासन तथा सामंतशाही विरोधी संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। – पृ० २०५

94 **'पोल्यार्नाया ज्वेज़्दा'** (ध्रुव तारा) – १८५५-१८६८ में प्रकाशित साहित्यिक और राजनीतिक लेख-संग्रह। इसके १-७ अंक लंदन में प्रकाशित हुए और ८वां अंक जेनेवा में। इसके प्रकाशक और संपादक आरंभ में अ० इ० हर्ज़ेन थे और दूसरे अंक से हर्ज़ेन तथा ओगार्योव। कुल मिलाकर इसकी ८ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। – पृ० २०५

95 **राज़्नोचीन्त्सी** – रूसी समाज के शिक्षित प्रतिनिधि जो अभिजात वर्ग में नहीं बल्कि निम्न-पूंजीवादियों, पादरियों, व्यापारियों और किसानों के बीच पैदा हुए थे। – पृ० २०५

96 **'नरोदनाया वोल्या'** (जनता की इच्छा) – ज़ारशाही स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष के लिए १८७९ में स्थापित की गयी गुप्त नरोदवादी संस्था। नरोदवादियों द्वारा ज़ार अलेक्सान्द्र द्वितीय की हत्या (१ मार्च, १८८१) की जाने के बाद ज़ारशाही सरकार ने शीघ्र ही उक्त संस्था को कुचल दिया। – पृ० २०८

97 **'प्रोस्वेश्चेनिये'** (शिक्षा) – बोल्शेविक सामाजिक-राजनीतिक और साहित्यिक मासिक पत्रिका। यह दिसंबर १९११ से पीटर्सबर्ग में क़ानूनी ढंग से प्रकाशित होती थी। ज़ारशाही सरकार ने मास्को में प्रकाशित बोल्शेविक पत्रिका 'मीस्ल' (विचार) बंद कर दी थी और लेनिन की हिदायतों के अनुसार इस पत्रिका के स्थान में ही 'प्रोस्वेश्चेनिये' पत्रिका निकाली गयी। लेनिन ने विदेश में रहते हुए भी 'प्रोस्वेश्चेनिये' के कार्य का मार्गदर्शन किया। इसमें लेनिन की निम्नलिखित रचनाएं प्रकाशित हुईं: 'चुनाव अभियान के मूलभूत प्रश्न', 'चुनावों के परिणाम', 'राष्ट्रीय प्रश्न संबंधी आलोचनात्मक टिप्पणियां', 'राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार', इत्यादि। पत्रिका के संपादक-मंडल में म० अ० सवेल्येव, म० स० ओल्मीन्स्की, अ० इ० येलिज़ारोवा इत्यादि लोग थे। पत्रिका के साहित्य-विभाग का संपादन गोर्की करते थे। पत्रिका की ५००० प्रतियां निकलती थीं।

जून १९१४ में, पहले विश्व-युद्ध के शुरू होते-होते ज़ारशाही सरकार ने 'प्रोस्वेश्चेनिये' का प्रकाशन रोक दिया। १९१७ की शरद में यह फिर से प्रकाशित होने लगी। इसका केवल एक ही (दोहरा) अंक निकला जिसमें लेनिन की ये रचनाएं प्रकाशित हुई थीं: 'क्या बोल्शेविक राज्यसत्ता को हाथ में रख सकते हैं?' और 'पार्टी कार्यक्रम के संशोधन के संबंध में'। – पृ० २१०

98 **बुंद – लिथुआनिया, पोलैंड और रूस के यहूदी मज़दूरों की आम यूनियन** – की स्थापना विल्नो में १८९७ में आयोजित यहूदी सामाजिक-जनवादी दलों की संस्थापक कांग्रेस द्वारा की गयी थी। यह मुख्यतया रूस के पश्चिमी प्रदेशों के अर्द्ध-सर्वहारा यहूदी कारीगरों की संस्था थी। बुंद ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पहली कांग्रेस (१८९८) के अवसर पर पार्टी में

प्रवेश किया – एक ऐसे "स्वायत्त संगठन के रूप में जो यहूदी सर्वहारा संबंधी प्रश्नों के विषय में ही स्वतंत्र था"।

बुंद ने रूस के मज़दूर आंदोलन में राष्ट्रवाद तथा पार्थक्यवाद का प्रवेश कराया और सामाजिक-जनवादी आंदोलन के मुख्य प्रश्नों पर अवसरवादी रुख़ अपनाया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने जब बुंद की यह मांग ठुकरा दी कि उसी को यहूदी सर्वहारा का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाये तो बुंद पार्टी से अलग हो गया। १९०६ में चौथी (एकता) कांग्रेस के एक प्रस्ताव के आधार पर बुंद ने फिर से रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में प्रवेश किया।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के अंदर रहते हुए बुंदवादी, पार्टी के अवसरवादी पक्ष ("अर्थवादी", मेन्शेविक, विसर्जनवादी) का समर्थन और बोल्शेविकों और बोल्शेविज़्म के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। बुंद ने पार्टी की राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की कार्यक्रमात्मक मांग के मुक़ाबिले में सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता की मांग पेश की। स्तोलीपिन प्रतिक्रिया के काल में उसने विसर्जनवादी रुख़ अपना लिया और पार्टी विरोधी अगस्त गुट के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१८) के दौरान में उसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपना लिया। १९१७ में उसने प्रतिक्रांतिकारी अस्थायी सरकार का समर्थन किया और महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के शत्रुओं के कंधे से कंधा लगाकर क्रांति के विरुद्ध लड़े। विदेशी सैनिक हस्तक्षेप और गृहयुद्ध के काल में बुंद के नेतागणों ने प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों का साथ दिया। इसी समय बुंद के साधारण सदस्यों के बीच सोवियत सत्ता के साथ सहयोग करने के पक्ष में परिवर्तन आ रहा था। मार्च १९२१ में बुंद ने आत्म-विसर्जन का निर्णय कर लिया और उसके कुछ सदस्यों ने प्रवेश संबंधी नियमों के आधार पर रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) में प्रवेश किया। – पृ० २१०

९९ «*Die Neue Zeit*» (नया ज़माना) – जर्मन सामाजिक-जनवाद की सैद्धांतिक पत्रिका। यह १८८३ से १९२३ तक स्टुटगार्ट में प्रकाशित होती थी। १९१७ तक क० काउत्स्की और बाद में ग० कूनोव इसके संपादक थे। १८८५ और १८९५ के बीच क० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स के कई लेख इस पत्रिका में प्रकाशित हुए। एंगेल्स समय समय पर पत्रिका के संपादकों को परामर्श दिया करते थे और मार्क्सवाद से भटक जाने के लिए उनकी कटु आलोचना किया करते थे। पत्रिका ने फ़० मेहरिंग,

प० लाफ़ार्ग और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन के अन्य नेताओं के लेख प्रकाशित किये। १९वीं शताब्दी के अंतिम दशक के उत्तरार्द्ध में एंगेल्स की मृत्यु के बाद पत्रिका ने अवसरवादी दृष्टिकोणों की व्याख्या करना और नियमित रूप से संशोधनवादियों के लेख प्रकाशित करना शुरू किया। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के दौरान में पत्रिका ने मध्य पक्षवादी रुख़ अपनाया और प्रत्यक्षतः सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद का समर्थन किया।—पृ० २१२

100 *«Przegląd Socjaldemokratyczny»* (सामाजिक-जनवादी समीक्षा)—क्रैको १९०२ से १९०४ तक और १९०८ से १९१० तक पोलिश सामाजिक-जनवादियों द्वारा प्रकाशित पत्रिका। इसके कार्य में रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग सक्रिय भाग लेती थीं।—पृ० २१४

101 **रूस्सकाया मीस्ल** (रूसी विचार)—मास्को में १८८० से प्रकाशित उदार-पूंजीवादी मासिक पत्रिका। १९०५ की क्रांति के बाद यह कैडेट पार्टी के दक्षिण पक्ष का मुखपत्र बनी। उस समय लेनिन ने 'रूस्सकाया मीस्ल' को 'यमदूत सभाई विचार' का नाम दिया। १९१८ के मध्य में यह पत्रिका बंद हुई।—पृ० २२२

102 **ब्रून कांग्रेस**—आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी पार्टी की यह कांग्रेस सितंबर १८९९ में ब्रून (Brno) में हुई। कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम ने सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता की मांग प्रस्तुत की और हैप्सबर्ग राजसत्ता की राज्यीय अखंडता का समर्थन किया जिससे वस्तुतः आत्म-निर्णय का अधिकार अस्वीकार किया गया। इस कार्यक्रम के स्वीकार से आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवाद की अंतर्राष्ट्रीयतावाद से खुली विदाई और उसके द्वारा पूंजीवादी राष्ट्रवाद के रुख़ का अंगीकार स्पष्ट हुआ।

ब्रून कांग्रेस ने पार्टी की एक प्रधान संस्था समाप्त कर दी और इसके बाद आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी पार्टी वस्तुतः जातीयता के आधार पर बंट गयी।—पृ० २२६

103 **संयुक्त अभिजात परिषद**—ज़मींदारों का अखिल रूसी प्रतिक्रांतिकारी संगठन। मई १९०६ में इसकी स्थापना हुई थी। इसने प्रतिक्रियावादी शिविर में संयुक्त केंद्र की भूमिका अदा की। इसने स्वेच्छाचारी शासन की निरंकुश सत्ता को बनाये रखने और ज़मींदारों की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ कराने का कार्यभार अपने कंधों पर लिया था। परिषद अक्तूबर १९१४ तक बनी रही।—पृ० २३५

104 देखिये टिप्पणी नं० ८४।–पृ० २३५

105 **'प्रगतिवादी'** पार्टी–१९०५ की क्रांति के बाद के प्रतिक्रिया के काल में राष्ट्रीय-उदार राजतंत्रवादी पूंजीवादियों की एक पार्टी। ये लोग "द्विसदनीय प्रणाली के साथ सीमित, नियंत्रित संविधान और जनवाद विरोधी निर्वाचन क़ानून के समर्थक" और "आग तथा तलवार के सहारे 'देशी उद्योग' के लिए नये बाज़ार जीत लेने की 'देशभक्तिपूर्ण' नीति अपनानेवाली 'बलशाली सरकार'" के अनुयायी थे। (लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खण्ड १८, पृष्ठ ४११)।–पृ० २३५

106 **'रेच'** (भाषण)–दैनिक समाचारपत्र, कैडेटों का केंद्रीय मुखपत्र। यह फ़रवरी १९०६ से पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता रहा। २६ अक्तूबर (८ नवंबर) १९१७ को सैनिक क्रांतिकारी समिति ने इसका प्रकाशन रोक दिया।–पृ० २३५

107 **'प्राव्दा'** (सत्य)–क़ानूनी बोल्शेविक दैनिक समाचारपत्र। यह पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता था। अप्रैल १९१२ में पीटर्सबर्ग के मज़दूरों की पहलक़दमी पर ही इसकी स्थापना हुई थी। इसका पहला अंक २२ अप्रैल (५ मई) १९१२ को निकला।

'प्राव्दा' के निर्वाहक मज़दूर थे: १९१२ में मज़दूरों ने बोल्शेविक प्रेस के लिए ६२० सामुदायिक चंदे इकट्ठे किये, १९१३ में इनकी संख्या २,१८१ हुई और जनवरी-मई १९१४ में २,८७३। अग्रणी मज़दूर 'प्राव्दा' के संवाददाता थे। एक वर्ष की अवधि में मज़दूरों के ११,००० से अधिक लेखादि प्रकाशित किये गये। इस पत्र की रोज़ाना ४०,०००–६०,००० प्रतियां निकलती थीं।

विदेश में रहते हुए भी लेनिन 'प्राव्दा' का मार्गदर्शन करते थे। वे लगभग हर रोज उसमें लेख लिखते, संपादक-मंडल को परामर्श देते और पार्टी की सर्वोत्तम साहित्यिक शक्तियों को उसके कार्य में जुटा देते। पत्र के सक्रिय लेखकों में ये लोग थे: न० न० बतूरिन, क० स० येरेमेयेव, म० इ० कालीनिन, व० म० मोलोतोव, म० स० ओल्मीन्स्की, न० ग० पोलेतायेव, क० न० समोइलोवा, य० म० स्वेर्दलोव, अ० इ० उल्यानोवा-येलिज़ारोवा इत्यादि और चौथी राज्य दूमा के निम्नलिखित बोल्शेविक प्रतिनिधि: अ० ये० बदायेव, ग० इ० पेत्रोव्स्की, म० क० मुरानोव, फ़० न० समोइलोव और न० र० शागोव।

'प्राव्दा' को पुलिस बराबर तंग करती रही। इसके जीवन-काल के पहले वर्ष में ही इसे ४१ बार ज़ब्त किया गया; इसके संपादकों पर ३६ बार मुक़दमे चलाये गये और उन्होंने कुल ४७.५ महीने जेल में बिताये। पहले अंक के प्रकाशित होने के समय से दो वर्ष और तीन महीनों के अंदर ज़ारशाही सरकार ने इसे आठ बार बंद कर दिया पर यह दूसरे नाम लेकर प्रकाशित होता रहा: 'राबोचाया प्राव्दा' (मज़दूरों का सत्य), 'सेवेर्नाया प्राव्दा' (उत्तरी सत्य), 'प्राव्दा तुदा' (श्रम सत्य), 'ज़ा प्राव्दू' (सत्य के लिए), 'प्रोलेतार्स्काया प्राव्दा'(सर्वहारा सत्य), 'पूत प्राव्दी' (सत्य मार्ग), 'राबोची' (मज़दूर), 'तुदोवाया प्राव्दा' (श्रमिक सत्य)। ८ (२१) जुलाई १९१४ को, यानी पहले विश्व-युद्ध के ठीक पहले, पत्र बंद किया गया।

'प्राव्दा' फ़रवरी क्रांति के बाद ५(१८) मार्च से रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी (बोल्शेविक) के केंद्रीय मुखपत्र के रूप में फिर से प्रकाशित होने लगा। लेनिन ने ५(१८) अप्रैल को रूस लौट आने के बाद 'प्राव्दा' का संचालन अपने हाथों में लिया। जुलाई और अक्तूबर १९१७ के बीच अस्थायी सरकार द्वारा सताये जाने के कारण 'प्राव्दा' को चार बार अपना नाम बदल लेना पड़ा। यह 'लिस्तोक प्राव्दी' (सत्य का पर्चा), 'प्रोलेतारी' (सर्वहारा), 'राबोची' (मज़दूर) और 'राबोची पूत' (मज़दूरों का मार्ग) नाम से निकलता रहा। २७ अक्तूबर (९ नवंबर) से इसने अपना मल नाम 'प्राव्दा' धारण कर लिया। – पृ० २३५

108 **'श्ल्याखी'** (रास्ते) – उक्रइनी विद्यार्थियों की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति की लीग का मुखपत्र। यह ल्वोव में अप्रैल १९१३ से मार्च १९१४ तक प्रकाशित होता रहा। – पृ० २३६

109 **'नोवोये व्रेम्या'** (नया ज़माना) – यह दैनिक समाचारपत्र १८६८ और १९१७ के बीच पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता रहा। कई प्रकाशक इसके मालिक रहे और यह बार-बार अपनी राजनीतिक प्रवृत्ति बदलता रहा। आरंभ में नरम उदारवादी नीति अपनाते हुए यह १८७६ में प्रतिक्रियावादी अभिजात वर्ग और नौकरशाही मंडलों का मुखपत्र बना। १९०५ से यह यमदूत सभावालों का मुखपत्र हो गया। फ़रवरी की पूंजीवादी-जनवादी क्रांति के बाद इस समाचारपत्र ने पूंजीवादी अस्थायी सरकार की नीति का बिना शर्त समर्थन किया और बोल्शेविकों पर सख़्त हमले किये। २६ अक्तूबर (८ नवंबर) १९१७ को पेत्रोग्राद सोवियत की सैनिक क्रांतिकारी समिति ने इस पत्र का

प्रकाशन रोक दिया। लेनिन 'नोवोये व्रेम्या' को भाड़े के टट्टू समाचारपत्रों का आदर्श कहते थे। – पृ० २३६

110 **'ज़ेमश्चिना'** ('ज़ेम्सत्वो'-वाद) – यमदूत सभावाला समाचारपत्र; राज्य दूमा के चरम दक्षिण पक्षी प्रतिनिधियों का मुखपत्र। यह जुलाई १६०६ से फ़रवरी १६१७ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता रहा। – पृ० २३६

111 **"पकड़ना और रोकना"** – पुलिस तानाशाही की सूचक शब्द-संहति; रूसी लेखक ग्लेब उस्पेन्स्की ने 'पुलिस थाना' शीर्षक अपनी कहानी में इसका प्रयोग किया है। – पृ० २३६

112 **'कीयेवस्काया मीस्ल'** (कीयेव विचार) – दिसंबर १६०६ से दिसंबर १६१८ तक कीयेव में प्रकाशित उदार-पूंजीवादी दैनिक समाचारपत्र। मेन्शेविक-विसर्जनवादी इस पत्र के सक्रिय सहयोगी थे। – पृ० २४१

113 यहां संकेत «*Naprzód*» (आगे) समाचारपत्र की ओर है। यह गैलीशिया और सिलेशिया की पोलिश सामाजिक-जनवादी पार्टी का केंद्रीय मुखपत्र था और १८६२ से क्रैको में प्रकाशित होता रहा। – पृ० २४७

114 देखिये टिप्पणी नं० ६१। – पृ० २५७

115 **पार्टी कार्यकर्त्ताओं के साथ रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी की केंद्रीय समिति का सम्मेलन** (गुप्तता के उद्देश्य से यह "ग्रीष्मकालीन" अथवा "अगस्त" सम्मेलन कहलाता था) २३ सितंबर से १ अक्तूबर (६-१४ अक्तूबर) १६१३ तक पोरोनिन नामक देहात (क्रैको के पास) में हुआ जहां गरमियों में लेनिन रह रहे थे।

सम्मेलन के कार्य में निम्नलिखित संगठनों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया: केंद्रीय समिति, केंद्रीय मुखपत्र का संपादक-मंडल, 'प्रोस्वेश्चेनिये' (शिक्षा) पत्रिका, राज्य दूमा का सामाजिक-जनवादी दल और पीटर्सबर्ग, मास्को, ख़ार्कोव, येकातेरीनोस्लाव, कोस्त्रोमा, कीयेव और उराल के संगठन। सम्मेलन में उपस्थित पोलिश सामाजिक-जनवादियों को परामर्शात्मक मताधिकार प्राप्त था। कुल २२ प्रतिनिधि उपस्थित रहे जिनमें ये थे: व्ला० इ० लेनिन, अ० अ० त्रोयानोव्स्की, न० क० क्रूप्स्काया, अ० ये० बदायेव, इ० फ़० अर्मान्द, म० क० मुरानोव, ये० फ़० रोज़मीरोविच,

ग० इ० पेत्रोव्स्की, न० र० शागोव, फ़० न० समोइलोव, ये० अ० बलाशोव, य० स० हानेत्स्की, ग० कामेन्स्की इत्यादि।

सम्मेलन में निम्नलिखित विषयों पर चर्चा हुई: १) प्रदेशों से प्राप्त विवरण; पोलिश सामाजिक-जनवादियों की गतिविधियों के संबंध में विवरण और केंद्रीय समिति के कार्य के संबंध में विवरण; २) राष्ट्रीय प्रश्न; ३) दूमा के सामाजिक-जनवादियों का कार्य; ४) दूमा के सामाजिक-जनवादी दल की आंतरिक स्थिति; ५) संगठन प्रश्न और पार्टी कांग्रेस; ६) हड़ताली आंदोलन; ७) क़ानूनी संस्थाओं में कार्य; ८) नरोदवादी; ९) पार्टी प्रेस; और १०) वियना की आगामी अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस।

लेनिन ने सम्मेलन के कार्य का संचालन किया। उन्होंने उद्घाटन का भाषण दिया; केंद्रीय समिति के कार्य के संबंध में विवरण प्रस्तुत किया; राष्ट्रीय प्रश्न तथा वियना की अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस के संबंध में भाषण दिये। इसके अलावा लेनिन कार्यसूची के व्यवहारत: सभी विषयों पर बोले, अपने सुझाव पेश किये और प्रस्तावों के मसौदे तैयार किये तथा उनका संपादन किया।

प्रदेशों से प्राप्त विवरणों से देखा गया कि मज़दूर आंदोलन और आगे बढ़ गया है।

सम्मेलन में अंतिम भाषण लेनिन का ही रहा।–पृ० २५९

116 यहां लेनिन के सामने व० लीब्कनेख़्त लिखित मार्क्स विषयक संस्मरण हैं।–पृ० २६०

117 «*The Times*»– लंदन में १७८५ में स्थापित समाचारपत्र। ब्रिटिश पूंजीवादियों का एक बड़ा कंज़र्वेटिव समाचारपत्र।–पृ० २६३

118 **फ़ेनियन आंदोलन**–१९वीं शताब्दी के छठे दशक के अंत में आयरिश निम्न-पूंजीवादी क्रांतिकारियों द्वारा छेड़ा गया आंदोलन। इनके कार्यक्रम और क्रियाकलापों में ब्रिटिश औपनिवेशिक उत्पीड़न के प्रति आयरिश जनता का विरोध प्रतिबिंबित हुआ। फ़ेनियनों ने अपने देश की राष्ट्रीय स्वतंत्रता, जनवादी जनतंत्र की स्थापना और किसान असामियों को ख़ुद उनके द्वारा जोती जा रही ज़मीनों के मालिकों में परिवर्तित करने की मांग की। लेकिन फ़ेनियनों की षड्यंत्रकारी कार्यनीति आयरिश जनता के बड़े हिस्सों के साथ उनके संबंध सुदृढ़ बनाने में बाधा बनी रही। उसी तरह उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन के आम जनवादी और मज़दूर आंदोलन के साथ भी कोई संपर्क नहीं रखा।

फ़रवरी-मार्च १८६७ को फ़ेनियनों के विद्रोह की हार हुई। बाद के वर्षों में तो उनकी गतिविधियां केवल वैयक्तिक आतंक तक सीमित हो गयीं और आठवें दशक में पूर्णतया ठंडी पड़ गयीं। – पृ० २६३

119 **'न्यू-यार्क डेली ट्रिब्यून'** (*«New York Daily Tribune»*) – १८४१ से १९२४ तक प्रकाशित अमरीकी समाचारपत्र। १९वीं शताब्दी के पांचवें और छठे दशकों में इसने प्रगतिशील रुख़ अपनाया और दास-स्वामित्व के विरुद्ध आवाज़ उठायी। छठे दशक के मध्य काल से यह सं० रा० अ० की रिपब्लिकन पार्टी का मुखपत्र रहा। अगस्त १८५१ से मार्च १८६२ तक मार्क्स इस पत्र में लिखते रहे। एंगेल्स ने भी इसके लिए कई लेख लिखे। – पृ० २२६

120 **अलसटर** (ऊल्सटर) – आयरलैंड का उत्तर-पूर्वी हिस्सा जहां की आबादी मुख्यतया अंग्रेज़ों की है। – पृ० २६८

121 लेनिन यहां १९०२ में 'ज़ार्या' (प्रभात) के चौथे अंक में प्रकाशित प्लेख़ानोव के 'रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा' शीर्षक लेख से उद्धरण दे रहे हैं। – पृ० २७०

122 **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पांचवीं कांग्रेस** ३० अप्रैल से १९ मई (१३ मई से १ जून) १९०७ तक लंदन में हुई। कांग्रेस में निर्णयात्मक और परामर्शात्मक मताधिकार वाले ३३६ प्रतिनिधि उपस्थित थे: १०५ बोल्शेविक, ९७ मेन्शेविक, ५७ बुंदवादी, ४४ पोलिश सामाजिक-जनवादी, २९ लाटवियाई सामाजिक-जनवादी और ४ "ग़ैर-दलीय"। बोल्शेविकों को पोलिश और लाटवियाई सामाजिक-जनवादियों का समर्थन प्राप्त था और कांग्रेस में उनका बहुमत था। बोल्शेविक प्रतिनिधियों में लेनिन, वोरोशीलोव, दुब्रोवीन्स्की, यारोस्लाव्स्की और शाऊम्यान इत्यादि थे।

कांग्रेस ने निम्नलिखित विषयों पर चर्चा की: १) केंद्रीय समिति का विवरण; २) दूमा दल का विवरण और उसकी संरचना; ३) पूंजीवादी पार्टियों के प्रति रुख़; ४) राज्य दूमा; ५) "मज़दूर कांग्रेस" और ग़ैर-पार्टी मज़दूरों के संगठन; ६) ट्रेड-यूनियन और पार्टी; ७) छापेमार कार्रवाइयां; ८) बेरोज़गारी, आर्थिक संकट और तालाबंदियां; ९) संगठन विषयक प्रश्न; १०) स्टुटगार्ट की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस (१ मई, सैनिकवाद); ११) सेना में कार्य, १२) विविध। जिन मूलभूत प्रश्नों पर चर्चा की गयी

उनमें से एक पूंजीवादी पार्टियों के प्रति रुख़ का प्रश्न था। लेनिन ने इसपर अपना विवरण प्रस्तुत किया। सभी बुनियादी सवालों पर कांग्रेस ने बोल्शेविकों के प्रस्ताव स्वीकृत किये। उसने केंद्रीय समिति का चुनाव किया जिसमें पांच बोल्शेविक, चार मेन्शेविक, दो पोलिश और एक लाटवियाई सामाजिक-जनवादी थे। कांग्रेस में निर्वाचित केंद्रीय समिति के उमीदवार सदस्यों में दस बोल्शेविक, सात मेन्शेविक, तीन पोलिश और दो लाटवियाई सामाजिक-जनवादी रहे।

कांग्रेस में पार्टी के अवसरवादी पक्ष अर्थात् मेन्शेविज़्म पर बोल्शेविज़्म की महान विजय स्पष्ट हुई। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पांचवीं कांग्रेस के संबंध में लेनिन का 'पूंजीवादी पार्टियों के प्रति रुख़' शीर्षक लेख देखिये। – पृ० २७५

123 यहां संकेत २१-२३ जुलाई (३-५ अगस्त) १६०७ तक कोतका (फ़िनलैंड) में आयोजित **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के तीसरे सम्मेलन ("दूसरा अखिल रूसी")**; ५-१२ (१८-२५) नवंबर १६०७ तक हेल्सिंगफ़ोर्स में आयोजित **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के चौथे सम्मेलन ("तीसरा अखिल रूसी")** और २१-२७ दिसंबर १६०८ (३-६ जनवरी १६०६) तक पेरिस में आयोजित **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के पांचवें अखिल रूसी सम्मेलन** की ओर है। – पृ० २७५

124 यह पूर्णाधिवेशन २-२३ जनवरी (१५ जनवरी से ५ फ़रवरी) १६१० तक पेरिस में हुआ। लेनिन के विरोध के बावजूद त्रोत्स्की के छिपे सहयोगी ज़िनोव्येव, कामेनेव और रीकोव की सहायता से यह बुलाया गया। बोल्शेविकों के अलावा इसमें सभी गुटों और गुटबंद दलों के प्रतिनिधि और राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी संगठनों के भी प्रतिनिधि उपस्थित रहे। विसर्जनवादियों का सामना करने के लिए पार्टी के मेन्शेविकों (प्लेख़ानोव के अनुयायियों) के साथ घनिष्ठतर संबंध स्थापित करने की लेनिन की योजना के विरोध में इन समझौतावादियों, छिपे त्रोत्स्कीवादियों ने मांग की कि सभी गुट तोड़ दिये जायें और बोल्शेविक लोग विसर्जनवादियों तथा त्रोत्स्कीवादियों के साथ एक हो जायें। पूर्णाधिवेशन में समझौतावादी तत्त्वों का बहुमत था जिससे वे कई लेनिन विरोधी निर्णय स्वीकृत करा सके। लेनिन की दृढ़ मांग के बाद ही कहीं पूर्णाधिवेशन ने विसर्जनवाद और बहिष्कारवाद की निंदा करनेवाला प्रस्ताव स्वीकृत किया। – पृ० २७५

125 **'बोर्बा'** (संघर्ष) – त्रोत्स्की की पत्रिका। यह पीटर्सबर्ग में फ़रवरी से जुलाई १९१४ तक प्रकाशित होती रही। "ग़ैर-दलीयतावाद" के अवगुंठन का उपयोग करते हुए त्रोत्स्की ने अपनी पत्रिका में लेनिन और बोल्शेविक पार्टी के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। – पृ० २७५

126 यह वाक्-प्रयोग न० श्चेद्रिन के 'विदेशों में' शीर्षक निबंध-संग्रह से लिया गया है। – पृ० २७७

127 यहां संकेत रूसी लेखक न० ग० पोम्यालोव्स्की की 'बूर्सा की कहानियां' शीर्षक रचना की ओर है। पुस्तक में वर्णित ज़ारशाही रूस का यह धार्मिक स्कूल कठोर अनुशासन, शारीरिक दंड और कड़े नीति-नियमों के लिए प्रसिद्ध था। – पृ० २७७

128 **द्ज्विन** (घंटा) – मेन्शेविक प्रवृत्तिवाली क़ानूनी राष्ट्रवादी मासिक पत्रिका। यह जनवरी १९१३ से १९१४ के मध्य तक कीयेव में उक्रइनी भाषा में प्रकाशित होती थी। – पृ० २७८

129 विसर्जनवादियों का सम्मेलन अगस्त १९१२ में वियना में हुआ। इसने पार्टी विरोधी अगस्त गुट बनाया, जिसके संगठक त्रोत्स्की थे। सम्मेलन में बुंद, काकेशियाई प्रादेशिक समिति, लाटवियाई भूभाग के सामाजिक-जनवादियों और विसर्जनवादियों के विदेश स्थित दलों के प्रतिनिधि उपस्थित रहे। ये दल इस प्रकार थे: 'गोलोस सोत्सिअल-देमोक्राता' और त्रोत्स्की के वियना 'प्राव्दा' के संपादक-मंडल और 'व्पेर्योद' दल। रूस का प्रतिनिधित्व विसर्जनवादियों के पीटर्सबर्ग और मास्को स्थित "आरंभिक दलों" और विसर्जनवादी पत्र 'नाशा ज़ार्या' और 'नेव्स्की गोलोस' के संपादक-मंडलों ने किया। 'स्पील्का' विदेश समिति का एक प्रतिनिधि भी सम्मेलन में उपस्थित था। प्रतिनिधियों में बड़ी भारी संख्या उन लोगों की थी जो विदेशों में रहते थे और रूस के मज़दूर वर्ग से जिनका कोई रिश्ता न था।

सम्मेलन ने सामाजिक-जनवादी कार्यनीति से संबंधित सभी प्रश्नों पर पार्टी विरोधी विसर्जनवादी निर्णय स्वीकृत किये और ग़ैर-क़ानूनी पार्टी के अस्तित्व के विरुद्ध आवाज़ उठायी।

अगस्त गुट का भानमती का कुनबा सम्मेलन के समय से ही टूटने लगा। विसर्जनवादी केंद्रीय समिति का चुनाव न कर पाये और उन्होंने

संगठन समिति के निर्माण तक ही अपने को सीमित रखा। बोल्शेविक चोटों-चपेटों के फलस्वरूप शीघ्र ही पार्टी विरोधी अगस्त गुट की इतिश्री हो गयी।–पृ० २७६

130 **'नोवाया राबोचाया गाज़ेता'** (नया मज़दूर समाचारपत्र)–विसर्जनवादी मेन्शेविकों का क़ानूनी दैनिक समाचारपत्र। यह अगस्त १६१३ से पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होता रहा। ३० जनवरी (१२ फ़रवरी) १६१४ से इसका स्थान 'सेवेर्नाया राबोचाया गाज़ेता' (उत्तरी मज़दूरों का समाचारपत्र) और बाद में 'नाशा राबोचाया गाज़ेता' ने लिया। लेनिन इसे 'नया विसर्जनवादी समाचारपत्र' कहते थे।–पृ० २७६

131 लेनिन ने यहां क्रीमियाई युद्ध के सेवास्तोपोल सिपाहियों के एक गीत की एक कड़ी उद्धृत की है। यह गीत ४ अगस्त १८५५ की काली नदी की लड़ाई के संबंध में है।–पृ० २८०

132 **'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो'** (रूसी संपदा)–एक मासिक पत्रिका जो १८७६ से १६१८ के मध्य तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होती रही। १६वीं शताब्दी के नवें दशक के आरंभ में यह उदार नरोदवादियों का मुखपत्र बन गयी। स० न० क्रिवेन्को और न० क० मिख़ाइलोव्स्की इसके संपादक थे। पत्रिका ने ज़ारशाही सरकार के साथ समझौते का प्रचार किया और मार्क्सवाद तथा रूसी मार्क्सवादियों के विरुद्ध ज़ोरदार संघर्ष छेड़ दिया।

१६०६ से यह पत्रिका जन-समाजवादियों की अर्ध-कैडेट पार्टी का मुखपत्र बन गयी।–पृ० २८३

133 देखिये टिप्पणी नं० १३०।–पृ० २८५

134 **जंकर**–प्रशा के अभिजात वर्गीय भूस्वामी।–पृ० २८८

135 **समाजवादी मासिक पत्रिका** (*«Sozialistische Monatshefte»*)–यह पत्रिका जर्मन अवसरवादियों का प्रधान मुखपत्र और अंतर्राष्ट्रीय अवसरवाद का एक मुखपत्र थी। यह बर्लिन में १८६७ से १६३३ तक प्रकाशित होती रही। पहले विश्वयुद्ध (१६१४-१६१८) के दौरान में इसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपना लिया था।–पृ० २६२

[136] **दूसरी इंटरनेशनल की स्टुटगार्ट कांग्रेस** १८ से २४ अगस्त १९०७ तक हुई। कांग्रेस में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के ३७ प्रतिनिधि उपस्थित रहे। बोल्शेविक प्रतिनिधियों में लेनिन, लुनाचार्स्की, लित्वीनोव, मेश्कोव्स्की (इ० प० गोल्देनबर्ग), रुबेन (ब० म० क्नुन्यान्त्स), म० ग० त्स्ख़ाकाया, ये० ब० बोश इत्यादि थे। कांग्रेस में निम्नलिखित विषयों पर चर्चा हुई: १) सैनिकवाद और अंतर्राष्ट्रीय मुठभेड़; २) राजनीतिक पार्टियों और ट्रेड-यूनियनों के बीच के संबंध; ३) औपनिवेशिक प्रश्न; ४) मज़दूरों का आप्रवासन (इमिग्रेशन) और उत्प्रवासन (एमिग्रेशन); और ५) स्त्रियों के लिए मताधिकार।

कांग्रेस का मुख्य कार्य आयोगों में केंद्रित था जहां पूर्णाधिवेशन के लिए प्रस्तावों के मसौदे तैयार किये जाते थे। "सैनिकवाद और अंतर्राष्ट्रीय मुठभेड़" संबंधी प्रस्ताव तैयार करनेवाले आयोग में लेनिन शामिल थे। बेबेल द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्ताव के मसौदे में लेनिन ने रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के साथ एक महत्त्वपूर्ण संशोधन पेश किया। संशोधन में कहा गया था कि युद्ध के कारण उत्पन्न संकट का जनता को क्रांतिप्रवण बनाने और पूंजीवाद का तख़्ता उलटने के लिए उपयोग करना समाजवादियों का कर्त्तव्य है। कांग्रेस ने संशोधन स्वीकृत किया। – पृ० २९२

[137] **दूसरी इंटरनेशनल की कोपेनहेगेन कांग्रेस** २८ अगस्त से ३ सितंबर १९१० तक हुई। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का प्रतिनिधित्व लेनिन, प्लेख़ानोव, लुनाचार्स्की, कोलोन्ताई, इ० प० पोक्रोव्स्की इत्यादि ने किया। प्रारंभिक चर्चा और पृथक् प्रश्नों पर प्रस्तावों के मसौदे तैयार करने के लिए कई आयोग बनाये गये। लेनिन ने सहकार विषयक आयोग के काम में भाग लिया।

कांग्रेस द्वारा स्वीकृत "सैनिकवाद और युद्ध विरोधी संघर्ष" विषयक प्रस्ताव ने "सैनिकवाद और अंतर्राष्ट्रीय मुठभेड़" विषयक स्टुटगार्ट प्रस्ताव का समर्थन किया। समाजवादी प्रतिनिधियों द्वारा अपनी-अपनी संसद में युद्ध विरोध के उद्देश्य से प्रस्तुत की जानेवाली कई मांगें इस प्रस्ताव में शामिल थीं। जैसे: क) राज्यों के बीच के विभिन्न मुठभेड़ आवश्यक रूप से अंतर्राष्ट्रीय पंच-न्यायालयों द्वारा हल किये जायें; ख) आम निःशस्त्रीकरण; ग) गुप्त कूटनीति की समाप्ति; घ) सभी जनताओं के लिए स्वायत्त शासन और सभी सैनिक आक्रमणों और उत्पीड़न से उनकी रक्षा। – पृ० २९२

[138] **दूसरी इंटरनेशनल की बैसेल कांग्रेस** २४-२५ नवंबर १९१२ को हुई। यह बल्कान युद्ध और आगामी यूरोपीय युद्ध के संबंध में बुलायी गयी असाधारण कांग्रेस थी। कांग्रेस ने एक घोषणापत्र स्वीकृत किया जिसमें आगामी युद्ध के साम्राजी स्वरूप पर बल दिया गया और सभी देशों के समाजवादियों से अपील की गयी कि "युद्ध जनित 'आर्थिक और राजनीतिक संकट' का उपयोग वे 'पूंजीवाद के पतन को शीघ्रतर बनाने के लिए' करें"। काउत्स्की, वैंडरवेल्डे और दूसरी इंटरनेशनल के दूसरे नेताओं ने घोषणापत्र के पक्ष में मत दिया। पर १९१४ में, साम्राजी विश्वयुद्ध के आरंभ के समय वे इसे भूल गये और अपनी-अपनी साम्राज्यवादी सरकारों का पक्ष अपना लिया।—पृ० २९२

[139] लेनिन यहां चेर्निशेव्स्की के 'प्राक्कथन' शीर्षक उपन्यास से उद्धरण दे रहे हैं।—पृ० २९८

[140] देखिये फ़्रेडरिक एंगेल्स, 'उत्प्रवासन संबंधी साहित्य'।—पृ० २९९

[141] **लासालवादी**—लासाल (जर्मन निम्न-पूंजीवादी समाजवादी) के समर्थक तथा अनुयायी और १८६३ में लिपजिग में आयोजित मज़दूर संस्थाओं की कांग्रेस में स्थापित आम जर्मन मज़दूर यूनियन के सदस्य। यूनियन का पहला अध्यक्ष लासाल था और उसी ने यूनियन के कार्यक्रम और कार्यनीति के सिद्धांतों की रूप-रेखा बनायी थी। लासाल और उसके अनुयायी व्यावहारिक गतिविधियों में बिस्मार्क की महान् राष्ट्र वाली नीति का समर्थन करते थे। का० मार्क्स के नाम २७ जनवरी, १८६५ को लिखे गये पत्र में फ़्रे० एंगेल्स ने इस संबंध में ये शब्द लिखे थे: "वस्तुगत दृष्टि से यह प्रशावासियों के पक्ष में मज़दूर आंदोलन का द्रोह और विश्वासघात है।" का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स ने लासालवादियों के सिद्धांत, कार्यनीति और संगठनात्मक तत्त्वों को जर्मन मज़दूर आंदोलन की एक अवसरवादी प्रवृत्ति कहकर बार-बार और कड़ी आलोचना की।—पृ० ३००

[142] **'सोत्सिअल-देमोक्रात'**—एक ग़ैर-क़ानूनी समाचारपत्र, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का मुखपत्र। यह फ़रवरी १९०८ और जनवरी १९१७ के बीच प्रकाशित होता रहा। इसके कुल ५८ अंक निकले। पहला अंक रूस में प्रकाशित हुआ। फिर इसका प्रकाशन पेरिस में और बाद में

जेनेवा में होने लगा। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति के निर्णयानुसार केंद्रीय मुखपत्र के संपादक-मंडल में बोल्शेविक, मेन्शेविक और पोलिश सामाजिक-जनवादी शामिल रहे।

लेनिन ने इस पत्र में ८० से अधिक लेख और टिप्पणियां लिखीं। 'सोत्सिअल-देमोक्रात' संपादक-मंडल के दायरे के अंदर लेनिन सुसंगत बोल्शेविक नीति के लिए संघर्ष करते रहे। कुछ संपादकों (कामेनेव और ज़िनोव्येव) ने विसर्जनवादियों के प्रति समझौते का रुख़ अपनाया और लेनिन की नीति को अमल में लाने में वाधा डालने का प्रयत्न किया। मेन्शेविक संपादक मार्तोव और दान ने केंद्रीय मुखपत्र के संपादक-मंडल के काम में तोड़-फोड़ करते हुए ही साथ-साथ अपने गुट वाले समाचारपत्र 'गोलोस सोत्सिअल-देमोक्राता' (सामाजिक-जनवादी की आवाज़) में खुल्लमखुल्ला विसर्जनवाद का समर्थन किया।

विसर्जनवादियों के विरुद्ध लेनिन के दृढ़ संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्तोव और दान जून १६११ में संपादक-मंडल से हट गये। दिसंबर १६११ से 'सोत्सिअल-देमोक्रात' का संपादन लेनिन करने लगे। पहले विश्व-युद्ध के आरंभ में, एक वर्ष के मध्यांतर के बाद लेनिन ने उक्त पत्र का पुनः-प्रकाशन आरंभ किया। १ नवंबर (नयी शैली) १६१४ को इसका ३३वां अंक निकला जिसमें रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति का घोषणापत्र प्रकाशित किया गया था। युद्ध के दौरान में इस पत्र के लिए लेनिन द्वारा लिखे गये लेखों ने युद्ध, शांति और क्रांति के संबंध में बोल्शेविक पार्टी की रणनीति और कार्यनीति को अमल में लाने, खुले और छिपे सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों की पोल खोलने और समूचे संसार के मज़दूर आंदोलन में अंतर्राष्ट्रीय तत्त्वों को एकत्रित कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। — पृ० ३०३

143 **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के विदेश-स्थित हिस्सों का सम्मेलन** २७ फ़रवरी से ४ मार्च १६१५ तक बर्न (स्विट्ज़रलैंड) में हुआ। यह लेनिन की पहलक़दमी पर बुलाया गया था और चूंकि युद्ध के दौरान में अखिल रूसी सम्मेलन बुलाना असंभव था इसलिए उक्त सम्मेलन को आम पार्टी के बोल्शेविक सम्मेलन का महत्त्व प्राप्त हुआ। सम्मेलन में पेरिस, ज़ूरिच, जेनेवा, बर्न तथा लाउसान्ने के बोल्शेविक विभागों और "बोज़्ही" दल के भी प्रतिनिधि उपस्थित थे। लेनिन ने केंद्रीय समिति और केंद्रीय मुखपत्र ('सोत्सिअल-देमोक्रात') का प्रतिनिधित्व तथा सम्मेलन की

कार्रवाई का मार्गदर्शन किया और कार्य-सूची के मुख्य विषय पर भाषण दिया। यह विषय था: "युद्ध और पार्टी के कार्य-भार"। सम्मेलन ने युद्ध के संबंध में लेनिन द्वारा तैयार किया गया प्रस्ताव स्वीकृत किया। –पृ० ३०३

144 **प्रूदोंवाद** – निम्न-पूंजीवादी समाजवाद की एक अवैज्ञानिक, मार्क्सवाद विरोधी प्रवृत्ति। फ़्रांसीसी अराजकतावादी और इस प्रवृत्ति के एक सिद्धांतकार प्रूदों के नाम पर इसका नाम पड़ा। बड़ी पूंजीवादी संपत्ति की निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण से आलोचना करते हुए प्रूदों ने छोटी निजी संपत्ति के चिर स्थायित्व का सपना देखा और ऐसे "जनता" और "विनिमय" बैंकों के संगठन का सुझाव दिया जिनकी सहायता से मज़दूर गोया स्वय अपने उत्पादन-साधन प्राप्त करेंगे, दस्तकार बन जायेंगे और अपने माल की "न्यायपूर्ण" बिक्री सुनिश्चित करा लेंगे। प्रूदों सर्वहारा की ऐतिहासिक भूमिका समझ न पाया और उसने वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा क्रांति तथा सर्वहारा अधिनायकत्व के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण अपनाया। अराजकतावादी होने के कारण उसने राज्य की आवश्यकता अस्वीकार की। पहली इंटरनेशनल पर अपने दृष्टिकोण लादने के प्रूदों के प्रयत्नों के विरुद्ध मार्क्स और एंगेल्स ने सतत संघर्ष किया। मार्क्स कृत 'दर्शनशास्त्र की निर्धनता' में प्रूदोंवाद की कठोर आलोचना की गयी थी। मार्क्स, एंगेल्स और उनके अनुयायियों द्वारा छेड़े गये निश्चयपूर्ण संघर्ष के फलस्वरूप पहली इंटरनेशनल में मार्क्सवाद ने प्रूदोंवाद पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली।

लेनिन ने प्रूदोंवाद को मज़दूर वर्ग का दृष्टिकोण समझ सकने में असमर्थ "फ़िलीस्तीन की कूपमंडूकता" की संज्ञा दी थी। तथाकथित पूंजीवादी सिद्धांतकारों द्वारा वर्गों की लयबद्धता के प्रचार में प्रूदों के विचारों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता था। –पृ० ३०५

145 **'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था'** शीर्षक पुस्तक १९१६ के पूर्वार्द्ध में लिखी गयी थी। बर्न में रहते हुए, १९१५ में ही लेनिन ने साम्राज्यवाद सम्बन्धी विश्व साहित्य का अध्ययन और जनवरी १९१६ में उक्त पुस्तक का लेखन आरंभ किया था। उस वर्ष जनवरी के अन्त में लेनिन ज़ूरिच में रहने चले गये और ज़ूरिच प्रादेशिक पुस्तकालय में पुस्तक सम्बन्धी काम जारी रखा। लेनिन ने सैकड़ों विदेशी पुस्तकों, पत्रिकाओं, समाचारपत्रों और सांख्यिकीय संकलनों से जो उद्धरण, सारांश, टिप्पणियां और सारणियां संगृहीत कीं वे पुस्तक के चालीस फ़र्मों से अधिक हैं। यह

सामग्री १९३९ में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। पुस्तक का शीर्षक था: 'साम्राज्यवाद सम्बन्धी नोटबुकें'।

१९ जून (२ जुलाई) १९१६ के दिन लेनिन ने पुस्तक का लेखन समाप्त किया ग्रौर पाण्डुलिपि 'पारुस' (पाल) पब्लिशर्स के पास भेज दी। इस प्रकाशन गृह में काम करनेवाले मेन्शेविक तत्त्वों ने काउत्स्की ग्रौर रूसी मेन्शेविकों (मारतोव ग्रादि) की कड़ी ग्रालोचना करनेवाले हिस्से पुस्तक में से हटा दिये। लेनिन ने जहां (पूंजीवाद की पूंजीवादी साम्राज्यवाद में) "वृद्धि" शब्द लिखा था, उन्होंने उसके बदले "रूपान्तर" कर दिया, ("ग्रति-साम्राज्यवाद" के सिद्धान्त के) "प्रतिक्रियावादी स्वरूप" के स्थान में "पिछड़ा स्वरूप" रख दिया, इत्यादि। 'पारुस' पब्लिशर्स ने यह पुस्तक 'पूंजीवाद की नवीनतम ग्रवस्था के रूप में साम्राज्यवाद' शीर्षक के साथ १९१७ के ग्रारंभ में पेत्रोग्राद में प्रकाशित की।

रूस लौट ग्राने पर लेनिन ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी। १९१७ के मध्य में पुस्तक प्रकाशित हुई। – पृ० ३११

146 प्रस्तुत संस्करण में यह घोषणापत्र शामिल नहीं है। – पृ० ३१६

147 **"जर्मनी की स्वतन्त्र सामाजिक-जनवादी पार्टी"** – ग्रप्रैल १९१७ में स्थापित सेंट्रिस्ट पार्टी। इस पार्टी का मुख्य ग्रंग काउत्स्की पंथीय "श्रमिक सभा" संगठन था। इन "स्वतन्त्रवादियों" ने स्पष्ट सामाजिक-ग्रंधराष्ट्रवादियों के साथ "एकता" का प्रचार किया, उनका समर्थन ग्रौर बचाव किया, ग्रौर वर्ग संघर्ष के त्याग की मांग की।

ग्रक्तूबर १९२० में हाल्ले में स्वतन्त्र सामाजिक-जनवादी पार्टी की कांग्रेस में फूट पड़ी। दिसंबर १९२० में इस पार्टी का काफ़ी हिस्सा जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी के साथ मिल गया। दक्षिण पंथियों ने एक ग्रलग पार्टी स्थापित की ग्रौर स्वतन्त्र सामाजिक-जनवादी पार्टी वाला पुराना नाम धारण किया। यह पार्टी १९२२ तक बनी रही। – पृ० ३१७

148 **स्पर्टाकसवादी** – पहले विश्व युद्ध (१९१४-१९१८) के दौरान में स्थापित 'स्पर्टाकस' लीग के सदस्य। युद्ध के ग्रारंभ में जर्मन वामपंथी सामाजिक-जनवादियों ने 'इंटरनेशनल' दल की स्थापना की जिसके नेता क० लीब्कनेख़्त, रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग, फ़० मेहरिंग, क्लारा ज़ेटकिन इत्यादि रहे।

बाद में यही दल 'स्पर्टाकस' लीग कहलाने लगा। जर्मन मज़दूर आंदोलन में इस दल ने महान् भूमिका अदा की। जनवरी १९१६ में वामपंथी सामाजिक-जनवादियों के अखिल जर्मन सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद के कार्य-भारों के संबंध में दल ने रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग का थीसिस स्वीकृत किया। स्पर्टाकसवादियों ने जन-समुदायों के बीच साम्राजी युद्ध विरोधी क्रांतिकारी प्रचार किया, जर्मन सैनिकवाद के लुटेरे स्वरूप और सामाजिक-जनवादी नेताओं की ग़द्दारी का पर्दाफ़ाश किया। पर जर्मन वामपंथी सिद्धांत और नीति के प्रधान प्रश्नों के संबंध में अर्द्ध-मेन्शेविक भूलों से अपने को बचाने से चूक गये: उन्होंने साम्राज्यवाद के अर्द्ध-मेन्शेविक सिद्धांत का विकास किया, मार्क्सवादी अर्थ में (यानी पृथक् होने और स्वतंत्र राज्य बनाने के अधिकार सहित) राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सिद्धांत को अस्वीकार किया, साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों की संभावना से इन्कार किया, क्रांतिकारी पार्टी की भूमिका का कम मूल्यांकन किया और आंदोलन की स्वतःप्रवृत्ति की आराधना की। लेनिन की 'जूनियस पैम्फ़लेट', 'सर्वहारा क्रांति का युद्ध-संबंधी कार्यक्रम' (देखिये इस खंड में पृष्ठ ४५९-४७३) इत्यादि रचनाओं में जर्मन वामपंथियों की भूलों की आलोचना की गयी। १९१७ में स्पर्टाकसवादियों ने जर्मनी की मध्य पक्षवादी स्वतंत्र सामाजिक-जनवादी पार्टी में एक स्वतंत्र संगठन के रूप में प्रवेश किया। नवंबर १९१८ की जर्मन क्रांति के बाद इन्होंने "स्वतंत्र पार्टी वालों" से नाता तोड़ दिया और उसी वर्ष के दिसंबर में जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी क़ायम की।–पृ० ३१८

149 १५-२१ सितंबर १९१२ में आयोजित **जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की इस केमनिज़ कांग्रेस** ने 'साम्राज्यवाद के विषय में' शीर्षक एक प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसमें साम्राज्यवादी राज्यों की नीति को "लूट-खसोट और विजय की निर्लज्जतापूर्ण नीति" कहा गया था। प्रस्ताव में पार्टी से अपील की गयी थी कि वह "साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में अपनी दुगनी कर ले।"–पृ० ३२०

150 प्रस्तुत खंड में ये सब हवाले और टिप्पणियां पद-टिप्पणियों के रूप में दी गयी हैं।–पृ० ३२१

151 **ग्रयून्दर हुल्लड़** जर्मनी में १९वीं शताब्दी के आठवें दशक के आरंभ में संयुक्त पूंजीवाली कंपनियों की बाढ़ (जर्मन भाषा में Gründertum) के काल में

मचे। इन कंपनियों के साथ-साथ धोखाधड़ी की लहर ग्रायी ग्रौर धन वाले पूंजीवादी कारोबारियों ने ज़मीन तथा सिक्योरिटियों के क्षेत्र में बेहद सट्टेबाज़ी के ज़रिये ग्रपार माया जुटा ली। – पृ० ३४९

152 यहां लेनिन का संकेत प्लेखानोव की ग्रोर है। – पृ० ३६२

153 **फ़्रांसीसी पनामा** – फ़्रांसीसी पनामा नहर कंपनी द्वारा घूस दिये गये राजनीतिज्ञों, ग्रधिकारियों ग्रौर समाचारपत्रों की धोखेबाज़ी ग्रौर भ्रष्टाचार का १८९२-१८९३ में पर्दाफ़ाश हो जाने के बाद यह शब्द-संहति बहुत प्रचलित हुई। – पृ० ३७३

154 **फ़ेबियन** – १८८४ में स्थापित फ़ेबियन सोसायटी नामक ब्रिटिश सुधारवादी संगठन के सदस्य। इस सोसायटी का नाम रोमन सेनापति फ़ेबियस मक्सीम (ई० पू० ३००) के नाम पर रखा गया था। यह सेनापति कनक्टेटर ("विलंबकारी") कहलाता था। हानिबाल के साथ हुए युद्ध में विलंबकारी तथा निर्णयात्मक लड़ाइयों को टाल देनेवाली नीति के लिए यह मशहूर हुग्रा। फ़ेबियन मुख्यतया पूंजीवादी बुद्धिजीवियों ग्रर्थात् वैज्ञानिकों, लेखकों, राजनीतिज्ञों के प्रतिनिधि थे (उदाहरणार्थ, स० ग्रौर ब० वेब, बर्नार्ड शॉ, रैमज़े मैकडानल्ड इत्यादि)। व्ला० इ० लेनिन ने फ़ेबियनों का स्वरूपवर्णन "**चरम ग्रवसरवाद** की प्रवृत्ति" कह कर किया। (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १३, पृष्ठ ३२८)। १९०० में फ़ेबियनों ने लेबर पार्टी में प्रवेश किया। "फ़ेबियन समाजवाद" लेबर विचारधारा का एक स्रोत है। – पृ० ४३५

155 **बाक्सर विद्रोह** (या ठीक कहा जाये तो **ई हो तुग्रान** विद्रोह) – १८९९-१९०१ का चीनी जनता का साम्राज्य विरोधी विद्रोह जिसका ग्रारंभ 'ई हो त्सुग्रान' सोसायटी (न्याय ग्रौर सुसंगति के नाम में प्रहार) ने किया। बाद में यह 'ई हो तुग्रान' सोसायटी कहलाई। यह विद्रोह जर्मन जनरल वाल्देर्सी की कमान में साम्राजी राष्ट्रों के संयुक्त दंडात्मक सैनिक दलों ने निर्दयतापूर्वक कुचल दिया। जर्मन, जापानी, ब्रिटिश, ग्रमरीकी ग्रौर रूसी साम्राज्यवादियों ने यह विद्रोह दबा दिया। १९०१ में चीन को तथाकथित "ग्रंतिम पूर्वपक्ष" पर हस्ताक्षर करने को मजबूर किया गया। इसके फलस्वरूप चीन पर बड़ी भारी क्षतिपूर्ति लादी गयी ग्रौर उसे विदेशी साम्राज्यवादियों के ग्रर्द्ध-उपनिवेश में परिवर्तित किया गया। – पृ० ४४८

156 **'सर्वहारा क्रांति का युद्ध-संबंधी कार्यक्रम'** शीर्षक लेख सितंबर १९१६ में स्कैंडीनेवियाई वामपंथी सामाजिक-जनवादियों के समाचारपत्रों के लिए जर्मन भाषा में लिखा गया। इन सामाजिक-जनवादियों ने १९१४-१९१८ के साम्राजी विश्वयुद्ध के दौरान में सामाजिक-जनवादी कार्यक्रम की "जनता के शस्त्रीकरण" विषयक धारा का विरोध किया था और "निःशस्त्रीकरण" का ग़लत नारा लगाया था।

दिसंबर १९१६ में उक्त लेख 'सोत्सिअल-देमोक्रात सिम्पोज़ियम' नं० २ में '"निःशस्त्रीकरण" का नारा' शीर्षक के साथ संशोधित रूप में प्रकाशित हुआ।

अप्रैल (नयी शैली) १९१७ में लेनिन ने रूस लौट आने से कुछ ही समय पहले उक्त लेख का जर्मन पाठ *«Jugend-Internationale»* के संपादकों के पास भेज दिया। वहां यह १९१७ में उक्त प्रकाशन के ९वें और १०वें अंकों में प्रकाशित किया गया।

«Jugend-Internationale» (युवक इंटरनेशनल) – समाजवादी युवक संगठनों की अंतर्राष्ट्रीय लीग का मुखपत्र जो ज़िम्मरवाल्ड वामपंथ से सम्बद्ध था। यह सितंबर १९१५ और मई १९१८ के बीच ज़ूरिच में प्रकाशित होता रहा। इसके मूल्यांकन के लिए लेनिन का 'युवक इंटरनेशनल' शीर्षक लेख देखिये। – पृ० ४५९

157 युद्ध के प्रति स्विस समाजवादियों के रुख़ का प्रश्न हल करने के लिए फ़रवरी १९१७ में होनेवाली स्विस सामाजिक-जनवादियों की असाधारण कांग्रेस की तैयारी की दृष्टि से र० ग्रिम्म (स्विस सामाजिक-जनवादी पार्टी का एक नेता) ने १९१६ की गरमियों में युद्ध विषयक प्रश्न पर एक थीसिस तैयार किया था। यहां उसी की ओर संकेत है। – पृ० ४५९

158 *«Neues Leben»* (नया जीवन) – मासिक पत्रिका, स्विस सामाजिक-जनवादी पार्टी का मुखपत्र; जनवरी १९१५ से दिसंबर १९१७ तक बर्न में प्रकाशित। यह पत्रिका ज़िम्मरवाल्ड दक्षिण पंथियों के दृष्टिकोण प्रकट करती थी। १९१७ के आरंभ में इसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपना लिया। – पृ० ४५९

159 *«Vorbote»* (अग्रदूत) – ज़िम्मरवाल्ड वामपंथियों की सैद्धांतिक पत्रिका। यह १९१६ में बर्न में जर्मन भाषा में प्रकाशित होती थी। इसके दो ही अंक निकले। पहला अंक १९१६ की जनवरी में और दूसरा अप्रैल

में। पत्रिका में लेनिन के दो लेख प्रकाशित हुए: 'अवसरवाद और दूसरी इंटरनेशनल का पतन' और 'समाजवादी क्रांति और राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार (थीसिस)'।—पृ० ४५९

160 यहां संकेत ज़िम्मरवाल्ड और किएन्थाल (स्विट्ज़रलैंड) में आयोजित अंतर्राष्ट्रीयवादियों के समाजवादी सम्मेलनों की ओर है।

पहला अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन ज़िम्मरवाल्ड में ५-८ सितंबर १९१५ तक हुआ। सम्मेलन में लेनिन के नेतृत्व में क्रांतिकारी अंतर्राष्ट्रीयवादियों और काउत्स्कीवादी बहुमत के बीच संघर्ष देखा गया। लेनिन ने बायें अंतर्राष्ट्रीयवादियों को ज़िम्मरवाल्ड वामपंथ कहलानेवाले दल में एकत्रित किया। इसमें अकेली बोल्शेविक पार्टी ने सही और पूर्णतया सुसंगत अंतर्राष्ट्रीयवादी युद्ध विरोधी नीति की वकालत की।

सम्मेलन ने एक घोषणापत्र स्वीकृत किया जिसमें विश्व-युद्ध को साम्राजी युद्ध घोषित किया गया; युद्ध ऋणों के पक्ष में मतदान करने और पूंजीवादी सरकारों में भाग लेनेवाले "समाजवादियों" के व्यवहार की निंदा की; यूरोपीय मज़दूरों से अपील की कि वे युद्ध के विरुद्ध और बिना क़ब्ज़ों और मुआवज़ों के शांति स्थापना के लिए संघर्ष विकसित करें।

सम्मेलन ने युद्ध के शिकार हुए लोगों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करनेवाला एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया और एक अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आयोग का निर्वाचन किया।

ज़िम्मरवाल्ड सम्मेलन के महत्त्व पर लेनिन ने 'पहला क़दम' और '५-८ सितंबर, १९१५ के अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में क्रांतिकारी मार्क्सवादी' शीर्षक अपने दो लेखों में रोशनी डाली।

दूसरा अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन २४-३० अप्रैल १९१६ तक किएन्थाल में हुआ। ज़िम्मरवाल्ड की अपेक्षा यहां वामपंथ अधिक ठोस तरीक़े से संगठित और मज़बूत रहा। लेनिन ने सामाजिक-शांतिवाद और अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो की अवसरवादी गतिविधियों की आलोचना करनेवाला एक प्रस्ताव स्वीकृत करवा लिया। किएन्थाल के घोषणापत्र और प्रस्तावों से युद्ध विरोधी अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा में प्रगति हुई।

ज़िम्मरवाल्ड और किएन्थाल के सम्मेलनों ने अंतर्राष्ट्रीय तत्त्वों की पुष्टि और एकीकरण में तो सहायता दी पर दोनों सम्मेलन सुसंगत अंतर्राष्ट्रीय रुख़ अपनाने से रह गये और उन्होंने बोल्शेविकों की नीति के मूलभूत सिद्धांत स्वीकृत नहीं किये। ये सिद्धांत थे: साम्राजी युद्ध का

गृहयुद्ध में परिवर्तन, युद्ध में स्वयं अपनी साम्राज्यवादी सरकारों की पराजय और तीसरी इंटरनेशनल का निर्माण।–पृ० ४६७

161 **'सामाजिक-जनवादी श्रमिक दल'** «*Arbeitsgemeinschaft*» – (श्रम-सहयोग) जर्मन मध्य पक्षवादियों का संगठन। इसकी स्थापना राइख़स्टाग के सामाजिक-जनवादी दल का त्याग करनेवाले राइख़स्टाग प्रतिनिधियों ने १९१६ में की थी। यह दल जर्मनी की उस मध्य पक्षवादी स्वतंत्र सामाजिक-जनवादी पार्टी का हृदय था जो १९१७ में स्थापित हुई थी और साफ़-साफ़ सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों का समर्थन करती थी और उनके साथ एकता क़ायम रखने की वकालत करती थी।–पृ० ४६८

162 **स्वतंत्र लेबर पार्टी**–ब्रिटेन की स्वतंत्र लेबर पार्टी («*Independent Labour Party*») की स्थापना १८९३ में हुई। जेम्स केर हार्डी और रैमज़े मैकडानल्ड आदि इसके नेताओं में से थे। स्वतंत्र लेबर पार्टी राजनीतिक दृष्टि से पूंजीवादी पार्टियों से स्वतंत्र होने का दावा तो करती थी पर वस्तुतः वह केवल "समाजवाद से 'स्वतंत्र' थी और उदारवाद पर बहुत कुछ अवलंबित थी" (लेनिन)। साम्राज्यवादी पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के दौरान में स्वतंत्र लेबर पार्टी ने शुरू में (१३ अगस्त, १९१४ को) युद्ध विरोधी घोषणापत्र जारी किया। फिर फ़रवरी १९१५ में एंटेंट देशों के समाजवादियों के लंदन सम्मेलन में स्वतंत्र लेबर पार्टी के प्रतिनिधियों ने सम्मेलन द्वारा स्वीकृत सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी प्रस्ताव का समर्थन किया। इस समय से स्वतंत्र लेबर पार्टी के नेताओं ने शांतिवादी वाक्प्रयोगों की नक़ाब पहनते हुए सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी नीति जारी रखी। १९१९ में स्वतंत्र लेबर पार्टी के नेता बायां रुख़ अपनानेवाले पार्टी के सदस्यगणों के दबाव के सामने झुक गये और उन्होंने दूसरी इंटरनेशनल से अलग हो जाने का निर्णय किया। १९२१ में स्वतंत्र लेबर पार्टी ने तथाकथित ढाईवीं इंटरनेशनल से नाता जोड़ा और जब वह टूट गयी तो फिर से दूसरी इंटरनेशनल में लौट आयी। १९२१ में स्वतंत्र लेबर पार्टी का वामपंथ अलग हो गया और उसने ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी में प्रवेश किया। –पृ० ४६८

163 **युद्ध-उद्योग समितियां** रूस में बड़े औद्योगिक पूंजीपतियों ने १९१५ में स्थापित कीं। मज़दूरों को अपने प्रभाव में लाने और उनमें युद्ध की

भावना फूंकने के प्रयत्न में पूंजीपतियों ने उक्त समितियों में "श्रम ग्रूप" संगठित किये। इन ग्रूपों में मज़दूर वर्गीय समुदायों को शस्त्रास्त्र कारख़ानों में श्रम की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए प्रेरित करनेवाले मज़दूर प्रतिनिधियों का होना पूंजीपतियों के लिए लाभकारक था। पूंजीपतियों की इस मिथ्या-राष्ट्रभक्तिपूर्ण योजना में मेन्शेविकों ने सक्रिय हाथ बंटाया। बोल्शेविकों ने युद्ध-उद्योग समितियों का बहिष्कार किया और बहुसंख्यक मज़दूरों के समर्थन से वह सफल रहा।–पृ० ४६८

164 **बैसेल घोषणापत्र**–२४-२५ नवंबर १९१२ तक बैसेल (स्विट्ज़रलैंड) में आयोजित दूसरी इंटरनेशनल की असाधारण कांग्रेस द्वारा एकमत से स्वीकृत युद्ध संबंधी घोषणापत्र। इसने साम्राज्यवादियों द्वारा तैयार किये जा रहे युद्ध के लुटेरू लक्ष्यों का पर्दाफ़ाश किया और सभी देशों के मज़दूरों से अपील की कि वे इस युद्ध के विरुद्ध डटकर संघर्ष करें। घोषणापत्र ने समाजवादियों को सलाह दी कि साम्राजी युद्ध के छिड़ जाने की हालत में वे युद्ध जनित आर्थिक और राजनीतिक संकट का उपयोग समाजवादी क्रांति संबंधी संघर्ष के लिए करें।–पृ० ४६८

165 *La «Sentinelle»* (प्रहरी)–समाचारपत्र; नेवशातेल प्रदेश (फ़्रांसीसी स्विट्ज़रलैंड) के स्विस सामाजिक-जनवादी संगठन का मुखपत्र। १८८४ में शॉ-दे-फ़ों में इसकी स्थापना हुई। साम्राजी विश्वयुद्ध (१९१४-१९१८) के शुरू के वर्षों में इसने अंतर्राष्ट्रीयवादी रुख़ अपनाया। १३ नवंबर १९१४ को अपने २६५वें अंक में इसने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति का घोषणापत्र संक्षिप्त रूप में प्रकाशित किया। इस घोषणापत्र का शीर्षक था 'युद्ध और रूसी सामाजिक-जनवाद'। (देखिये प्रस्तुत खंड, पृष्ठ २८७-२९६)। यह समाचारपत्र इस समय भी प्रकाशित होता है।–पृ० ४७२

166 *«Volksrecht»* (जनता का अधिकार)–दैनिक समाचारपत्र, स्विस सामाजिक-जनवादी पार्टी और ज़ूरिच प्रदेश के सामाजिक-जनवादी संगठन का मुखपत्र। यह ज़ूरिच में १८९८ से प्रकाशित होता रहा। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के दौरान इस पत्र ने ज़िम्मरवाल्ड वामपंथ के सदस्यों के लेख प्रकाशित किये। इसने लेनिन के 'ग० ग्रैयलिच द्वारा पितृभूमि की प्रतिरक्षा की रक्षा के संबंध में बारह थीसिस', 'रूसी क्रांति

में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के कार्य-भार', 'जनतंत्रवादी अंधराष्ट्रवादियों के हथकंडे' इत्यादि लेख भी प्रकाशित किये। यह समाचारपत्र इस समय भी प्रकाशित होता है। यह अब कम्युनिस्ट विरोधी और जनवाद विरोधी है।—पृ० ४७२

167 *«Berner Tagwacht»* (बर्न प्रहरी)—दैनिक समाचारपत्र; स्विस सामाजिक-जनवादी पार्टी का मुखपत्र; १८९३ में बर्न में स्थापित। पहले विश्वयुद्ध के आरंभ में इसने क० लीब्कनेख़्त, फ़० मेहरिंग इत्यादि वामपंथी सामाजिक-जनवादियों के लेख प्रकाशित किये। १९१७ में इसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों का खुल्लमखुल्ला समर्थन आरंभ किया। यह इस समय भी प्रकाशित होता है। इसका रुख़ कम्युनिस्ट विरोधी और जनवाद विरोधी है।—पृ० ४७२

168 यहां संकेत २०-२१ नवंबर १९१५ को आराऊ में आयोजित स्विस सामाजिक-जनवादी पार्टी की कांग्रेस की ओर है। इसकी कार्य-सूची का मुख्य विषय था अंतर्राष्ट्रीयवादियों की ज़िम्मरवाल्ड एसोसिएशन के प्रति स्विस सामाजिक-जनवाद का रुख़। इस प्रश्न की चर्चा के फलस्वरूप निम्नलिखित प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष खड़ा हुआ: १) ज़िम्मरवाल्ड विरोधी (ग्रैयेलिच, फ़्ल्यूगर इत्यादि); २) ज़िम्मरवाल्ड दक्षिण पक्ष के समर्थक (ग्रिम्म आदि); और ३) ज़िम्मरवाल्ड वामपंथ के समर्थक (प्लैटन आदि)।

र० ग्रिम्म ने प्रस्ताव रखा कि स्विस सामाजिक-जनवादी पार्टी ज़िम्मरवाल्ड एसोसिएशन के साथ संबद्ध की जाये और ज़िम्मरवाल्ड दक्षिण पक्ष की राजनीति का समर्थन किया जाये। स्विस वामपंथी सामाजिक-जनवादियों ने ग्रिम्म के प्रस्ताव में एक संशोधन प्रस्तुत किया। इसमें युद्ध के विरुद्ध आम क्रांतिकारी संघर्ष विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया और यह घोषणा की गयी कि अकेली विजयशाली सर्वहारा क्रांति ही साम्राजी युद्ध का अंत कर सकेगी।

वामपंथियों का संशोधन बहुमत से स्वीकृत हुआ।—पृ० ४७२

169 **'१९०५ की क्रांति पर भाषण'**—लेनिन ने ९ (२२) जनवरी १९१७ को ज़ूरिच स्थित जन सभागृह में स्विस मेहनतकश युवकों की सभा में जर्मन भाषा में दिया।—पृ० ४७४

नाम-निर्देशिका

अ

ओ

ओवेन्स माइकेल जोज़ेफ़ (१८५९-१९२३) – बोटल बनानेवाली मशीन का एक अमरीकी आविष्कारक।–४२४।

क

कवेलिन, कोन्स्तान्तीन द्मीत्रियेविच (१८१८-१८८५) समसामयिक विषयों के पूंजीवादी-उदारपंथी लेखक, इतिहासकार और वकील; क्रान्तिकारी जनवादी आन्दोलन का विरोध किया, क्रान्तिकारी आन्दोलन के ख़िलाफ़ संघर्ष करने में सरकार द्वारा अपनाई गयी दमन-नीति का समर्थन किया। – २०५, २०६।

काउत्स्की, कार्ल (१८५४-१९३८) – जर्मन सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल के एक नेता और सिद्धान्त निरूपक; मध्य पक्षवादी नीति के विचारशास्त्री; बाद में मार्क्सवाद के ग़द्दार और सोवियत संघ के कटु शत्रु बन गये। – ७५, ७६, १२८, १८८, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २३०, २३४, २५६, ३०८, ३१२, ३१६, ३१७, ३२०, ३३५, ३९३, ३९४, ४०४, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४२०, ४३३, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५५, ४६२, ४६८, ४७१, ४९०।

कानिट्ज़, आगस्त (१७८३-१८५२) – प्रशियाई सेनानायक; प्रतिक्रियावादी रईसों और नौकरशाही का प्रतिनिधि। मई-जून १८४८, में कैम्पहाउसेन की सरकार में युद्ध-मंत्री। – १५९।

काब्लुकोव, निकोलाई अलेक्सेयेविच (१८४९-१९१९) – अर्थशास्त्री और सांख्यिक, अपनी पुस्तकों में उदारवादी नरोदनिक विचार प्रगट किए। उन्होंने छोटे पैमाने की कृषि के "स्थायित्व" के सिद्धान्त के पुष्टीकरण की चेष्टा की, ग्रामीण समुदाय का आदर्शीकरण किया और वर्ग-शांति का प्रचार किया। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद केन्द्रीय सांख्यिकी बोर्ड में काम किया, शिक्षक रहे और साहित्यिक कार्य करते रहे। – १६१।

कारनेगी, एंड्र्यू (१८३५-१९१९) – स्काटिश मूल के अमरीकी अरबपति। – ४३०।

काल्वेर, रिचर्ड (१८६८-१९२७) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, अर्थशास्त्री, संशोधनवादी। – ४१८।

कुटलर, निकोलाई निकोलायेविच (१८५९-१९२४) – रूसी राजनीतिज्ञ, दूसरी और तीसरी राज्य दूमाओं के सदस्य, कैडेट पार्टी के एक नेता। – २९८।

कूनोव, हेनरिच (१८६२-१९३६) – जर्मनी के दक्षिणपंथी सामाजिक-जनवादी इतिहासवेत्ता, समाजशास्त्री तथा नृतत्व-विज्ञानी। पहले मार्क्सवादियों में सम्मिलित हुए, बाद में मार्क्सवाद को झुठलानेवाले और संशोधनवादी बन गए। १९१७-१९२३ में जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के मुखपत्र *«Die Neue Zeit»* (नया ज़माना) का संपादन किया। – ४१५, ४१६।

केस्टनर, फ़्रित्स – जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री, जो पूंजीवादी समाज में ट्रस्टों (संयुक्त पूंजीवाली कम्पनियों) के विकास और असंगठित पूंजीवादी उपक्रमों के विरुद्ध उनके संघर्ष के अध्ययन में लगे रहे। – ३३०, ३३३, ३३४, ३३५।

कैम्पहाउसेन, लुडोल्फ़ (१८०३-१८९०) – जर्मन बैंकर, राइन-क्षेत्र के उदारवादी पूंजीपति वर्ग के एक नेता, १८४८ के मार्च-जून में प्रशियाई मंत्रि-मंडल का नेतृत्व संभाला। – १५६, १५७, १५९, १६०।

कोकोश्किन, फ़्योदोर फ़्योदोरोविच (१८७१-१९१८) – कैडेट पार्टी के एक संस्थापक; १९१७ में अस्थायी पूंजीवादी सरकार के सदस्य। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद सोवियत सत्ता का सक्रिय विरोध किया। – २४१, २४२, २४३, २४५, २५२, २५९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४।

कोल्चाक, अलेक्सान्द्र वासील्येविच (१८७३-१९२०) – ज़ारशाही का नौसेनानायक। १९१८ में अमरीका, ब्रिटेन और फ़्रांस के समर्थन से कोल्चाक ने अपने को रूस का सर्वोपरि शासक घोषित कर दिया और साइबेरिया में पूंजीवादी-ज़मींदारशाही प्रतिक्रान्ति का नेतृत्व किया। पूरब से साइबेरिया और उराल की पहाड़ियों की मार्फ़त सोवियत रूस पर चढ़ाई करती हुई कोल्चाक की फ़ौजें १९२० के प्रारंभ में लाल सेना द्वारा पराजित हुईं। – ३१८।

कोल्त्सोव (गिन्सबर्ग) बोरीस अब्रामोविच (१८६३-१९२०) – रूसी सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में

अल्पमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद एक सक्रिय मेन्शेविक; इसने कई मेन्शेविक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे।–१६६।

कोल्यूबाकिन, अलेक्सान्द्र मिखाईलोविच (१८६८-१९१५)–'ज़ेम्सत्वो'-वादी, पूंजीवादी उदारपंथी, कैडेट; १९०७ में तीसरी राज्य दूमा के सदस्य; तीसरी और चतुर्थ राज्य दूमाओं में कैडेट-दल की कमिटी के सचिव; कैडेट पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य।–२४१।

कोस्त्रोव (जोर्दानिया, नोई निकोलायेविच) (१८७०-१९५३)–सामाजिक-जनवादी, मेन्शेविक। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में अल्पमत के 'ईस्क्रा'-वादियों से नाता जोड़ा। कांग्रेस के बाद काकेशियाई मेन्शेविकों का नेता। प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१९१०) में विसर्जनवादियों का समर्थक। १९१८-२१ में जार्जिया की प्रतिक्रांतिकारी मेन्शेविक सरकार का प्रधान। १९२१ के बाद प्रतिक्रांतिकारी प्रवासी।–२७२।

कोस्सोव्स्की, व० (लेविन्सन, म० य०) (१८७०-१९४१)–एक 'बुंद' नेता। रू० सा० ज० म० पा० की दूसरी कांग्रेस में 'बुंद' की वैदेशिक समिति का प्रतिनिधित्व किया; 'ईस्क्रा'-विरोधी; कांग्रेस के बाद मेन्शेविक। प्रतिक्रिया के वर्षों (१९०७-१९१०) में विसर्जनवादी। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के समय सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद की नीति अपनाई। कोस्सोव्स्की ने अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति का विरोध किया; क्रान्ति के बाद देश छोड़कर भाग गये।–२८५, २८६।

क्रॉमवेल, ऑलिवर (१५९९-१६५८)–१७ वीं शताब्दी की ब्रिटिश पूंजीवादी क्रान्ति के नेता; १६५३ के बाद से ब्रिटेन के राज्य-अभिभावक (लार्ड प्रोटेक्टर)।–२६४।

क्रिचेव्स्की, बोरीस नाऊमोविच (१८६६-१९१९)–रूसी सामाजिक-जनवादी और पब्लिसिस्ट; "अर्थवादी" नेताओं में से एक। १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक के अंत में 'विदेश स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' का एक नेता। १८९९ में क्रिचेव्स्की 'राबोचेये देलो' का संपादक था और इस पत्रिका में उसने बर्न्सटीनवादी दृष्टिकोणों का प्रचार किया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के शीघ्र ही बाद सामाजिक-जनवादी आंदोलन से अलग हो गया।–७७।

क्रुप्प – एस्सेन (जर्मनी) में इस्पात के कारख़ानों के मालिक, जो संसार में अपने ढंग के सबसे बड़े कारख़ाने हैं। – ३५३, ३८२, ४४४।

क्रेस्तोवनिकोव, ग्रिगोरी अलेक्सान्द्रोविच (जन्म १८५५) बड़े रूसी उद्योगपति और दलाल; राजतंत्रवादी पूंजीवादियों की पार्टी – अक्तूबरवादी पार्टी के एक नेता। – २६८।

क्रोपोतकिन, प्योत्र अलेक्सेयेविच (१८४२-१६२१) – रूसी अराजकतावाद के एक अग्रणी नेता और सिद्धान्त निरूपक। पहले साम्राज्यवादी युद्ध (१६१४-१६१८) में एक सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी स्थिति अपनाई। – २६७।

क्रोमर, एविलीन (१८४१-१६१७) – ब्रिटेन के प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ, पूर्वी देशों में ब्रिटेन की उपनिवेशवादी नीति का संचालन किया। – ४०२।

ग

गपोन, गेओर्गी (१८७०-१६०६) – पादरी, ज़ारशाही की गुप्त पुलिस का दलाल। १६०५ की क्रान्ति के ठीक पूर्व, पुलिस-विभाग के आदेशों का अनुसरण करते हुए, 'पीटर्सबर्ग के रूसी मिल मज़दूरों की एक सभा' आयोजित की जिसका ख़र्च पुलिस-विभाग और पीटर्सबर्ग की गुप्त पुलिस ने अपने ज़िम्मे उठा लिया। ६ जनवरी १६०५ को गपोन ने पीटर्सबर्ग के मज़दूरों को अपनी आवश्यकताओं की याचिका के साथ ज़ार के पास जलूस बनाकर जाने के लिए बरग़लाया। – ६२, ४७४।

गरीबाल्डी, जुज़ेप्पे (१८०७-१८८२) – इटली के राष्ट्र-नायक; इटली के क्रान्तिकारी जनवादियों के एक अग्रणी नेता और प्रमुख सेनानायक। १८४८-१८६७ में विदेशी ग़ुलामी, सामंती एकतंत्री प्रथा और धार्मिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध इटली के जन-संघर्ष का नेतृत्व किया; नीचे से इटली के एकीकरण का मुक्तकंठ से समर्थन किया। – २६२।

गाआज़े ह्यूगो (१८६३-१६१६) – जर्मनी के एक सामाजिक-जनवादी नेता, मध्य पक्षवादी। – ४६८।

गान्केविच, निकोलाई – उक्रइनी (गैलीशियाई) सामाजिक-जनवादी पार्टी के एक संस्थापक और नेता, राष्ट्रवादी; पूंजीवादी पोलैण्ड के साथ उक्रइन को मिलाने की वकालत की।– २२६।

गिएर्के, ओत्तो – प्रशिया की हैंसमैन सरकार के कृषि-मंत्री (१८४८), प्रशियाई संसद के सदस्य।– १६०, १६१।

गिफ़ेन, रॉबर्ट (१८३७-१९१०) – ब्रिटिश अर्थशास्त्री और सांख्यिक, सांख्यिकी सम्बन्धी अनेक प्रकाशनों में लेख लिखानेवाले, एक सांख्यिकी समिति के अध्यक्ष।– ४२५।

गुचकोव अलेक्सान्द्र इवानोविच (१८६२-१९३६) – रूस के बड़े व्यावसायिक तथा औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि, अक्तूबरवादियों के अगुआ, राजतंत्रवादी। रूस में १९१७ की फ़रवरीवाली पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति होने के बाद अस्थायी पूंजीवादी सरकार के सदस्य। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद प्रतिक्रान्तिवादी प्रवासी।– १९४, २९८।

गैलीफ़े, गस्टोन (१८३०-१९०९) – फ़्रांसीसी सेनानायक; १८७१ के पेरिस कम्यून का जल्लाद।– ४६३।

गोम्पर्स, सैमुअल (१८५०-१९२४) – अमरीकी ट्रेड-यूनियन आन्दोलन के एक अवसरवादी नेता; समाजवाद के शत्रु। सन् १८८२-१९२४ में अमरीकी फ़ेडरेशन ऑफ़ लेबर के स्थायी अध्यक्ष।– ३१७।

गोल्डब्लाट (मेदेम, व्लादीमिर दवीदोविच) (१८७९-१९२३) – बुंद का एक नेता; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-विरोधी। १९०६ में बुंद की केंद्रीय समिति के सदस्य के नाते निर्वाचित; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पांचवीं कांग्रेस में भाग लिया; इसने मेन्शेविकों का समर्थन किया।– २७२, २७३, २७४, २७८।

ग्रिम्म, रॉबर्ट (जन्म १८८१) – स्विट्ज़रलैंड के सामाजिक-जनवादी; ज़िम्मरवाल्ड सम्मेलन के एक संगठनकर्ता; सन् १९१७ में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों की गुटबंदी में शरीक हो गये।– ४५९।

ग्रेडेस्कुल, निकोलाई अन्द्रेयेविच (जन्म १८६४) – न्यायशास्त्री और समसामयिक विषयों के लेखक, कैडेट। सरकार-विरोधी लेख प्रकाशित कराने के कारण १६०५ में गिरफ़्तार और निर्वासित। – १५०।

ग्लैड्स्टन, विलियम (१८०६-१८६८) – विख्यात ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिबरल पार्टी के नेता; व्यापक औपनिवेशिक विस्तार की नीति कार्यान्वित की। सन् १८६८-१८७४ और बाद के वर्षों में बार-बार प्रधानमंत्री और लिबरल मंत्रिमंडल के सदस्य रहे। – २६५।

ग्विनेर, फ़ॉन – बड़े जर्मन सेठ और जर्मन बैंक के संचालक। – ३८६।

च

चेर्निशेव्स्की, निकोलाई गव्रीलोविच (१८२८-१८८६) – महान रूसी क्रांतिकारी जनवादी, कल्पनावादी-समाजवादी, पदार्थवादी दार्शनिक, लेखक और साहित्य समीक्षक, १६ वीं शताब्दी के सातवें दशक में रूस के क्रांतिकारी जनवादी आंदोलन का नेता। १८६२ में इसे गिरफ़्तार करके १४ वर्ष के काले पानी की सज़ा काटने के लिए और इसके बाद के जीवन के लिए साइबेरिया में भेजा गया। वहां से १८८३ में जाकर ही वह लौट आ सका। – २०५, २०६, २०८, २५७, २६८।

चैम्बरलेन, जोज़ेफ़ (१८३६-१६१४) – ब्रिटिश राजनयिक; ब्रिटिश साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति का एक विचारक और व्याख्याकार। १८६५-१६०३ में उपनिवेश विभाग का राज्य सचिव। – ३६८।

छ

छेईद्ज़े निकोलाई सेम्योनोविच (१८६४-१६२६) – जार्जियाई सामाजिक-जनवादी, मेन्शेविक। पहले विश्व-युद्ध के दौरान (१६१४-१६१८) में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी; १६१७ में अस्थायी पूंजीवादी सरकार के सदस्य। – ४३४, ४६८।

छेन्केली, अकाकी इवानोविच (जन्म १८७४) – जार्जियाई सामाजिक-जनवादी मेन्शेविक। – ४३४।

ज

जीडेल्स, ओत्तो – जर्मन अर्थशास्त्री; मुख्यतः वित्तीय पूंजी संबंधी प्रश्नों के अध्ययन में लगे रहे। – ३३७, ३३८, ३५२, ३५३, ३५५, ३५७, ३५८, ३८४, ३८५, ३८८।

जूनियस – देखिये लुक्ज़ेमबुर्ग, रोज़ा। – ४६०।

जोरेस, जान (१८५९-१९१४) – फ़्रांसीसी समाजवादी आंदोलन का एक प्रमुख नेता; *«L'Humanité»* (मानवता) पत्र का संस्थापक और संपादक। फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी के अवसरवादी दक्षिण पक्ष का नेता। इसके बावजूद जोरेस ने सैन्यवाद के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष किया। पहले विश्व-युद्ध के शुरू होते होते सैन्यवादियों के भाड़े के टट्टुओं ने इसकी हत्या कर दी। – ९२, ११५।

ज्यूदेकुम, अलबर्ट (१८७१-१९४४) – दक्षिणपंथी जर्मन समाजवादी, संशोधनवादी। १९१८-१९२० में प्रशिया के वित्त-मंत्री; संयुक्त पूंजीवाली अनेक कम्पनियों के संचालक-मंडल के सदस्य थे। – ३९९।

ट

टामस, अलबर्ट (१८७८-१९३२) – फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी के एक नेता, घोर सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी। पहले विश्व-युद्ध के समय (१९१४-१९१८) में टामस फ़्रांस की पूंजीवादी सरकार के सदस्य थे। फ़रवरी १९१७ की क्रान्ति के बाद मज़दूरों को साम्राज्यवादी युद्ध जारी रखने की आवश्यकता का विश्वास दिलाने रूस आये, पर सफल नहीं हुए। – ३१६, ४६८।

ड

डिज़रैली, बेंजमिन (लॉर्ड बेकन्सफ़ील्ड) (१८०४-१८८१) – विख्यात ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और लेखक; कंज़र्वेटिव पार्टी के नेता; १८६८ और १८७४-१८८० में प्रधानमंत्री। – ३९८।

डुंकेर, फ़्रांज़ (१८२२-१८८८) – जर्मन पूंजीवादी राजनीतिज्ञ और प्रकाशक; १९वीं शताब्दी के सातवें दशक में सुधारवादी ट्रेड-यूनियनों के संस्थापकों में से एक। – १४२, १४३।

डेविड एडुअर्ड (१८६३-१९३०) – जर्मन सामाजिक-जनवाद का एक दक्षिण पक्षीय नेता, संशोधनवादी; पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के दौरान इसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपनाया। – ३९९।

त

तुराती, फ़िलिप्पो (१८५७-१९३२) – इटली के मज़दूर आन्दोलन के सुधारवादी नेता; पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा के बीच वर्गीय सहयोग की नीति चलायी; पहले विश्व-युद्ध के समय (१९१४-१९१८) में मध्य पक्षवादी स्थिति अपनायी। – ८८, १०२।

तुर्गेनेव, इवान सेर्गेयेविच (१८१८-१८८३) – महान् रूसी लेखक, अपने राजनैतिक विचारों में उदारवादी। – २०६, २०७।

त्रीव्ज़, क्लाव्दियो (१८६८-१९३३) – इटली की समाजवादी पार्टी के नेता, इतालवी सुधारवाद के सिद्धान्तकार। १९१४-१९१८ के विश्व साम्राज्यवादी युद्ध में मध्य पक्षवादी। – ४६८।

त्रुबेत्सकोइ येव्गेनी निकोलायेविच (१८६३-१९२०) – राजकुमार, रूसी पूंजीवादी उदारवाद के प्रतिनिधि, आदर्शवादी दार्शनिक। विश्व साम्राज्यवादी युद्ध (१९१४-१९१८) के समय में रूसी साम्राज्यवाद के एक विचारशास्त्री। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद त्रुबेत्सकोइ सक्रिय रूप से सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ लड़े। – २२२।

त्रुबेत्सकोइ, सेर्गेई निकोलायेविच (१८६२-१९०५) – राजकुमार; राजनैतिक विचारों से उदारवादी, आदर्शवादी दार्शनिक। – १४२, १६०।

त्रोत्स्की (ब्रोन्सटीन) लेव दवीदोविच (१८७९-१९४०) – लेनिनवाद का कट्टर दुश्मन। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस (१९०३) में साइबेरियाई संघ का प्रतिनिधि, अल्पमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद इसने समाजवादी क्रांति के सिद्धांत और व्यवहार से संबंधित सभी प्रश्नों पर बोल्शेविकों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१९१०) में – विसर्जनवादी; १९१२ में पार्टी विरोधी अगस्त गुट

संगठित किया। पहले विश्व-युद्ध के दौरान मध्यवादी रुख़, अपनाया; युद्ध, शांति और क्रांति के प्रश्नों पर लेनिन के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। अक्तूबर क्रांति की पूर्ववेला में इसने बोल्शेविक पार्टी में प्रवेश किया पर अपने फूटपरस्त क्रियाकलाप सक्रियतापूर्वक जारी रखे। १९१८ में ब्रेस्त शांति संधि का विरोध किया। १९२०-१९२१ में लेनिन की ट्रेड-यूनियनों और ट्रेड-यूनियन आंदोलन विषयक नीति का विरोध किया। १९२३ में पार्टी की आम नीति के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले विरोधी तत्त्वों का प्रधान रहा। कम्युनिस्ट पार्टी ने त्रोत्स्कीवाद का पर्दाफ़ाश कर दिखा दिया कि यह पार्टी की निम्न-पूंजीवादी प्रवृत्ति है। पार्टी ने इस प्रवृत्ति को विचारधारात्मक और संगठनात्मक दोनों प्रकार से उखाड़ फेंक दिया। १९२७ में त्रोत्स्की को पार्टी से निकाल दिया गया। १९२९ में इसे सोवियत विरोधी गतिविधियों के लिए देश से निष्कासित किया गया और फिर सोवियत नागरिकता से वंचित।—१९, ७७, २७५, २७७, २८२।

त्शिएर्शकी, त्सीगफ़्रीड (जन्म १८७२)—जर्मन अर्थशास्त्री, जिन्होंने मुख्यतः कार्टेलों, ट्रस्टों तथा इजारेदार पूंजी के दूसरे रूपों के सम्बन्ध में विशेषज्ञता प्राप्त की थी।—३३०, ३४६, ३४७।

थ

थियेर, एदोल्फ़ (१७९७-१८७७)—फ़्रांसीसी पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ और इतिहासकार, पेरिस कम्यून का जल्लाद।—१५२।

द

दुबासोव, फ़्योदोर वसील्येविच (१८४५-१९१२)—सेना में जेनरल-ऐडजुटैन्ट, नौसेनानायक, ज़ारशाही प्रतिक्रिया के एक नेता। नवम्बर १९०५ से मास्को के गवर्नर जेनरल (बड़े लाट); मास्को में दिसम्बर के सशस्त्र विद्रोह के दमन का संचालन किया।—१८२, १८५, १८६।

देनीकिन, अन्तोन इवानोविच (१८७२-१९४७)—ज़ारशाही की रूसी फ़ौज के सेनापति। ब्रिटिश, अमरीकी और फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों की मदद से देनीकिन ने दक्षिणी रूस तथा उक्रइन में सन् १९१९ में पूंजीशाही-ज़मींदारशाही

अधिनायकतंत्र की स्थापना की। १९१९ की गर्मियों और शरद-ऋतु में मास्को पर आक्रमण किया किन्तु १९२० के शुरू शुरू होते होते लाल सेना द्वारा पराजित।–३१८।

देशानेल, पाल (१८५५-१९२२)–प्रतिक्रियावादी फ़्रांसीसी राजनीतिज्ञ। १९२० में कई महीने फ़्रांस के राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ रहे।–३८२।

दोन्त्सोव, द्मित्रो–उक्रइनी राष्ट्रवादी।–२३६।

दोब्रोल्यूबोव, निकोलाई अलेक्सान्द्रोविच (१८३६-१८६१)–महान रूसी क्रान्तिकारी जनवादी; प्रमुख साहित्यिक समालोचक और भौतिकवादी दार्शनिक; हर्ज़ेन, बेलीन्स्की तथा चेर्निशेव्स्की के साथ दोब्रोल्यूबोव रूस में क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के अग्रदूत थे।–२०५।

दोल्गोरूकोव, पावेल द्मीत्रियेविच (१८६६-१९२७)–बड़े ज़मींदार; पूंजीवादी सांविधानिक-जनवादी पार्टी (कैडेट) के संस्थापक। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद सोवियत सत्ता कें विरुद्ध संघर्ष में सक्रिय भाग लिया।–२९८।

द्रागोमानोव, मिख़ाईल पेत्रोविच (१८४१-१८९५)–उक्रइनी इतिहासकार, नृतत्व-व्याख्याता और समसामयिक विषयों के लेखक; पूंजीवादी उदारवाद के एक प्रतिनिधि।–२५७।

द्रियो, एडुअर्ड–फ़्रांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार।–४०८, ४०९।

न

नदेज्दिन ल० (ज़ेलेन्स्की, येव्गेनी ओसिपोविच) (१८७७-१९०५)–अपने प्रारंभिक राजनीतिक क्रियाकलापों में एक नरोदवादी, बाद में सामाजिक-जनवादी। अपनी रचनाओं में इसने "अर्थवादियों" का समर्थन किया पर साथ-साथ यह प्रचार भी किया कि आतंकवाद "जनता को हिलाने" का एक प्रभावशाली साधन है। इसने लेनिन के 'ईस्क्रा' का विरोध किया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद मेन्शेविक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखता रहा।–८२।

निकोलाई द्वितीय (रोमानोव) (१८६८-१९१८)—रूस का अन्तिम सम्राट (१८९४-१९१७)।—६६, ७३, ७४, १५१, २९१, २९७।

नेक्रासोव, निकोलाई विस्सारिओनोविच (जन्म १८७९)—तीसरी और चौथी राज्य दूमाओं के सदस्य, वामपंथी कैडेट। १९१७ की फ़रवरी क्रान्ति के बाद अस्थायी पूंजीवादी सरकार में सम्मिलित हुए।—२४१।

नेपोलियन तृतीय (लुई बोनापार्ट) (१८०८-१८७३)—फ़्रांस के सम्राट, (१८५२-१८७०)।—२०३।

नेमार्क, अलफ़्रेड—सांख्यिक, प्रधानतः राष्ट्रीय वित्त विशेषज्ञ।—३७५, ३७६, ३७९, ४३८।

नोबेल—बाकू की विख्यात तेल कम्पनी के संस्थापक का नाम।—३८८।

नोस्के, गुस्ताव (१८६८-१९४६)—घोर दक्षिणपंथी जर्मन सामाजिक-जनवादी; मज़दूर वर्ग का एक ग़द्दार और जल्लाद; जनवरी १९१९ में जर्मन मज़दूरों के नेता तथा जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक कार्ल लीब्कनेख़्त तथा रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग की हत्या की व्यवस्था बनायी।—३१८।

प

पिसारेव्स्की—काला सागर के जहाज़ी बेड़े के काउन्टर-नौसेनानायक, नवम्बर २४(११), १९०५ को सेवास्तोपोल में विद्रोह का दमन करते हुए नौसैनिक पेत्रोव द्वारा आहत किये गये।—४८४।

पुत्तकामेर, रोबेर्त (१८२८-१९००)—प्रशियाई उच्च अधिकारी, अनेक ऊंचे सरकारी पदों पर रहे; १८८१ में गृह-मंत्री बने; मज़दूर आन्दोलन तथा सभी विरोधी पार्टियों के ख़िलाफ़ एक कठोर संघर्ष चलाया।—४८७।

पुरिश्केविच, व्लादीमिर मित्रोफ़ानोविच (१८७०-१९२०)—बड़े ज़मींदार, राजतंत्रवादी, प्रतिक्रियावादी। क्रान्तिकारी आन्दोलन के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए १९०५-१९०७ में 'यमदूत सभा' नामक सामूहिक-हत्याकारी संगठनों की स्थापना

की ; सोवियत देश के विरुद्ध विदेशी सैनिक हस्तक्षेप के समय आन्तरिक प्रतिक्रान्ति के एक सक्रिय संगठन-कर्ता।–१९४, २३९, २४०, २४५, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २९९, ३००, ३०१।

पेत्रुंकेविच, इवान इल्यीच (१८४४-१९२८)–ज़मींदार, 'ज़ेम्सत्वो'-वादी, कैडेट। कैडेट पार्टी के एक संस्थापक और अग्रणी नेता, उसकी केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष, पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र 'रेच' के प्रकाशक ; पहली राज्य दूमा के सदस्य। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद प्रतिक्रान्तिवादी प्रवासी।–६६, १४२, १६०।

पेत्रोव, अलेक्सान्द्र–काला सागर के जहाज़ी बेड़े में हुए विद्रोह के एक नेता ; नवम्बर २४ (११), १९०५ को लेफ़्टिनेन्ट कर्नल स्टाइन को क़त्ल किया और काउन्टर-नौसेनानायक पिसारेव्स्की को ज़ख़्मी किया, जिसके लिए अदालत ने उन्हें गोली मारे जाने की सज़ा दी।–४८४।

पेत्रोव, अन्तोन (मृत्यु १८६१)– कज़ान सूबे के बेज़दना गांव का किसान, जिसने १८६१ के भूमि-सुधार के विरोध में एक किसान आंदोलन का नेतृत्व किया।–२०७।

पेशेख़ोनोव, अलेक्सेई वसील्येविच (१८६७-१९३३)–पूंजीवादी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता और समसामयिक विषयों के लेखक, १९०६ से 'जन-समाजवादियों' की निम्न-पूंजीवादी पार्टी के एक नेता। १९१७ की फ़र्वरी क्रान्ति के बाद अस्थायी पूंजीवादी सरकार के सदस्य थे। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद पेशेख़ोनोव सोवियत सत्ता के विरुद्ध लड़े; १९२२ से प्रतिक्रान्तिवादी प्रवासी।–२८३।

पोत्रेसोव, अलेक्सान्द्र निकोलायेविच (१८६९-१९३४)–एक मेन्शेविक नेता। प्रतिक्रिया की अवधि (१९०७-१९१०) में विसर्जनवादियों का नेतृत्व किया। पहले विश्व-युद्ध के समय (१९१४-१९१८) में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी थे। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद–प्रतिक्रान्तिवादी प्रवासी, सोवियत शासन के शत्रु।–३९९, ४३४।

पोम्यालोव्स्की निकोलाई गेरासिमोविच (१८३५-१८६३)–१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसी लेखक, 'बूर्सा की कहानियां' नामक पुस्तक के रचयिता, जिसमें उन्होंने उन भयानक अवस्थाओं का सच्चा चित्र उपस्थित किया है, जिनमें छोटे पादरियों और शहराती ग़रीबों आदि के बच्चे पढ़ते थे।–२७७।

प्रूदों, पियेर जोज़ेफ़ (१८०९-१८६५) – फ़्रांसीसी अर्थशास्त्री और निम्न-पूंजीवादियों का विचारक। अराजकतावाद का एक संस्थापक। – १६५, २६१, २६२, २६३, ३०५।

प्रेसमैन आंद्रियें (जन्म १८७९) – फ़्रांसीसी समाजवादी; युद्ध के प्रति एक अर्द्ध-रक्षावादी अर्द्ध-शान्तिवादी रवैया अपनाया। – ४६८।

प्लेख़ानोव, गेओर्गी वलेन्तीनोविच (१८५६-१९१८) – रूसी और अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आन्दोलन के प्रमुख नेता, रूस में मार्क्सवाद के प्रथम प्रचारक, रूस के प्रथम मार्क्सवादी संगठन 'श्रम मुक्ति' दल के संस्थापक। रू० सा० ज० म० पा० की दूसरी कांग्रेस के बाद मेन्शेविकों से जा मिले। पहले विश्व-युद्ध की अवधि (१९१४-१९१८) में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी स्थिति अपना ली। प्लेख़ानोव ने अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के प्रति एक नकारात्मक रवैया रखा किन्तु सोवियत सत्ता के विरुद्ध संघर्ष में भाग नहीं लिया। – १३८, १४७, १६६, १८४, २३८, २७०, २७१, २७४, २७८, २९४, २९७, ५६८।

प्वाइंकारे, रेमों (१८६०-१९३४) – फ़्रांसीसी राजनीतिज्ञ, पहले विश्व-युद्ध के एक अनुप्रेरक; बार-बार मंत्री और प्रधानमंत्री रहे; १९१३-१९२० में फ़्रांसीसी जनतंत्र के राष्ट्रपति। – २९१।

फ़

फ़ायरबाख़, लुडविग (१८०४-१८७२) – विख्यात जर्मन पदार्थवादी, दार्शनिक और नास्तिक। इसके पदार्थवाद के सीमित और चिंतनशील स्वरूप के बावजूद उसने मार्क्सवादी दर्शन के सैद्धांतिक स्रोत का काम दिया। – ४८, २०२।

फ़ीडलर, ई० ई० (जन्म १८६४) – मास्को के एक माध्यमिक स्कूल के संचालक, जहां अक्तूबर १९०५ में मज़दूर और दफ़्तरों के कर्मचारी फ़ीडलर की अनुमति से अपनी सभाएं और सम्मेलन किया करते थे। – १८२।

फ़ोगेल्स्टीन, त० – जर्मन अर्थशास्त्री तथा 'पूंजीवादी उद्योग का वित्तीय संगठन और इजारेदार कम्पनियों का निर्माण' नामक पुस्तक के लेखक। – ३२८, ३३१, ३९२, ३९३।

ब

बकूनिन, मिख़ाईल अलेक्सान्द्रोविच (१८१४-१८७६) – रूसी क्रांतिकारी और अराजकतावाद का एक सैद्धांतिक। मार्क्स ने बार-बार बकूनिन के दृष्टिकोणों और क्रियाकलापों की कड़ी आलोचना की। – ११०, २०३।

बर्न्सटीन, एडुअर्ड (१८५०-१९३२) – जर्मन सामाजिक-जनवाद के अवसरवादी पक्ष का एक नेता और संशोधनवाद का विचारक। १८९६ से १८९८ तक बर्न्सटीन ने 'समाजवाद की समस्याएं' शीर्षक लेख-माला लिखी। इसमें इसने क्रांतिकारी मार्क्सवाद की आधारभूत स्थापनाओं का अर्थात् समाजवादी क्रांति, सर्वहारा अधिनायकत्व, और पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण के सिद्धांत का विरोध किया।– ८८, ११०, ११२, १२७, १४४, ३१७।

बायर – एल्बेरफ़ेल्द (जर्मनी) में एक बड़े रासायनिक कारख़ाने के मालिक।–३३२।

बावेर, ओटो (१८८२-१९३८) – आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल के एक नेता, अवसरवाद के एक सिद्धांतकार; "सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता" सिद्धान्त के लेखक; आस्ट्रियाई जनतंत्र के विदेश-मंत्री (१९१८); क्रान्तिकारी आन्दोलन के ख़िलाफ़ लड़े। – २१३, ३१६।

बियर, मैक्स (१८६४-१९४३) – जर्मन सामाजिक-जनवादी; समाजवाद का एक इतिहासकार। – ३९७।

बिरोन, अर्नेस्ट जोहान्न (१६९०-१७७२) – रूस की सम्राज्ञी आन्ना इओआनोव्ना का कृपा-पात्र; रूस की गृह और वैदेशिक नीतियों पर भारी प्रभाव रखता था। – २०१।

बिस्मार्क, ओटो (१८१५-१८९८) – राजकुमार, राजवादी, प्रशियाई राजनयिक; १८७१ से १८९० तक जर्मन साम्राज्य का चान्सलर। इसने बलपूर्वक प्रशा के अधीन जर्मनी का एकीकरण किया। – १५२, २६२, २९०, ३०१।

बुख़ारिन, निकोलाई इवानोविच (१८८८-१९३८) – सन् १९०६ से बोलशेविक। पहले विश्व-युद्ध की अवधि में साम्राज्यवाद, राज्य और राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार के प्रश्नों पर लेनिन के विरुद्ध संघर्ष चलाया। १९१७ में उनका दावा था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति की विजय असंभव थी। अक्तूबर क्रान्ति के बाद

बार-बार पार्टी की आम नीति का खुलकर विरोध किया; १९१८ में "वामपंथी कम्युनिस्टों" के पार्टी-विरोधी दल की अगुआई की; १९२०-१९२१ में ट्रेड-यूनियनों के सम्बन्ध में हुए विवाद में त्रोत्स्की का समर्थन किया; १९२८ से पार्टी के भीतर दक्षिणपंथी भटकाव के नेताओं में रहे। १९३७ में पार्टी-विरोधी सरगर्मियों के कारण पार्टी से निकाले गए। – ३५५।

बुलीगिन, अलेक्सान्द्र ग्रिगोर्येविच (१८५१-१९१९) – गृह-मंत्री, बड़े ज़मींदार। अगस्त १९०५ में ज़ार के आदेश पर क्रान्तिकारी आन्दोलन को कमज़ोर करने की दृष्टि से सलाहकारी राज्य दूमा के आयोजन सम्बन्धी विधेयक का मसविदा बनाने का निर्देश किया। बुलीगिन दूमा संघटित नहीं हुआ; वह १९०५-१९०७ की क्रान्ति के तूफ़ान में बह गया। – २१, ६४, ७३, ४८७, ४८८।

बूर्त्सेव, व्लादीमिर ल्वोविच (१८६२-१९३६) – समाजवादी-क्रान्तिकारियों की निम्न-पूंजीवादी पार्टी के सदस्य; पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के समय में घोर अंधराष्ट्रवादी; बाद में प्रतिक्रान्तिवादी। – २९७।

बेबेल अगस्त (१८४०-१९१३) – जर्मन सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल का एक संस्थापक और प्रधान व्यक्ति; व्यवसाय से ख़रादी। इसने जर्मन मज़दूर आंदोलन में उत्पन्न संशोधनवाद और सुधारवाद का सक्रिय विरोध किया। – ७५, ७६।

बेरार, विक्टर (जन्म १८६४) – फ़्रांसीसी पूंजीवादी अर्थशास्त्री और समसामयिक विषयों के लेखक; वैदेशिक नीति पर कई पुस्तकें लिखीं। – ४३८।

बेर्नहार्ड लुडविग – समसामयिक विषयों के जर्मन लेखक। – २८४।

बोब्रिंस्की, व्लादीमिर अलेक्सेयेविच (जन्म १८६८) – प्रतिक्रियावादी रूसी राजनीतिज्ञ, राजतंत्रवादी; बड़े ज़मींदार और चीनी के कारख़ानेदार। बोब्रिंस्की ने देश के सरहदी इलाक़ों के रूसीकरण की नीति का समर्थन किया; अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद देश से भाग गए। – २९९, ३०१।

बोर्न, स्टीफ़ान (असल नाम बटरमिल्ख़) (१८२४-१८९८) – जर्मन मज़दूर आन्दोलन के नेता, १८४८ की क्रान्ति में भाग लिया; 'कम्युनिस्ट लीग' के सदस्य थे। – १६३, १६५, १६६।

ब्रेन्तानो, लूयो (१८४४-१९३१) – जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री; तथाकथित "राजकीय समाजवाद" का अनुयायी; इसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सुधारों और पूंजीवादियों तथा मज़दूरों के हितों के समाधान की सहायता से पूंजीवाद के दायरे में ही सामाजिक समता स्थापित करना संभव है। मार्क्सवादी सूत्रों का अवगुंठन के रूप में उपयोग करते हुए ब्रेन्तानो और उसके अनुयायियों ने मज़दूर आंदोलन को पूंजीवादी हितों के आगे गौण दिखाने का प्रयत्न किया। – १४२, १४३, १४४।

ब्लां, लुई (१८११-१८८२) – फ़्रांसीसी निम्न-पूंजीवादी समाजवादी; इतिहासवेत्ता; इस बात को अस्वीकार किया कि पूंजीवाद के अन्तर्गत वर्ग-विरोध अपरिहार्य हैं; सर्वहारा क्रान्ति का विरोध किया; पूंजीपति वर्ग से समझौते की चेष्टा की। – १६५।

ब्लांकी, लुई ओग्यूस्त (१८०५-१८८१) – विख्यात फ़्रांसीसी क्रांतिकारी और काल्पनिक कम्युनिज़्म का एक प्रमुख प्रतिनिधि। यह कई गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं का नेता रहा। क्रांतिकारी षड्यंत्रकारियों के एक छोटे से दल की सहायता से सत्ता छीन लेने के प्रयत्न में यह क्रांतिकारी संघर्ष में जन संगठन की निर्णायिक भूमिका समझ न पाया। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने ब्लांकी की क्रांतिकारी सेवाओं की तो भूरि-भूरि प्रशंसा की पर साथ ही साथ उसकी भूलों और षड्यंत्रकारी कार्यनीति की भ्रांतिपूर्णता के लिए उसकी कड़ी आलोचना की। – ९४।

म

मनुइलोव, अलेक्सान्द्र अपोल्लोनोविच (१८६१-१९२९) – रूसी पूंजीवादी अर्थशास्त्री, १९०५-१९११ में मास्को विश्वविद्यालय के रेक्टर (अध्यक्ष); प्रमुख कैडेट नेता; १९१७ की पूंजीवादी अस्थायी सरकार में शिक्षा-मंत्री। – १६१।

माज़ेपा, इवान स्तेपानोविच (१६४४-१७०९) – उक्रइनी सैनिक अधिकारी; उक्रइन को रूस से अलग करने और उसे पोलैण्ड अथवा स्वीडेन के संरक्षण में एक अलग राज्य का रूप देने के उद्देश्य से चलाये गये आन्दोलन का नेतृत्व किया। – २४३।

माज़्ज़िनी, जुज़ेप्पे (१८०५-१८७२) – सुप्रसिद्ध इतालवी क्रान्तिकारी तथा जनवादी जिसने इटली की राष्ट्रीय मुक्ति और एकीकरण के लिए संघर्ष किया। – २६१।

मार्क्स, कार्ल (१८१८-१८८३) – ३५, ४८, ६५, ६६, ६३, १०२, ११२, ११३, १३३, १४६, १५२, १५५, १५७, १५८, १५६, १६०, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १८२, १८७, २०३, २१५, २१६, २५७, २५८, २६०, २६१, १६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६६, २६६, ३००, ३०१, ३२५, ३२६, ३४७, ४३२, ४३३, ४५८।

मार्गन – सबसे बड़े अमरीकी अरबपतियों का ख़ानदान। – ३५१, ३६१।

मार्तिनोव (पीकेर, अलेक्सान्द्र समोइलोविच) (१८६५-१६३५) – "अर्थवाद" का सिद्धांतकार और नेता तथा लेनिन के 'ईस्क्रा' का सक्रिय विरोधक। बाद में मेन्शेविज़्म का विचारक ; प्रतिक्रिया के काल (१६०७-१६१०) में विसर्जनवादी। १६१६ में इसने मेन्शेविकों से नाता तोड़ा और १६२३ में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में आ गया। – ३१, ३४, ३७, ४६, ७७, ८५, ८८, ८६, ६१, ६६, ११०, ११२, ११३, १२८, १२६, १४६, १४७, १४८, १५३, १५४, १५५, १५६, २७३।

मार्तोव (ज़ेदेरबाउम, यूली ओसिपोविच) (१८७३-१६२३) – एक मेन्शेविक नेता ; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में अवसरवादी अल्पमत का नेता ; तब से यह मेन्शेविज़्म का प्रमुख विचारक रहा। प्रतिक्रिया के काल (१६०७-१६१०) में इसने विसर्जनवादियों का समर्थन किया। अक्तूबर क्रांति के बाद सोवियत सत्ता का शत्रु बना। १६२० में देश छोड़कर चला गया। – ६१, २८०, ४३४, ४५५, ४६८।

मालाख़ोव, निकोलाई निकोलायेविच (जन्म १८२७) – ज़ारशाही के सेनानायक, मास्को सैनिक-क्षेत्र के प्रधान सेनापति। दिसम्बर १६०५ में हुए मास्को के सशस्त्र विद्रोह को कठोरतापूर्वक दबानेवालों में से एक। – १८६।

मास्लोव, प्योत्र पाव्लोविच (१८६७-१६४६) – रूसी सामाजिक-जनवादी, रू० सा० ज० म० पा० की दूसरी कांग्रेस के बाद मेन्शेविकों में शरीक हो गये। कृषि-सम्बन्धी प्रश्नों पर अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें उन्होंने मार्क्सवादी राजनैतिक अर्थशास्त्र की आधारभूत स्थापनाओं में संशोधन करने की चेष्टा की। पहले विश्व-युद्ध की अवधि (१६१४-१६१८) में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी स्थिति अपनायी। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद राजनैतिक सरगर्मियों से अलग हो गये, शिक्षक

का काम करने लगे और वैज्ञानिक अनुसन्धान में निरत रहे। – २६४, २६७, ३६६, ४३४।

मिलेरां, अलेक्सान्द्र एत्येन (१८५६-१९४३) – फ़्रांसीसी प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ ; १९वीं शताब्दी के अंतिम दशक में समाजवादी ; १८९९ में समाजवाद के साथ विश्वासघात कर फ़्रांस की प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी सरकार में प्रवेश किया। – ३१, ८८, १२८, ३१७।

मेनशिकोव, मिख़ाईल ओसिपोविच (१८५६-१९१९) – समसामयिक विषयों के प्रतिक्रियावादी लेखक, 'नोवोये व्रेम्या' (नया ज़माना) नामक समाचारपत्र के एक प्रमुख लेखक। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद सोवियत सत्ता के विरुद्ध एक सक्रिय संघर्ष चलाया। – २६७।

मेयरास, वार्फ़ोलोमी (जन्म १८७९) – फ़्रांसीसी समाजवादी, पत्रकार। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) में मध्य पक्षवादी स्थिति अपनायी ; अपने अनेक लेखों में युद्ध-ऋणों का खुला विरोध किया, लेकिन उनके पक्ष में अपना मत दिया। – ४६८।

मेहरिंग, फ़्रांज़ (१८४६-१९१९) – जर्मन मज़दूर आंदोलन का एक विख्यात नेता, जर्मन सामाजिक-जनवाद के वाम पक्ष का एक नेता और सिद्धांतकार ; इतिहासकार, पब्लिसिस्ट और साहित्य समीक्षक। इसने कार्ल लीब्कनेख़्त, रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग इत्यादि के साथ जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की। – ६६, १५५, १५७, १६३, १६५।

मैकडानल्ड, जेम्स रैमज़े (१८६६-१९३७) – ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, लेबर पार्टी के एक संस्थापक और नेता। कई लेबर सरकारों में प्रधानमंत्री। – ३१६, ४६८।

मोगिल्यान्स्की, म० (जन्म १८७३) – वकील और समसामयिक विषयों के लेखक ; 'रेच' (भाषण) नामक कैडेट पार्टी के मुखपत्र में उक्रइन के प्रश्न पर लेख लिखे। – २३६, २३७।

मोल, जोसेफ़ (१८१२-१८४९) – जर्मन तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलनों के अग्रणी नेता, कम्युनिस्ट लीग की केन्द्रीय समिति के सदस्य ; १८४८-१८४९ की क्रान्ति में भाग लिया। – १६३।

य

र

रेगेर, टी० – आस्ट्रियाई साइलेसिया में पोलिश समाजवादी पार्टी संगठन के सचिव; आस्ट्रियाई संसद के सदस्य। – २२६।

रेनान, एर्नेस्ट जोज़ेफ़ (१८२३-१८६२) – धर्म के फ़ांसीसी इतिहासकार, सामी-विद्या-विशारद और आदर्शवादी दार्शनिक, प्रारंभिक ईसाई-धर्म सम्बन्धी अपनी कृतियों के लिए विख्यात। राजनैतिक विचारों में वे जनवाद और १८७१ के पेरिस कम्यून के खुले शत्रु थे। – १६६।

रोड्स सेसील (१८५३-१६०२) – ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के सिद्धान्तकार; दक्षिणी अफ़्रीका के एक बड़े क्षेत्र पर ब्रिटिश अधिकार-आरोहण संगठित किया, १८६६-१६०२ के अंग्रेज़-बोएर युद्ध के आरम्भ करनेवाले। – ३६८, ३६६, ४०६।

रोदीचेव, फ़्योदोर इवानोविच (जन्म १८५६) – बड़े ज़मींदार और 'ज़ेम्सत्वो'-वादी, न्याय-शास्त्री; कैडेट पार्टी के एक नेता, उक्त पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य; समस्त संयोजित राज्य दूमाओं के सदस्य। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद – प्रतिक्रान्तिवादी प्रवासी। – १४२, १६०, २६८।

रोमानोव – रूस के ज़ारों और सम्राटों का वंश जिसने देश पर १६१३ और १६१७ के बीच शासन किया। अन्तिम ज़ार निकोलाई द्वितीय (१८६८-१६१८) फ़रवरी १६१७ की पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति में पदच्युत किये गये थे। – २०७, २६६, ३०१।

रोमुलस और रीमस – पारंपरिक कहानियों के जुड़वां भाई जिन्हें, माना जाता है कि, मादा भेड़िया ने दूध पिलाया था। कहानी के अनुसार रोमुलस, जिसने रीमस को मार डाला, रोम का संस्थापक बना। – २०१।

ल

ल० व्ल० (ल० व्लादीमिरोव) – मिरोन कोन्स्तान्तीनोविच शेइन्फ़िन्केल (१८७६-१६२५) का छद्मनाम; रूसी सामाजिक-जनवादी, बोल्शेविक। पेरिस-प्रवास में राष्ट्रीय प्रश्न पर भाषण किये। – २३१, २६७।

लफ़ार्ग, पाल (१८४२-१६११) – फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी का एक संस्थापक और नेता; दूसरी इंटरनेशनल के क्रांतिकारी पक्ष का एक प्रमुख व्यक्ति; कई मार्क्सवादी रचनाओं का लेखक। – २६२।

लाइबर (गोल्डमन, मिखाईल इसाकोविच) (१८८०-१९३७) – यहूदी राष्ट्रवादी संगठन बुंद का एक नेता। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने बुंद के प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व किया और चरम दक्षिण पक्षीय, 'ईस्क्रा'-विरोधी रुख़ अपनाया; कांग्रेस के बाद – मेन्शेविक। – २७२, २७४।

लायड जार्ज, डैविड (१८६३-१९४५) – ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, उदार-पंथी नेता; १९१६-१९२२ में प्रधानमंत्री; सोवियत रूस की नाकेबन्दी और सोवियत-विरोधी हस्तक्षेप के एक मुख्य संगठनकर्ता। – ३७९।

लासाल फ़र्दीनांद (१८२५-१८६४) – सुप्रसिद्ध जर्मन समाजवादी, आम जर्मन मज़दूर संघ का संस्थापक। इस संघ ने मज़दूरों को "उदार पूंजीवादियों के पुछल्ले से स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी में" (लेनिन) परिवर्तित करने में काफ़ी हाथ बंटाया। पर साथ ही लासाल और उसके अनुयायियों ने मुख्य राजनीतिक प्रश्नों पर अवसरवादी रुख़ अपनाया और इसके लिए मार्क्स तथा एंगेल्स ने उनकी कड़ी आलोचना की। – २१९, ३००।

लिएफ़मैन, रोबेर्त (जन्म १८७४) – विख्यात जर्मन अर्थशास्त्री, प्रोफ़ेसर, मुख्यतः वित्तीय पूंजी के अलग-अलग प्रश्नों के अध्ययन में निरत। – ३२९, ३३०, ३३७, ३४१, ३५८, ३६०, ३६१, ३७१, ३९३।

लिन्कन अब्राहम (१८०९-१८६५) – प्रमुख अमरीकी राजपुरुष, १८६१-१८६५ में अमरीका के राष्ट्रपति; नीग्रो-दासता उन्मूलन के संघर्ष का नेतृत्व किया। – ४३७।

लियो त्रयोदश (गियोआच्चिनो विन्चेन्ज़ो, काउन्ट पेच्ची) (१८१०-१९०३) – रोम के पोप (१८७८ से); कैथोलिक धर्म को पूंजीवादी समाज की अनुकूलता में लाने और पोप की राजनैतिक भूमिका के पुनर्प्रतिष्ठापन की चेष्टा की। सर्वहारा वर्ग संगठनों का सशक्त विरोध करने के लिए उन्होंने चर्च द्वारा अधीक्षित और मालिकों से मिलकर काम करनेवाले श्रमजीवी जन-संगठन बनाने की ज़ोरदार राय दी। – १५१।

लीज़िस (लेतिए, पी०) – फ़्रांसीसी पत्रकार और राजनीतिज्ञ; वित्तीय और राजनैतिक प्रश्नों पर अनेक पुस्तकों के लेखक। – ३६८, ३६९।

लीबमैन, फ़० (हेर्श पीसाख़) (जन्म १८८२) – यहूदियों की निम्न-पूंजीवादी राष्ट्रवादी पार्टी 'बुंद' के एक नेता; पहले साम्राज्यवादी युद्ध (१९१४-१९१८) के समय मध्य पक्षवादी। – २१०, २११, २१६, २३८, २४५, २५५, २७०, २७७, २७८, २८०, २८६।

लुई, ब्लां – देखिए ब्लां लुई। – १६५।

लुक्ज़ेमबुर्ग, रोज़ा (१८७१-१९१९) – जर्मन, पोलिश और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलनों की प्रमुख नेत्री। दूसरी इंटरनेशनल की एक वामपंथी नेत्री; जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी की एक संस्थापिका। – २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२९, २३०, २३१, २३३, २३४, २३७, २४२, २४३, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५३, २५५, २५६, २६०, २७१, २७२, २७३, २७५, २८०, २८२, ४६०।

लेजियन कार्ल (१८६१-१९२०) – जर्मन ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में अवसरवादी पक्ष के नेता। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के समय में सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी स्थिति अपनायी। – ४६८।

लेनिन, न० – देखिए लेनिन व्ला० इ०। – ३१९।

लेवी, हेरमन (जन्म १८८१) – बड़े जर्मन अर्थशास्त्री, प्रोफ़ेसर; वित्तीय पूंजी की सामान्य समस्याओं पर लिखा। – ३२५।

लैंसबर्ग, अल्फ़्रेड – पूंजीवादी जर्मन अर्थशास्त्री; 'बैंक' नामक अर्थशास्त्रीय पत्रिका के प्रकाशक, जिसमें उन्होंने वित्तीय पूंजी पर अपनी अनेक शोध-कृतियां प्रकाशित करायीं। – ३३९, ३४१, ३४६, ३७३, ४२६, ४३८, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४।

लॉन्गे, जॉन (१८७६-१९३८) – फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी तथा दूसरी इंटरनेशनल के एक सुधारवादी नेता; १९१४-१९१८ के पहले विश्व-युद्ध के समय सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी। – २६२, ४६८।

लोपातिन, हेरमान अलेक्सान्द्रोविच (१८४५-१९१८) – रूसी क्रान्तिकारी, 'नरोदनाया वोल्या' पार्टी के सदस्य, पहली इंटरनेशनल की जेनरल परिषद के सदस्य। मार्क्स की 'पूंजी' के प्रथम खंड के कुछ अंश का रूसी अनुवाद किया। – २६०।

व

वर्लिन, लुई युजेने (१८३९-१८७१)–फ़्रांसीसी क्रान्तिकारी, १८७१ के पेरिस कम्यून के प्रमुख नेता; पहली इंटरनेशनल के सदस्य।–१२८।

वार्साव्स्की, अदोल्फ़ (१८६८-१९३७)–पोलैण्ड के क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक पुराने और अग्रणी नेता। रू० स० ज० म० पा० की चौथी (एकता) और पांचवीं कांग्रेसों में प्रतिनिधि; रू० सा० ज० म० पा० की केन्द्रीय समिति के सदस्य। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के समय में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी। १९१८ में पोलैण्ड की कम्युनिस्ट मज़दूर पार्टी के एक संस्थापक और उसकी केन्द्रीय समिति के सदस्य।–२७१।

विल्हेल्म द्वितीय (होहेनज़ोलेर्न) (१८५९-१९४१)–जर्मन सम्राट और प्रशा का राजा (१८८८-१९१८)।–२८८, ३७३।

वेबेर, माक्स (१८६४-१९२०)–जर्मन प्रोफ़ेसर; इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की कई पुस्तकें लिखीं।–४९२।

वैंडरवेल्डे एमिल (१८६६-१९३८)–बेलजियन मज़दूर पार्टी और दूसरी इंटरनेशनल के अवसरवादी पक्ष का एक नेता। १९१४-१९१८ के साम्राज्यवादी युद्ध के आरंभ में इसने बेलजियन पूंजीवादी सरकार में प्रवेश किया।–४६८।

व्लादीमिर (रोमानोव, व्लादीमिर अलेक्सान्द्रोविच) (१८४७-१९०९)–ग्रैंड ड्यूक; निकोलाई द्वितीय का चाचा। १८८४-१९०५–पीटर्सबर्ग सैनिक क्षेत्र और गार्ड्स नामक फ़ौजी टुकड़ियों के प्रधान सेनापति; ज़ार के आदेश पर ९ जनवरी १९०५ को पीटर्सबर्ग के मज़दूरों को गोली मरवाने के कार्य का व्यापक निर्देशन किया।–११।

श

शापर, कार्ल (१८१२-१८७०)–जर्मन मज़दूर आंदोलन का एक प्रमुख कार्यकर्ता, समाजवादी विचारवाले जर्मन मज़दूरों को एक करनेवाली न्यायशीलों की लीग का एक नेता; कम्युनिस्ट लीग की केंद्रीय समिति का सदस्य। इसने जर्मनी की १८४८-१८४९ की क्रांति में भाग लिया; बाद में कम्युनिस्ट लीग के अति-"वाम" दल का एक नेता बना; विलिख़ के साथ इसने मार्क्स का विरोध किया।–१६३।

शिपोव, द्मीत्री निकोलायेविच (१८५१-१९२०) – बड़े ज़मींदार, अग्रणी 'ज़ेम्सत्वो'-वादी, नरम उदारवादी। नवम्बर १९०५ में शिपोव "सत्रहवीं अक्तूबर यूनियन" (अक्तूबरवादियों) के एक संगठनकर्ता और उसकी केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष थे। १९०५ में उक्त यूनियन को छोड़ दिया और 'शान्तिमय नवीकरण पार्टी' में शरीक हो गये; उसी साल राज्य परिषद के सदस्य निर्वाचित हुए। १९११ में शिपोव ने राजनैतिक सरगर्मियों से हाथ खींच लिया; अक्तूबर समाजवादी क्रांति के विरुद्ध थे। – ४१; ५९, ६५, ११३, १४९, १५४।

शिल्दर, सीगमंद – जर्मन अर्थशास्त्री। – ३७९, ३८२, ४०३, ४०४, ४०७, ४०८, ४२६, ४४९।

शीदेमान, फ़िलिप (१८६५-१९३९) – जर्मन सामाजिक-जनवाद के घोर दक्षिण पक्ष के एक नेता; फ़र्वरी से जून १९१९ तक पूंजीवादी जर्मन सरकार के अगुआ; मज़दूर आन्दोलन का कठोर दमन किया। – ३१८, ४६८।

शुल्ज़े-गैवर्नित्ज़, गेरहार्ट (१८६४-१९४३) – जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र का प्रोफ़ेसर (फ़्रैबर्ग विश्वविद्यालय), कैथेदेर-समाजवादी, "जर्मन साम्राज्यवाद का उत्साही प्रशंसक" (लेनिन)। – ३४०, ३४३, ३५०, ३५१, ३५२, ३५८, ३६०, ३६२, ४०७, ४२५, ४२६, ४३०, ४३१, ४५७।

श्चेद्रिन – मिख़ाईल येवग्राफ़ोविच साल्तिकोव का उपनाम (१८२६-१८८९) – सुप्रसिद्ध रूसी व्यंग्य लेखक और क्रांतिकारी-जनवादी। – २४१।

श्वेरिन, माक्सिमिलियन (१८०४-१८७२) – प्रशियाई राजनीतिज्ञ, प्रतिक्रियावादी रईसों और नौकरशाही के प्रतिनिधि; १८४८ में कैम्पहाउसेन के उदारवादी मंत्रिमंडल में शरीक हुए। – १५९।

स

सरतोरियस फ़ॉन वाल्टर्सगाज़ेन (जन्म १८५२) – जर्मन अर्थशास्त्री, जर्मन साम्राज्यवाद के एक विचारशास्त्री, विश्व-अर्थ-व्यवस्था और उपनिवेश-नीति सम्बन्धी प्रश्नों के विशेषज्ञ। – ४०७, ४२५, ४२६।

सावेंको, अनातोली इवानोविच (जन्म १८७४) – घोर राष्ट्रवादी, यमदूत सभा वालों के समाचारपत्रों के लेखक। अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद सोवियत सत्ता के विरुद्ध सक्रिय लड़ाई की। – २४३।

14—2

स्तोलीपिन, प्योत्र अर्कादीयेविच (१८६२-१९११) – ज़ारशाही के राजपुरुष, बड़े रूसी ज़मींदार; १९०६-१९११ में मंत्रिमंडल के अध्यक्ष और गृह-मंत्री; घोर राजनैतिक प्रतिक्रिया की एक समूची अवधि, १९०७-१९१० के वर्ष, उनके नाम से सम्बद्ध है। स्तोलीपिन ने एक कृषि-सुधार कार्यान्वित किया जो धनी किसानों (कुलकों) के लिए लाभदायक था और जिसने देहाती ग़रीबों को पूरी तरह बर्बाद कर दिया। – १९३, १९५, २००।

स्त्रूवे, प्योत्र बेर्नगार्दोविच (१८७०-१९४४) – पूंजीवादी अर्थशास्त्री और पब्लिसिस्ट; १९वीं शताब्दी के अंतिम दशक में "क़ानूनी मार्क्सवाद" का विख्यात प्रतिनिधि; बाद को कैडेट पार्टी का एक नेता। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद एक प्रतिक्रांतिकारी नेता; प्रतिक्रांतिकारी प्रवासी। – १८, ३२, ५८, ६४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८५, ८६, ८७, ८८, १११, ११३, १४१, १४२, १४६, १५१, १५२, १५३, १५४, २५७, ४७६।

स्पेक्तातोर (नाख़िम्सन, मिरोन इसाअकोविच) (जन्म १८८०) – रूसी अर्थशास्त्री और साहित्यिक, पहले विश्व-युद्ध के दौरान (१९१४-१९१८) में मध्य पक्षवादी स्थिति अपनाई। – ४३९, ४४०, ४४४।

स्मिर्नोव, ए० (गुरेविच, एमानुईल ल्वोविच) (जन्म १८६६) – रूसी सामाजिक-जनवादी, मेन्शेविक; प्रतिक्रिया के वर्षों (१९०७-१९१०) में विसर्जनवादी; १९१४-१९१८ के विश्व साम्राज्यवादी युद्ध में – सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी। – २९४, २९७।

ह

हर्ज़ेन, अलेक्सान्द्र इवानोविच (१८१२-१८७०) – महान रूसी क्रांतिकारी-जनवादी, पदार्थवादी दार्शनिक, लेखक और पब्लिसिस्ट। – २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९।

हर्ज़ेन्सटीन, मिख़ाईल याकोव्लेविच (१८५९-१९०६) – अर्थशास्त्री, पहली राज्य दूमा के सदस्य, कैडेट पार्टी के एक नेता और कृषि के प्रश्नों पर उस पार्टी के सिद्धान्तकार; पहली दूमा के भंग किए जाने के बाद फ़िनलैण्ड में यमदूत सभा वालों द्वारा मार डाले गये। – १६१।

हाइज़मैंस, कमील (जन्म १८७१)—बेलजियन राजनीतिज्ञ, बेलजियन समाजवादी पार्टी के सदस्य।

१६०४-१६१६ में दूसरी इंटरनेशनल के अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो के सेक्रेटेरी हुए; मध्य पक्षवादी स्थिति अपनायी।—४५५।

हानेत्स्की, जैकब स्तानिस्लावोविच (१८७९-१६३७)—पोलैण्ड और लिथुआनिया के एक पुराने सामाजिक-जनवादी नेता।—२७१।

हाबसन, जॉन एटकिन्सन (१८५८-१६४०)—ब्रिटिश पूंजीवादी अर्थशास्त्री, पूंजीवादी सुधारवाद और शांतिवाद के प्रतिनिधि।—३११, ३१७, ३२०, ३७६, ३६७, ४१४, ४२३, ४२४, ४२५, ४२७, ४२८, ४२६, ४३०, ५३१, ४३५, ४३८, ४४५, ४४६।

हारकोर्ट विलियम्स (१८२७-१६०४)—ब्रिटिश राजपुरुष, उदारपंथी; १८७३-१८६५ में उत्तरदायी सरकारी पदों पर रहे, १८६४-१८६८ में उदार पार्टी के नेता।—१५२।

हिन्दमैन, हेनरी मायर्स (१८४२-१६२१)—ब्रिटिश समाजवादी पार्टी के संस्थापकों में से एक; उसके दक्षिण पक्ष का नेता; अवसरवादी। १६१६ में साम्राज्यवादी युद्ध के पक्ष में प्रचार करने के कारण इसे पार्टी से निकाल दिया गया। हिन्दमैन अक्तूबर क्रांति के विरुद्ध था और इसने सोवियत रूस के विरुद्ध हस्तक्षेप का समर्थन किया।—३१७, ४६८।

हिर्श, मैक्स (१८३२-१६०५)—जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री और पब्लिसिस्ट, प्रगतिवादी, राइखस्टाग का डेपुटी। १८६८ में इसने फ़्रांज़ डुंकेर के साथ कई सुधारवादी ट्रेड-यूनियन संगठन (तथाकथित हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनें) स्थापित किये। अपनी रचनाओं में इसने सर्वहारा की क्रांतिकारी कार्यनीति का विरोध और सुधारवाद का समर्थन किया।—१४२, १४३।

हिल, डेविड (१८५०-१६३२)—कूटनीति के अमरीकी इतिहासवेत्ता।—४४८।

हिल्देब्रांड, गेरहर्ड—समसामयिक विषयों के जर्मन लेखक; साम्राज्यवाद की वकालत करने के कारण सामाजिक-जनवादी पार्टी से निकाल दिए गए थे।—४२६, ४३०।

हिल्फ़र्डिंग, रुडोल्फ़ (१८७७-१९४१) – जर्मनी के सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल के एक अवसरवादी नेता; 'वित्तीय पूंजी' नामक पुस्तक के लेखक। – ३१७, ३२०, ३२४, ३५६, ३६७, ३७०, ३७६, ४०६, ४२३, ४३६, ४४६।

हूबनर, ओत्तो (१८१८-१८७७) – सांख्यिक और अर्थशास्त्री; सांख्यिकी-भौगोलिक अब्दकोशों के संकलयिता। – ३९९।

हेंडेरसन, आर्थर (१८६३-१९३५) – ब्रिटिश राजनीतिज्ञ, लेबर पार्टी के दक्षिण पक्ष के एक नेता। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के समय सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी थे; १९१५ और १९३१ के बीच कई बार ब्रिटिश सरकार के सदस्य थे। – ४६८।

हेईनिग, कुर्ट – जर्मन अर्थशास्त्री। – ३६४, ३८७, ३८८।

हेक्कर, एमिल – पोलैण्ड की समाजवादी पार्टी के नेता, घोर राष्ट्रवादी। – २५६।

हेगेल, गेओर्ग विल्हेल्म फ़्रेडरिक (१७७०-१८३१) – महान जर्मन दार्शनिक, वस्तुनिष्ठ आदर्शवादी और द्वंद्ववादी; क्लासिक जर्मन दर्शन का सुविख्यात प्रतिनिधि। हेगेल की महानता इस बात में है कि इन्होंने आदर्शवादी द्वंद्वात्मकता का विस्तृत विवेचन किया जो द्वंद्वात्मक पदार्थवाद के लिए सैद्धांतिक स्रोत बन गया। – २०२।

हेमैन, हान्स गिदायन – जर्मनी के पूंजीवादी अर्थशास्त्री, जर्मनी की अर्थ-व्यवस्था के विशेषज्ञ। – ३२४, ३६०, ३६१।

हैंसमैन, दाविद जुस्तुस (१७९०-१८६४) – प्रशियाई राजनीतिज्ञ, बड़े जर्मन पूंजीपति, उदार पूंजीपति वर्ग के एक नेता। प्रशिया में वित्त-मंत्री, मार्च-सितम्बर १८४८; प्रतिक्रियावादियों से समझौता करने की विश्वासघाती नीति चलाई। सन् १८४८-१८४९ की क्रान्ति की पराजय के बाद राजनैतिक सरगर्मियों से अलग हो गए। – १५९, १६०।

हैवमेयर – अमरीकी उद्योगपति और शकर के एक शक्तिशाली ट्रस्ट के मालिक। – ३६७।